१०

आनन्द-प्रवचन

आचार्य श्री आनन्द ऋषि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य प्रवर के प्रवचनों का यह एक सुन्दर सारपूर्ण संग्रह है। 'गौतम कुलक' स्वयं में एक चिन्तन-मनन की मणिमुक्ताओं का भंडार है। उसका प्रत्येक चरण एक जीवन सूत्र है, अनुभूति का मार्मिक कोष है। और उस पर आचार्य श्री के विचार-प्रधान प्रवचन !

इन प्रवचनों में श्रद्धेय आचार्य श्री का दीर्घकालीन अनुभव, शास्त्रीय अध्ययन-अनुशीलन, वेद, उपनिषद्-गीता-पुराण-कुरान-बाईबिल आदि धर्म ग्रन्थों का मनन-चिन्तन तथा सैंकड़ों भारतीय एवं भारतीयेतर कवियों, चिन्तकों, साहित्यकारों के व्यापक उदात्त विचारों का पारायण पद-पद पर मुखरित हो रहा है। साथ ही सैंकड़ों शास्त्रीय, पौराणिक, ऐतिहासिक रूपक, कथानक तथा जीवन संस्मरणों से विषय को बहुत ही स्पष्ट व अनुभूतिगम्य बनाया गया है।

इन प्रवचनों का सम्पादन किया है :— प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने। सम्पादन बड़ा ही सरस, विद्वत्तापूर्ण तथा जन-जन को बोधगम्य शैली में हुआ है।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

मूल्य—बीस रुपये मात्र

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन

[भाग १०]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन

(दसवाँ भाग)

[गौतम कुलक पर १६ प्रवचन]

प्रवचनकार

राष्ट्रसंत आचार्यश्री आनन्द ऋषि

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

अहमदनगर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन : दसवाँ भाग

- प्रकाशक
  श्री रत्न जैन पुस्तकालय
  २५८६, महात्मा गांधी रोड
  पो० अहमदनगर (महाराष्ट्र)

- प्रथमबार :
  जून १९८०
  वि० सं० २०३७ ज्येष्ठ (द्वितीय)
  वीर निर्वाण सं० २५०७

- पृष्ठ ४२४

- प्रथम संस्करण
  २२०० प्रतियाँ

- मुद्रक
  श्रीचन्द सुराना के लिए
  मॉडर्न प्रिण्टर्स
  बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा

मूल्य–बीस रुपये मात्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन भाग १० के प्रकाशन में

उदार अर्थ सहयोगी सज्जनों की शुभ नामावली

१००१) सौ० सरोजबाई के ग्यारह उपवास के उपलक्ष्य में—
श्री चुन्नीलाल जी खुशालचन्द जी लुणावत, राजगुरुनगर।

१०००) स्व० गुलाबबाई लोढ़ा के स्मरणार्थ—
श्री रतिलाल जी कचरदास जी लोढ़ा।

१००१) श्रीमती चम्पाबाई दलीचन्द जी दूगड़, घोड़नदी।

१००१) श्री देवीचन्द जी मुलतानचन्द जी पोरवाल, पूना।

१०००) श्री दगड़ूराम जी देवीचन्द जी संचेती, पूना।

१००१) सौ० शान्ताबाई गिरधरलाल जी देसर्डा, पूना।

१००१) सौ० सुशीलाबाई गणेशमल जी रुणवाल, रायचूर।

१०००) श्री चम्पकलाल माणेकलाल शाह, बम्बई।

१००१) स्व० श्री मोहनलाल जी तातेड़ के स्मरणार्थ—श्री चांदमल जी सूरजमल जी तातेड़, अहमद नगर (महाराष्ट्र)।

५०१) श्री भानुदास जी कचरदास जी छाजेड़, पूना।

५००) श्री पी० एम० कटारिया, इचलकरंजी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय आचार्यश्री आनन्द ऋषिजी महाराज श्वे० स्था० जैन श्रमण संघ के द्वितीय आचार्य हैं, यह हम सबके लिए गौरव की बात है, हाँ, यह और भी अधिक उत्कर्ष का विषय है कि वे भारतीय विद्या (अध्यात्म) के गहन अभ्यासी तथा मर्मस्पर्शी विद्वान हैं। वे न्याय, दर्शन, तत्त्वज्ञान, व्याकरण तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं और साथ ही समन्वयशीलप्रज्ञा और व्युत्पन्नप्रतिभा के धनी हैं। उनकी वाणी में अद्भुत ओज और माधुर्य है। शास्त्रों के गहनतम अध्ययन-अनुशीलन से जनित अनुभूति जब उनकी वाणी से अभिव्यक्ति पाती है तो श्रोता सुनते-सुनते भाव-विभोर हो उठते हैं। उनके वचन, जीवन निर्माण के मूल्यवान सूत्र हैं।

आचार्यप्रवर के प्रवचनों के संकलन की बलवती प्रेरणा विद्यारसिक श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज ने हमें प्रदान की। बहुत वर्ष पूर्व जब आचार्यश्री का उत्तर भारत, देहली, पंजाब आदि प्रदेशों में विचरण हुआ, तब वहाँ की जनता ने भी आचार्य श्री के प्रवचन साहित्य की माँग की थी। जन-भावना को विशेष ध्यान में रखकर श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज के मार्गदर्शन में हमने आचार्यप्रवर के प्रवचनों के संकलन सम्पादन-प्रकाशन की योजना बनायी और कार्य भी प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे अब तक 'आनन्द प्रवचन' नाम से नो भाग प्रकाश में आ चुके हैं।

यद्यपि आचार्यप्रवर के सभी प्रवचन महत्वपूर्ण तथा प्रेरणाप्रद होते हैं, फिर भी सबका संकलन संपादन नहीं किया जा सका। कुछ तो सम्पादकों की सुविधा व कुछ स्थानीय व्यवस्था के कारण आचार्य प्रवर के लगभग ३००-४०० प्रवचनों का संकलन-संपादन ही अब तक हो सका है। जिनका नो भागों में प्रकाशन किया जा चुका है। प्रथम सात भागों का संपादन प्रसिद्ध विदुषी धर्मशीला बहन कमला जैन 'जीजी' ने किया है। पाठकों ने सर्वत्र ही इन प्रवचनों को बहुत रुचि व भावनापूर्वक पढ़ा और अगले भागों की माँग की।

आठवें भाग में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गौतम कुलक' पर दिए गए २० प्रवचन हैं। तथा नवें भाग में प्रवचन संख्या २१ से ४० तक के २० प्रवचन प्रस्तुत हैं। दसवें भाग में ४१ से ५९ तक कुल १९ प्रवचन हैं।

'गौतम कुलक' जैन साहित्य का बहुत ही विचार-चिन्तनपूर्ण सामग्री से भरा सुन्दर ग्रन्थ है। इसका प्रत्येक चरण एक जीवनसूत्र है, अनुभूति और संभूति का भंडार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। ग्रन्थ परिमाण में बहुत ही छोटा है, सिर्फ बीस गाथाओं का, किन्तु प्रत्येक गाथा के प्रत्येक चरण में गहनतम विचार-सामग्री भरी हुई है। अगर एक-एक चरण पर चिन्तन-मनन किया जाये तो भी विशाल विचार साहित्य तैयार हो सकता है।

श्रद्धेय आचार्य सम्राट ने अपने गहनतम अध्ययन-अनुभव के आधार पर इस ग्रन्थ के एक-एक सूत्र पर विविध दृष्टियों से चिन्तन-मनन-प्रत्यालोचन कर जीवन का नवनीत प्रस्तुत किया है। इन प्रवचनों में जहाँ चिन्तन की गहराई है, वहाँ जीवन जीने की सच्ची कला भी है। गौतम कुलक के इन प्रवचनों को हम लगभग पाँच भाग में क्रमशः प्रकाशित करेंगे। प्रथम खण्ड पाठकों की सेवा में गत वर्ष पहुँचा था। गौतम कुलक पर प्रवचनों का द्वितीय खण्ड और तृतीय खण्ड भी छप चुका है आशा है, पाठक अगले खंड ४-५ की भी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करेंगे।

इन प्रवचनों का सम्पादन यशस्वी साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। विद्वान लेखक मुनिश्री नेमीचन्द जी महाराज का मार्गदर्शन एवं उपयोगी सहकार भी समय-समय पर मिलता रहा है। हम उनके आभारी हैं। आशा है यह प्रवचन पुस्तक पाठकों को पसन्द आयेगी।

मन्त्री
श्री रत्न जैन पुस्तकालय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

जैन साहित्य भारतीय साहित्य की एक अनमोल निधि है। जैन मनीषियों का चिन्तन व्यापक और उदार रहा है। उन्होंने भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, पंथवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर जन-जीवन के उत्कर्ष के लिए विविध भाषाओं में विविध विषयों पर साहित्य का सरस सृजन किया है। अध्यात्म, योग, तत्त्व-निरूपण, दर्शन, न्याय, काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण, नीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, भूगोल-खगोल, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मंत्र, तन्त्र, संगीत, रत्न-परीक्षा, प्रभृति विषयों पर साधिकार लिखा है और खूब जमकर लिखा है। यदि भारतीय साहित्य में से जैन साहित्य को पृथक कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य प्राणरहित शरीर के सदृश परिज्ञात होगा।

जैन साहित्य मनीषियों ने विविध शैलियों में अनेक माध्यमों से अपने चिन्तन को अभिव्यक्ति दी है। उनमें एक शैली कुलक भी है। 'कुलक' साहित्य के नाम से भी जैन चिन्तकों ने बहुत कुछ लिखा है। दान, शील, तप, भाव, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयों पर पृथक-पृथक कुलकों का निर्माण किया है। मैंने अहमदाबाद, बम्बई, पूना, जालोर, खम्भात आदि में अवस्थित प्राचीन साहित्य भण्डारों में विविध विषयों पर 'कुलक' लिखे हुए देखे हैं पर इस समय बिहार यात्रा में होने के कारण साधनाभाव से उन सभी कुलकों का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण प्रस्तुत नहीं कर पा रहा हूँ।

मैं जब बहुत ही छोटा था तब मुझे परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने 'गौतम कुलक' याद कराया था। मैंने उसी समय यह अनुभव किया कि इस ग्रन्थ में लेखक ने बहुत ही संक्षेप में विराट भावों को कम शब्दों में लिखकर न केवल अपनी प्रकृष्ट चिन्तन-शील प्रतिभा का परिचय दिया है, बल्कि कुशल अभिव्यंजना का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है।

गौतम कुलक वस्तुतः बहुत ही अद्भुत व अनूठा ग्रन्थ है। यह वामन की तरह आकार में लघु होने पर भी भावों की विराटता को लिये हुई है। एक-एक लघु सूक्ति और युक्ति को स्पष्ट करने के लिए सैकड़ों पृष्ठ सहज-रूप से लिखे जा सकते हैं। 'गौतम कुलक' के कुछ चिन्तन वाक्य तो बहुत ही मार्मिक और अनुभव से परिपूर्ण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। एक प्रकार से प्रत्येक पद स्वतन्त्र सूक्ति है, स्वतन्त्र जीवनसूत्र है और है विचार-मन्त्र।

परम आल्हाद है कि महामहिम आचार्य सम्राट राष्ट्रसन्त आनन्द ऋषिजी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न पर मननीय प्रवचन प्रदान कर जन-जन का ध्यान इस ग्रन्थ रत्न की ओर केन्द्रित किया है। आचार्य प्रवर ने अपने 'जीवन की परख' नामक प्रथम प्रवचन में 'गौतम कुलक' ग्रन्थ के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार से विवेचन किया है। जो उनकी बहुश्रुतता का स्पष्ट प्रमाण है।

परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट को कौन नहीं जानता। साक्षर और निरक्षर, बुद्धिमान और बुद्धू, बालक और वृद्ध, युवक और युवतियाँ सभी उनके नाम से परिचित हैं। वे उनके अत्युज्ज्वल व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं हैं। वे श्रमण संघ के ही नहीं, अपितु स्थानकवासी जैन समाज के वरिष्ठ आचार्य हैं। उनके कुशल नेतृत्व में एक हजार से भी अधिक श्रमण और श्रमणियाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना कर रहे हैं। लाखों श्रावक और श्राविकाएँ श्रावकाचार की साधना कर अपने जीवन को चमका रहे हैं। वे श्रमणसंघ के द्वितीय पट्टधर हैं। उनका नाम ही आनन्द नहीं, अपितु उनका सुमधुर व्यवहार भी आनन्द की साक्षात् प्रतिमा है। उनका स्वयं का जीवन तो आनन्द स्वरूप है ही। आप जब कभी भी उनके पास जायेंगे तब उनके दार्शनिक चेहरे पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती हुई देखेंगे। वृद्धावस्था के कारण भले ही शरीर कुछ शिथिल हो गया हो किन्तु आत्मतेज पहले से भी अधिक दीप्तिमान है। उनके निकट सम्पर्क में जो भी आता है वह आधि, व्याधि, उपाधि को भूलकर समाधि की सहज अनुभूति करने लगता है, यही कारण है कि उनके परिसर में रात-दिन दर्शनार्थियों का सतत जमघट बना रहता है। दर्शक अपने आपको उनके श्री चरणों में पाकर धन्य-धन्य अनुभव करने लगता है।

भारतीय साहित्य के किसी महान चिन्तक ने कहा है कि भगवान यदि कोई है तो आनन्द है। **'आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्'** (उपनिषद) मैंने जान लिया है, आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही परमात्म-तत्त्व के दर्शन होते हैं। जब आत्मा पर-भाव से हटकर आत्म-स्वरूप में रमण करता है तो उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। सच्चा आनन्द कहीं बाहर नहीं, हमारे अन्दर ही विद्यमान है। आचार्य सम्राट अपने प्रवचनों में, वार्तालाप में उसी आनन्द को प्राप्त करने की कुञ्जी बताते हैं। भूले-भटके जीवनराहियों का सच्चा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

आचार्य सम्राट के प्रवचनों को सुनने का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है और उनके प्रवचन साहित्य को पढ़ने का सौभाग्य भी मुझे मिला है जिसके आधार से मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि आचार्य सम्राट एक सफल प्रवक्ता हैं। यों तो प्रत्येक मानव बोलता है, पर उनकी वाणी का दूसरों के मानस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर आचार्य सम्राट् जब भी बोलना प्रारम्भ करते हैं तो श्रोता-गण मन्त्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुग्ध हो जाते हैं। श्रोताओं का मन-मस्तिष्क उनकी सुमधुर भावधारा में प्रवाहित होने लगता है। आचार्यप्रवर की वाणी में शान्त-रस, करुण-रस, हास्य-रस, वीर रस की सहज अभिव्यक्ति होती है। उसके लिए आपश्री को प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है कि लोग आपश्री को वाणी का जादूगर मानते हैं। आपश्री की वाणी में मक्खन की तरह मृदुता है, शहद की तरह मधुरता है, और मेघ की तरह गम्भीरता है। भावों की गंगा को धारण करने में भाषा का यह भागीरथ पूर्ण समर्थ है। आपश्री की वाणी में ओज है, तेज है, सामर्थ्य है।

आपश्री के प्रवचनों में जहाँ एक ओर महान आचार्य कुन्द-कुन्द, समन्तभद्र की तरह गहन आध्यात्मिक विवेचना है। आत्मा परमात्मा की विशद चर्चा है तो दूसरी ओर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और अकलंक की तरह दार्शनिक रहस्यों का तर्कपूर्ण सही-सही समाधान है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नय, निक्षेप, सप्तभंगी का गहन किन्तु सुबोध विश्लेषण है। एक ओर आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र की तरह सर्व विचार समन्वय का उदात्त दृष्टिकोण प्राप्त होता है तो दूसरी ओर आनन्दघन, व कबीर की तरह फक्कड़पन और सहज निश्छलता दिखाई देती है। एक ओर आचार्य मानतुंग की तरह भक्ति की गंगा प्रवाहित हो रही है तो दूसरी ओर ज्ञानवाद की यमुना बह रही है। एक ओर आचार क्रान्ति का सूर्य चमक रहा है तो दूसरी ओर स्नेह की चारुचन्द्रिका छिटक रही है। एक ओर आध्यात्मिक चिन्तन की प्रखरता है तो दूसरी ओर सामाजिक समस्याओं का ज्वलन्त समाधान है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्यप्रवर के प्रवचनों में दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और साहित्यिकता सब कुछ है।

मेरे सामने आचार्यप्रवर के प्रवचनों का यह बहुत ही सुन्दर संग्रह है। 'गौतम कुलक' पर उनके द्वारा दिये गए मननीय प्रवचन हैं। प्रवचन क्या हैं? चिन्तन और अनुभूति का सरस कोष है। विषय को स्पष्ट करने के लिए आगम, उपनिषद, गीता महाभारत, कुरान, पुराण तथा आधुनिक कवियों के अनेक उद्धरण दिये गए हैं। वहाँ पर पाश्चात्य चिन्तक फिलिप्स, जानसन, बेकन, कूले, साउथ, टालस्टाय, ईसामसीह, चेनिंग, बॉबी, पिटरसन, सेनेका, विलियम राल्फ इन्गे, हॉम, सेण्टमेथ्यु, जार्ज इलियट, शेली, पोप, सिसिल, कॉस्टन, शेक्सपियर, प्रभृति शताधिक व्यक्तियों के चिन्तन-सूत्र भी उद्धृत किये गये हैं। जिससे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि आचार्य सम्राट का अध्ययन कितना गम्भीर व व्यापक है। पौराणिक, ऐतिहासिक रूपकों के अतिरिक्त अद्यतन व्यक्तियों के बोलते जीवन-चित्र भी इसमें दिए हैं। जो उनके गम्भीर व गहन विषय को स्फटिक की तरह स्पष्ट करते हैं। यह सत्य है कि जिसकी जितनी गहरी अनुभूति होगी उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति होगी। आचार्यप्रवर की अनुभूति गहरी है तो अभिव्यक्ति भी स्पष्ट है।

मैंने आचार्यप्रवर के प्रवचनों को पढ़ा है। मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनों का सम्पादन भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट हुआ है। सम्पादन कला-मर्मज्ञ कलम-कलाधर श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने अपनी सम्पादन कला का उत्कृष्ट रूप उपस्थित किया है। गौतम कुलक का स्वाध्याय करनेवाले जब इन प्रवचनों को पढ़ेंगे तो उनके समक्ष इसके अनेक नये-नये गम्भीर अर्थ स्पष्ट होंगे। इन प्रवचनों में सिर्फ उपदेशक का उपदेश-कौशल ही नहीं, बल्कि एक विचारक का विचार वैभव तथा अनुशीलनात्मक दृष्टि भी है। इससे प्रवचनों का स्तर काफी ऊँचा व विचार प्रधान बन गया है।

इन प्रवचनों को पढ़ते समय प्रबुद्ध पाठकों को ऐसा अनुभव भी होगा कि इन प्रवचनों में उपन्यास और कहानी साहित्य की तरह सरसता है, दार्शनिक ग्रन्थों की तरह गम्भीरता है। यदि एक शब्द में कह दिया जाय तो सरलता, सरसता और गम्भीरता का मधुर समन्वय हुआ है। ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के लिए पाठक आचार्य प्रवर का सदा ऋणी रहेगा तो साथ ही ऐसे सम्पादक के श्रम को भी विस्मृत नहीं हो सकेगा।

मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत आनन्द प्रवचनों के ये भाग सर्वत्र समादृत होंगे। इन्हें अधिक से अधिक जिज्ञासु पढ़कर अपने जीवन को चमकायेंगे।

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

———

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

(आनन्द प्रवचन : भाग १०)

४१. **दुष्टाधिप होते दण्ड-परायण—१*** १-१७

अधिप क्यों और किसलिए बनाया गया था ? १, अधिप के कितने रूप ? ३, 'अधिप' शब्द का अर्थ ४, अधिप में गुण और योग्यता ४, अधिप की श्रेष्ठता अधिकार में नहीं, त्याग-बलिदान में है ४, अहमदाबाद के नगर सेठ खुशालचन्द के त्याग का दृष्टान्त ५, अधिप बड़ा क्यों माना जाता है ? ६, जयपुर के प्रधान जैन मन्त्री का प्राणोत्सर्ग—दृष्टान्त ७, अधिप ही सच्चा जन-नेता होता है १०, बड़प्पन प्रगट होने के तीन गुण ११, अधिप महान होते हुए भी सहृदयता नहीं चूकता १२, अधिप अपनी पूर्वस्थिति को नहीं भूलता १२, सच्चा अधिप गुणवृद्धि के लिए प्रयत्नशील १३, कर्तव्यनिष्ठ ही सच्चा अधिप है १४, अधिप को मौका आने पर विषपान भी करना पड़ता है १६, अधिप दुष्टता त्यागें, शिष्टता अपनाएँ १६।

४२. **दुष्टाधिप होते दण्ड-परायण—२** १८-४४

राज्याधिप को ही अधिप क्यों माना गया है १८, शासक अथवा राजा के गुण—विभिन्न ग्रन्थों से उद्धरण १९, धर्म-परायणता के बारे में राजा चक्कवेण का दृष्टान्त २१, सर्वश्रेष्ठ राज्याधिप कौन २२, शिष्ट राज्याधिप : न्याय में सुदृढ़ २३, काशी के राजा की न्यायप्रियता का दृष्टान्त २३, शेरशाह की न्यायप्रियता का दृष्टान्त २७, श्रेष्ठ राज्याधिप में प्रजावत्सलता ३०, श्रेष्ठ राज्याधिप के राज्य में कोई चोर, डाकू, अनाचारी नहीं ३१, श्रेष्ठ राजा प्रजा की पीड़ा जानने के लिए गुप्त वेश में घूमता है ३२, रूस के सम्राट (जार) आइवॉन का दृष्टान्त ३२, जैसा राजा, वैसी प्रजा ३३, जो जनता के हृदय पर शासन करे, वही उत्कृष्ट राजा ३४, राज्याधिप कैसे बिगड़े ? कैसे दुष्ट हुए ? ३५, राजा को नीतिकारों के परामर्श—विभिन्न ग्रन्थों से उद्धरण ३६, दुष्ट राज्याधिप दण्डपरायण क्यों हो जाता है ? ३७, दुःखविपाकसूत्र से दुष्टाधिप दुर्योधन का दृष्टान्त ३८, राज्याधिप की अति कठोर दण्ड-

---

* प्रवचन संख्या भाग आठ से प्रारम्भ होती है। १ से २० तक प्रवचन भाग आठ में; प्रवचन २१ से ४० तक भाग नो में आ चुके हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परायणता से क्या लाभ क्या हानि ? ४०, सम्राट अशोक की कठोर दण्ड-परायणता का कुपरिणाम—दृष्टान्त ४०, वर्तमान शासनकर्ताओं में भी दुष्टाधिपता ४३, अन्य दुष्टाधिप भी दण्डपरायण ! ४३ ।

४३. विद्याधर होते मन्त्र-परायण ४५–६८

भारतीय मनीषियों द्वारा विविध विद्याओं की देन ४५, विद्याधर और विद्याएँ ४६, विद्याओं का प्रारम्भ धरणेन्द्र द्वारा ४७, विद्या और मन्त्र का अविनाभावी सम्बन्ध ४७, मन्त्र और विद्या में अन्तर ४८, मन्त्र: स्वरूप, शक्ति और प्रभाव ४९, 'मन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति ४९, मन्त्र शक्ति के चार आवश्यक तथ्य ५०, मन्त्र साधना के तीन संकल्प ५०, संकल्प के लिए अपेक्षित सात शुद्धियाँ आवश्यक ५०, मन्त्र शक्ति के विकास के चार आधार ५०, मन्त्र विनियोग के पाँच अंश ५१, मन्त्र-विद्या की उत्पत्ति का लक्ष्य ५२, मुसलमान पीरभाई की नवकार मन्त्र पर अचल श्रद्धा और उसका चमत्कार ५३, मन्त्रों के प्रकार और उद्देश्य ५४, मन्त्रों का दुरुपयोग और सावधानी ५५, मन्त्र का प्रयोगकर्ता कैसा और कौन ५५, जैन मन्त्र साधकों की आचार संहिता ५६, मन्त्र साधना में सफलता के लिए विद्युन्माली का दृष्टान्त ५६, विद्याधर और जादूगर में अन्तर ५९, विद्याधर और पेशेवर मन्त्रवादी ५९, विद्याधरों की मन्त्र-परायणता, क्या और कैसे ? ५९, आधुनिक विद्याधर और उनकी विद्याएँ ६०, विद्या के आविष्कारार्थ अपना प्राणार्पण करने वाले भी ६१, प्राचीन विद्याधर, जो विद्याधर कुल के न थे ६२, रससिद्ध नागार्जुन का दृष्टान्त ६३, विद्या एवं मन्त्र : जीवन के तट पर ६४, मन्त्र : मननशीलता ६५, बीरबल की समझदारी—दृष्टान्त ६६, विचारशीलता के लिए राजा भोज का दृष्टान्त ६७ ।

४४. मूर्ख नर होते कोप-परायण ६९–८९

मूर्ख की मूर्खता : जीवन-रत्न व्यर्थ फेंकना ६९. मूर्ख के लक्षण और पहचान ७०, दो शताब्दी पूर्व यूरोप अन्धविश्वासों का केन्द्र था ७४, मूर्ख के पाँच चिह्न ७६, मूर्ख की बारह दोषपूर्ण आदतें ७८, मूर्ख मनुष्यों के कुपित होने के कारण ७८, वाद-विवाद ७८, क्षणे रुष्टा: क्षणे तुष्टा: ८१, कलहप्रिय एवं छिद्रान्वेषक-मूर्ख ८१, अपना दोष दूसरों के सिर मढ़ना—मूर्ख का लक्षण ८२, व्यर्थ का झगड़ा: मूर्खता की निशानी ८४, पूर्वाग्रह : मूर्खता का चिह्न ८४, जरा-सी बात पर भड़क जाना—मूर्खता का चिह्न ८५, मूर्ख व्यक्ति छह बातों से जाना जा सकता है ८७, मूर्ख क्रोध करता ही नहीं, कराता भी है ८७, कोप-परायणता से हानि या लाभ ? ८८ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४५. **सुसाधु होते तत्त्व-परायण—१** ९०–११०

सुसाधु कौन, कुसाधु कौन ? ९०, नकली साधु से असली बनने में कारण : तत्त्वज्ञान की किरण ९१, साधुओं के लिए आदर्श-प्रेरक, सच्चा साधु ९२, कुसाधु (पाप श्रमण) के लक्षण ९३, तत्त्व क्या ? उसका ज्ञान क्या ? तत्त्वपरायणता क्या ? ९५, तत्त्वज्ञान : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ९७, तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति ९८, साधुजीवन का आन्तरिक सामर्थ्य : तत्त्वज्ञान-परायणता ९९, तत्त्व-परायणता केवल तत्त्व जानने से नहीं १००, केवल शब्दों को पकड़ने वाले भी तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते १०२, धर्माचरण के पुरुषार्थ के साथ तत्त्वज्ञान न हो तो ? १०३, पाप का प्रधान कारण—तत्त्वज्ञान का अभाव १०३, साधक में तत्त्वज्ञान न हो तो सारे सुख, दुःख में बदल जाते हैं १०५, तत्त्वज्ञान के अभाव में साधक की भ्रान्तियाँ १०७, साधु आगम-चक्षु होता है १०९।

४६. **सुसाधु होते तत्त्व-परायण—२** १११–१३३

तत्त्वज्ञान-परायण साधु के लिए बन्धन भी अबन्धन १११, आज के तत्त्वज्ञान शून्य व्यक्तियों की प्रवृत्ति—विभिन्न दृष्टान्त ११४, तत्त्व-निष्ठ साधनाशील को विषयों से विरक्ति एवं अरुचि ११६, तत्त्वज्ञान-निष्ठ सुख को अपने भीतर खोजता है ११८, तत्त्वज्ञाननिष्ठ दुष्परिस्थितियों से भागता नहीं १२०, तत्त्वज्ञानी को कहीं न कहीं से सही मार्ग मिल जाता है १२३, तत्त्वज्ञानी अनिष्ट प्रवृत्ति में फँसा नहीं रहता १२४, तत्त्वज्ञानी अन्धविश्वास में भी नहीं फँसता १२५, तत्त्व परायण सुसाधु सत्य को बहुत शीघ्र स्वीकारता है १२६, तत्त्वज्ञानी आन्तरिक एवं शाश्वत सौन्दर्य को देखता है १२७, तत्त्वज्ञानी सुसाधु का जीवन परमार्थी होता है १२८, तत्त्वनिष्ठ साधु दूसरों को भी तत्त्व समझाते हैं १३०, सच्चे तत्त्वनिष्ठ सुसाधु की पहचान १३२।

४७. **उग्रतप की शोभा : क्षान्ति—१** १३४–१५३

तप क्या है, क्या नहीं ? १३४, संस्कार शोधन : तप १३५, तप का लक्षण १३५, तप का उद्देश्य १३७, सकाम और निष्काम तप १३९, उग्रतप दुःख का कारण—कितना है, कितना नहीं १३९, उग्रतप से शरीरादि को साधा जाय १४०, सेठ और उसकी पुत्रवधू का दृष्टान्त १४१, आत्मसमाधि से रहित उग्रतप व्यर्थ १४४, उग्रतप रूपी तलवार रक्षक भी, संहारक भी १४६, उग्रतप ज्ञानगंगा के साथ चमकता है १४८, तप, ज्ञान और जप १४८, उग्रतप का महत्व और लाभ १५०, उग्रतप के साथ सहिष्णुता हो, तभी महाशक्ति १५०, भक्त ध्रुव का दृष्टान्त १५१।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४८. उग्रतप की शोभा : क्षान्ति—२ १५४–१७६

उग्रतप : जीवन में आवश्यक और उपादेय क्यों ? १५४, उग्रतप के प्राप्त हुए अवसर को चूकिये मत १५७, उग्रतपश्चरण की शक्ति कैसे और कहाँ से ? १५९, उग्रतप की शक्ति में शंकित मेधमुनि का समाधान १६३, उग्रतपःशक्ति का अचूक प्रभाव १६५, उग्रतप के साथ क्षान्ति से ही आत्मिक महाशक्ति की प्राप्ति १६६, क्षान्ति : उग्रतप की शोभा १६६, क्षान्ति के सात अंग : उग्रतपस्वी के आभूषण १६७, उग्रतप के साथ क्रोधादि हों तो ? १६८, उग्रतप के साथ क्रोधादि क्यों लग जाते हैं १७१, क्षमा में उग्रतप की शोभा सन्निहित है १७२, क्षमाधारी मुनि कीर्तिधर और सुकोशल का दृष्टान्त १७४।

४९. प्रशम की शोभा : समाधियोग—१ १७७–१९४

प्रशम की उपयोगिता और महत्ता १७७, प्रशम की आवश्यकता साधु और गृहस्थ—दोनों को १८०, प्रशमयुक्त जीवन क्या करता है ? १८२, प्रशम क्या है, क्या नहीं ? १८३, शम का प्रथम लक्षण : स्वभाव-रमण १८३, शम-ज्ञान का परिपाक १८४, शम : शुद्ध-आत्म-निष्ठा १८५, शम के लिए अवस्था की मर्यादा नहीं १८७, प्रशम-शरीर से या मन से ? १८८, अंगच्छेदन—प्रशम का मार्ग नहीं १८९, नशे की मस्ती : कितनी सस्ती १९१, प्रशम कहाँ और किसमें ? १९१, प्रशम आन्तरिक वस्तु है १९४।

५०. प्रशम की शोभा : समाधियोग—२ १९५–२१८

प्रशम प्राप्ति का त्रयात्मक पथ १९५, प्रथम पथ—पक्की श्रद्धा या निष्ठा १९६, द्वितीय पथ—सच्चा ज्ञान १९६, तृतीय पथ—उस पर आचरण १९७, प्रशम-प्राप्ति में बाधक तत्व १९८, प्रशम प्राप्ति का एक बाधक कारण : मनुष्य की आवश्यकताओं और इच्छाओं में वृद्धि १९९, प्रतिकूल-अप्रिय परिस्थितियाँ भी बाधक २०१, भविष्य की दुश्चिन्ता : प्रशम बाधक २०२, असन्तोष : प्रशम का बाधक २०३, असन्तोष उत्पन्न होने के सात कारण २०३, महत्वाकांक्षा : प्रशम में बाधक २०३, अशान्ति के उत्पादक अथवा प्रशम में बाधक—अज्ञान, अहंता, असहयोग एवं अभाव २०४, असहयोगी भावना : अशान्ति का निमित्त २०५, प्रशम-प्राप्ति में साधक उपाय २०६, प्रथम उपाय—विकल्पों को मन में न आने देना २०६, दूसरा उपाय—आत्मभाव में रमण करना २०६, मानसिक प्रशम का हेतु-मैत्रीभावना २०६, वाचिक प्रशम का हेतु मौन अथवा वाणी का संयम २०७, कायिक प्रशम का हेतु, शरीर की संतुलित चेष्टाएँ २०७, प्रशम का मूल त्याग में है २०७, प्रशम का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपाय : काम-भोगों का नाश और निर्ममत्व २०८, अप्रिय स्मृतियों को निकाल देना, प्रशम में सहायक २०८, प्रशम-युक्त व्यक्ति के लक्षण २०९, क्रोध न करना २०९, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग में शोक संताप न करना २१०, प्रतिकूल परिस्थिति में न खीजना २११, ईर्ष्या न करना २१२, फल-निरपेक्ष होकर कर्तव्य भावना से कार्य करना २१४, उच्च कोटि का प्रशमनिष्ठ साधक २१४, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना २१४, प्रशमनिष्ठ की परीक्षा : समाधियोग से २१५, समाधियोग का स्वरूप २१५, समाधियोग का महत्व और उसके अर्थ २१७।

५१. **चारित्र की शोभा : ज्ञान और सुध्यान—१** २१९–२३७

चारित्र और उसका महत्व २१९, चारित्र ज्ञानरूपी भोजन के लिए विटामिन है २२१, चारित्र क्या है ? २२२, चारित्र की शोभा : कब, क्यों और किसमें ? २२३, ज्ञान और सुध्यान के अभाव में चारित्र की दशा २२४, साधनामय जीवन के लिए ज्ञान-ध्यान और चारित्र आवश्यक २२६, ज्ञान और सुध्यान के बिना साधक चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है २२७, चारित्र का पौधा बढ़ता है, ज्ञानजल एवं सुध्यान रूपी खाद से २२९, मुनि सिद्धिचन्द्र और मुगल सम्राट जहाँगीर का दृष्टान्त २३०, मोक्षफल पाने के लिए चारित्र और ज्ञान के साथ सुध्यान का सहयोग आवश्यक २३५, त्रिविध तापनाश के लिए तीनों आवश्यक २३६, भवरोग निवारणार्थ चारित्र के साथ ज्ञान एवं सुध्यान आवश्यक २३६, आत्मा को प्रकाशमान करने के लिए २३७।

५२. **चारित्र की शोभा : ज्ञान और सुध्यान—२** २३८–२६१

चारित्ररूपी नौका के नाविक में ज्ञान और सुध्यान न हो तो २३८, ज्ञान के साथ सुध्यान न हो तो २४०, सुध्यान-बल हो, तभी ज्ञान और चारित्र दोनों सक्रिय २४३, सुध्यान के बिना आत्मदर्शन नहीं होते २४४, सुध्यान : ज्ञान को आत्मा में स्थिर रखने वाला २४७, ज्ञान और सुध्यान में खास अन्तर नहीं २४९, चारित्र का परममित्र सुध्यान : महत्व और लाभ २५०, ध्यान से ही लौकिक और आत्मिक सिद्धियों की प्राप्ति २५२, ध्यान के आठ हेतु २५३, ध्यान का स्वरूप : विविध लक्षणों में २५४, चित्त एकाग्रता भंग होने से सुध्यान टिकता नहीं २५५, चित्त की एकाग्रता की तीन प्रमुख बाधाएँ : स्मृति, कल्पना और वर्तमान की घटना २५५, सुध्यान और दुर्ध्यान : क्या और कहाँ ? २५७, ध्याता को समझने योग्य आठ बातें २५८, सुध्यान के साथ ज्ञान हो तो २५८, सम्यग्ज्ञान से हीन शिष्य चारित्रवान गुरु की साधना चौपट कर देते हैं—आचार्य पुष्यभूति का दृष्टान्त २५९।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५३. शिष्य की शोभा : विनय में प्रवृत्ति २६२–२८२

शिष्य क्यों और किस उद्देश्य से २६२, भारत में प्राचीनकाल में तीन प्रकार के गुरु २६२, शिष्य बनने का मुख्य उद्देश्य, जीवन का निर्माण २६४; उपकारी गुरु के प्रति शिष्य का धर्म : समर्पण २६५, शिष्य स्वतः स्फुरणा से गुरु के प्रति विनीत बने २६५, जीवन विद्या कैसे और किससे प्राप्त हो सकती है ? २६६, गुरु का कठोर व्यवहार और विनीत शिष्य २७०, श्रद्धावान से ही सत्य की प्राप्ति होती है २७३, ऋषि उद्दालक द्वारा शिष्य शिखिध्वज को व्यावहारिक दृष्टान्तों से लोभ-त्याग की शिक्षा २७४, गुरु के ज्ञान का प्रकाश कौन और कैसे पा सकता है ? २७७, सुशिष्य के आठ गुण २७७, अविनीत को विपत्ति और विनीत को संपत्ति २७६, विनीत शिष्य क्या पाता है ? २८०, विनय : शिष्य के लिए बहुमूल्य आभूषण २८८, गुरु के प्रति विनय : कैसे और किस रूप में ? २८२, विनयसमाधि को प्राप्त करने के चार प्रकार २८२ ।

५४. ब्रह्मचारी विभूषारहित सोहता २८३–२६६

यह सौन्दर्य पूजा : कितनी कृत्रिम, कितनी मँहगी ? २८३, यह बाह्य सौन्दर्य कितना क्षणभंगुर है २८७, स्थायी आकर्षण विभूषा में नहीं, शाश्वत सौन्दर्य में २८८, शाश्वत सौन्दर्य के उपासक को कृत्रिम सौन्दर्य की जरूरत नहीं २८८, ब्रह्मचारी को प्रदर्शन की क्या आवश्यकता ? २६१, वास्तविक व्यक्तित्व वेश-भूषा और साज-सज्जा से प्रगट नहीं होता २६२, विभूषा से क्या लाभ क्या हानि ? २६३, विभूषा : न विकार दृष्टि से करें, न देखें २६६, वेश-भूषा का भी मन पर प्रभाव २६८, शील ही परम आभूषण है २६८ ।

५५. दीक्षाधारी अकिंचन सोहता ३००–३२३

साधु की शोभा निस्पृहता है ३००, दीक्षाधारी : यथार्थ रूप में कौन है, कौन नहीं ? ३००, दीक्षा लेने के बाद त्यागी साधु पुनः परिग्रह के मोह में क्यों ? ३०२, दो बौद्ध-भिक्षुओं का दृष्टान्त ३०३, अकिंचन बनकर भी पुनः परिग्रह के कीचड़ में ३०६, प्रतिष्ठा तजना कठिन ३०७; अकिंचनता में बाधक तत्व ३०७, आत्मा के साथ वस्तु का मेरापन जोड़ने से दुख ३०८, अकिंचन साधु स्थान को सराय समझता है ३०८, अकिंचन की तत्त्वदृष्टि ३१०, अकिंचनता के लिए आवश्यक गुण ३१४, पहला गुण—आत्म-सन्तोष ३१५, दूसरा गुण—अपने शुद्ध आत्मा पर पूर्ण विश्वास ३१६, तीसरा गुण—अयाचक वृत्ति ३१७, चौथा गुण—निःस्पृहता ३१८, पाँचवाँ गुण—अपरिग्रहवृत्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३२०, अपरिग्रहवृत्ति के चार मुख्य रूप ३२०, विशुद्ध अकिंचनता ३२१, छोटे से दोष की भी शुद्धि करनी चाहिए, प्रत्येकबुद्धों के चरित्र की प्रेरणा ३२२ ।

५६. राजमन्त्री बुद्धिमान सोहता ३२४–३४५

राजा और मन्त्री का अटूट सम्बन्ध ३२४, मन्त्री रूपी स्तम्भ राज्यमन्दिर को सुदृढ़ रखने के लिए आवश्यक ३२५, फलभागी राजा : कार्यभागी मन्त्री ३२६, मन्त्री : राजा और प्रजा दोनों का हित साधक ३२८, सत्ता-मदान्ध राजा के स्खलन के समय मन्त्री ही आलम्बन ३३०, कल्पक मन्त्री का दृष्टान्त ३३१, मन्त्री कैसा हो, कैसा नहीं ? ३३४, मन्त्री के गुण—विभिन्न ग्रन्थों के उद्धरण ३३५, मन्त्र-तन्त्र कुशल ३३६, देश-काल देखकर कदम उठाने वाला ३३७, राजभक्त ३३८, शास्त्रज्ञ ३३९, दूसरों की कपट क्रिया को भाँप सके ३४०, मित्र एवं स्व-पर पर सम ३४१, व्यवहार देखकर उत्तर देने वाला ३४१, शिष्ट-पालक : दुष्टनिग्राहक ३४१, धर्मिष्ठ ३४१, कार्यार्थी ३४१, परमतत्त्व के प्रति प्रतिबद्ध हृदय वाला ३४२, मन्त्री के दूषण ३४३, वर्तमान युग के मन्त्री ३४५, मन्त्री की शोभा : स्थिर बुद्धिमत्ता ३४५ ।

५७. पतिव्रता लज्जायुक्त सोहती ३४६–३६९

पतिव्रता और पतिव्रत-धर्म की महिमा ३४६, पतिव्रत धर्म : एक समर्पण योग-साधना ३५०, पतिव्रता का आदर्श : पति के दोष न देखना, न सुनना ३५१, पतिव्रता का पति के साथ सम्बन्ध आत्मा का है ३५२, पति के साथ अभिन्नता के कारण संघर्ष नहीं ३५३, पतिमंता और पतिव्रता का अन्तर ३५४, पतिव्रता पति के धर्म को सुरक्षित रखने वाली ३५८, पत्नी के लिए सुन्दर विशेषण—उपासक दशांग सूत्र के अनुसार ३६०, पतिव्रता : सर्वांगीण स्वरूप और उद्देश्य ३६१, सर्वांशत : पति में अनुरक्त नारी-पतिव्रता ३६३, पतिव्रता का मुख्य लक्षण : लज्जा ३६४, लज्जा गुण के आश्रित अन्य गुण ३६६, पतिव्रता स्त्री के छह गुण ३६६ ।

५८. अनवस्थित आत्मा : अपना ही शत्रु ३७०–३८८

आत्मा ही आत्मा का शत्रु : कैसे और क्यों ? ३७०, भारत का भ्रान्त ईश्वरवाद और अमेरिका का परिस्थितिवाद गैर जिम्मेदारी वाद है ३७२, आत्मा स्वयं ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता है ३७२, अपने कर्मों के लिए आत्मा ही उत्तरदायी है ३७४, आत्मा अपना शत्रु कब और कैसे ? ३७७, आत्मा कब अवस्थित, कब अनवस्थित ? ३७८, अवस्थित के सात अर्थ ३७८, अनवस्थित आत्मा के लक्षण ३७९,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवस्थित और अनवस्थित आत्मा की पहचान ३८१, अनवस्थित व्यक्ति अपनी आत्मशक्ति से अनभिज्ञ ३८१, अनवस्थित व्यक्ति में आत्मनिष्ठा की कमी ३८३, एकाग्रता के अभाव में व्यवहार में भी सफलता नहीं ३८४, अस्थिरता ही असफलता का कारण ३८५, मनोयोग पूर्वक काम करने से विकास होता है ३८६, विषय-विकारों की ओर अभिमुख आत्मा अनवस्थित ३८६, अशान्त और असन्तुलित आत्मा अनवस्थित ३८७, कार्य में तल्लीन हो जाना सफलता के लिए आवश्यक ३८७।

५६. शीलवान आत्मा ही यशस्वी ३८६-४०४

शील ही यश का स्थायी मूलाधार ३८६, शील अपनी सुगन्ध दूर-दूर तक फैलाता है ३६०, दान-परायण से शील-संयमवान श्रेष्ठ ३६१ शील-रहित सर्वत्र अनादर पाता है ३६२, शीलवान आत्मा ही सच्चे माने में यशस्वी ३६३, शीलवान आत्मा की पहचान ३६४, प्रथम पहचान—जनसमुदाय के समक्ष गुरु के सान्निध्य में ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ग्रहण करना ३६५, दूसरी पहचान—सदाचार एवं सच्चरित्रता ३६५, शील में अहिंसा आदि पाँचों व्रतों का समावेश (भगवती सूत्र के अनुसार) ३६६, तत्वार्थसूत्र के अनुसार श्रावक के सात उत्तर गुणों का शील में समावेश ३६६, राष्ट्रीय पंचशील ३६६, ब्रह्मचर्य में सभी व्रतों का समावेश ३६७, शीलवान की आत्मा कितनी प्रभावशील व महान ३६७, शील की महिमा ३६७, शील का प्रभाव ३६८, अपंग किन्तु शीलनिष्ठ जर्मन प्रसारिका पेट्राक्रॉस का प्रेरणादायी जीवन ३६६, शीलवान की दृष्टि आत्मा पर ४०१, शीलवान आत्मा : भय और प्रलोभनों के बीच अडिग ४०२, शीलवती आत्मा के शील का रूप ४०३, देश, समाज और धर्म की सेवा के लिए ४०३।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलस्रोत

दुट्ठाहिवा दंडपरा हवंति,
विज्जाहरा मंतपरा हवंति ।
मुक्खा नरा कोवपरा हवंति,
सुसाहुणो तत्तपरा हवंति ।।८।।

दुष्ट-अधिप तो दण्ड-परायण
मन्त्र-परायण विद्याधर जन ।
क्रोध-परायण मूर्ख मनुज है
तत्त्व-परायण साधु शिवंकर ।।८।।

सोहा भवे उग्गतवस्स खंती,
समाहिजोगो पसमस्स सोहा ।
नाणं सुज्झाणं चरणस्स सोहा,
सीसस्स सोहा विणए पवित्ति ।।९।।

तप की शोभा विमल-क्षमा में,
समाधियोग है शम की शोभा ।
ज्ञान-ध्यान से चारित्र शोभता,
विनय बढ़ाता शिष्य की शोभा ।।९।।

अभूसणो सोहइ बंभयारी,
अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी ।
बुद्धिजुओ सोहइ रायमंती
लज्जाजुआ सोहइ एकपत्ति ।।१०।।

ब्रह्मचारी विभूषा रहित शोभता
शोभे अकिंचन साधु सदा ।
बुद्धि राजमन्त्री की शोभा
लजवंती शोभती पतिव्रता ।।१०।।

अप्पा अरी हो अणवट्ठियस्स,
अप्पा जसो सीलमओ नरस्स ।....
स्वयं शत्रु अनवस्थित आत्मा
शीलवान यश पाता है ।।....

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४१

दुष्टाधिप होते दण्डपरायण—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहता हूँ जो कर्तव्यविहीन और निन्दनीय जीवन समझा जाता है। वह जीवन है—दुष्ट शासनकर्ता का जीवन। शासक का जीवन विश्वसनीय, वात्सल्यमय एवं स्नेहसिक्त होना चाहिए, किन्तु जब उसमें स्वार्थ, अहंकार और भोग की प्रबलता हो उठती है तो वह कर्तव्य, धर्म और नीति से रहित हो जाता है, तब वह वात्सल्यमय या स्नेह से ओत-प्रोत न होकर कठोर शासनात्मक, केवल दण्डपरायण हो जाता है। इसलिए गौतम महर्षि ने सूचित किया है—

'दुट्ठाहिवा दंडपरा हवंति'

दुष्ट अधिप—शासक या अधिकारी दण्डपरायण होते हैं। गौतमकुलक का यह पैंतीसवाँ जीवन-सूत्र है। यह जीवन-सूत्र केवल शासक के लिए ही नहीं, प्रत्येक अधिकारी के लिए मननीय है।

अधिप क्यों और किसलिए बनाया गया था ?

मनुष्य ने जब से समाज बनाकर रहना सीखा, तब से उसने परिवार, जाति, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र और राज्य (शासन), धर्म एवं समाज के विविध संगठन बनाये। जब संगठन बने तो उन संगठनों का ठीक रूप में संचालन करने के लिए किसी न किसी योग्य, गुणवान, प्रभावशाली, शक्तिशाली एवं चरित्रवान व्यक्ति के कुशल हाथों में उसका आधिपत्य, नेतृत्व या संचालन-सूत्र सौंपना उचित समझा गया। उस संगठन का आधिपत्य सौंपने के साथ-साथ उसे कुछ विशिष्ट अधिकार भी दिये गये। न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था का दायित्व भी उसी का माना गया।

प्रत्येक संगठन का अधिप या अधिपति इसलिए भी बनाया जाता था कि अराजकता न फैल जाये। अगर अधिपति नहीं बनाया जाता तो कोई भी चालाक या थोड़ा-सा ताकतवर या दुःसाहसी व्यक्ति झट उस संगठन को हथियाने और मनमानी करने, दुर्बल लोगों को दबाने-सताने को तैयार हो जाता, वह नेता या अधिपति बन बैठता। जनता ने इस स्थिति से बचने के लिए मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के संगठन का एक अधिप या अधिपति बनाना आवश्यक समझा। अधिपति बनाना इसलिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी आवश्यक था कि सामान्य बुद्धि का मानव जीवन में आने वाली अटपटी और अबूझ समस्याओं को हल नहीं कर पाता था, अधिपति अपनी बौद्धिक योग्यता और क्षमता के आधार पर उन समस्याओं को हल करता और उचित कानून एवं दण्डव्यवस्था भी करता था।

जब समाज और राज्य का निर्माण नहीं हुआ था, उस युग में कुलकर या मनु की व्यवस्था थी। कुलकर कुलों की समस्याएँ हल करता था, यथोचित परामर्श देता था, वह जनता के हित के लिए अपनी निःस्वार्थ सेवाएँ देता था। परन्तु यौगलिक काल की परिसमाप्ति के समय अनेक झंझट और संघर्ष यौगलिक जनता में पैदा हो गये थे। चूँकि कर्मभूमि का प्रारम्भ हो गया था, भोगभूमि समाप्तप्राय थी। जनता में जीवनयापन के साधनों के लिए आपस में तू-तू-मैं-मैं होने लगी थी। विग्रह भी होने लगे थे। जनता इन प्रतिदिन के संघर्षों व झंझटों से ऊब गई थी और चाहती थी कि किसी तरह कोई हमारा आधिपत्य स्वीकारे और हमें जीवनयापन के लिए सही मार्गदर्शन दे। अतः उस समय की भोली-भाली साधारण बुद्धि की जनता अपने कुलकर नाभिराय के पास यह जटिल प्रश्न लेकर पहुँची। नाभिराय ने सब कुछ सुनकर कहा—"तुम सब लोग ऋषभ के पास जाओ। वह कुशल, बुद्धिमान और महान् शक्तिशाली है, तुम्हारी सभी समस्याओं का वह शीघ्र समुचित हल कर देगा।" अतः यौगलिक जनता आशान्वित होकर भावी तीर्थंकर और वर्तमान में नाभिराय कुलकर के पुत्र ऋषभदेव के पास पहुँची। जनता ने उन्हें अपना नेतृत्व और आधिपत्य सौंपा। साथ ही उन्हें अधिकार दिये कि "आप जो भी कुछ हमारे हित के लिए करेंगे, वह हमें मंजूर होगा।"

आगे का इतिहास काफी लम्बा है। मुझे तो आपको यह बताना था कि मनुष्यों ने आदिमकाल में अपना अधिपति (अधिप) कैसे चुना और उसे सर्वस्व अधिकार कैसे सौंपे? संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि ऋषभदेव प्रथम राजा बने, उन्होंने वर्ण-व्यवस्था की। पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक आदि सभी जीवन-क्षेत्रों के संगठन बनाये। उनके नियमोपनियम बनाये। असि, मसि, कृषि इन तीन मूल आजीविकाओं के आधार पर अन्य कलाएँ और शिल्प सिखाये। न्याय और सुरक्षा की सुदृढ़ व्यवस्था की। उस समय राजा ऋषभदेव ने तीन प्रकार के दण्ड अपराधियों के लिए नियत किये थे—हकार, मकार और धिक्कार। इतना ही दण्ड उस समय की जनता के लिए पर्याप्त था।

वैदिक ग्रन्थों में 'मनु' राजा कैसे बने? इसकी रोचक पौराणिक कहानी है। कहते हैं कि मनु जंगल में तपस्या एवं भगवद् भजन कर रहे थे। उन दिनों में कोई राजा न था। इसलिए प्रजा में बहुत अंधेरगर्दी चलती थी। इसलिए प्रजा को यह लगा कि मनु महाराज अपने राजा बन जाएँ तो अच्छा हो। लोग उनके पास पहुँचे और सविनय निवेदन किया—"देव! कृपा करके आप हमें मार्गदर्शन दीजिए।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनु ने कहा—"मैं यहाँ बैठा हूँ, जो भी मेरे पास आते हैं, उन्हें सच्ची राह बताता हूँ। परन्तु लोग उस पर चलें नहीं, उसका मैं क्या करूँ? मार्गसूचक स्तम्भ का काम मार्ग-दर्शन करने का है, दिशा बताने का है, लोग उस दिशा में नहीं जाना चाहते तो क्या मार्गसूचक स्तम्भ उनका हाथ पकड़कर ले जायगा? मैं भलाई का रास्ता ही तो बता रहा हूँ।"

इस पर लोगों ने कहा—"महानुभाव! आपने स्वर्ग का रास्ता बताया, पर वह तो बहुत संकड़ा है, नरक का रास्ता चौड़ा है, इसलिए हम सबका मन उसी तरफ जाने को होता है।"

मनु बोले—"ठीक है, तब जाओ, तुम्हारी मर्जी की बात है।"

इस पर लोग आग्रहपूर्वक कहने लगे—"महानुभाव! आप हमारे राजा बनें, तो आपके कठोर अनुशासन में प्रजा सन्मार्ग पर व्यवस्थित ढंग से चल सकती है। आपको हम यथेष्ट अधिकार भी दे सकते हैं, प्रजा को सच्ची राह पर चलाने और विपरीत राह से रोकने के लिए।" तब मनु महाराज ने कहा—"प्रजाजनो! मेरी दो शर्तें हैं—एक तो यह कि समग्र जनता एक स्वर से कहे कि 'मनु राजा बनें' तो मैं यह जिम्मेवारी लेने को तैयार हूँ। एक भी मनुष्य ऐसा न हो, जो इस विचार से विरुद्ध हो। दूसरी शर्त यह है कि मुझे जनता की भलाई के लिए जो कुछ अच्छे-बुरे, सरल-कठोर कानून बनाने पड़ेंगे, उनकी सारी जिम्मेवारी और पाप-पुण्य तुम्हें भोगने पड़ेंगे। यदि ये दोनों शर्तें मंजूर हों तो मैं राजा बन सकता हूँ।"

समग्र जनता ने एक-स्वर से इसे स्वीकार किया और मनु राजा बने। जैसा कि पुराणों में कहा है—

एवं मनुः राजा अभवत्।

यह तो हुआ राज्य शासन के अधिपति का इतिहास!

अधिप के कितने रूप?

इसी प्रकार समाज का आधिपत्य जिनको सौंपा जाता था, वे समाजाधिप या समाजाधिपति, ग्राम का आधिपत्य जिन्हें सौंपा जाता था, वे ग्रामाधिप (गाँव के मुखिया या अग्रणी) कहलाते थे। जाति का आधिपत्य जिन्हें सौंपा जाता, उन्हें सरपंच कहते थे।

उस युग में मुख्यतया राज्याधिप को ही अधिक महत्व दिया जाता था। वही अपने अधीन विभिन्न विभागों के मन्त्री या अधिकारी चुनकर नियुक्त कर देता था। मगर बाद में इस व्यवस्था में अनेक परिवर्तन करने पड़े। राज्याधिप (राजा) अकेला इन सब विभागों के अधिपों या अधिकारियों पर ठीक तरह से नियन्त्रण नहीं कर पाता था। राजा स्वयं कई बार सत्ता के मद में आकर अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर बैठता था। जनता अपनी वास्तविक पुकार सीधी राजा तक नहीं पहुँचा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाती थी, विभिन्न विभागों के अधिकारीगण बीच में ही उसकी पुकार को दबा देते थे। इसलिए जनता के प्रतिनिधि ऋषि-मुनि या पवित्र निष्पक्ष ब्राह्मण, उक्त राज्याधिपों पर अंकुश रखते थे, कहीं-कहीं महाजन सामाजिक संगठन के अधिपति होते थे, वे जनता की आवाज राजा तक पहुँचाने का प्रयत्न करते थे। इसी प्रकार कई जगह विभिन्न जातियों के अपने-अपने संगठन होते थे और उनके अधिपति—सरपंच कहलाते थे, वे भी जनता की वास्तविक कठिनाइयाँ एवं दुःख-दर्द सुनकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते थे, निष्पक्ष न्याय देते थे, पारस्परिक वैमनस्य मिटाते थे।

इसलिए आप अधिप शब्द से केवल राजा को ही न लें, अपितु ऋषि-मुनि, ब्राह्मण, समाजनेता, राष्ट्रनेता, ग्रामाधिप, नगरसेठ, महाजन, सरपंच एवं अधिकारी आदि सब का समावेश 'अधिप' शब्द में कर लीजिए। महर्षि गौतम ने 'अधिप' शब्द का प्रयोग बहुत ही सोच-समझकर व्यापक दृष्टि से किया है।

'अधिप' शब्द का अर्थ

वैसे तो 'अधिप' शब्द का सामान्य अर्थ होता है—

अधिकं अधिकं पाति रक्षतीति अधिपः

जो अपने अधीनस्थों का अधिकाधिक रक्षण करता हो, वह अधिप है।

इसका तात्पर्य यह है कि अधिप को आधिपत्य एवं विशिष्ट अधिकार दिये जाते हैं, वे केवल जनता—अपनी अधीनस्थ जनता—के हित, कर्तव्य, धर्म, नीति एवं न्याय की सुरक्षा तथा जान-माल की सुरक्षा के लिए ही दिये जाते हैं, अपनी स्वार्थसिद्धि, मौज-शौक, शान-शौकत, आरामतलबी, रंगरेलियाँ मनाने या जनता के द्वारा प्राप्त धन पर गुलछर्रे उड़ाने या सत्ता के मद में आकर किसी को अत्यधिक दण्ड देने, पीड़ित-पददलित करने या सताने के लिए नहीं।

अधिप में गुण और योग्यता

अधिप में दया, क्षमा, सहानुभूति, सेवा, धैर्य, गम्भीरता, श्रमनिष्ठा, सात्त्विक बुद्धि, उदारता, गुणग्राहकता, सदाचार, आदि विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है, फिर वह 'अधिप' चाहे जिस क्षेत्र का हो। उसका चरित्रवान् होना अनिवार्य है। साथ-साथ उसमें समय आने पर जनता के लिए अपने आपके त्याग, बलिदान एवं सर्वस्व न्यौछावर करने की वृत्ति होनी चाहिए। उसकी सूझबूझ, कर्त्तव्यबुद्धि एवं न्यायनिष्ठा इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह तुरन्त अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सके, न्याय दे सके और मार्गदर्शन भी दे सके। उसमें न्याय, नीति और धर्म के लिए मर-मिटने की हिम्मत होनी चाहिए।

अधिप की श्रेष्ठता अधिकार में नहीं, त्याग-बलिदान में है

अधिप को श्रेष्ठ मनुष्य माना जाता है। सम्भव है, इसी कारण बनियों या महाजनों को श्रेष्ठ (सेठ) कहने का रिवाज चल पड़ा हो। परन्तु अधिप की श्रेष्ठता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का आधार, उसको मिले हुए उच्च अधिकार नहीं हैं, अपितु समय आने पर हर प्रकार का त्याग, या बलिदान के लिए तत्परता है; सच्चरित्रता है।

अहमदाबाद का नगरसेठ खुशालचन्द्र नवाब द्वारा नगराधिप बनाया गया था। यों तो नगरसेठ का पद पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चलता आ रहा था। परन्तु एक बार इस 'नगरसेठ' पद की भारी कसौटी हुई। अहमदाबाद पर घोर विपत्ति छाई हुई थी। अहमदाबाद की सुरक्षा का भार था तत्कालीन शासक इब्राहीम कुली खाँ के हाथों में; लेकिन अचानक ही सिपहसालार हमीद खाँ ने अहमदाबाद पर आक्रमण कर दिया। हमीद खाँ के आगे इब्राहीम कुली खाँ टिक न सका। भद्रदुर्ग के फाटक को तोड़कर हमीद खाँ की सेना आँधी की तरह शहर में घुस आई और लूटपाट, सामूहिक हत्या, मारपीट एवं आगजनी करने लगी। नगरसेठ खुशालचन्द्र ने इस नृशंस काण्ड को देखा तो एक क्षण गम्भीरता से सोचकर तुरन्त अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लिया। वे सिर्फ अधिकार के बल पर दूसरों पर रौब गाँठने वाले नहीं थे, अपितु अपने कर्त्तव्य को प्राथमिकता देने वाले त्यागवीर पुरुष थे। इस समय उन्हें अपने जान-माल की सुरक्षा की चिन्ता नहीं थी, वे नगर के निर्दोष नागरिकों के जान-माल की सुरक्षा चाहते थे। इसलिए ऐसे घोर संकट के समय अपने प्राणों की परवाह किये बिना सीधे सेनापति हमीद खाँ के पास पहुँच गये। नगरसेठ ने उससे नम्र प्रार्थना की—"शहर को अराजकता से बचाकर शीघ्र सुव्यवस्था की जाए।"

सेनापति आरक्त नेत्रों से नगरसेठ की ओर घूर कर देखने लगा। वह नगरसेठ की सौम्य आकृति से प्रभावित होकर बोला—"धन का ढेर सामने रखो, उसके बिना सेना वापिस नहीं लौट सकती।"

"धन देता हूँ, माँगो जितना; परन्तु सेना को शीघ्र वापस लौटाओ, मुझसे ये अग्नि की ज्वालाएँ, निर्दोष नागरिकों की हत्या, सम्पत्ति की लूटपाट और दीनों के आश्रय-स्थानों का सर्वनाश देखा नहीं जाता।" नगरसेठ के शब्दों में हृदय-द्रावकता थी।

"अहमदाबादी बनिये ! माँगू जितना धन देगा ?"

"हाँ अवश्य !" नगरसेठ ने कहा। किन्तु 'हाँ' कहने वाला बनिया जानता था कि उस धनराशि की पूरी जिम्मेवारी उस पर है, एक 'हाँ' के पीछे तिजोरी का पैंदा दिख जायगा। फिर भी अपनी सम्पत्ति को बचा लेने का जरा भी स्वार्थी विचार नगरसेठ के मन में न आया। वे बोले—"सेना को आदेश दो, कि वह वापस लौट जाए। आपके कथनानुसार धनराशि अभी ले आता हूँ।"

तुरन्त सेना को वापस लौटने की रणभेरी बजी। लूटमार करने वाली सेना तत्काल शिविरों में आ पहुँची। आग से जले घर बुझाये गये। जनता ने सन्तोष की ठण्डी साँस ली। कुछ ही देर में चार बैलों के सुन्दर रथ में रुपयों की थैलियाँ आ गईं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सेनापति के सामने रुपयों का ढेर लग गया। वह सेठ की इस त्यागवीरता से अतीव प्रसन्न होकर प्रशंसा करते हुए बोला—"सेठ! जाओ, अब तुम्हारा नगर सुरक्षित है।"

नगरसेठ खुशालचन्द्र ने पीढ़ियों से कमाये हुए संचित धन को एक आक्रांता के द्वार पर उड़ेल दिया। पर उन्हें इसकी चिन्ता न थी। सेठ ने सोचा—चलो, धन गया, किन्तु प्रजा तो बच गयी। नगरसेठ घर पहुँचे। सारे अहमदाबाद में यह बात बिजली की तरह फैल गयी कि नगरसेठ ने अपना सर्वस्व त्यागकर हमारे शहर की और हमारी जाति के सम्मान की रक्षा की है। उनके इस अद्भुत त्याग की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि अधिप, चाहे वह किसी भी रूप में हो, उसकी श्रेष्ठता पद, अधिकार या धन से नहीं होती, वह होती है—उसके त्याग, बलिदान और समय की सूझबूझ से।

अधिप बड़ा क्यों माना जाता है ?

इसी प्रकार किसी अधिप को बड़ा इसलिए नहीं माना जाता कि उसके पास धन का अम्बार है, वैभव की चमक-दमक है, या सत्ता अथवा प्रभुता का दौर है, या किसी उच्चपद का अधिकार है; अपितु, इसलिए माना जाता है कि उसमें उदारता और दूरदर्शिता है, क्षमा, दया, सहानुभूति आदि गुण हैं। उनके पास न्याय, नीति और धर्म का धन है। अगर धन से ही बड़प्पन मान लिया जाये तो धन तो चोर-लुटेरे, बेईमान आदि भी इकट्ठा कर सकते हैं। बाप-दादों की कमाई हुई पर्याप्त सम्पत्ति भी किसी मूर्ख सन्तान को मिल सकती है। धन-वैभव के आधार पर किसी अधिप को बड़ा मानने का दृष्टिकोण ही गलत है। न वह सत्ता एवं प्रभुता के कारण बड़ा माना जा सकता है।

आजकल राजनीतिज्ञ लोग अनेक प्रकार की तिकड़मबाजी से भी सत्ता हथिया लेते हैं। पुराने जमाने में भी अपने पिता को या दूसरे किसी सत्ताधारी को मार कर या हराकर उसका राज्य छीन लिया जाता था। इसी प्रकार मार-काट, चोरी-डकैती के आतंक से भी प्रभुता प्राप्त की जाती है। क्या आप ऐसी सत्ता या प्रभुता पाने वाले अधिप को बड़ा कहेंगे ? कदापि नहीं। कौणिक और औरंगजेब ने अपने पिता को बन्दी बनाकर सत्ता प्राप्त की थी, क्या वे इसलिए महान् (बड़े) माने जा सकते हैं ? कदापि नहीं। जो बड़प्पन की बात सोचें, बड़े कार्य करें, त्याग, सेवा और दया के कार्य करें, वे बड़े हैं। जो दूसरों की भलाई के लिए स्वयं कष्ट सहें, वे बड़े हैं। जो अपनी बड़ाई के भूखे हों, तिकड़मबाजी से धन, सत्ता आदि हासिल करके बड़े बनना चाहें, वे लोकदृष्टि में कभी बड़े नहीं हो सकते।

आपको यह तो मालूम ही होगा कि खाने के बड़े कैसे बनते हैं। एक कवि ने इसकी प्रक्रिया इस प्रकार बतायी है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहले थे वे मर्द, मर्द से नार कहाए ।
कर गंगा में स्नान, पाप सब धोय गमाए ।।
कर शिल्ला से युद्ध, घाव बरछिन के खाए ।
कूद पड़े अग्नि कुण्ड में, तब हम बड़े कहाए ।।

अधिप को भी बड़ा इसीलिए माना जाता है कि समय आने पर वह स्वयं कष्ट और संकट को सह लेता है किन्तु दूसरों को कष्ट और संकट में नहीं डालता। एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा अपनी बात को स्पष्ट कर दूँ—

बात उन दिनों की है, जब भारत पर ब्रिटिश सरकार का शासन था। जयपुर भी उन दिनों ब्रिटिश हुकूमत में चल रहा था। नगर का शासन प्रबन्ध एक पोलिटिकल एजेंट के हाथ में था, जो बड़ा ही अत्याचारी और क्रूर था। गली में कहीं कोई बच्चा टट्टी बैठ जाता या कोई कूड़ा-कर्कट डाल देता तो वह उन्हें मारता-पीटता और भारी जुर्माना कर देता। लोग उसके अत्याचार से तंग आ गये। एक दिन उस बस्ती के लोगों ने गुप्त मीटिंग करके निर्णय कर लिया कि इस बार दुष्ट पोलिटिकल एजेंट आये तो उसे पत्थरों से मारकर यहीं समाप्त कर दें। फिर इस अत्याचारी से पिंड छूट जायगा।

इस निर्णय के अनुसार दूसरे दिन सभी लोग हाथों में लाठी, पत्थर, खुरपी आदि लेकर अपने-अपने मौहल्लों में खड़े हो गये। उसने आते ही अपनी पुरानी आदत के अनुसार लोगों को मारना-पीटना और जुर्माना करना शुरू किया। लोग तो तैयार ही थे। एकदम उस पर टूट पड़े। पत्थरों की मार से वह घायल और बेहोश होकर गिर पड़ा और वहीं उसने दम तोड़ दिया। दूसरे दिन ब्रिटिश पार्लियामेंट में यह खबर पहुँची कि जयपुर के लोगों ने पोलिटिकल एजेंट को मार डाला है। खबर सुनते ही वहाँ के अध्यक्ष को बहुत गुस्सा आया। उसने फौरन आर्डर भेजा—"सारे जयपुर को चारों ओर से घेरकर गोली से उड़ा दो।"

उस समय जयपुर के प्रधान एक जैन थे। उनके पास यह दुःखद खबर पहुँची। वे गहरे मंथन में पड़ गये। कुछ लोगों के अपराध के कारण सारे शहर को दण्ड भोगना पड़े, साथ ही बेचारे निर्दोष पशुओं को भी बेमौत मरना पड़े, यह तो सरासर अन्याय है, दूषित शासन व्यवस्था का नमूना है। अब क्या किया जाए, जिससे यह हुक्म पलट जाए? अन्यथा, ब्रिटिश पार्लियामेंट का हुक्म पलट नहीं सकता। तुरन्त परदुःखकातर नगराधिप-सम जैनमन्त्री को एक बात सूझी—"क्यों न इस हुक्म को मैं ही अपने ऊपर ले लूँ। मेरे अकेले के जान देने से सारे नगर की जान बच जायेगी। शरीर का क्या है? यह तो नश्वर है ही, बुढ़ापा झाँकने लगा है, मौत के कगार पर तो पहुँचा ही हुआ हूँ। शरीर एक न एक दिन समाप्त होगा ही, फिर इस महान कार्य के लिए अपने शरीर का उत्सर्ग कर दूँ तो कितना सुन्दर होगा?" बस, उन्होंने अपने पुत्रों तथा परिवार को गहराई से यह बात समझायी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो उन्होंने कहा—"पिताजी ! वैसे तो हम आपको हमारे बीच में से उठाना नहीं चाहते, तथापि दूसरों की सेवा के लिए आप शरीर अर्पण कर रहे हैं, इसलिए हम आपको रोकने में भी असमर्थ हैं।" मन्त्री ने ब्रिटिश पार्लियामेंट को लिखा था कि "इस प्रजा का अपराध नहीं, अपराध मुख्यतया मेरा है, इसलिए यह दण्ड मुझे मिलना चाहिए, निर्दोष प्रजा को नहीं।"

खबर पहुँची, वहाँ से वापस आर्डर आया कि जब मन्त्री अपराधी है तो उसे इस अपराध के बदले फाँसी की सजा दी जाये। प्रजा ने जब यह सुना तो उसकी आँखों से अश्रुधारा बह निकली। जब मन्त्री फाँसी के तख्ते पर चढ़ने जा रहे थे, तब हजारों आदमी उन्हें विदा देने चले। मन्त्री के चेहरे पर प्रसन्नता थी। उनकी दयालुता, ईमानदारी, न्यायप्रियता आदि में किसी को सन्देह न था। नियत समय पर मन्त्री फाँसी के तख्ते के पास आये, जनता की भीड़ उनके चारों ओर खड़ी प्रभु से प्रार्थना कर रही थी। सबकी शुभ-कामनाएँ बरस रही थीं। मन्त्री सबसे क्षमा याचना करके अपने इष्टदेव स्मरण करके फाँसी के तख्ते पर चढ़े। किन्तु एक-दो सीढ़ियाँ चढ़े होंगे कि उनका हार्ट फेल हो गया। वे वहीं गिर पड़े। फाँसी का तख्ता अभी दूर था। प्रजा एक ओर 'धन्य-धन्य' कह रही थी, दूसरी ओर आँखों से शोकाश्रु डाल रही थी। एक परोपकारी मन्त्री (नगराधिपसम) ने सारे नगर की रक्षा के लिए अपना बलिदान दे दिया। यह है अधिप का बड़ा कार्य, दूसरों के कष्ट-निवारण के लिए अपना उत्सर्ग ! इस उदाहरण से आप दुष्टाधिप और शिष्टाधिप का अन्तर भी समझ गये होंगे। वास्तव में बड़ा नाम या पद नहीं होता, बड़ा होता है काम।

बड़प्पन व्यक्तित्व एवं कार्यों से मिलता है, जो जितना उदार होता है, वह उतना ही बड़ा माना जाता है, चाहे वह गरीब घर में जन्मा हो। धन का अभाव व्यक्ति की महत्ता को कुण्ठित नहीं कर सकता। जिसकी भावना, आकांक्षा और विचारधारा जितनी ऊँची होगी, आदर्शवाद के प्रति जितनी अधिक आस्था होगी, उतनी ही उसकी महत्ता होगी। शिष्ट अधिप उच्च स्तर की बात सोचते और उच्च कार्य करते हैं। जिससे मानवता कलंकित होती हो, व्यक्तित्व का मूल्य घटता हो, ऐसे कार्य वे कितना ही कष्ट आ पड़ने या दूसरों द्वारा परेशान किये जाने पर भी करने को तैयार नहीं होते। यों तो हर वाचाल, चालाक और अधिकार-लोलुप व्यक्ति आदर्श की बड़ी-बड़ी बातें कर सकता है, लेकिन परीक्षा की घड़ी में पता चलता है कि कौन उदार, स्वार्थी, कष्ट-सहिष्णु और बड़ा है तथा कौन अनुदार, संकट से भागने वाला और छोटा है।

दुनिया किसी को बड़ा आदमी तभी मानती है, जब वह औसत दर्जे के आदमी से अधिक ऊँचा सिद्ध होता है। जो प्रलोभनों की ओर खिंचता रहता है, प्राण चले जाने के भय से काँपता रहता है, वह तो संसार की क्षुद्रता द्वारा नचाई जाने वाली कठपुतली के समान है। ऐसे लोग बड़प्पन का दावा नहीं कर सकते। जो किसी काम में हाथ डालने से पहले या किसी पथ पर कदम रखने से पहले सौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बार यह सोचता है कि एक श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए यह उचित है या नहीं, किन्तु कदम बढ़ाने के बाद पीछे नहीं हटता, वस्तुतः वही बड़प्पन का अधिकारी है।

सन् १९४७ में देश-विभाजन के समय ऐसा लगता था, मानो लोगों के हृदय भी विभाजित हो गये हैं। साम्प्रदायिक दंगे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे। हिन्दू-मुस्लिम एक-दूसरे के खून के प्यासे बने हुए थे। मनुष्य की जान का कोई मूल्य न रह गया। उस समय दिल्ली दंगों का केन्द्र बनी हुई थी। हर गली और सड़क पर लाशों के ढेर लग गये थे। मकानों में आग लगाई जा रही थी। दुकानें लूटी जा रही थीं। कुछ उपद्रवी एक जूतों की दुकान में घुस गये। यह देखते ही दुकानदार तो जान बचाकर भागा। गुण्डे जूते लेकर इधर-उधर भागने लगे। उसी समय एक दबंग, निहत्था आदमी अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहने हुए दनदनाता हुआ दुकान में घुस आया। उसे देखते ही लोग जहाँ के तहाँ खड़े रह गये। फिर वे जूतों के जोड़ों को न उठा सके। फिर भी एक दुष्ट आदमी जूते लेकर भागने लगा; पर वह महान् व्यक्ति उसे अपने सामने दुकान कैसे लूटने दे सकता था। उसने पीछे दौड़कर जो ललकार लगाई कि वह जूते वहीं छोड़कर जान बचाकर भाग गया। फिर तो उस सफेदपोश महान् व्यक्ति ने बिखरे हुए सारे जूते उठाकर दूकान में रख दिये। यह दबंग व्यक्तित्व का धनी था भारत का प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, जो साम्प्रदायिक दंगों की लपटों के बीच भी अकेला और निहत्था निर्भय होकर घूमता था।

वास्तव में बड़े आदमी 'नेकी कर कुँए में डाल' की नीति अपनाते हैं। किसी के साथ कुछ उपकार किया है तो उसकी चर्चा करना तो दूर रहा, उसका स्मरण भी नहीं करते, पर क्षुद्र आदमी अपने राई से एहसान को पहाड़ बनाकर उस पर बार-बार जताते रहते हैं, जिसके साथ उन्होंने कुछ उपकार किया है। बड़े आदमी का यह प्रमुख चिह्न है कि वह घटनाओं से, व्यक्तियों से या किसी से भी उद्विग्न नहीं होता। धीरज उसके हाथ से कभी छूटता नहीं, वह शोक-सन्ताप की घड़ियों में भी चट्टान की तरह अडिग रहता है।

बड़प्पन बाहर नहीं, भीतर रहता है। बाहरी ठाठ-बाट से नहीं, दिल-दिमाग को चौड़ा—उदार और दूरदर्शी रखकर ही उसे प्राप्त किया जाता है। बड़े आदमी आज की नहीं, आने वाले सुदूर भविष्य की सोचते हैं। अपना कल्याण किस बात में है? जीवन की सार्थकता किस नीति को अपनाने में है? आज उपलब्ध हुए अमूल्य अवसर का सर्वश्रेष्ठ उपयोग क्या है? वे यही सोचते रहते हैं और इन्हीं प्रेरणाओं के प्रकाश में अपना कार्यक्रम निर्धारित करते हैं। किसी का शोषण करके या किसी पर अन्याय, अत्याचार वे नहीं करते, बल्कि किसी को सहायता पहुँचाने, या कुछ भी दे देने की भावना रखते हैं। वे सादगी अपनाते हैं, नम्र रहते हैं, अपने हाथ से काम करने में लज्जा महसूस नहीं करते, मधुर बोलते हैं और प्रत्येक कार्य में शिष्टाचार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं सज्जनता का पुट बनाये रखते हैं। उनकी यह आन्तरिक महानता ही दूसरे की आँखों में बड़ा आदमी प्रमाणित करती है।

मेसेच्युसेट्स के सेनेटर चार्ल्स समर एक दिन प्रातःकाल अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन से मिलने आये। आते ही उन्होंने देखा कि अमरीका के राष्ट्रपति स्वयं अपने बूटों पर मस्ती से पालिश कर रहे थे। आगन्तुक ने पूछा—"आप अपने बूटों पर स्वयं ही पालिश क्यों कर रहे हैं? क्या कोई नौकर नहीं है?"

अब्राहम लिंकन ने विनोद में उत्तर दिया—"अपने बूटों पर नहीं तो क्या किसी दूसरे के बूटों पर करूँ? अपना काम स्वयं करने में संकोच ही क्या? छोटी-छोटी निजी सेवाओं के लिए दूसरों पर निर्भर रहना किसी भी तरह से उचित नहीं।"

कार्लाइल के शब्दों में कहूँ तो—"बड़े आदमी छोटे आदमियों के साथ सद्-व्यवहार करके अपना बड़प्पन प्रगट कर सकते हैं।"

अधिप ही सच्चा जननेता होता है

जो सच्चे अधिप होते हैं, चाहे वे किसी भी जीवन-क्षेत्र के हों, सच्चे जननेता होते हैं। वे 'जैसे को तैसा' की नीति नहीं अपनाते, गाली और घूंसों का जवाब गाली और घूंसे से देने से कोई आदमी बड़ा नहीं हो जाता है, बड़े आदमी में जो विशेषता देखी जाती है, वह है क्षमा और सहनशीलता। वे ओछे लोगों की छोटी हरकतों से उद्विग्न नहीं होते। उनकी गलती को सुधारने का प्रयत्न करते हुए भी वे अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोते। वे अपने में भी जहाँ गलती देखते हैं, वहाँ तुरन्त सँभलने और सुधरने को तत्पर हो जाते हैं; जबकि क्षुद्र व्यक्ति अपनी हर बात को सही व सच्ची सिद्ध करने की कोशिश करते हैं और जो भी खराबी दिखायी पड़ती है, उसका दोष दूसरों पर मढ़ देते हैं। बड़े आदमियों का तरीका इससे भिन्न होता है, वे प्रत्येक कार्य में देखते हैं कि मेरा जितना कर्तव्य और उत्तरदायित्व था, वह पूरा किया या नहीं? अपनी गलतियाँ वे स्वयं सोचते और दूसरों से पूछते रहते हैं।

भू० पू० राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र बाबू उन दिनों कांग्रेस के अध्यक्ष थे। एक बार उन्हें देश-सेवा के उपलक्ष में एक लाख रुपयों की थैली मिली; जो उन्होंने कांग्रेस को भेंट कर दी। निकट के कुछ व्यक्तियों ने जाकर उनकी फुआ से कह दिया—"बाबू को एक लाख रुपये मिले हैं, उन्होंने सब कांग्रेस को भेंट कर दिये हैं। फुआ बहुत बिगड़ीं, उन्होंने राजेन्द्र बाबू को बहुत डाँटा, लेकिन वे मुस्कराते हुए सुनते रहे।

एक बार राजेन्द्र बाबू जेल में थे, पीछे से किसी ने उनका एक खेत जोत लिया। नौकरों ने फुआ को खबर दी। वे कारिन्दों के दाँव से परिचित तो थीं नहीं, सीधे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एस० डी० ओ० के पास पहुँच गई, जो दौरे से अभी लौटकर आए ही थे। फुआ ने उनसे अपना खेत जोतने की शिकायत की। मजिस्ट्रेट ने तुरन्त आदेश दिया कि खेत उस किसान के कब्जे से निकालकर फुआ को दे दिया जाये। फुआ की विजय हो गई और उन्होंने जेल में राजेन्द्र बाबू को इस बात से सूचित भी कर दिया। पर सत्यनिष्ठ बाबू को यह मालूम होते ही उन्होंने मजिस्ट्रेट को खत लिखकर भेजा कि वह खेत उसी व्यक्ति को वापिस कर दिया जाय, खेत उसी का है।

ऐसी सत्यता और उदारता होती है, बड़े आदमियों में ! वे ही सच्चे माने में अधिप होते हैं।

वे छोटे से छोटे कार्य के लिए अपने सेवकों को आदेश न देकर स्वयं कर लेते हैं। सेवा का कार्य चाहे छोटा ही हो, वे कतराते नहीं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे आश्रम में टट्टियाँ साफ कर लेते थे, गेहूँ आदि स्वयं बीनकर साफ कर लेते थे, अपने कर्तव्य में कभी शिथिलता नहीं आने देते थे। वे सच्चे नेता थे।

वास्तव में मनुष्य का बड़प्पन तीन गुणों से प्रगट होता है—

(१) दूसरों को थोड़ा भरोसा देकर अधिक काम करने से,

(२) काम कर देने के बाद अहंकार न करने से,

(३) दूसरे को सफल होते देख अफसोस न करने से।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में कर्मयोगी त्रिखण्डाधिप श्रीकृष्ण जी के जीवन की एक प्रेरणाप्रद घटना अंकित है। एक बार वे अपने नवदीक्षित लघुभ्राता गजसुकुमार मुनि और तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ अपने हाथी पर आरूढ़ होकर जा रहे थे। नगरी के मध्य में उन्होंने एक दयनीय दृश्य देखा—एक जराजीर्ण बूढ़ा लड़खड़ाते कदमों एवं काँपते हाथों से ईंटों के एक ढेर में से बड़ी मुश्किल से एक-एक ईंट उठाकर अन्दर रख रहा था। श्रीकृष्ण से यह दृश्य देखा न गया, वे अनुकम्पा से द्रवित हो उठे। उन्होंने हाथी पर बैठे-बैठे ही अपने हाथ से कुछ ईंटें उठाकर रखीं। उन्हें अपने हाथ से ईंटें उठाते देख साथ के सामन्त और दरबारी तुरन्त ईंटें ढोने में लग गये। बात की बात में सारा ईंटों का ढेर बूढ़े द्वारा निर्दिष्ट स्थल पर जमा दिया गया। श्रीकृष्ण जी त्रिखण्डाधिप थे, महान नेता और शासक थे, वे आदेश देकर भी यह कार्य करवा सकते थे, लेकिन उन्होंने स्वयं अपने हाथों से बूढ़े की ईंटें उठायीं, यही उनकी परोपकारिता का सच्चा प्रमाण था। ऐसे अधिप को ही सच्चा जननेता कहा जा सकता है।

जो हर काम में परमुखापेक्षी हो, आलसी हो, अकर्मण्य हो, नौकरों के भरोसे ही रहता हो, वह सच्चा जननेता नहीं हो सकता, शिष्ट अधिप के योग्य भी नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिप महान् होते हुए भी सहृदयता नहीं चूकता

अधिप को कुछ विशेष अधिकार जनता से मिलते हैं, उसे सम्मान और प्रतिष्ठा भी जनता से अधिकाधिक मिलती है। इन विशेषताओं को पाकर वह शक्तिशाली हो जाता है, लेकिन विशेषता और महत्ता प्राप्त होने के साथ-साथ अधिप का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य के नाते बुद्धि और शक्ति में विशिष्ट होने की महत्ता से प्रेरित होकर जनता की अधिक सेवा करे, उसकी शोभा और सुख-सम्पन्नता में वृद्धि करे; श्रेयस्कर कार्यों को करे। सेवा के लिए छोटे बनने में उसे कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। सच्चा अधिप सेवा के कार्य में सबके साथ रहता है, वह उस समय छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं करता।

सन् १९१९ की बात है। रूस के राष्ट्राधिप जननेता लेनिन पर उसके शत्रुओं ने घातक हमला कर दिया था जिससे वे घायल होकर रुग्णशय्या पर पड़े थे। अभी अच्छी तरह ठीक भी नहीं हो पाये थे कि उन्होंने सुना रूस की एक महत्वपूर्ण रेलवे लाइन टूट गई है, उसकी शीघ्र मरम्मत किया जाना आवश्यक है। देशभक्त लोगों ने वैतनिक मजदूरों पर निर्भर रहना पर्याप्त न समझा और वे बहुत बड़ी संख्या में अवैतनिक रूप में इस मरम्मत को जल्दी पूरा करने में जुट पड़े। काम बड़ा था, फिर भी जल्दी पूर्ण हो गया। आप बता सकते हैं, ऐसा होने में प्रेरक कौन था? स्वयं रुग्ण, किन्तु उत्साही सेवाभावी राष्ट्राधिप लेनिन। रुग्णता के कारण दुर्बल होने के बावजूद भी वे लट्ठे ढोने का काम बराबर करते रहे और अपने साथियों में उत्साह भरते रहे। काम पूर्ण होने पर जब हर्षोत्सव हुआ तो देखा कि लेनिन मामूली कुली की तरह उन्हीं मजदूरों की पंक्ति में बैठे हुए हैं। आश्चर्यचकित होकर लोगों ने पूछा—आप सरीखे जननेता एवं राष्ट्राधिप को अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न करते हुए इतना कठिन काम नहीं करना चाहिए। लेनिन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—जो इतना भी न कर सके, उसे जननेता एवं राष्ट्राधिप कौन कहेगा?

अधिप अपनी पूर्वस्थिति को नहीं भूलता

इसके अतिरिक्त जो अधिप बनता है, वह परमात्मा का प्रकाश और अनुग्रह प्राप्त करने पर सच्चे अर्थों में महान बनता है। इस प्रकार के महान् व्यक्ति में जन-जन के प्रति प्रेम, वात्सल्य और सहृदयता आदि गुण ईश्वरीय अंश प्राप्त होने के कारण अवश्य होते हैं। वह महान् बन जाने पर भी अपनी पूर्वस्थिति को भूलता नहीं और सभी के साथ सद्व्यवहार करता है।

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध सामाजिक नेता श्री श्रीनिवास शास्त्री एक समय विश्वविद्यालय के कुलपति थे। यह पद आधिपत्य और अधिकारों की दृष्टि से कम महान न था, फिर भी शास्त्रीजी में इस पद या उच्चाधिकार का जरा भी अभिमान न था। अध्यापक कई बार छात्रों पर भारी जुर्माना कर देते, तब वे छात्र प्रायः अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जुर्मानों की अपील लेकर सीधे शास्त्रीजी के पास जा पहुँचते। शास्त्रीजी उनके जुर्मानों को माफी लिख देते।

एक दिन अध्यापक मिलकर शास्त्रीजी के पास पहुँचे और कहने लगे—"हम जुर्माना करते हैं और आप उसे माफ कर देते हैं, इस तरह से क्या अनुशासन बिगड़ेगा नहीं?"

शास्त्रीजी ने सहानुभूतिपूर्वक अध्यापकों की बात सुनी, और औचित्य भी माना। पर अपनी भावनागत कठिनाई बताते हुए कहा—"जब मैं छोटा था, तब बड़ी निर्धन स्थिति थी। साबुन खरीदने के लिए मेरी माँ जब एक आना न जुटा सकी तो मुझे मैले कपड़े पहनकर स्कूल जाना पड़ा। इस पर अध्यापक ने मेरे पर आठ आना जुर्माना कर दिया। एक आना साबुन के लिए ही न था तो आठ आने जुर्माने का कैसे भरता? अपनी इस स्थिति का स्मरण करके मुझे छात्रों का जुर्माना माफ करने पर विवश होना पड़ता है।"

बन्धुओ! अगर इस सज्जन अधिप के बदले दुष्ट अधिप होता तो उसका एकमात्र दण्ड ठोकने पर जोर रहता, वह दण्ड्य व्यक्ति की भावना, परिस्थिति आदि पर बिलकुल ध्यान न देता। वास्तव में सहृदय, नम्र एवं निरभिमानी अधिप ही दूसरों के प्रति सहानुभूति एवं सहृदयता दिखा सकता है।

सच्चा अधिप गुणवृद्धि के लिए प्रयत्नशील

सच्चा अधिप गुणवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसे आडम्बर, वाचालता, प्रदर्शन एवं तड़क-भड़क से नफरत होती है। वह किसी भी अधिकार एवं पद को इसलिए ग्रहण करता है कि उससे जनता की सेवा हो, संसार में सुख-शान्ति की वृद्धि हो और मेरे में सेवा के साथ-साथ सहानुभूति, क्षमा, दया, करुणा, समता, कष्ट-सहिष्णुता आदि गुण बढ़ें। वह जानता है कि गुणों के विकास के लिए या गुणों की अधिकता देखकर ही मुझे यह अधिकार या आधिपत्य मिला है, अब यदि मैं गुणों की वृद्धि के बदले अवगुणों का ही अधिक संग्रह करता रहूँगा तो उससे न तो मैं जनता के हृदय पर आधिपत्य जमा सकूँगा, और न ही अपनी प्रतिष्ठा रख सकूँगा, बल्कि अवगुण-वृद्धि से दुःख और चिन्ताएँ ही बढ़ेंगी। इसी प्रकार दूसरों के दोष देखने या अपनी भूल या त्रुटि को दूसरों पर मढ़ देने में कोई लाभ नहीं है; लाभ है, एकमात्र गुणग्रहण से। इसलिए अधिप का मूलमन्त्र होता है—गुणों को बढ़ाना, गुणग्राहक बनना। नीतिशास्त्र भी यही बात कहता है—

गुणेषु क्रियतां यत्नः किमाटोपैः प्रयोजनम्?
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः॥

—आप तो गुणों को बढ़ाने का ही प्रयत्न कीजिए, बाह्याडम्बरों से क्या प्रयोजन है? जो गायें दूध नहीं देतीं, उनके गले में बड़े-बड़े घंटे बाँध देने पर भी उन्हें कोई नहीं खरीदता, क्योंकि उनका मूल्य तो दूध पर निर्भर है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए प्रत्येक क्षेत्र के अधिप (अधिकारी) को अपने में सत्य, अहिंसा, सेवा, दया, क्षमा, शान्ति अदि सद्गुणों को बढ़ाने एवं प्रत्येक मनुष्य से गुण ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। व्यर्थ के आडम्बर, टीप-टाप, साज-सज्जा आदि से कोई भी व्यक्ति महान् या अधिपति नहीं बन सकता।

कौरवों और पांडवों में युधिष्ठिर को सर्वाधिक सम्मान मिलता था। दोनों ही उन्हें अपने परिवार का ज्येष्ठ, प्रमुख या नेता मानते थे, क्योंकि वे सबके विश्वास-पात्र थे। उनके जीवन में अनेक गुण विकसित हो चुके थे। महाभारत में उन्होंने स्वयं कहा है—

सत्यं माता, पिता ज्ञानं, धर्मो भ्राता, दया सखा।
शान्तिः पत्नी, क्षमा पुत्रः, षडेते मम बान्धवा॥

—मेरी दृष्टि में मेरे सगे सम्बन्धी ये ६ सद्गुण हैं—सत्य मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई है, और दया मेरा मित्र है, शान्ति मेरी पत्नी है और क्षमा पुत्र है।

इन शब्दों में युधिष्ठर ने स्वीकार किया है कि गुण ही मनुष्य के सच्चे हितैषी हैं वे ही उसे ऊँचा उठाते हैं, समय पर सहायक बनते हैं और महानता या आधिपत्य की जड़ को सुदृढ़ करते हैं। सद्गुण जिस अधिप की सम्पत्ति है, वह चाहे बाह्याडम्बर, प्रदर्शन या दिखावा न करे तो भी लोग उसके हो जाते हैं। लोग उसके न चाहते हुए भी स्वतः उसे अपना प्रमुख, अध्यक्ष या अधिपति बना देते हैं। इसीलिए सच्चे अधिप की दृष्टि गुणवृद्धि एवं गुणग्रहण करने पर होगी; आडम्बर, प्रदर्शन आदि में नहीं।

कर्तव्यनिष्ठ ही सच्चा अधिप है

अधिप कहें, अधिकारी कहें, बात एक-सी है। अधिप वही सच्चा होता है, जिसकी दृष्टि कर्तव्य पर हो, अधिकारों पर नहीं। जब वह कर्तव्य-पालन करेगा तो अधिकार तो स्वतः ही उसे प्राप्त हो जायेंगे, परन्तु उसे अधिकारों की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। जो अधिकारी अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, किन्तु सिर्फ अपने अधिकार चाहता है; उसकी एक कवि ने खूब भर्त्सना की है—

अधिकारपदं प्राप्य, कार्यं नैव करोति यः।
अकारो लुप्ततां याति, ककारो द्वित्वतां व्रजेत्॥

—जो अधिकारी अधिकार और विशिष्ट पद पाकर तदनुरूप कार्य बिल्कुल नहीं करता, करता है तो ऊटपटाँग काम करता है, उस अधिकारी के आदि का अकार लुप्त हो जाता है और ककार डबल हो जाता है, अर्थात्—अधिकार के बदले उसे फिर 'धिक्कार' मिलता है।

वास्तव में अधिकारी का अर्थ ही यह है कि जो अधिकाधिक कार्य करता है। परन्तु आज के अधिकारी जनता का कार्य कितना करते हैं, यह किसी से छिपा नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। प्रायः वर्तमान अधिकारी वर्ग सैर-सपाटे और मौज-शौक करते हैं, उद्घाटन, भाषण और चाटन की त्रिवेणी में स्नान करते हैं, जनता के कार्यों के प्रति आँखमिचौनी करते रहते हैं। आज जनता को न्याय सस्ता, शीघ्र और सुलभ नहीं मिल पाता, उसकी सुरक्षा का खास कोई प्रबन्ध नहीं है। आये दिन जनता को भ्रष्टाचारी अफसर और सरकारी कारिंदे लूटते रहते हैं, उसकी ओर प्रायः उनका ध्यान नहीं है, उनका ध्यान है, सिर्फ अपनी कुर्सी बचाने की ओर। फिर भी इस घोर अन्धकारमय राष्ट्राकाश में कोई न कोई टिमटिमाता नक्षत्र मिल ही जाता है, उसी अधिकारी को सच्चे माने में अधिप कहा जा सकता है, जो कभी किसी से रिश्वत नहीं लेता, अपनी सुख-सुविधा न देखकर जनता का कार्य पहले करता है।

जिस समय सौराष्ट्र की स्वदेशी सरकार बनी थी, उस समय वहाँ के मुख्यमन्त्री थे—उ० न० ढेबर। ढेबर भाई निरभिमानी निश्छल एवं सरलात्मा थे। उन्होंने यह नियम बना लिया था कि प्रातःकाल का दो-तीन घण्टे का समय वे अपनी सुख-सुविधाओं में न लगाकर जनता की सेवा में लगाएँगे, जो भी व्यक्ति अपनी कोई भी समस्या, प्रश्न या फरियाद लेकर आयेगा, उसे वे ध्यान से सुनेंगे, और उसका हल शीघ्र ही करेंगे। कहना न होगा कि श्री ढेबर भाई ने, जब तक वे मुख्यमन्त्री रहे, अपने इस कर्तव्य का पालन बहुत चुस्ती से किया।

एक और उदाहरण लीजिए अधिप की कर्तव्यनिष्ठा का। हरियाणा के तत्कालीन उपमन्त्री श्री केसरराम ने एक किसान की शिकायत सुनकर तत्काल उसका जिस तरह से फैसला किया, वह सराहनीय तो है ही, आदर्श भी है। उपमन्त्री आम जनता की शिकायत सुन रहे थे कि एक किसान ने खड़े होकर कहा—"साहब ! मेरे पास ११ कनाल जमीन है, परन्तु मुझसे १८ कनाल जमीन का आबियाना (सिंचाई-कर) वसूल किया जाता है।"

शिकायत सुनने के बाद आमतौर पर मन्त्रियों का तरीका यह होता है कि वे अपने निजी सचिव को आदेश दे देते हैं, कि लिखित अर्जी या मौखिक रूप से की गई शिकायत को आवश्यक कार्यवाही के लिए तत्सम्बद्ध विभाग के पास भेज दिया जाये। शिकायत करने वालों के सन्तोष के लिए उन्हें सूचित कर दिया जाता है। शिकायत की जाँच प्रायः नहीं होती। मन्त्री केवल भला बन जाता है और जनता को शिकायत सुनने का सन्तोष मिल जाता है। परन्तु केसरराम (उपमन्त्री) ने इससे भिन्न तरीका अपनाया। तुरन्त जरीब लेकर वे किसान के साथ चल दिये, स्वयं जमीन की पैमाइश की और यह देख लेने के बाद कि किसान की शिकायत सही है, पटवारी का तबादला करने और मामले की जाँच करने का आदेश दिया।

वर्षों पहले केन्द्रीय मन्त्री श्री रफी अहमद किदवई ने अवश्य मौके पर जाकर मामले की जाँच करके तत्काल कार्यवाही करने की कुछ मिसालें कायम की थीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जनता को यदि इस तरह तत्काल न्याय मिले, उसकी समस्याएँ हल हों तो दुःशासन के बदले न सिर्फ सुशासन की ही आशा पूरी होगी, बल्कि लोकतन्त्र की जड़ें भी मजबूत होंगी।

अधिकारियों को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वे जनता के द्वारा ही अधिकारी बनते हैं, यदि वे जनता की भावनाओं का निरादर करेंगे, उससे सहयोग लेकर भी उसकी उपेक्षा करेंगे तो वह उन्हें उखाड़ फेंकेगी।

अधिप को मौका आने पर विषपान भी करना पड़ता है

जैसे मनुष्यों में अधिप होते हैं, वैसे ही देवों में भी होते हैं, क्योंकि उसके बिना देवों की सुरक्षा, विकास और उन्नति होनी कठिन होती है। देवों ने मिलकर महादेव को अपना अधिपति चुना ? पुराणों में इसकी दिलचस्प कहानी है।

सभी देवों और असुरों ने अमृत के लिए समुद्र मंथन किया। मंदराचल को मथानी का दण्ड और शेषनाग को मथानी की डोरी बनाया। समुद्रमंथन करने पर १४ रत्न निकले। सर्वप्रथम कालकूट विष निकला। उसको जो भी पीयेगा तो वह अमर तो क्या बनेगा, तुरन्त मर जायेगा। यह देख देव बड़े विचार में पड़े कि क्या किया जाये ? विष्णुजी ने कहा—तुम लोग महादेवजी के पास जाओ, वे इसे पी लेंगे। वे ही इसे पीने में समर्थ हैं। देव पहुँचे महादेवजी के पास और उनसे उस कालकूट विष को पीने की प्रार्थना की। महादेवजी ने सब देवों के हित में वह विषपान कर लिया। उन्होंने विष को अपने गले में ही रखा, नीचे नहीं उतारा। इसीलिए वे नीलकण्ठ कहलाये। इस प्रकार विषपान करने के कारण शंकरजी को महादेव का पद मिला और सब देवों ने उन्हें अपना नेता भी माना।

पुराण के इस आलंकारिक रूपक के आवरण को हटाकर यदि हम उसके वास्तविक रहस्य को खोजें तो यही प्रतीत होगा कि जो नेता, अधिपति या अधिकारी बनता है, उसे सर्वप्रथम ऐसे जहर के प्याले पीने पड़ते हैं। नेता को पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न उपालम्भ, आक्षेप, दोषारोप तथा राग-द्वेष रूपी विष को पी जाना पड़ता है, शान्ति से, समभाव से। तभी जनता उसे अपना नेता या अधिप मानती है। मुहावरा है "सौ-सौ टंकी सइके महादेव बनते हैं।" —जो कष्ट सहता है, वही बड़ा बनता है।

अधिप दुष्टता त्यागें, शिष्टता अपनाएँ

मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई अधिप हो, चाहे उसके हाथ में थोड़े-से अधिकार हों, उसे कर्तव्यनिष्ठ, सेवाभावी, पर-दुःखकातर, हितैषी, जनवत्सल और त्याग-बलिदान के लिए उद्यत होना अत्यन्त आवश्यक है। तभी वह जन-जन के हृदय में स्थान पा सकेगा, अन्यथा कर्तव्यविहीन, सेवा से उदासीन, परदुःख से भागने वाला, स्वार्थी, कायर एवं प्राणमोही व्यक्ति कदाचित् निकड़मबाजी एवं चालाकी से किसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्था का आधिपत्य प्राप्त भी कर ले, तो भी स्वपरहित की दृष्टि से उसका जीवन एकदम निकृष्ट, अधम और पतित होगा, जनता के हृदय में उसके लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। ऐसा धर्माचरणहीन, स्वार्थी एवं कर्तव्यविमुख व्यक्ति किसी संस्था का आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर अपनी गलतियों को छिपाने के लिए अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को सताता, दबाता रहता है, जिन लोगों से उसका वास्ता पड़ता है, उन्हें वह शोषित, उत्पीड़ित एवं त्रस्त करके दण्ड देता रहता है, उनसे रिश्वत लेकर हैरान करता है। यही दुर्नीति ऐसे दुष्टाधिप को ले डूबती है।

अभी इस विषय के अनेक पहलू अवशेष हैं, जिन पर हम अगले प्रवचन में विचार करेंगे। आपसे यही अपेक्षा है कि महर्षि गौतम के संकेतानुसार किसी संस्था का आधिपत्य मिल जाने पर उसकी दुर्नीति से बचें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४२

दुष्टाधिप होते दण्डपरायण—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष कल वाले विषय पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा। यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वर्तमान राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रेरणा देने वाला है। इसलिए आज इसके अवशिष्ट पहलुओं पर ही मैं कुछ कहूँगा। महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र में बताया है कि दुष्टाधिप का जीवन दण्डपरायण होता है, इसलिए मैंने पूर्व-प्रवचन में अधिप शब्द का अर्थ, तथा अधिप के गुणों और योग्यताओं के विषय में बताया था। पूर्व-प्रवचन में राज्याधिप के अतिरिक्त अन्य अधिपों तथा शिष्ट एवं सज्जन अधिपों के सम्बन्ध में ही कुछ कहा था। अब राज्याधिप तथा शिष्ट एवं दुष्ट राज्याधिप कैसे होते हैं ? इस पर मैं सर्वप्रथम चर्चा करना चाहता हूँ। उसके पश्चात् यह भी बताना चाहता हूँ कि राज्याधिप तथा दूसरे प्रकार के अधिप अपने जीवन और कर्तव्य से कैसे भ्रष्ट, पतित और दुष्ट बन जाते हैं ? उसका क्या प्रतिकार है ? साथ ही वर्तमान राजनीति में भी आये हुए धर्म के ह्रास के सम्बन्ध में भी कुछ कहूँगा।

राज्याधिप को ही अधिप क्यों माना गया है ?

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि राज्याधिपति को अधिप मानने की प्रथा क्यों और कब से चली ? वास्तव में, प्राचीन काल में इतने अधिकार और किसी को देने में जनता हिचकिचाती थी। उसे यह भय था कि अन्य किसी को आधिपत्य सौंपने से उसके निरंकुश और सत्तामदान्ध हो जाने का बहुत बड़ा खतरा है। जैसा कि त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित्र में बताया है—

आधिपत्यं हि प्रायोऽन्धीकरणं नराणाम्

"अधिपतित्व मनुष्यों को प्रायः अन्धा बना देने वाला है।"

इसलिए शासक को ही अच्छा अधिपति समझकर उसे ही सब अधिकार सौंप दिये गये। पंचतन्त्र में राजा की विशेषताएँ तथा उपयोगिता बताते हुए कहा है—

राजा बन्धुरबन्धूनां, राजा चक्षुरचक्षुषाम्।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम्॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"राजा अबन्धुओं का बन्धु है, राजा अन्धों का नेत्र (मार्गदर्शक) है, राजा सभी न्यायवर्ती व्यक्तियों का माता-पिता है।"

विभिन्न नीतिग्रन्थों में राजा की विशेषताएँ इस प्रकार वर्णित हैं—

पर्जन्यमिव भूतानामाधारः पृथवीपतिः।[1]

"राजा प्राणियों के लिए मेघ की तरह आधारभूत है।"

न राज्ञः परं दैवतम्[2]

"राजा से बढ़कर कोई देवता नहीं है।"

बालोऽपि नावमन्तव्यो, मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥[3]

"राजा बालक हो तो भी मनुष्य समझकर कदापि उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि राजा मनुष्य के रूप में इस भूमण्डल पर महान् देव है।"

इन्द्रात् प्रभुत्वं ज्वलनात् प्रतापं क्रोधो यमाद् वैश्रवणाच्च वित्तम्।
पराक्रमं रामजनार्दनाभ्यामादाय राज्ञः क्रियते शरीरम्॥[4]

"इन्द्र से प्रभुता, अग्नि से प्रताप, यम से क्रोध, वैश्रवण से धन और राम-कृष्ण से पराक्रम लेकर राजा का शरीर बनाया जाता है।"

राजा कालस्य कारणम्[5]

"राजा ही वास्तव में काल के अच्छे-बुरे होने का कारण है।"

कहीं-कहीं तो राजा को ईश्वर के समकक्ष माना गया था। इन सबका कारण यह है कि राजा से विशिष्ट त्याग, गुण तथा योग्यता की अपेक्षा रखी गई थी। श्रेष्ठ राजा के लक्षणों को देखिये—

सत्यं शौर्यं दया त्यागो, नृपस्यैते महागुणाः।[6]

"सत्य, शौर्य, दया और त्याग, ये राजा के चार महागुण हैं।"

विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत्।[7]

"जो जितेन्द्रिय है, बुद्धिमान है, वही राजा राज्य का परिपालन कर सकता है।"

पात्रे त्यागी गुणे रागी, भोक्ता परिजनैः सह।
भावज्ञोद्धा, रणेयोद्धा प्रभुः पंचगुणो भवेत्॥[8]

"पात्र को दान देने वाला, गुणों का अनुरागी, परिजनों के साथ वस्तु का उपभोग करने वाला, दूसरे के मनोभावों को भाँपने वाला, और युद्ध आ पड़ने पर कुशल योद्धा, राजा इन पाँच गुणों से युक्त होना चाहिए।"

---

१. कविता-कौमुदी
२. चाणक्य-नीतिसूत्र
३. मनुस्मृति ७-८
४. भावदेवसूरि
५. मनुस्मृति
६. हितोपदेश ३/१२९
७. महाभारत
८. सुभाषित रत्न भाण्डागार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गणयन्ति न राज्याऽग्रे ऽपत्यस्नेहं महीभुजः ।[1]

"वे ही सच्चे राजा होते हैं जो राज्य हित के लिए पुत्र-स्नेह की भी अवगणना कर देते हैं।"

व्यक्तकोशप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ।
योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्र-यमस्थानं स राजा ॥[2]

"वस्तुतः राजा वही है, जो अनुकूलजनों के लिए इन्द्र और प्रतिकूलजनों के लिए यम के समान है।"

चक्षुषा मनसावाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं, तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥[3]

"जो राजा प्रेमदृष्टि से, स्नेहपूर्ण मन से, प्रिय वचनों से, और जनहितकर कार्यों से प्रजा को रंजित (प्रसन्न) करता है, प्रजा उसी राजा से प्रसन्न रहती है।"

राजा के इन सब गुणों से, त्याग और शक्ति से, समय आने पर प्रजा की रक्षा एवं हित के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने की वृत्ति से प्रभावित होकर ही जनता ने शासनकर्ता की अनिवार्यता एवं उपयोगिता मानी थी। भले ही आज राजतन्त्र के बदले लोकतन्त्र आ गया हो, परन्तु जैसे पहले भी राजा को जनता पसन्द करती थी, उसे वंश परम्परा से राजगद्दी मिलती थी, बाद में अयोग्य, निरंकुश, उद्दण्ड या दुष्ट सिद्ध होने पर प्रजा उसे पदच्युत कर देती थी, वैसे ही आज भी शासनकर्ता वर्ग जनता द्वारा (बहुमत से) निर्वाचित होने पर सत्ता पर आता है और विभिन्न विभागों के मन्त्रियों के सहयोग से मिलकर प्रधानमन्त्री राज्य चलाता है, अयोग्य एवं निरंकुश तथा भ्रष्टाचारी सिद्ध होने पर अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उसकी सरकार को गिराया और हटाया जा सकता है।

इसलिए राजा से धर्मात्मा, त्यागी, प्रजापालक, प्रजाहितैषी, प्रजा के दुःख को अपना दुःख समझने वाला, आत्मीयजन एवं प्रजावत्सल होने की अपेक्षा रखी गयी है। साथ ही नीतिशास्त्र में राजा को पाँच धर्मों से युक्त, षट्विकारों से मुक्त तथा पिता की तरह प्रजारक्षक होने का भी विधान किया गया है—

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा, न्यायेन कोषस्य च सम्प्रवृद्धिः ।
अपक्षपातो निजराष्ट्रचिन्ता पञ्चापि धर्माः नृपपुंगवानाम् ॥

श्रेष्ठ राजाओं के पाँच धर्म ये हैं—दुष्ट को दण्ड देना, शिष्ट और सज्जन का सत्कार करना, राज्यसंचालनार्थ न्यायपूर्वक कोष की वृद्धि करना, पक्षपात न करना और अपने राष्ट्र के संरक्षण एवं हित की चिन्ता करना।

कामः क्रोधस्तथा लोभो मोहो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥

---

१. अज्ञात २. अज्ञात ३. विदुरनीति २/२५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और मद, इन छः विकारों को छोड़ने पर राजा अवश्य सुखी होता है।"

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृप वल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत् पितेव हि॥

"राजा तस्करों-चोरों से, नियुक्त कर्मचारियों एवं अधिकारियों से, शत्रुओं से अपने प्रियजनों से तथा अपने लोभ (स्वार्थों) से प्रजा की पिता की तरह सुरक्षा करे।"

इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ राजा के लिए मद्यपान, परस्त्रीसेवन, शिकार, जुआ आदि दुर्व्यसनों तथा प्रजा पर अत्याचार और शोषण से सर्वथा दूर रहने का नीति-शास्त्र में यत्र-तत्र विधान मिलता है।

इन सब कारणों से जनता ने राजा को अपना सर्वश्रेष्ठ अधिपति माना, उसकी आज्ञा का ईश्वरीय आज्ञा की तरह पालन किया तथा उसे सर्वाधिक आदर और प्रतिष्ठा भी दी।

सचमुच राम और कृष्ण जैसे धर्मपरायण प्रजावत्सल राजाओं ने जनता के हृदय में शासक का ही नहीं किन्तु आराध्य देव का स्थान पा लिया था। इसी प्रकार बाद में धर्मराज युधिष्ठिर, राजा विक्रमादित्य, राजा भोज, राजा चक्कवेण आदि अनेक प्रतापी एवं धर्मपरायण राजा भी हो गये हैं, जिन्होंने राजधर्म का पूर्णतया पालन करके प्रजा के हृदय में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। भारतीय प्रजा के मन में राजा के चरित्र की आज भी वही उदात्त तस्वीर खिंची हुई है।

राजा कितने त्यागी और धर्मपरायण होते थे, इसे मैं राजा चक्कवेण के एक उदाहरण द्वारा आपको समझा दूं—

चक्कवेण राजा बड़े ही धर्मात्मा, सत्यवादी, अध्यवसायशील, त्यागपरायण, विरक्त, ज्ञानी, भक्त, तेजस्वी, तपस्वी और अनुभवी पुरुष थे। वे राजद्रव्य को दूषित समझकर अपने व अपनी पत्नी के उपयोग में नहीं लेते थे। प्रजा से राज्य संचालनार्थ जो भी कर लिया जाता, वह सारा का सारा प्रजा के सेवा-कार्यों में ही खर्च किया जाता था। उनके राज्य में रामराज्य की तरह कोई दुःखी न था। वे अपने व परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए स्वयं खेती करते थे। अपने खेत में उत्पन्न अन्न से अपने परिवार का उदर भी भर जाता, कपास से वस्त्रों की पूर्ति हो जाती एवं खेत में पैदा हुई साग-भाजी, फल, मिर्च, हल्दी, अदरक आदि से व्यंजन का काम चल जाता, तथा खेत में उत्पन्न गन्ने से गुड़ मिल जाता। इस प्रकार राजा चक्कवेण का जीवन सीधे-सादे सदाचारी किसान-सा था। छह घण्टे शयन एवं शरीर कार्य के अतिरिक्त उनका सारा समय प्रभुभक्ति, परोपकार, राजकार्य एवं कृषिकार्य में बीतता था। कहते हैं, इसी कारण चक्कवेण राजा का प्रभाव ऋषि, मुनि, देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी सब पर पड़ता था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे आदर्श राजा के शासनाधीन रहने से कौन इन्कार कर सकता है ? यही कारण है कि राजा को समस्त अधिपों में मुख्य और सर्वशक्तिमान, सर्वतेजोमय माना गया। वास्तव में यह उचित भी था।

सर्वश्रेष्ठ राज्याधिप कौन ?

कई लोग समझते हैं कि सत्ता प्राप्त हो जाने तथा जनता पर अधिकाधिक कर लादकर राज्य की आय बढ़ाने, अपना रौब एवं दबदबा जमाने एवं प्रजा को मीठी-मीठी बातों से खुश कर देने मात्र से हम श्रेष्ठ राज्याधिप हो सकते हैं, पर यह निरी भ्रान्ति है। एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कर देना उचित होगा—

प्रियदर्शी सम्राट अशोक का जन्मदिन महोत्सव था। सभी प्रान्तों के शासक आये हुए थे। सम्राट की ओर से घोषणा की गई—सर्वश्रेष्ठ शासक को पुरस्कार दिया जायेगा। उत्तरी सीमा के शासक के कहा—'प्रादेशिक शासन की आय मैंने तीन गुनी बढ़ा दी है।' दक्षिण के प्रान्ताधिप ने कहा—'इस वर्ष राज्यकोष में मेरे प्रान्त की ओर से गतवर्ष से दुगुना सोना अर्पित किया गया है।' पूर्वी प्रान्तों के शासक ने कहा—'पूर्वी सीमान्त के उपद्रवियों का मैंने सिर तोड़ दिया है ताकि वे फिर सिर उठाने का साहस न कर सकें।' पश्चिम प्रदेशाधिपति बोले—'मेरे राज्य में सेवकों का वेतन घटा दिया गया है एवं प्रजा पर कर बढ़ा दिया गया है, जिससे आय अनेक गुनी बढ़ गई है। आय के अन्य कई स्रोत भी ढूँढ लिये गये हैं।'

सबसे अन्त में मगध के प्रान्तीय शासक उठे। उन्होंने नम्र शब्दों में कहा—"महाराज ! मैं क्या निवेदन करूँ ? मेरे प्रान्त ने इस वर्ष प्रतिवर्ष से आधे से भी कम धन राज्यकोष में भेजा है। प्रजा पर कर कम कर दिये गये हैं। राज्य-सेवकों को कुछ अधिक सुविधाएँ दी गई हैं, जिसके फलस्वरूप वे अधिक उत्साह, प्रामाणिकता और श्रम के साथ अपना कर्तव्य अदा कर रहे हैं। प्रान्त में सर्वत्र धर्मशालाएँ और कुँए बनवाये गये हैं, चिकित्सालय भी खोल दिये गये हैं, जिनमें निःशुल्क चिकित्सा होती है, प्रत्येक कस्बे और बड़े गाँव में पाठशाला खोली गई हैं, जहाँ निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध है।"

यह सुनकर सम्राट् सिंहासन से उठे और घोषणा की कि मुझे प्रजा के रक्त से रंजित स्वर्णराशि नहीं चाहिए, प्रजा को सुख-सुविधाएँ मिलें यही मेरी हार्दिक इच्छा है। मगध के प्रान्तीय शासक सर्वश्रेष्ठ शासक हैं। इस वर्ष का पुरस्कार इन्हें देकर गौरवान्वित करो। सारा राज-दरबार 'धन्य-धन्य' शब्दों से गूँज उठा।

वास्तव में राज्याधिप की सर्वश्रेष्ठता का मापदण्ड अधिकाधिक सत्ता और अधिकार प्राप्त करना नहीं है, अपितु सत्ता और अधिकारों का कम से कम उपयोग करके तथा कम से कम दण्डव्यवस्था और कानूनों से प्रजा पर शासन करना तथा प्रजा स्वतःप्रेरित होकर नियमों और कानूनों का पालन कर सके, इस प्रकार से प्रशिक्षित करना है। जहाँ ऐसी प्रशिक्षित प्रजा होती है, वह स्वतः ही धर्म मर्यादा में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चलती है, राज्य के कानून-कायदों के बिना ही अपनी अन्तःप्रेरणा से वह नागरिक के सभी नियमों का पालन करती है। पर यह सब श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् राज्याधिप के होने पर ही हो सकता है। अशिष्ट, दुष्ट एवं मूर्ख राजा तो अपनी दण्डशक्ति के बल पर नाचता है, उसके राज्य में तो अमन-चैन, सुव्यवस्था और सुख-शान्ति चौपट हो जाती है।

शिष्ट राज्याधिप : न्याय में सुदृढ़

जो सज्जन और शिष्ट राज्याधिप (शासक) होते हैं, वे न्यायपरायण होते हैं। न्याय के मामले में वे अपने परिवार के किसी व्यक्ति के अपराध पर भी रियायत नहीं करते। वे प्रजा के प्रति वफादार होते हैं और प्रजा की ओर से उनके किसी सम्बन्धी के प्रति कोई शिकायत या दोष की फरियाद आने पर वे उचित न्याय किये बिना नहीं रहते।

प्राचीनकाल में काशी के एक राजा अपने न्याय के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। वह न्याय के मामले में अपने पारिवारिक जनों की भी रियायत नहीं करते थे। उनकी रानी का नाम करुणा था। जैसा उसका नाम था, वैसा काम नहीं था। उसके हृदय में अपने ही मौज-शौक की लालसा थी, प्रजाजनों के दुःख-निवारण की चिन्ता नहीं थी। एक दिन करुणा रानी की इच्छा हुई कि मैं वरुणानदी में स्नान और जलक्रीड़ा करने जाऊँ। उसने राजा से इस बात के लिए अनुमति माँगी और वरुणा के तट पर व्यवस्था कर देने की प्रार्थना की। राजा स्वयं उदार स्वभाव के प्रकृति-प्रेमी थे। वे चाहते थे कि महिलाएँ भी सुखपूर्वक प्राकृतिक छटा का अवलोकन करें और प्रकृति से कुछ प्रेरणा लें। अतः उन्होंने बिना किसी आनाकानी के सहर्ष महारानी को आज्ञा दे दी तथा कुछ सिपाहियों को वरुणानदी के तट पर इस व्यवस्था के लिए भेज दिया। सिपाही नदी तट पर पहुँचे और वहाँ जिन गरीब मजदूरों की झौंपड़ियाँ थीं, उन्हें सावधान कर दिया कि आज महारानीजी यहाँ जलक्रीड़ा के लिए पधारने वाली हैं। इसलिए तुम सब लोग अपना-अपना आवश्यक समान लेकर लगभग घंटेभर के लिए अपनी झौंपड़ी छोड़कर दूर चले जाओ। जब महारानीजी वापस चली जाएँ, तब लौट आना। बेचारे गरीब लोगों ने बहुत खुशियाँ मनाईं कि महारानी पधारेंगी तो हमें भी कुछ इनाम दे जाएँगी। वह खुशी-खुशी अपनी झौंपड़ियाँ बन्द करके दूर चले गये।

इधर महारानीजी अपनी सौ दासियों के साथ रथ पर सवार होकर वरुणानदी के किनारे पहुँचीं। वरुणा की शान्त, सतत प्रवाहित जलधारा देखकर करुणारानी ने मन ही मन सुन्दर प्रेरणा ली। फिर नदी में प्रवेश करके किलोल करने लगी। यथेष्ट जलक्रीड़ा करके जब रानी बाहर निकली तो उसे ठंड लगने लगी। पौष का महीना था। इसलिए पानी से बाहर निकलते ही रानी थर-थर काँपने लगी। उसने अपनी चम्पकवती नाम की दासी से कहा—"कहीं से ढूंढकर सूखी लकड़ियाँ लाकर जला दे, ताकि मैं तापकर अपनी ठंड मिटा लूँ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चम्पकवती लकड़ियाँ लेने गई, मगर वहाँ सूखी लकड़ियाँ कहाँ मिलतीं ! अतः उसने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"महारानीजी ! यहाँ तो कहीं सूखी लकड़ियाँ नहीं दिखाई देतीं। आप महलों में पधारें वहाँ मैं सब इन्तजाम कर दूंगी। क्षमा करें, मैं लाचार हूँ।"

महारानी बोली—"मुझे तो इतनी ठंड लग रही है और तू महलों में पहुँचने को कह रही है। इस समय मुझे तापना जरूरी है। देख तो, ये सामने झौंपड़ियाँ खड़ी हैं, इनमें से एक में आग लगा दे। इससे मेरा ठंड मिटाने का काम हो जायगा।"

चम्पकवती समझदार और दयालु दासी थी। वह नम्रतापूर्वक बोली—"महारानीजी ! आपकी आज्ञा सिर-माथे पर; परन्तु ऐसा काम करना अच्छा नहीं है। ये बेचारे गरीबों की झौंपड़ियाँ हैं। बड़ी मेहनत से उन्होंने बनाई हैं। एक झौंपड़ी में आग लगाने पर आसपास की पचासों झौंपड़ियाँ जलकर स्वाहा हो जाएँगी। गरीब लोगों का सर्वनाश हो जायगा। वे बेघर-बार होकर ठंड के मारे मर जायेंगे।"

यह सुनकर महारानी का पारा गर्म हो गया। वह गुस्से में आकर बोली—"बड़ी आई है दयावती कहीं की ? अगर इतनी दया थी तो लकड़ियाँ क्यों नहीं ले आई ? अच्छा, सुलेखा ! तू जा और झटपट किसी एक झौंपड़ी में आग लगा दे।"

सुलेखा दासी ने महारानी की त्यौरियाँ चढ़ी हुई देखीं तो वह सहमती हुई-सी चुपचाप दौड़कर एक झौंपड़ी के पास पहुँची और उसमें आग लगा दी। झौंपड़ी धाँय-धाँय जल उठी। महारानी ने अपने हाथ-पैर सेके और ठण्ड मिटाई। शरीर में गर्मी आने से शान्ति हुई। फिर महारानी अपने रथ में बैठकर दासियों सहित राजमहल को चल दी।

इधर एक झौंपड़ी के जलने से उसकी लपटें हवा के कारण दूर-दूर तक फैल गईं और आस-पास की सभी झौंपड़ियाँ शीघ्र ही जलकर खाक हो गईं। गरीब लोग जब अपनी झौंपड़ियाँ सँभालने आये और उन्होंने यह दृश्य देखा तो सन्न रह गये। झौंपड़ियों के बदले राख का ढेर उन्हें मिला, घर का सामान भी उसी के साथ भस्म हो गया। बेचारे गरीब मजदूरों के शोक का पार न रहा। वे रोने-चिल्लाने लगे—"हाय ! हमने तो सोचा था महारानी हमें कुछ बख्शीस देकर जाएँगी, उन्होंने तो हमारा सारा घर-बार ही नष्ट कर दिया। हम अब कहाँ आश्रय लेंगे। एक ही तो ठिकाना था ! अब हमारी क्या दशा होगी ?"

उन गरीब मजदूरों की झौंपड़ियों के आस-पास कुछ फक्कड़ बाबा भी रहते थे। उनमें से एक बाबा ने गरीबों को रोते-चिल्लाते देख उन्हें ढाढस बँधाया और कहा—मूर्खो ! यों रोने-चिल्लाने से तुम्हारी झौंपड़ियाँ कौन बना देगा ? तुम्हें पुकार ही करनी हो तो चलो, सब मिलकर मेरे साथ चलो। राजाजी के आगे अपनी पुकार करो। उनसे न्याय माँगो।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बस, आगे-आगे बाबाजी और पीछे-पीछे गरीब मजदूरों का झुण्ड। जब बाजार से झुण्ड को गुजरते देखा तो लोगों ने पूछा—"बाबाजी ! आज कहाँ चढ़ाई करने जा रहे हो ?" बाबाजी ने उन गरीबों की झौंपड़ी महारानी द्वारा जला देने की बात कही तो कुछ लोग कहने लगे—"महारानी ने गरीबों की झौंपड़ियाँ जला दीं तो कौन-सी लंका जल गई ? घास-फूस की कमी तो है नहीं, फिर खड़ी कर लेना। इतनी छोटी-सी बात के लिए महाराज तक जाने की क्या जरूरत है ?"

बाबाजी ने कहा—"तुम्हें पता नहीं है, उन झौंपड़ियों में और सामान में इन गरीबों का कितना श्रम लगा है ? आज तो महारानी ने इनकी झौंपड़ियाँ जलायी हैं, कल को अपने मौज-शौक के लिए तुम्हारे पक्के मकान भी जला सकती हैं। जो आज छोटा अत्याचार कर सकता है, उसे कल बड़ा अत्याचार करते क्या देर लगेगी ? इसलिए अभी से चेत जाओ और अगर तुम्हारे मन में इन गरीबों के प्रति कुछ सहानुभूति है, तो तुम भी हमारे साथ चलकर राजा से फरियाद करो।"

लोगों के बात समझ में आ गयी।

कुछ समझदार लोग सहृदयतावश इन गरीबों के झुण्ड के साथ हो लिये और एक विशाल जनसमूह राजमहल के चौक में जा खड़ा हुआ। राजा ने जनता का शोर सुना तो महल के झरोखों से बाहर की ओर झाँका। बड़ी-सी भीड़ देखकर राजा ने पूछा—"प्रजाजनो ! क्या बात है ? क्या तुम लोगों को किसी ने सताया है या तुम पर कोई आफत आई है ?"

प्रजा—"महाराज ! हम गरीबों का सर्वस्व लुट गया। हमारी सब झौंपडियाँ और उसमें रखी हुई सामग्री सब जलकर खाक हो गई। अब हम सर्दी-गर्मी कैसे बिताएँगे ? निराधार हो गये हम तो ?"

राजा—"तुम्हारी झौंपड़ियाँ किसने और क्यों जलायीं ?"

प्रजा—"अन्नदाता ! आज महारानीजी नदी पर स्नान करने पधारी थीं। स्नान के बाद उन्हें ठण्ड लगी तो तापने के लिए शायद एक झौंपड़ी में आग लगवाई होगी, मगर हवा के प्रबल वेग से आग की लपटें दूर-दूर फैल गयीं और आसपास की सब झौंपड़ियाँ सामान सहित जलकर भस्म हो गयीं। हम गृह-विहीन हो गये।"

राजा—"अच्छा ! ऐसा अत्याचार हुआ तुम पर ! ठहरो, अभी तुम्हारा फैसला करवाता हूँ। घबराओ मत।"

राजा ने उसी समय चम्पकवती दासी को महारानी को बुला लाने का आदेश दिया।

चम्पकवती ने महारानी के पास जाकर उन्हें राजा का आदेश सुना दिया। महारानी ने पूछा—"इस समय क्यों याद कर रहे हैं ?"

चम्पकवती बोली—"महारानीजी ! मैंने जो कहा था, वही हुआ न ! आप मानी नहीं। आपने एक झौंपड़ी में आग लगवाई, लेकिन वहाँ की तमाम झौंपड़ियाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जल गयीं हैं और वे झौंपड़ियों वाले राजाजी से फरियाद करने आये हैं, अभी राज-महल के चौक में खड़े हैं।"

रानीजी—"तो मुझे क्यों बुलाया है, महाराज ने ? उनकी झौंपड़ियाँ बनवा दें या उन्हें हर्जाना दे दें खजाने से।"

चम्पकवती—"आपको शायद उन्हें न्याय देने के लिए बुलाते होंगे।"

रानी—प्रजा के सामने मैं पर्दे में रहने वाली कैसे आ सकूंगी ? राजा होश में तो हैं न ? क्या प्रजा के सामने मेरा फैसला होगा ?"

चम्पकवती ने आकर राजा से कहा तो उन्होंने कहा—"जो अपराध करेगा, उसे फैसले के लिए राजदरबार में उपस्थित होना ही होगा। एक तरफ की बात सुनकर फैसला कैसे होगा ? अगर रानी ऐसे नहीं आ सकती हो तो साधारण दासी के वेष में उपस्थित हो।"

चम्पकवती ने महाराजा का आदेश दुहराया, तब बहुत समझाने पर महारानीजी राजा के समक्ष साधारण वेष में उपस्थित हुईं।

महाराजा ने पूछा—रानीजी ! क्या ये लोग जो फरियाद कर रहे हैं, वह सच है ?"

महारानी बोली—"महाराज ! इनका कहना यथार्थ है।"

राजा—"तो इसका दण्ड कौन भरेगा ?"

रानी—"क्या मुझे दण्ड भरना होगा ? महाराज ! आप मेरी सुख-सुविधा के लिए हजारों रुपये खर्च कर देते हैं, तो इनकी झौंपड़ियाँ भी अपने खर्च से बनवा दीजिए।"

राजा—"अपराध करो तुम और दण्ड भरे प्रजा, यह कहाँ का न्याय है ? राजकोष अपना नहीं है, यह तो प्रजा के ही पसीने की कमाई से भरा गया है, उस पर प्रजा का अधिकार है। उसमें से दण्ड भरना प्रजा पर और जुल्म करना है। अतः इसका दण्ड तुम्हें ही भरना होगा। न्याय तो सबके लिए समान है। वह राजा या राजपरिवार का भी लिहाज नहीं करता, समझ गई न ?"

महारानी—"मैं समझ गई महाराज ! आप न्यायप्रिय राजा हैं, जो भी दण्ड देंगे, उसे मैं सहर्ष स्वीकार करूँगी।"

राजा ने प्रजाजनों के समक्ष गम्भीर होकर फैसला सुनाया—"रानीजी ! तुम्हारे कारण इन गरीबों की जितनी झौंपड़ियाँ जली हैं, उन्हें अपने हाथ से मेहनत-मजदूरी करके कमाये हुए पैसों से बनाओ, तब तक अपना पेट भी उसी कमाई से भरो। जब झौंपड़ियाँ तैयार हो जाएँ, तभी राजमहल में पैर रखना।"

महाराज के मुँह से यह कठोर न्याय सुनकर प्रजाजनों की आँखों से आँसू बरसने लगे। उन्होंने चिल्लाकर कहा—"अन्नदाता ! हमारा न्याय हो चुका,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब हमारा कोई दावा नहीं है। कृपा करके महारानीजी को इतना कठोर दण्ड न दीजिए।"

महारानी बोली—"महाराज ! आपने जो कुछ न्याय किया है, वह उचित है। अब इसे न लौटाइए, मैं प्रसन्नता से इसका पालन करूँगी।"

प्रजा—"महाराज ! हम रानीजी को ऐसा कठोर दण्ड दिलवाना नहीं चाहते, हमारी अब कोई फरियाद नहीं है, हम आपसे कुछ नहीं चाहते।"

राजा बोले—"प्रजाजनो ! तुम्हारी भक्ति की मैं कद्र करता हूँ। पर न्याय के समक्ष मैं विवश हूँ। महारानी भी यही चाहती हैं।

महारानी—"आपने न्याय की रक्षा की है, मुझे इस पर गर्व है कि मैं सच्चा न्याय पा सकी हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए। मैं जाती हूँ।"

महारानी ने अपने बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण उतार दिये और साधारण वेष में राजमहल से विदा हुई।

राजघराने एवं सेठ-साहूकारों की स्त्रियों ने रानी को ऐसा करने से रोका, मगर उसने किसी की न मानी। उसने घर-घर जाकर बहनों से कहा—"बहनो ! अगर मेरे प्रति आपकी सहानुभूति है तो मुझे मजदूरी के काम दो। मेरी इस प्रकार से सहायता करो। मैंने गरीबों पर अत्याचार किया है, उसका दण्ड मुझे भोगने दो।"

इस प्रकार मजदूरिन बनी हुई रानी ने छह महीने तक श्रम करके सभी गरीबों की झौंपड़ियाँ बनवा दीं और सबको सन्तुष्ट करके राजाज्ञा से पुनः महल में प्रवेश किया।

बन्धुओ ! यह है शिष्ट राज्याधिप में पाया जाने वाला अनिवार्य न्यायनिष्ठा का गुण ! जिस राज्याधिप में न्यायनिष्ठा का यह गुण नहीं होता, उसके राज्य में अराजकता छा जाती है। राजा न्याय के मामले में पक्षपात करता है तो प्रजा भी अन्याय पीड़ित होकर दुःखी हो जाती है। राजकर्मचारियों और अधिकारियों के अन्याय-अत्याचार की शिकार बनी हुई प्रजा उसको हृदय से बिलकुल नहीं चाहती। उसकी प्रतिक्रिया कभी न कभी भयंकर विद्रोह के रूप में अवश्य होती है। परन्तु न्यायप्रिय शिष्ट राज्याधिप इस बात को सह नहीं सकता। वह अपने राजपरिवार में होने वाले अन्याय को भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। श्रेष्ठ राज्याधिप में वैभव, बल और अधिकार का अहंकार एवं प्रदर्शन नहीं होता, वह प्रजा के हित के लिए नम्रभाव से राज्यकार्य करता है।

जो राजा शिष्ट एवं सज्जन होता है, वह राज्य का संचालन सेवा समझकर करता है। पाश्चात्य विचारक एजेसिलाउस (Agesilaus) के शब्दों में अच्छे राज्याधिप के लक्षण देखिये—

The king will best govern his realm who reigneth over his people as a father doth over his children.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"वही राजा अपने राज्य पर श्रेष्ठ शासन कर सकेगा, जो अपनी प्रजा पर उसी प्रकार शासन करता है, जिस प्रकार एक पिता अपने बच्चों पर करता है।"

शेरशाह सूरी इसी प्रकार का एक नीतिमान् राज्याधिप था। अच्छा शासक बनने के लिए क्या-क्या मूल्य चुकाने पड़ते हैं, यह शेरशाह जानता था; किन्तु शेरशाह का तरुण पुत्र इस बात से अनभिज्ञ था। वह तो राज्य को एक खेल और प्रजा को अपने लिए किसी भी प्रकार प्रयुक्त करने का अपना अधिकार समझता था।

एक दिन अपने शौर्य, साहस तथा बाहुबल के आधार पर भारत का शासक बनने वाले शेरशाह का उत्तराधिकारी हाथी पर बैठकर शहर में घूमने निकला। युवराज सहज ही प्राप्त वैभव के अहंकार में झूमता हुआ जा रहा था। वह अपनी वृत्तियों पर नियन्त्रण न रख सका। रास्ते में एक मोदी की दुकान पर उसकी दृष्टि पड़ी। मोदी की युवा पत्नी दुकान पर बैठी थी। उसका सौन्दर्य देखकर उसके असंस्कारी मन में विकार पैदा हुआ। पानदान में से दो पान के बीड़े उठाकर उसने उस सुन्दरी पर फैंके। बेचारी महिला सहमकर रह गई। गरीब घर की महिला पति के सहयोग एवं बच्चों के पालन के लिए दुकान पर बैठती थी। पर-पुरुष द्वारा अपने सतीत्व के अपमान से उसके हृदय को भी चोट पहुँची। उसके पति ने भी यह सब देखा, परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति समझकर खून का घूंट पीकर रह गया। परन्तु उसका अन्तःकरण न माना। उसने पड़ौसियों से परामर्श किया, जिन्हें इस घटना पर क्षोभ था। उन्होंने सलाह दी कि "कम से कम अपनी फरियाद तो बादशाह को सुना दो।" मोदी शेरशाह के पास पहुँचा और अपनी फरियाद उन्हें सुना दी। शेरशाह ने मोदी को दूसरे दिन दरबार में आने को कहा।

परन्तु शेरशाह इस घटना को सुनने के समय से ही गम्भीर और बेचैन थे। रात भर उन्हें नींद न आयी। रह-रहकर उनके सामने अपनी प्रगति का इतिहास तथा युवराज की करतूत घूम रही थी। उन्होंने सामान्य जागीरदार से ऊपर उठकर भारत का सिंहासन अपने पौरुष के बल पर प्राप्त किया, किन्तु उन्होंने अपनी सेना, कर्मचारीगण एवं प्रजाजनों का हृदय विश्वास और सद्भावना से जीता, यह भी कम महत्वपूर्ण न था। अतः गुण प्राप्ति के महत्त्व के ज्ञाता शेरशाह अपने पुत्र के अवगुण को देखकर चिन्तित थे। शेरशाह को लग रहा था कि यदि प्रजा की मर्यादा से खिलवाड़ की, उसकी भावनाओं की कीमत न की तो अनर्थ निश्चित है। यदि राजा-प्रजा में परस्पर विश्वास, स्नेह एवं सौहार्द समाप्त हो गया तो फिर राज्य चल ही नहीं सकता। युवराज को अपनी भूल का अनुभव एवं उसकी गम्भीरता समझाना बहुत आवश्यक है। फलतः प्रातः ही शेरशाह ने अपने युवराज को अपराधी की भाँति दरबार में लाने की आज्ञा दी।

आज शेरशाह सूरी के दरबार में विशेष चहल-पहल थी। दरबारे-आम में हर व्यक्ति शंकित, चकित और स्तब्ध बैठा था। प्रधान सेवक ने जब शेरशाह को दरबार भर जाने की सूचना दी तो वे उस ओर चल पड़े।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

युवराज को दरबार में लाया गया। शेरशाह ने पहले दुकानदार से उसकी शिकायत सुनी, फिर युवराज से प्रश्न पूछे। गवाहों से उसकी पुष्टि करायी। युवराज नतमस्तक था। उसने यह स्वीकार तो कर लिया था कि उसने दुकानदार की स्त्री पर पान फैंके, पर साथ ही उसने इस घटना को सामान्य सिद्ध करते हुए कहा—"जहाँपनाह ! मैंने तो यूँही उस पर पान फैंक दिये थे, दुकानदार बेकार का तूल दे रहा है।"

शेरशाह शेर की तरह गर्ज पड़े—"यूँही ! किसी की आबरू से खेल जाना यूँही हुआ ? तुम किस गुमान में हो 'वली अहद' (युवराज) ! किसी की बीवी की इज्जत क्या होती है, इसका तुम्हें एहसास नहीं है। मैं अभी तुम्हें समझाये देता हूँ।" और तुरन्त युवराज की पत्नी को दरबार में तलब किया गया। युवराज को अपना बचाव महँगा पड़ गया। लोग भौंचक्के-से होकर धड़कते दिल से सब कार्यवाही देख रहे थे। बुरका ओढ़े जब युवराज वली अहद की बीवी दरबार में आई तो शेरशाह पुनः गर्जे—"इसका मुंह खोल दो।" युवराज ने आँखें बन्द कर लीं, बेगम भी नीची निगाह किये खड़ी रही। शेरशाह ने दुकानदार को अपने पास बुलाकर उसके हाथ में दो पान दिये और कहा—"ये पान गुनाहगार की बीवी पर फैंक दो।"

इतने कठोर दण्ड की आशा किसी को न थी। स्वयं शेरशाह का हृदय फड़-फड़ा रहा था। उसकी बहू लाचार सबके सामने मुंह खोले बेकसूर आँखों में आँसू भरे सहमी खड़ी थी। युवराज के जीवन की बड़ी हानि के सामने यह हानि कुछ बिसात में न थी। युवराज के जीवन को गलत दिशा से मोड़कर सही मार्ग पर लाना, इसके सिवाय नहीं हो सकता था। अतः शेरशाह ऊपर से कठोर, किन्तु भीतर से शान्त व गम्भीर थे। फरियादी पान हाथ में लिये शान्त खड़ा था। मन में द्वन्द्व मच रहा था। सहसा आगे बढ़कर उस सहमी खड़ी युवती के पैरों पर दोनों पान रख दिये और हाथ जोड़कर बोला—"शाहंशाह ! आपके हुक्म की तामील हो गई। मैं यहाँ अपराध रोके जाने की फरियाद लेकर आया था, अपराध करने नहीं। इस बेचारी का तो कोई अपराध है नहीं। हमारे यहाँ तो स्त्रीमात्र पूज्य एवं देवी मानी जाती है। जो अपराध युवराज ने अज्ञानवश किया, यदि मैं भी जानबूझकर उस अपराध को करूँगा तो परमात्मा के आगे क्या जवाब दूँगा ? युवराज को दण्ड मिल चुका। जहाँपनाह ! दुनिया ने देख लिया कि आपकी निगाह में प्रजा की हर बहू-बेटी की इज्जत अपनी बहू-बेटी के समान है। आपकी इस आज्ञा के न पालन करने का यदि कोई दण्ड हो तो मुझे दिया जाये, परन्तु इस देवी के प्रति मुझे अपराधी न बनाया जाये, यह मेरी हार्दिक फरियाद है।"

सभी उपस्थित जनता, युवराज, बेगम एवं शेरशाह तक की आँखें गीली हो गईं। शेरशाह ने दुकानदार की पीठ ठोकी, बोला—"तुम्हारी यह फरियाद, फरियाद ही नहीं, हुक्म भी है, इसे टालने की मुझमें ताकत नहीं है। तुमने मेरे काम को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आसान बना दिया है। तुम्हारी बात मुझे मंजूर है।" यों कहकर शेरशाह ने स्वयं आगे बढ़कर अपनी बहू का मुँह ढक दिया। उसी समय युवराज आगे बढ़कर दुकानदार से गले मिला और शेरशाह के चरणों में गिरकर अपने अपराध के लिए माफी माँगी, भविष्य में ऐसा अपराध न करने का वचन दिया।

भाग्यशालियो ! यह है श्रेष्ठ राज्याधिप की न्यायनिष्ठा एवं व्यापक सूझ-बूझ-भरी दृष्टि, जिससे जनता का हृदय जीता जाता है।

श्रेष्ठ राज्याधिप में प्रजावत्सलता

राज्याधिप वही श्रेष्ठ माना जा सकता है, जो प्रजा के प्रति वफादार हो, प्रजावत्सल हो, प्रजा के दिल को दुःखित न करता हो, प्रजा के दुःख को दूर करने के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो। **'ताओ-उपनिषद'** में बताया गया है कि **"जो देश के कड़े बोल सहता है, वही देश का स्वामी है, जो देश के लिए दुःख सहता है, वही सच्चा राजा है।"**

नीतिकारों ने राजा के लिए प्रजारंजन का गुण आवश्यक बताया है—

प्रजां न रंजयेद् यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

"जो राजा प्रजा को उसकी सुरक्षा आदि गुणों द्वारा रंजित (प्रसन्न) नहीं करता, बकरी के गले में लगे स्तन की तरह उसका जन्म निरर्थक है।"

वास्तव में प्रजावत्सल राजा में प्रजा के प्रति हार्दिक सहानुभूति एवं दया होती है। नौवीं सदी के पूर्व की गुजरात की एक घटना है। गुजरात पर राजा भीमदेव शासन करते थे। लगभग एक साल से अनावृष्टि थी, किसानों के खेतों में कुछ भी अन्न न हुआ तो वे कर कहाँ से चुकाते ? कई गाँवों के किसान कर न दे सके तो राजा के सिपाही उन गाँवों में घर-घर जाकर कर के बदले में जो कुछ मिला, उठा लाए।

राजकुमार मूलराज अभी छोटे ही थे, पर मन में प्रजावत्सलता कूट-कूटकर भरी थी। उनसे किसानों की यह दयनीयदशा तथा जबरन कर वसूल करने की प्रवृत्ति देखी न गई। वे उस समय घुड़सवारी सीख रहे थे, राजाजी ने उन्हें कहा था—"मन लगा कर सीखोगे तो पुरस्कार मिलेगा।" राजकुमार ने रात-दिन उत्साहपूर्वक जुटकर घुड़सवारी एक सप्ताह में सीख ली और उसकी परीक्षा देने के लिए पिता के सम्मुख उपस्थित हुआ। राजकुमार के उत्साह व नैपुण्य को देखकर राजा ने उसे पुरस्कार माँगने को कहा। राजकुमार ने कहा—"मैं यही पुरस्कार चाहता हूँ कि गरीब किसानों के यहाँ से जो सामान राजसेवक, कर न दे सकने के कारण, उठा लाए हैं, वह उन्हें वापस लौटा दिया जाए।" भीमदेव यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—"मेरा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुत्र इतना प्रजावत्सल है ! बेटा ! तुम अपने लिए भी कुछ माँग लो।" राजकुमार मूलराज बोले—"पिताजी ! मुझे बहुत प्रसन्नता होगी, यदि आप यह घोषणा करा दें कि जहाँ अकाल पड़ेगा, वहाँ के किसानों से कर नहीं लिया जायेगा।" यह पुरस्कार देकर राजा को भी बहुत प्रसन्नता हुई।

यह है श्रेष्ठ राजा की प्रजावत्सलता का नमूना। कई राजाओं में इससे भी अधिक प्रजावत्सलता पाई जाती है। राजा रंतिदेव में इतनी प्रजावत्सलता थी कि अपने राज्य में घोर दुष्काल पड़ने पर राज्य का अन्नभण्डार आमजनता के लिए खोल दिया। स्वयं ४९ दिनों तक उपवासी रहे। पारणा के समय जो भी आया, उसे रोटी और पानी अपने पारणे के लिए आये हुए भोजन में से दिया। ऐसे राज्याधिप उत्कृष्ट प्रजावत्सल शासक कहे जा सकते हैं, जो प्रजा के हित के लिए अपने प्राणों को होमने के लिए तत्पर होते हैं।

श्रेष्ठ राज्याधिप के राज्य में कोई चोर, डाकू, अनाचारी नहीं

श्रेष्ठ राज्याधिप का इतना प्रभाव होता है कि उसके राज्य में कोई भी पापी नहीं रहता। पाप को अवकाश ही तब मिलता है, जब जनता के सुख-शान्ति और अमन-चैन में कोई बाधा हो। जहाँ प्रत्येक नागरिक के पास खाने-पीने-पहनने के पर्याप्त साधन हों, सभी यथालाभ सन्तुष्ट हों, दूसरों से ईर्ष्या न होती हो, सब अपनी धर्म-मर्यादा में चलते हों, किसी पर कोई आकस्मिक संकट आ पड़े तो धर्म-धुरंधर राजा उस संकट-निवारण के लिए प्रयत्नशील रहता हो, वहाँ चोरी, डकैती, बेईमानी, रिश्वत खोरी, दुराचार और अनाचार को स्थान ही कैसे मिल सकता है ?

राजा अश्वपति ऐसे ही एक आदर्श राजा हो गये हैं, जिनके राज्य में कोई भी चोर, डकैत, व्यभिचारी या अनाचारी नहीं था।

एक बार एक जगह अनेक ऋषि एवं ऋषिपुत्र आत्मा एवं ब्रह्म के बारे में विचार-विमर्श करने के लिए एकत्र हुए। विचार-चर्चा कुछ उग्र हो गयी, वाद-विवाद बढ़ता गया, किसी एक निश्चय पर वे न पहुँच सके। अतः वे सभी महर्षि उद्दालक के पास पहुँचे। उन्होंने कहा—"इस वैश्वानर आत्मा का ठीक-ठीक ज्ञान तो अश्वपति नृप को है। हम सब उनके पास चलकर निर्णय करें तो अच्छा होगा।" सभी लोग अश्वपति राजा के यहाँ पहुँचे। उन्हें अपने यहाँ आये देख अश्वपति को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अभिवादन के पश्चात आसनादि दिये। फिर सबका चरण-प्रक्षालन किया। चन्दनमाला, पुष्प आदि से सत्कार (पूजन) किया। तत्पश्चात् उनके भोजन के लिए स्वादिष्ट सात्त्विक आहार स्वर्णथालों में भरकर तथा ऊपर से स्वर्णराशि दक्षिणा के रूप में निवेदित की। अभ्यागतों ने न तो भोजन को छुआ और न ही धन को। इस व्यवहार से अश्वपति को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हाथ जोड़कर बोले—"अतिथिदेव ! मैं जानता हूँ कि शास्त्र में राजा का अन्न अपवित्र बताया गया है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि राजा के कोष में चोर, डाकू, अनाचारी आदि पर अर्थदण्ड का पापी धन भी आता है। प्रजा के पाप में राजा को भी भागी होना पड़ता है। 'लेकिन' उसने कहा—

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो, न च मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी, स्वैरिणी कुतः॥

"मेरे राज्य में कोई चोर, डाकू, कृपण, शराबी, बेईमान अनाहिताग्नि एवं मूर्ख नहीं है, न अनाचारी पुरुष है तो अनाचारिणी स्त्री कहाँ से होगी ? अतः मेरा अन्न और धन निर्दोष है।"

इस पर आश्वस्त होकर सब लोगों ने भोजन किया और फिर अश्वपति ने उन्हें आत्मज्ञान दिया।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि आदर्श राजा जनक जैसा निर्लिप्त, त्यागी, आत्मज्ञानी और तेजस्वी होता है कि उसके प्रभाव से समग्र राज्य में पाप प्रविष्ट नहीं हो सकता और न ही पाप करने की बात किसी के मन में आ सकती है।

श्रेष्ठ राजा प्रजा की पीड़ा जानने के लिए गुप्तवेष में घूमता है

श्रेष्ठ राज्याधिप में यह गुण होता है कि वह दिन या रात में अकेला वेष बदलकर अपने राज्य में विचरण करता है अथवा अपने विश्वस्त गुप्तचरों को भेजता है, ताकि जो दीन प्रजा अपनी पीड़ा की पुकार राज्य-कर्मचारियों और अधिकारियों की भ्रष्टता के कारण राजा तक नहीं पहुँचा सकती, उसे राजा सीधे जान सके और योग्य उपाय कर सके। ऐसे राजा प्रजा के दुःख को अपना दुःख समझते थे, साथ ही प्रजा की प्रकृति, प्रतिक्रिया, भावना और आदत का भलीभाँति पता लगाकर उसकी गलत बातों का सुधार करते एवं नये उपयोगी कानून बनाते थे।

लगभग २५० वर्ष पहले रूस में सम्राट (ज़ार) आईडॉन राज्य करता था, वह अत्यन्त प्रजाहितैषी एवं जनता के सुख-दुःख में सहभागी था। वह प्रजा के दुःख-दर्द को समझने तथा प्रजा की गति-विधियों को जानने के लिए गुप्तवेष में घूमता था। एक बार वह फटेहाल बनकर मास्को प्रान्त में अकेला घूम रहा था। वह एक छोटे से गाँव में पहुँचा। रात हो गई थी। वह प्रत्येक घर में जाकर प्रार्थना करता "मैं बहुत थक गया हूँ क्या आज रात को तुम्हारे यहाँ रहने को जगह मिलेगी ?" लेकिन इस गुप्तवेषधारी फटेहाल की बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया और निष्ठुरता से सबने इन्कार कर दिया। अपनी प्रजा के ऐसे निष्ठुर व्यवहार से मन में अतिसंताप करता हुआ सम्राट राजमहल की ओर लौट रहा था, तभी उसकी नजर मार्ग में स्थित एक झोंपड़ी पर पड़ी। उसने पास जाकर दरवाजा खटखटाया। एक किसान दरवाजा खोलकर बाहर आया। पूछा—"कौन हो भाई ? कैसे आये हो ?" सम्राट ने कहा—"मैं एक थका-माँदा राही हूँ; क्या मुझे अपने यहाँ रात्रिनिवास करने दोगे ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसान बोला—"हाँ, खुशी से ! मेरे घर में थोड़ा-सा खाने को है, वह भी लो। तुम जरा देर से आये। मेरी पत्नी आज बीमार है, इसलिए मुझसे मेहमानदारी में कुछ कमी रहेगी। खैर, अन्दर चले आओ, बाहर क्यों खड़े हो ?"

किसान सम्राट को झोंपड़ी के अन्दर बनी एक कोठरी में ले गया, जहाँ उसके बच्चे सोये थे। एक कम्बल बिछाकर किसान ने सम्राट से कहा—"इस पर बैठो। मैं तुम्हारे खाने-पीने की व्यवस्था करता हूँ।" इतना कहकर वह अन्दर से रोटी और शहद थोड़ी देर में लेकर आया और बोला—"लो, मेरे बच्चों के साथ खाना खाओ, जितने में मैं अपनी रुग्ण पत्नी को सँभाल आता हूँ।" वह थोड़ी देर में एक छोटे से बच्चे को गोद में लेकर आया और कहने लगा—"कल इसका नामकरण होगा।" सम्राट् ने प्रेम से उसे गोद में लिया और बोला—"यह बालक बड़ा भाग्यशाली होगा।" किसान हर्षित हुआ। दरिद्र किसान के पास एक ही बिछौना था, जिसे उसने सम्राट् के लिए बिछा दिया, और स्वयं घास बिछाकर सो गया। सुबह आगन्तुक ने किसान से विदा लेते हुए कहा—"मैं मास्को पहुँचकर अपने एक धनिक मित्र से बात करूँगा कि वह इस बालक का धर्मपिता बन जाये। तुम मुझे वचन दो कि मेरे वापस लौटने से पहले इस बालक का नामकरण नहीं करोगे। मैं तीन घंटे में आता हूँ।" किसान ने स्वीकार किया।

प्रतीक्षारत किसान ने देखा कि तीन घंटे बाद रूस का सम्राट अपने अंगरक्षकों के साथ उसकी झोंपड़ी के निकट घोड़ागाड़ी से उतरा और उससे कहा—"मैं अपने वचन का पालन करने के लिए ही आया हूँ, लाओ, मेरी गोद में इस बच्चे को दे दो, और तुम सब तैयार होकर चर्च में चलो।" किसान हक्का-बक्का हो गया, वह इस रहस्य को न समझ सका, तब सम्राट ने सारा रहस्य खोला। फिर कहा—"तुमने जो मेरे साथ मानवता का व्यवहार किया है, उसी का बदला चुकाने मैं आया हूँ।" किसान रहस्य समझ गया। तब से उस कृषकपुत्र का लालन-पालन रूस के सम्राट आईडॉन ने अपनी देख-रेख में किया और उस किसान परिवार को सुखी बना दिया।

यह है, राज्याधिप की जनता के दुख-दारिद्र्य में सहानुभूति और सहृदयता की सक्रियता, जो उसे श्रेष्ठता के पद पर आसीन करती है।

जैसा राजा, वैसी प्रजा

शिष्ट और सज्जन राजा इस बात को भली-भाँति जानता है कि मेरा आचरण, व्यवहार, चाल-चलन, रीति-नीति एवं रंग-ढंग अच्छा होगा तो प्रजा का भी अच्छा होगा। मैं अगर गलत और धर्मविरुद्ध आचरण एवं व्यवहार करूँगा तो प्रजा भी उसका अनुकरण करेगी। कहा भी है—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमेवानुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"राजा धर्मात्मा होगा तो प्रजा भी धर्मपरायण होगी, और पापी होगा तो प्रजा भी पापिष्ठ होगी। राजा के समान ही प्रजा होगी। क्योंकि प्रजा राजा का अनुसरण करती है, जैसा राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है।"

अतः शिष्ट राजा ऐसा कोई भी गलत कदम नहीं उठाता, न निकृष्ट, पापयुक्त, अधार्मिक व्यवहार करता है, जिससे प्रजा को उसके अनुसरण का मौका मिले।

जो जनता के हृदय पर शासन करे, वही उत्कृष्ट राजा

वास्तव में उत्कृष्ट राजा वह है, जो जनता के हृदय पर शासन करे। ऐसे तो अपने मिथ्या पराक्रम से, छलबल से राज्य हस्तगत करके हर कोई राजा कहलाने लगता है, परन्तु अगर वह प्रजा को पीड़ित करता है, उसका शोषण करता है, सताता है तो वह प्रजा का हृदयसम्राट नहीं हो सकता। पाश्चात्य विचारक फोर्ड (Ford) ने इसी बात का समर्थन किया है—

"Happy the kings, whose thrones are founded on their people's hearts."

"वे भाग्यशाली राजा हैं, जिनके सिंहासन जनता के हृदय पर प्रतिष्ठित हैं।"

जिन राजाओं के जीवन में त्याग-बलिदान की मात्रा अधिक होती है, वे ही राजा जनता के हृदय पर अपना सिंहासन (आसन) स्थापित करते हैं। जो जरा-जरा से स्वार्थ के लिए मरते हैं, प्रजा पर नाना प्रकार के कर लगाकर उसे चूसते हैं, वे जनता के हृदय में अपना आसन नहीं जमा सकते।

प्राचीनकाल में कौशल का एक राजा था, जो अपने को जनता का सेवक मानता था, जनता के दुःख-दर्द के समय उसका हृदय चीत्कार उठता था। वह न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करता था। एक बार उसकी वर्षगाँठ थी। कौशल की जनता ने तो उसकी वर्षगाँठ मनाई ही, अपने हृदय से हजारों आशीर्वादसूचक मंगल-कामनाएँ भी कीं—"हमारे प्रजावत्सल राजा दीर्घायु और स्वस्थ्य हों;" परन्तु आसपास के जनपदों की, यहाँ तक कि काशी की जनता ने भी उनकी मंगल वर्षगाँठ मनाई; क्योंकि वह इतने परोपकारी और दयालु थे कि कोई भी, किसी भी जनपद का निवासी भूखा, दुखी, दीन-हीन मानव उनके यहाँ पहुँच जाता, वह खाली नहीं लौटता था। उसे वह कुछ न कुछ सहायता देकर सन्तुष्ट करते थे। इसी कारण दूर-दूर तक की जनता के हृदय में कौशलनरेश के प्रति गहरा अनुराग था।

परन्तु दुष्ट काशीनृप को कौशलनरेश के प्रति जनता का यह अनुराग और उनके प्रति प्रेम व्यक्त करने के लिए उनकी वर्षगाँठ मनाना फूटी आँखों नहीं सुहाया। ईर्ष्यावश उसने जनता को ऐसा करने से रोका, जब जनता नहीं रुकी तो अपना अपमान समझकर बड़ी भारी संख्या में सेना लेकर कौशल पर चढ़ाई कर दी।

यद्यपि कौशल की सेना और जनता ने वीरतापूर्वक उसका सामना किया, किन्तु आखिर संख्या और शस्त्रास्त्र की कमी के कारण वह हार गई। कौशलनरेश को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपना राज्य छोड़कर भागने को विवश कर दिया, काशीनरेश ने कौशल देश पर अपना अधिकार जमा लिया। इतना ही नहीं, काशीनृप ने यह घोषणा भी करवा दी कि "जो कौशलनरेश का मस्तक लायेगा, उसे मैं सवा मन सोना दूंगा।" कौशलेश के कानों में जब यह समाचार पड़े तो एक दिन एक दुःखी ऋणपीड़ित और सहायता के लिए कौशल देश जाने के इच्छुक यात्री को अपने साथ लेकर वे काशीनृप के दरबार में स्वयं अपना मस्तक देकर उसे सवा मन सोना दिलाने पहुँचे।

कौशलनरेश को दीन-दुःखी के उद्धार के लिए स्वयं अपना सिर देने के लिए उद्यत देख काशीनृप का हृदय एकदम पलट गया। वे गद्‌गद होकर सिंहासन से उतर पड़े और जबरन कौशलनरेश के सिर पर मुकुट रखकर उन्हें सिंहासन पर बिठा दिया। काशीनृप को भारी पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने कौशलेश को न चाहते हुए भी पुनः कौशल देश का राज्य सौंपा और स्वयं उनके सेवक बनकर रहने का निश्चय किया।

यह था जन-जन के हृदय पर शासन करने का श्रेष्ठ राजा का मूलमंत्र!

राज्याधिप कैसे बिगड़े? कैसे दुष्ट हुए?

प्रश्न होता है, काशीनरेश जब इतने आदर्श, त्याग-परायण, धार्मिष्ठ एवं श्रेष्ठ राज्याधिप थे, उनके बिगड़ने और सहसा दुष्ट हो जाने का क्या कारण बना? इसके उत्तर में हमें प्राचीन भारतीय इतिहास पर नजर डालनी होगी।

पहले तो जनता ने राजाओं को उनके त्याग, तप, बलिदान की भावना, प्रजावत्सलता आदि गुणों को देखकर बहुत ही सम्मान दिया, उन्हें महान् माना, देवमय समझा, यह उनके गुणों के अनुरूप उचित ही था, परन्तु अधिकांश राजाओं को अत्यधिक महत्ता पची नहीं। वे महत्ता पाकर अपने को महान् समझने लगे। वे यह भूल गये कि जनता से महत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का मार्ग कुछ और ही है। त्याग, तपस्या, सेवा, बलिदान, परोपकार, परमार्थ, विद्या तथा धर्मपरायणता आदि का अवलम्बन लेने पर ही महत्ता मिला करती है। जब उसमें त्याग, तप, बलिदान, परोपकार, सेवा आदि के गुण न रहे तथा निर्व्यसनता, सच्चरित्रता एवं धर्माचरण के सन्मार्ग से हट गये और केवल सत्ता तथा महत्ता का अभिमान रह गया, तब उन्होंने जनता पर अपना बड़प्पन और महत्ता थोपना शुरू किया। वे मनुष्यता की सीमा को लांघकर जनता पर अपना रौब और दबदबा जमाने के लिए विभिन्न हथकंडे अपनाने लगे, अन्याय-अत्याचार करने और निर्दोष को दण्ड देने लगे। अपनी महत्वाकांक्षा की भूख को तृप्त करने के लिए पैशाचिक प्रवृत्ति करने लगे। उद्दण्डता और आतंक का मार्ग अपनाकर जनता पर अपनी महत्ता का सिक्का जमाने लगे। शासक की तेजस्विता खोकर वे क्षमता और गुणों के अभाव में अपनी महत्ता प्रकट करने के लिए सज्जनों को सताने लगे, उच्च लोगों को गिराने की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोशिश करने लगे या झगड़ा, मार-पीट, चोरी-डकैती, दंगा-फसाद करने पर उतारू हो गये। यही कारण हैं राज्याधिपों से उद्दण्ड और दुष्ट बनने के।

वास्तव में जब राजा में अन्याय, अत्याचार, निरंकुशता, सत्ता का मद, शोषण, दुर्व्यसन, अति स्वार्थ आदि दूषण आ जाते हैं तो वह शिष्ट अधिप से दुष्ट अधिप बन जाता है, ऐसी दशा में उस पर कोई नियन्त्रण-बल न हो तो वह दुष्ट से दुष्टतर होता जाता है। उसका शासन दुःशासन बन जाता है। राजा को इसीलिए नीतिकारों ने परामर्श दिया है—

राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां,
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे,
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः॥

"राजन् ! यदि पृथ्वी रूपी गाय को (कर आदि से) दुहना चाहते हो तो पहले बछड़े की तरह इस लोक (प्रजासंतान) को सेवारूपी दूध पिलाकर पुष्ट करो। यदि प्रजासन्तान अहर्निश सम्यक् रूप से परिपुष्ट होगी तो यह पृथ्वी कल्पलता की तरह अनेक फल देगी।"

राजा के दुष्ट अधिप होने के कई कारण नीतिकारों ने बताये हैं—

अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः,
ततस्तत्प्रामाण्याद् भवति न समीपे बुधजनः।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये नहि भवति नीतिर्गुणवती,
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत्॥१॥

"राजा जब राज्यकार्य से बेखबर रहता है, अज्ञानी रहता है, तब उसके परिजन-पौरजन दुर्बुद्धि हो जाते हैं और ऐसा प्रमाणित होने पर राजा के पास कोई प्रबुद्ध विद्वान नहीं फटकता। जिस राज्य को बुद्धिमान लोग छोड़ देते हैं, वहाँ की राज-नीति दूषित हो जाती है। नैतिक संकट आ पड़ने पर सारा जगत् विवश होकर दुःख पाता है।"

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं, न च हितम्,
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव।
ततो मानभ्रातः स पतति यदा शोकगहने,
तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति, न निजं वेत्त्यविनयम्॥२॥

"जब राजा कामासक्त हो जाता है तब उसे न तो अपना कर्तव्य सूझता है, और न ही स्व-पर-हित। ऐसी स्थिति में वह मतवाले हाथी की तरह स्वच्छन्द होकर चलता है। जब उसके अभिमान पर (पराजित होने से) चोट पहुँचती है तब वह गहरे शोक में डूब जाता है; और उसका दोष अपने सेवकों और कर्मचारियों के गले मढ़ता है, किन्तु अपने अविनय को नहीं जान पाता।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥३॥

"मद्यपान, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, शिकार, द्यूत, शोषण, अन्याय, अत्यधिक कराधान आदि अर्थदोष, वाणी और दण्ड की कठोरता, ये राजाओं के दुर्व्यसन हैं, जो उन्हें पतित कर देते हैं।"

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा, दण्ड्यांश्चैवादण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति, नरकं चैव गच्छति ॥४॥

"जो राजा अदण्डनीय को दण्डित करता है और दण्डनीय को दण्डित नहीं करता, वह महान् अपयश पाता है और नरक में जाता है।"

य उद्धरेत्करं राजा प्रजाः धर्मेस्वशिक्षयन् ।[1]
प्रजानां शमलं भुंक्ते, भगं च स्वं जहाति सः ॥५॥

"अपनी प्रजा पर जो धर्मयुक्त शासन न करके जो केवल उससे विविध कर वसूल करता है, वह प्रजाओं के पाप का उपभोग करता है और स्वयं अपने ऐश्वर्य को ठुकराता है।"

मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं यः, कर्षयत्यनवेक्षया ।[2]
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याद् जीविताच्च सबान्धवः ॥६॥

"जो राजा अज्ञानवश धन लेकर या मार-पीट कर अपने देश को पीड़ित और दुर्बल करता है, वह स्वजन-बान्धवों सहित शीघ्र ही राज्य और अपने जीवन से भ्रष्ट हो जाता है।"

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृप अवसि नरक-अधिकारी ॥[3]

दुष्ट राज्याधिप दण्डपरायण क्यों हो जाता है ?

मैं अधिक न कहकर इतना ही कहूँगा कि जो शासक इस प्रकार से अत्याचारी, निरंकुश और सत्तामदान्ध हो जाता है, वह दुष्ट अधिप होकर प्रजा को मनमाने ढंग से पीड़ित करता है, वह जनता का शोषण करता है, निर्दोष सज्जनों को दण्ड देता है, उच्छृंखल होकर चाहे जिसकी बहन-बेटी के प्रति कुदृष्टि रखकर उसके साथ बलात्कार करता है, दुर्व्यसनों में आसक्त होकर स्वयं राज्यकार्य नहीं सँभालकर भ्रष्ट कर्मचारियों और अधिकारियों के हाथ में सौंप देता है, जो जनता से रिश्वत लेकर उसका शोषण और उत्पीड़न करते रहते हैं।

---

१ विविध नीति ग्रन्थों, महाभारत आदि से उद्धृत।
२ मनुस्मृति ७/१११।
३ रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार के दुष्ट राज्याधिप तथा किसी भी क्षेत्र के दुष्ट अधिप या अधिकारी का ध्यान फिर अपने कर्त्तव्य और दायित्व की ओर नहीं रहता। वह जरा-जरा सी बात पर मूर्खतावश कठोर दण्ड देता रहता है। उसका जोर एकमात्र दण्ड पर ही रहता है, वह राज्य के कानून-कायदों या जीवन के अमुक क्षेत्र के नियमों में संशोधन नहीं करता, न भ्रष्टाचार को रोक पाता है। स्वयं अपने अनेक दूषणों से पतित और मूढ़ बना वह अधिप फिर सज्जनों को ही दण्ड देता रहता है, जो चालाक और वाचाल होते हैं, तिकड़मबाज होते हैं, वे दण्ड से बच जाते हैं। इसीलिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट कहा है—

'दुट्ठाहिवा दंडपरा हवंति'

दुष्ट अधिप सिर्फ दण्डपरायण ही होते हैं। दण्ड पर ही उन्हें विश्वास होता है, किसी को दबाना, सताना, पीड़ित, शोषित और पददलित करना और अपना रौब जताना, एकमात्र दण्डशक्ति से जनता पर अपनी हुकूमत जमाना यही उनकी दुर्नीति होती है; परन्तु इस अत्याचार का दुष्परिणाम उन दुष्टाधिपों को भोगना ही पड़ता है।

दुःखविपाक सूत्र में एक इसी प्रकार के एक दुष्टाधिप की प्रेरणाप्रद कथा अंकित है—

सिंहपुर में दुर्योधन नामक एक अन्यायी, अत्याचारी, प्रजा-पीड़क एवं महादुष्ट दण्डनायक था। वह अपने आपको राजा के समान ही सत्ताधीश के कम नहीं समझता था। जनता के हित, कल्याण एवं जनता के लिए उत्सर्ग, त्याग या परोपकार की भावना उसमें नाममात्र को भी नहीं थी। वह अपने कर्तव्य और दायित्व को न समझकर केवल अधिकार के मद में चूर रहता था। जनता को डरा-धमकाकर धन बटोरने, अपना स्थान और पद जमाने के लिए उन्हें त्रस्त और उत्पीड़ित करने में ही उसका समय व्यतीत होता था। जनता को लूटने, अपहरण करने, स्त्रियों के साथ बलात्कार करने, झूठे मुकदमे लगाकर रिश्वत लेने, मारने-पीटने, सताने और दुःख देने में ही उसे आनन्द आता था। विविध पापकर्म करने के बावजूद भी पूर्वकृत पुण्यवश उसका धन और बल बढ़ता गया। इसका मद उसकी नस-नस में छा गया। वह यह भूल गया था कि दूसरों को दुःख देने का परिणाम दुःख-प्राप्ति होता है; इसके विपरीत बुद्धि पर अहंकार और अज्ञान का पर्दा पड़ जाने के कारण वह यही समझता था कि कौन है, जो मेरे सामने जरा भी चूँ-चपड़ कर सके ? किसकी ताकत है, मेरी आज्ञा की अवहेलना कर सके ? मेरी धाक जम गयी है। इस प्रकार की राक्षसी प्रवृत्ति और राक्षसी आकृति के कारण लोग उसके नाम से ही काँप उठते थे। इस प्रकार दुर्योधन दण्डनायक दुष्ट प्रवृत्तियों का आदी हो गया। उसका पुण्य प्रबल था, इसीलिए साधन, सम्पत्ति आदि अवश्य मिले, लेकिन दृष्टि निर्मल न होने से वे अधिकाधिक पापजनक बने। उसका पुण्य पापानुबन्धी था, क्षणिक सुख पर अनन्त काल के दुःखों के बीज पड़े हुए थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन उसका पापकर्म उदय में आया। पाप करने में पागल बना हुआ दुष्टाधिप दुर्योधन मरने से पहले असह्य रोग से पीड़ित हुआ। वैद्य, हकीम, आदि के सब उपचार व्यर्थ हो गये। दीर्घकाल तक असह्य वेदना भोगकर हाय-हाय करते हुए दुर्योधन दण्डनायक का शरीर छूटा। मरकर वह २२ सागरोपमकालिक घोर नरक में तीव्र वेदना भोगने के लिए चला गया।

नरक का आयुष्य पूर्ण करके दण्डनायक का जीव मथुरा नगरी के श्रीदाम नामक राजा के यहाँ राजपुत्र के रूप में जन्मा। नाम रखा गया नन्दीवर्धन। उसके मूल कुसंस्कार अभी गये नहीं थे। युवावस्था में पदार्पण करते ही राजकुमार नन्दीवर्धन ने सोचा—अहा! राज्य पाने में कितना सुख है? किन्तु पिता के हाथ में जब तक राज्य रहेगा, तब तक मैं सुखी नहीं हो सकूँगा। पिता के जीवित रहते मेरे हाथ में राज्य आ नहीं सकता। पिता अभी तक न मालूम कितने वर्ष जीवित रहेंगे? इसलिए 'किसी न किसी उपाय से पिता को समाप्त करने पर ही मैं सत्ताधीश बन कर आनन्द लूटूँ।' ऐसी पूर्वकालिक राक्षसी भावना उसके हृदय में जागी। उसने मन ही मन पिता की हत्या कराने की योजना सोच ली और इसके लिए उसने चित्त नामक नाई को प्रचुर धन और मन्त्रीपद का लालच देकर तैयार कर लिया। परन्तु किसी के प्राण लेने का काम आसान न था। नाई में इतनी हिम्मत भी न थी, और प्रभु का भी डर था।

एक दिन उसने जैसे-तैसे उस्तरे की धार तेज की, राजा की हजामत बनाते-बनाते ज्यों ही गहरा घाव करने का सोचा कि उसका हाथ रुक गया। राजा भी नाई का मनोभाव ताड़ गया।

राजा ने तुरन्त उससे पूछा—"सच-सच बता, चित्त! क्या बात थी? सच बताएगा तो तेरा गुनाह माफ कर दूँगा।" उसने सारी बात आद्योपरान्त खोलकर कह दी, अपना अपराध मंजूर किया। राजा का आयुष्य बलवान था, इसलिए बच गया। परन्तु राजा ने तत्काल राजकुमार नन्दीवर्धन को गिरफ्तार करवाकर कैद में डलवा दिया तथा नगर में घोषणा करवा दी कि युवराज का आज नगर के मुख्य चौक में राज्याभिषेक करना है, इसके लिए सब प्रजाजन उपस्थित हों। एक ओर राज्याधिकारी एवं कर्मचारी मंच बनाने और सिंहासन रखने आदि की तैयारी कर रहे थे, दूसरी ओर राजा ने शीशे को कड़ाही में गर्म करवाकर तप्त रस तैयार करवाया। ठीक समय पर मुख्य चौक में सिंहासन पर बैठे युवराज के सिर पर खौलता हुआ शीशे का रस राजा ने अपने हाथ से उड़ेलकर राज्याभिषेक किया।

इस प्रकार नन्दीवर्धन को उसकी राक्षसी भावना के फलस्वरूप कुत्ते की मौत मार डाला। राजपुत्र को उसके पूर्वकृत भयंकर दुष्कर्मों का फल मिल गया। उपस्थित जनता देखकर सन्न रह गयी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जनता की सेवा के लिए मिले आधिपत्य का जो जनता को उत्पीड़ित एवं क्रूरता से दण्डित करके दुरुपयोग करता है, उसे देर-सबेर उन दुष्कर्मों का फल मिले बिना नहीं रहता।

प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसे भी अनेकों उदाहरण मिलते हैं, जो राज्याधिप निरंकुश और उद्दण्ड होकर प्रजा को सताता था, धर्मविरुद्ध चलता था, दुराचारी बन गया था, उस सत्तामदान्ध राजा को प्रजा ने ऋषि-मुनियों और ब्राह्मणों के सहयोग से राजगद्दी से उतार दिया था।

वैदिक महाभारत में राजा वेन की कथा आती है। वह अत्याचारी और निरंकुश राजा था। उसने अपने अन्धाधुन्ध मनमाने व्यवहारों से अपने पिता को ही राज्य छोड़कर भागने को विवश नहीं किया, बल्कि सात्त्विक ऋषियों को छेड़कर उनके हृदय में भी क्रोध का बीज अंकुरित कर दिया। फलतः प्रजा ने भड़ककर ऋषियों के नेतृत्व में उसे उखाड़ फैंका। उसके स्थान पर ऋषियों द्वारा शपथ दिलाकर वेन के पुत्र वेन्य-पृथु को राजगद्दी पर बिठाया।

अतः दुष्ट राज्याधिप को तो भारतीय जनता प्रायः सहन नहीं कर पाती थी। मध्ययुग में जब जनता के नैतिक संगठन निर्बल हो गये या न रहे, तब कई निरंकुश, दुर्व्यसनी एवं अत्याचारी राजाओं ने अपनी मनमानी चलाई।

राज्याधिप को अति कठोर दण्डपरायणता से क्या हानि, क्या लाभ ?

कई राज्याधिपति यह सोचा करते हैं कि कठोर दण्ड देने से उसके भय से जनता पापकर्म या धर्मविरुद्ध कार्य करने से रुक जायगी, परन्तु यह सोचना भी भूलभरा है। अत्यधिक दण्ड से प्रजा सुधरती नहीं, बल्कि धृष्ट होकर पाप या अकृत्य करती रहती है। फिर उसे रोकना या काबू में करना कठिन हो जाता है। दण्ड देते-देते राजा थक जायगा, रात-दिन इसी क्रूर उधेड़बुन में पड़ा रहेगा।

अति कठोर दण्डपरायणता से क्या-क्या हानियाँ होती हैं ? इसे समझाने के लिए मैं एक ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पाटलिपुत्र के तरुण राजा अशोक ने एक दिन अपने महामन्त्री से कहा—"मेरे राज्य में पाप और अपराध का नामोनिशान भी न रहना चाहिए।"

महामन्त्री ने करबद्ध होकर कहा—"महाराज ! भारतीय लोग सौगन्ध खाने के लिए भी झूठ नहीं बोलते, वे अपने घर के ताला नहीं मारते, चाहे जैसे झगड़े के निपटारे के लिए अदालत में नहीं जाते।"

"पर महामन्त्री ! इतने मात्र से ही मुझे सन्तोष नहीं होता। मेरी महत्वाकांक्षा तो यह है कि मेरे राज्य में पापकार्यमात्र नष्ट हो जाय, पापी का नाम भी न रहे।" सम्राट ने कहा।

महामन्त्री कुछ न बोले, वे गम्भीर विचार में मग्न हो गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी समय दण्डनायक कितने ही अपराधियों को रस्सी से बाँधकर उपस्थित हुए। सम्राट की सेवा में निवेदन किया—"स्वामिन्! इस एक अपराधी ने पानी के बाँध की पाल तोड़कर फिजूल पानी बहाया है।"

सम्राट—ओह! कितनी दुष्टता! प्रजा के पेय जल के साथ खिलवाड़! इस अपराधी को बाँध में डुबाकर मार डालो।"

दूसरे अपराधी को आगे करते हुए दण्डनायक ने कहा—"इसने अपने नगर के प्रसिद्ध रेशम निर्माता की अँगुलियों को चोट पहुँचाई है।"

सुनकर राजा बोले—"ओह! इसने एक शिल्पी को हानि पहुँचाकर सारे देश को हानि पहुँचाई है। इसके गले में रेशमी डोरी बाँधकर पेड़ के साथ बाँधकर इसे लटका दो।"

सजा सुनने वालों के रोंगटे खड़े हो गये। इस प्रकार अशोक ने अपराधियों को भयंकर दण्ड देना शुरू किया। परन्तु जैसे जीवहिंसा करने से जीवोत्पत्ति बढ़ती है, वैसे ही गुनाहगारों की संख्या बढ़ती गयी।

अशोक ने एक दिन महामन्त्री से पूछा—"क्या लोग पाप से नहीं डरते? पाप करने वाले को नरक मिलता है, यह नहीं जानते?"

महामन्त्री बोला—"सभी जानते हैं, पर 'यह भव मीठा, तो परभव किसने दीठा?' इस सूत्र का अनुसरण करते हैं।"

इस पर अशोक ने गम्भीरता से सोचा—"मुझे तो पृथ्वी को पुण्यशीला बनाना है। कौन-सा उपाय करूँ, जिससे मानव पुण्य की ओर प्रवृत्त हो?"

एक दिन शाम को अशोक की दृष्टि भेड़ों पर पड़ी, जो भेड़ियों के डर से चरवाहे के पीछे-पीछे चल रही थीं, इस पर स्फुरणा हुई कि 'भय बिना प्रीति नहीं' यह कहावत ठीक है। अतः इस पृथ्वी पर ही ऐसा नरकागार बनाऊँ, जिससे किसी को अपराध करने का विचार ही न आये। नरक का नाम सुनते ही काँप उठे।

उसी समय राजा ने महामन्त्री को बुलाकर कहा—"शिल्पियों को बुलाओ, मुझे नरकागार का निर्माण कराना है।"

महामन्त्री—"किसके लिए?"

राजा—"राज्य के सभी दुराचारियों के लिए।"

महामन्त्री—"तो फिर सदाचारियों के लिए स्वर्ग की भी रचना करायेंगे न?"

राजा—"हाँ, एक ओर नरक, दूसरी ओर स्वर्ग। दुष्ट को नरक और शिष्ट को स्वर्ग।"

महामन्त्री—"पर महाराज! दुष्ट और शिष्ट की परीक्षा में कभी भूल तो नहीं होगी न?"

राजा ने कहा—"मेरे से भूल कैसे होगी भला?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महामन्त्री ने दबे स्वर से कहा—"मनुष्य मात्र भूल का पात्र है, महाराज !"

राजा—"मैं यह नहीं सुनना चाहता। मैंने जो कहा है, वैसा ही करना है।"

"शिल्पियों को बुलाता हूँ", कहकर महामन्त्री चला गया।

कुछ ही दिनों में एक एकान्त स्थल में नरकागार बनकर तैयार हो गया। उसमें दण्ड के पृथक्-पृथक् खण्ड बनाये गये जैसे—हत्याविरोध-खण्ड, चौर्यविरोध-खण्ड, व्यभिचारविरोध-खण्ड, असत्यविरोध-खण्ड आदि। साथ ही कठोर दण्ड भी नियत किये; जिन्हें सुनते ही रोंगटे थर्रा उठें, जैसे—किसी को गर्म तेल के कड़ाह में डालने का, किसी के सारे शरीर को बाँधकर कोल्हू में पेरने का, किसी को गर्म खम्भे के साथ बाँधने का, किसी को गर्मागर्म शीशा पिलाने का, साथ ही दण्ड को क्रियान्वित करने वाले कठोर हृदय पुरुष भी रखे गये। मृत्यु दण्ड का भी वे कठोरता-पूर्वक अमल करते थे। परन्तु न जाने क्यों, बुझते दीपक की तरह अपराधियों की संख्या बढ़ती ही चली गयी। हर रास्ते चलता आदमी फरियाद करने आता—अमुक ने मेरी सुई चुरा ली, अमुक मेरा पशु बाँधने का खूँटा उखाड़ ले गया, अमुक ने मुझे अपशब्द कहे इत्यादि। महाराज अशोक सुबह से शाम तक शिकायत सुनते-सुनते हैरान हो जाते। फिर भले ही 'ककड़ी के चोर को फांसी की सजा' जैसी कहावत चरितार्थ की जाती हो। राजा को अब अपने न्याय के बारे में शंका होने लगी, फलतः एक स्वतन्त्र न्याय विभाग खोला। जो अधिकारी वहाँ नियुक्त किये गये, वे भयंकर दण्ड देने लगे। जनता में हाहाकार मच गया।

इसी समय एक भिक्षु गुनाहगार के रूप में पकड़ा गया। अपराध था—नास्तिक होने का, ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करने का।[1] अशोक ने उससे कहा—"नास्तिक ! तेरा अपराध भयंकर है।"

वह साधु बोला—"आस्तिक ! तेरा अपराध भी अक्षम्य है।"

अशोक—"अरे दुष्ट ! नास्तिक होकर भी इस प्रकार बोलता है ?"

साधु—"मुझसे बढ़कर अपराध तो तूने किया है। तू खुद ईश्वर बना है।"

अशोक—"कौन कहता है ?"

साधु—"मैं कहता हूँ। मनुष्य को तौलने का काम उसी का है। नरक-स्वर्ग की रचना उसी की है। उसका शाप भी वरदान रूप है। तेरे कत्लखाने-से नरक में कहाँ ऐसी रचना है ? चल, तुझे तेरा अन्याय बताऊँ। वहाँ निरपराधी भद्र आदमी मारे जाते हैं, अपराधी स्वर्ग सुख की सी मौज उड़ाते हैं।"

अशोक यह सुनकर स्तब्ध हो गया। उसने साधु के साथ चलकर देखा सच-मुच वहाँ निरपराध दण्डित हो रहे थे।" यह देख अशोक ने विनम्र होकर कहा—"महात्मन् ! मैं ही दण्डपात्र हूँ। आप मुझे दण्ड दें।"

---

१ इस कहानी में वैदिक धर्म के ईश्वर-कर्तृत्ववाद की दृष्टि से भिक्षु ने ऐसा कहा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षु बोला—"तेरे लिए यही दण्ड है कि आज से तू ईश्वर की नकल करना छोड़ दे। भयंकर दण्ड और नरक की रचना की कोई आवश्यकता नहीं। जो वास्तव में दण्डनीय हो, उसे ही मामूली दण्ड देकर सुधरने का मौका दे। देव न बन सके तो कम से कम मानव बनने का प्रयत्न कर, दानव तो कभी मत बन।"

इतना कहकर भिक्षु वहाँ से विदा हो गया।

बन्धुओ! अत्यधिक एवं भयंकर दण्ड शिष्ट राज्याधिप को दुष्ट एवं राक्षस बना देता है।

वास्तव में ही मनुष्य ज्यों-ज्यों दण्ड पाता है, त्यों-त्यों ढीठ व निर्भय होता जाता है। जैन सूत्रों में हकार, मकार, धिक्कार, बन्धन और छविच्छेद रूप जो दण्ड बताये हैं, उनसे यह पता चलता है कि मनुष्य के लिए ज्यों-ज्यों कठोर दण्ड बढ़ता गया, त्यों-त्यों वह अपराधी मनोवृत्ति का बनता गया और दण्ड से भी निर्भय होता चला गया।

कन्फ्यूशियस के वचनानुसार—अत्याचारी शासक बाघ और चीते से भी भयंकर होता है। क्योंकि उसमें अमानुषिक अत्याचार की पराकाष्ठा होती है। जो शासक अपने मौज-शौक या स्वार्थ के लिए जनता को मरवा डालते हैं, वे भी दुष्ट राज्याधिप हैं, दण्डपरायण हैं। बलराजा ने एक राक्षसाधिष्ठित भयंकर वन से प्रतिदिन बीजौराफल लाने के लिए अपने नगर के एक नागरिक को जाने का कठोर आदेश दिया था, फलतः उस नगर के लोग वहाँ जाते और राक्षस के चंगुल में फँसकर खत्म हो जाते। कितना भयंकर दण्ड दिया उस दुष्ट राज्याधिप ने!

वर्तमान शासनकर्त्ताओं में भी दुष्टाधिपता

युग बदला, एकतन्त्रीय या राजतन्त्रीय शासन-पद्धति भारत से विदा हो गयी। लोकतन्त्रीय शासन पद्धति आयी, मगर तब भी जनता को शान्ति और अमन-चैन कहाँ? जहाँ जिस महकमे में देखो, सर्वत्र भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि का बाजार गर्म है। एड़ी से लेकर चोटी तक के राज्य कर्मचारी ईमानदारी और वफादारी से प्रायः काम नहीं करते। जनता की शिकायतें सुनी नहीं जातीं, उन्हें न्याय और सुरक्षा अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। आये दिन चोरी, डकैती, लूट-पाट की घटनाएँ होती रहती हैं। एक पार्टी वाला दूसरी पार्टी वाले की निन्दा, आलोचना करता रहता है। सत्तासीन पार्टी को उखाड़ने के लिए दूसरी पार्टियाँ कमर कसे रहती हैं। एक ही पार्टी में घटकवाद, गुटवाद और स्वार्थवाद के कारण तनातनी है। देश की भलाई के बजाय बुराई ही इनसे अधिक होती है। न गरीब सुखी है, न अमीर और न मध्यम-वित्त वाले सुखी है। महँगाई, आवश्यकता वृद्धि आदि बढ़ गई है। ऐसे शासनकर्ताओं से शिष्टाधिपता बहुत ही दूर हो गई है।

अन्य दुष्टाधिप भी दण्डपरायण!

दुष्ट राज्याधिप की तरह अन्य क्षेत्रों—सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि क्षेत्रों में आज स्वार्थवाद का बोलबाला होने से शिष्टाधिपता का ह्रास होता जा रहा है। एक तरह से कहूँ तो, शिष्टाधिपों का दुष्काल सा हो गया है। क्या पारिवारिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी क्षेत्रों में संकीर्ण स्वार्थवाद घुस गया है, जिसके कारण उनके अधिपों (अग्रगण्यों या नेताओं) में पक्षपात, स्वार्थ, कलह, मनोमालिन्य, दूसरों पर दोषारोपण आदि दोष घुस गये हैं, जिसके कारण वे दूसरों को उत्पीड़न, शोषण, त्रास, भय, धमकी आदि रूप में दण्डित करते रहते हैं। यही उनकी दण्डपरायणता है; वे प्रेम से, आत्मीयता से, उनके हितैषी बनकर कार्य बहुत ही कम करते हैं अधिकतर अपने स्वार्थ और अधिकार को लेकर ही उनके काम होते हैं।

बन्धुओ ! मैं बहुत ही विस्तार से इस जीवनसूत्र पर विश्लेषण कर गया हूँ। आप सब इस पर मनन-चिन्तन करें और अपने-अपने क्षेत्र में से दुष्टाधिपता को निकालने और शिष्टाधिपता को स्थापित करने का प्रयत्न करें, तभी आप सुख-शांति-पूर्वक जीवनयापन कर सकेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४३

विद्याधर होते मन्त्रपरायण

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं एक ऐसे जीवन के विषय में आपके समक्ष चर्चा करूँगा, जो विद्याधर जीवन है, जिस जीवन में मन्त्रपरायणता अनिवार्य होती है। मन्त्रपरायणता के बिना विद्याधर जीवन नीरस, शुष्क और चक्षुविहीन शरीरवत् होता है। विद्याधर के जीवन का प्राण—मन्त्रपरायणत्व, उसके जीवन का मूल—मन्त्राभ्यास होता है। महर्षि गौतम ने एक महत्वपूर्ण जीवनसूत्र हमारे मनन-चिन्तन के लिए दे दिया है। हमें इस पर गम्भीरता से विचार करना है। गौतम कुलक का यह ३६वाँ जीवनसूत्र है, वह इस प्रकार है—

'विज्जाहरा मन्तपरा हवन्ति'

"विद्याधर मन्त्र-परायण अथवा मन्त्र सिद्धि के लिए तत्पर होते हैं।"

अब हम विद्याधर एवं मन्त्र शब्द के विविध पहलुओं पर विचार करें।

भारतीय मनीषियों द्वारा विविध विद्याओं की देन

प्रागैतिहासिक काल से भारतवर्ष में ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण, अनुशीलन एवं अनुसन्धान होता रहा है। भारतीय मनीषियों और अध्येताओं ने विद्या की विभिन्न शाखाओं में जो कुछ प्रगति की है, तथा सतत् नित नई शोध-खोज करते आ रहे हैं, वह हमारे लिये गौरव का विषय है। दर्शन, न्याय, व्याकरण, साहित्य, योग, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं भौतिक विज्ञान तथा अध्यात्म-विज्ञान आदि विभिन्न विद्याओं तथा विभिन्न कलाओं के सम्बन्ध में भारतीय अन्वेषकों की जो विशिष्ट देन है, वह साधारण नहीं है। भले ही आज पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिकों एवं मनोवैज्ञानिकों ने नये-नये आविष्कार करके मानव जाति को चमत्कृत कर दिया हो, परन्तु इन सबकी पृष्ठभूमि, इन सबकी आधारभूमि या इन सबके बीज भारतीय धर्मग्रन्थों में निहित हैं। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की कहावत के अनुसार जो गहराई में उतरकर खोजता है, उसे सब कुछ उपलब्धियाँ होती हैं। आज भारतीय मनीषीगण पाश्चात्य भौतिक विज्ञान की चकाचौंध में प्राचीन भारतीय विद्याओं को भूलते एवं उनकी उपेक्षा करते जा रहे हैं, यह खेद का विषय है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन करते समय हमें उन विद्याधरों की स्मृति हो आती है, साथ ही उनकी महान् परोपकारिता और जनसेवा की झलक भी मिलती है। यद्यपि प्राचीन विद्याएँ बहुत-सी लुप्त हो गई हैं वे केवल स्मृतिशेष रह गई हैं। फिर भी हमारे महान् आचार्यों ने उन पर शोध एवं प्रयोग करके कुछेक विद्याएँ जीवित रखी हैं।

विद्याधर और विद्याएँ

विद्याधर का सामान्यरूप से अर्थ होता है—विद्याओं को धारण करने वाला, विद्याओं को सम्यक्रूप से ग्रहण करके स्मृति में रखने वाला, विद्याओं का धारक। इस दृष्टि से तो दर्शन, व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र, तन्त्र, भौतिक विज्ञान, कला, शिल्प, योग आदि समस्त विद्याओं के धारक को हम विद्याधर कह सकते हैं। लेकिन हमें देखना यह है कि प्रस्तुत विद्याधर शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? कौन-सी विद्या के धारक को विद्याधर कहना यहाँ अभीष्ट है?

जैनकथा साहित्य में यत्र-तत्र अनेक विद्याधरों का उल्लेख आता है कि अमुक विद्याधर आकाशगामिनी विद्या जानता था, अमुक विद्याधर ने उड़नखटोला बनाया, जो आकाश में अधर रहकर उड़ता था; अमुक विद्याधर अवस्त्रापिनी विद्या के द्वारा दूसरों को निद्रित कर देता था, अमुक विद्याधर ने तिरोहित हो जाने की विद्या सिद्ध कर ली, जिससे वह किसी को नजर नहीं आता था, अमुक विद्याधर रूप परिवर्तन कर लेते थे। तात्पर्य यह है कि मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र विद्याओं से जो विविध प्रकार के आश्चर्यजनक एवं उस युग में मानव की साधारण शक्ति से बढ़कर जो कार्य, उनका प्रयोग करके दिखलाते थे, या प्रयोग करके वे स्वयं लाभ उठाते थे, उन्हें ही प्रस्तुत में विद्याधर कहा जाना अभीष्ट है।

प्रस्तुत में मन्त्रादि विद्याओं के धारक को विद्याधर कहने का कारण यह है कि यहाँ विद्याधर शब्द के साथ उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति—मन्त्रपरायणता का उल्लेख जुड़ा हुआ है। इससे भी फलितार्थ यही निकलता है कि जो मन्त्रादि विद्याओं का धारक हो, वही विद्याधर है।

आगे हम आधुनिक विद्याधरों एवं विद्यावानों के सम्बन्ध में भी इस जीवन-सूत्र की दृष्टि से विचार करेंगे, लेकिन फिलहाल तो मन्त्रादि विद्याओं के धारक के सम्बन्ध में पहले विचार कर लेना आवश्यक है।

संघदासगणी की एक महत्वपूर्ण रचना है—'वसुदेव हिंडी।' उसके चतुर्थ लम्भक (अध्याय) में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का चरित्र विस्तृत रूप से वर्णित है। इस अध्याय में एक कथा दी गई है, जिससे प्रतीत होता है कि विद्या (मन्त्रादि विद्या) के प्रवर्तन का सम्बन्ध भगवान ऋषभ के समय के साथ जुड़ा हुआ है।

जब भगवान ऋषभदेव समस्त लोक-व्यवस्थाओं का प्रजाहितार्थ सम्पादन करके भागवती मुनिदीक्षा स्वीकार करने को तैयार हुए, उस समय उन्होंने अपना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राज्य, वैभव एवं धन सम्पत्ति सब कुछ अपने १०० पुत्रों में बाँट दिया। भगवान ऋषभ के कच्छ और महाकच्छ नामक दो कुमारों के पुत्र नमि और विनमि उस समय कहीं बाहर गये हुए थे, वहाँ उपस्थित न थे। ऋषभदेव मुनि बन गये और साधना के लिए चल पड़े। जब नमि और विनमि लौटकर अपने घर आये तो उन्हें पता लगा कि भगवान ऋषभ तो सब कुछ त्याग करके और सबको यथायोग्य बाँट कर तपस्या करने चले गये हैं। सोचने लगे—सबको कुछ न कुछ मिला, लेकिन हम हतभागी कुछ प्राप्त न कर सके। अतः वे दोनों प्रभु ऋषभ की खोज में चल पड़े और पूछते-पूछते जहाँ प्रभु ऋषभदेव थे, वहाँ पहुँच गये। प्रभु तो प्रायः ध्यानस्थ एवं मौनस्थ रहते थे, इसलिए उन्होंने सोचा—हमें प्रभु की सेवा करनी चाहिए। फलतः भगवान ध्यानस्थ होते, तब वे हाथ में तलवार लिए पहरेदार बनकर खड़े रहते।

एक दिन की घटना है—नागराज धरणेन्द्र भगवान ऋषभदेव के वन्दनार्थ वहाँ आया। उसने नमि-विनमि को जब भगवान की सेवा में संलग्न देखा तो पूछा कि "वे इस प्रकार सेवा में क्यों सलग्न हैं?" दोनों कुमारों ने उत्तर दिया—"जब प्रभु ने मुनिदीक्षा ली, तब हम कहीं दूर गये हुए थे। अतः भगवान की सम्पत्ति से हम वंचित रहे, हमें कुछ भी न मिला। अतः हमें भी प्रभु कुछ दें, इसीलिए हम इनकी सेवा में तत्पर हैं।" धरणेन्द्र मुस्कराकर बोला—"विचार तो तुम्हारा ठीक है, लेकिन तुम देखते नहीं, ये तो सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी और योगी बने हैं, ये अकिंचन हैं, तुम जो चाहते हो, उसे वे कैसे दे देंगे? परन्तु तुम दोनों चिरकाल तक भगवान की सेवा में संलग्न रहे, इसलिए मैं तुम्हें वैताढ्य पर्वत के दोनों पार्श्वों की दो श्रेणियाँ और आकाशगामिनी आदि महत्वपूर्ण विद्याएँ प्रदान करता हूँ।"

दोनों कुमार विद्याएँ प्राप्त कर आकाशमार्ग से वैताढ्य पर्वत पर चले गये, वहाँ उन्होंने नगर बसाये और अपना राज्य जमाया। वे विद्याओं के धारक थे, इसलिए विद्याधर कुल का विकास हुआ।

जैनशास्त्रोक्त स्थविरावली के अनुसार जैनाचार्यों के कुलों में से एक का नाम विद्याधर कुल था। उस कुल में अनेक मन्त्रात्मक विद्याओं के वेत्ता तथा चामत्कारिक सिद्धियों के धारक आचार्य थे।

निष्कर्ष यह है कि जैन परम्परा में मन्त्रादि-विद्याओं के धारक के अर्थ में विद्याधर शब्द का प्रयोग होता रहा है। वसुदेव हिंडी की इस कथा से भी स्पष्ट हो जाता है कि मंत्रादि विद्याओं के धारक नमि-विनमि से विद्याधर कुल का उद्गम हुआ है।

विद्या और मन्त्र का अविनाभावी सम्बन्ध

विद्या शब्द यों तो मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि से सम्बद्ध है। इसलिए विद्या शब्द यहाँ मन्त्रादि के अर्थ में प्रयुक्त है। जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों की सेवा करने वाले उनके धर्मशासन के अधिष्ठायक २४ देव और २४ देवियाँ मानी गई हैं, जिन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यक्ष-यक्षिणियाँ भी कहते हैं। ये सब देव-देवियाँ सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होते हैं। चूंकि सभी तीर्थंकर तो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं, वे लौकिक दृष्टि से किसी को भी कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकते। परन्तु उनकी आराधना-अर्चना करने वाले भावुक साधकों—आराधकों को उनकी प्रभावकता को अविचल रखने के लिए वे यक्ष-यक्षिणियाँ लाभान्वित करती हैं।

यही कारण है कि आगे चलकर जैन परम्परा में मन्त्र और विद्या के अर्थ में कुछ भिन्नता आ गई है।[1] उत्तरवर्ती मन्त्रग्रन्थों से प्रतीत होता है कि जो मन्त्र स्त्री देवता द्वारा अधिष्ठित हो, उसे विद्या[2] और पुरुष देवता द्वारा अधिष्ठित हो उसे मन्त्र कहते हैं।

इसीलिए उत्तरवर्ती मन्त्रग्रन्थों में जहाँ स्त्रीदेवता द्वारा अधिष्ठित मन्त्र हैं, उसे विद्या कहकर विद्यासाधक व्यक्ति प्रार्थना करता है—

एसा मे विज्जा सिज्झउ

"यह मेरी विद्या सिद्ध हो।"

परन्तु एक बात तो निश्चित है कि विद्या हो या मन्त्र—दोनों के साथ मन्त्र का अविनाभावी सम्बन्ध रहा है। विद्या मन्त्ररहित हो नहीं सकती और मन्त्र विद्या से युक्त भी होता है और देवाधिष्ठित होने पर शुद्ध मन्त्र भी। दोनों के साथ दोनों का सम्बन्ध रहा है। इसीलिए गौतम महर्षि के कहा है—विद्याधर मन्त्र साधना में तत्पर रहते हैं, मन्त्रप्रयोगपरायण होते हैं।

प्राचीनकाल में विद्या और मन्त्र में इस प्रकार की भिन्नता नहीं थी। विशेषतः जैन परम्परा के शास्त्रों और ग्रन्थों में मन्त्र शब्द के बदले 'विद्या' शब्द का प्रयोग ही अधिक मिलता है। बारहवें अंग दृष्टिवादशास्त्र के चौथे विभाग में चौदह पूर्वों का वर्णन था। चौदह पूर्वों में से १०वाँ पूर्व विद्यानुप्रवाद पूर्व है। यह परम्परा से एक करोड़ दस लाख पद परिमित माना गया है। इस विशाल विद्यानुप्रवाद पूर्व में मुख्यतया मन्त्र-साधनाओं, सिद्धियों और उनके साधनों का ही वर्णन था। परन्तु खेद है कि

---

१ देखिये विद्या और मन्त्र में थोड़े-से अन्तर के विषय में प्रमाण—

इत्थी विज्जाऽभिहिया, पुरिसो मंतो त्ति तब्विसेसो य।
विज्जा ससाहणा वा साहणरहितो भवे मंतो॥

जहाँ मंत्र की देवता स्त्री है, वह विद्या कहलाती है, और जहाँ पुरुष देवता है, वह मन्त्र। यही विद्या और मन्त्र में अन्तर है। हैं ये दोनों मन्त्र ही। अथवा साधन सहित मन्त्र विद्या और साधनरहित मन्त्र होता है। धर्म संग्रहिणी में बताया है—**'पाठमात्रसिद्धः पुरुषाधिष्ठानो वा मंत्रः'** मंत्र वह है, जो पाठ करने मात्र से सिद्ध हो जाता है और वह पुरुषदेवताधिष्ठत हो।

२ जैसे रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वों की यह विशाल ज्ञान-राशि लुप्त हो गई है, इसलिए हम बहुत बड़ी मन्त्रविद्या की ज्ञान-राशि से वंचित हो गये हैं।

इसके अतिरिक्त द्वादशांगी के दशवें अंग प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी बहुत सी विद्याओं एवं मन्त्रों का वर्णन था, ऐसा श्री नंदीसूत्र में प्रश्नव्याकरणान्तर्गत विषय-उल्लेख से ज्ञात होता है। वहाँ बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण सूत्र में अंगुष्ठ प्रश्न आदि प्रश्नों, अप्रश्नों तथा प्रश्नाप्रश्नों की विद्या एवं विद्यातिशय (मन्त्रविद्या) का वर्णन है। परन्तु वर्तमान में जो प्रश्नव्याकरण सूत्र उपलब्ध है, उसमें तो ५ आस्रवद्वार और ५ संवरद्वार का वर्णन है। इससे मालूम होता है—नंदीसूत्र और स्थानांगसूत्र में उल्लिखित प्रश्नव्याकरणसूत्र लुप्त हो गया है।

जो भी हो, यहाँ विद्या शब्द से जितने भी मन्त्र हैं, तथा उनसे सम्बन्धित यंत्र एवं तन्त्र हैं, उन सबका ग्रहण कर लेना चाहिए।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों द्वारा जो प्रभावक आचार्यों का जीवन चरित्र लिखा गया है, उसमें कतिपय विद्यासिद्ध प्रभावक आचार्यों का भी वर्णन है; जो मन्त्र-तन्त्रादि विद्याओं में निष्णात थे।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित प्रभावक चरित्र भी इसी कोटि का एक ग्रन्थ है, जिसमें मन्त्रविद्यानिपुण प्रभावक आचार्यों का वर्णन है। पुरातन पूर्वगत मन्त्रादि विद्या और उत्तरवर्ती मन्त्र-महोदधि आदि ग्रन्थों के बीच में कुछ प्राकृत भाषा निबद्ध ग्रन्थ भी पाये जाते हैं, जिनके नाम हैं—सिद्धपाहुड, जोणी-पाहुड (योनिप्राभृत), निमित्तपाहुड, विज्जापाहुड आदि। आज इनमें से सिर्फ जोणी-पाहुड (योनिप्राभृत) ग्रन्थ अंशतः प्राप्य है।

जो भी हो, प्राचीन विद्याधर मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रादि सभी विद्याओं का अध्ययन और प्रयोग करता था। इतना ही नहीं, बल्कि वह प्राचीन विद्याओं की थ्योरी (सिद्धान्त) के आधार पर नव-नवीन विद्याओं का आविष्कार और प्रयोग भी करता था।

मन्त्र : स्वरूप, शक्ति और प्रभाव

प्रश्न होता है, विद्या जब मन्त्रात्मक ही है, तो मन्त्र का क्या स्वरूप है? उसका उद्देश्य क्या है? उसका प्रयोग कौन और कैसे करता है? तथा मन्त्रों का प्रभाव क्या है? वैसे तो इन सब प्रश्नों का गहराई से समाधान मन्त्रशास्त्र का पारंगत विद्वान या ज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं। मेरा इस सम्बन्ध जो यत्किंचित् अध्ययन और अनुभव है, उसी के आधार पर इन प्रश्नों का क्रमशः समाधान करने का प्रयत्न करूँगा।

मन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से होती है। 'निरुक्त' में—'**मन्त्रा मननात्**'—मनन से संचारित होने वाली प्रक्रिया को मन्त्र कहा है। 'शतपथ ब्राह्मण' में '**वाग्वै मन्त्रः**'—परिष्कृत वाणी से उच्चरित व्यवस्थित शब्द-शृंखला को मन्त्र कहा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गया है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार **'मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे'** धातु (क्रिया) से मन्त्र शब्द बना है, इसीलिए रहस्यमय गुप्त परिभाषण को मन्त्र कहा जा सकता है। एक आचार्य ने मन्त्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार किया है—**'मननात् त्रायते इति मन्त्रः'** बार-बार मनन करने से जो मन्त्रसाधक की रक्षा करता है, वह मन्त्र है।

इन चारों अर्थों का समन्वय करने से एक बात पूरी होती है। जिसमें मानसिक एकाग्रता एवं निष्ठा का समुचित समावेश हो, शुद्ध व्यक्तित्व की परिष्कृत, परिमार्जित एवं व्यवस्थित वाणी से जिसकी साधना की जाये, जिसकी इस रहस्यमय सामर्थ्ययुक्त परिभाषण पर पूर्ण श्रद्धा हो, तथा जिसका अनावश्यक विज्ञापन न करके गुप्त रखा जाय, एवं जिसके एकाग्रतापूर्वक पुनः-पुनः मनन से जीवन के मूल्यों का रक्षण होता है, वे प्रयोग मन्त्राराधना हैं।

मन्त्रशक्ति में चार तथ्य आवश्यक होते हैं—(१) ध्वनि, (२) संयम (३) उपकरण और (४) विश्वास। शब्द संरचना और उच्चारण की शुद्धता से युक्त ध्वनि ही सार्थक होती है। मन्त्रसाधक अपनी शक्तियों को शारीरिक-मानसिक असंयम से बचा कर मन्त्राराधना में जुटाये रखे। माला, आसन, मात्र-प्रतीक, स्थान, उपचार, उपकरण आदि में प्रयुक्त हुए पदार्थों में शुद्धता का ध्यान रखा जाये, मन्त्राराधना के प्रति श्रद्धा-विश्वास में कमी न आने दी जाये। भावना की उत्कृष्टता से मन्त्रसाधना प्राणवान बनती है। इसे यदि पूरी तरह से समझ लिया जाये तो इसमें निराश नहीं होना पड़ता। मन्त्र-साधना की प्रक्रिया में वाचिक, उपांशु और मानसिक इन तीन प्रकार के संकल्पों का बहुत बड़ा महत्व है। संकल्प के लिए सात शुद्धियाँ अपेक्षित हैं—

(१) द्रव्य-शुद्धि (मन्त्रसाधक का अन्तरंग क्रोध, दंभ, ईर्ष्या से मुक्त, ऋजु और सरल हो),

(२) क्षेत्र-शुद्धि (स्थान शान्त, कोलाहल से दूर व पवित्र हो),

(३) समय-शुद्धि (समय तीन उपयुक्त हैं—प्रातः, मध्याह्न और सायं),

(४) आसन-शुद्धि (ध्यानासनों में कंबल काष्ठपट्ट या जमीन पर),

(५) विनय-शुद्धि (श्रद्धा, भक्ति और विनयपूर्वक जप हो),

(६) मनः-शुद्धि

(७) वचन-शुद्धि (उच्चारण शुद्ध हो, उपयुक्त स्थल पर विराम हो।

मन्त्रशक्ति को फलित करने के लिए विधि-विधान ही पर्याप्त नहीं, मन्त्रसाधक के व्यक्तित्व की प्रखरता का समावेश होना भी आवश्यक है। पूर्वमीमांसा में मन्त्रशक्ति के विकास के चार आधार बताये गये हैं—

(१) **प्रामाण्य**—विधि मनगढ़न्त न हो, किन्तु उसके पीछे सुनिश्चित विधान हो,

(२) **फलप्रद**—जिसका उपयुक्त प्रतिफल देखा जा सके,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) **बहुलीकरण**—जो मन्त्र व्यापक क्षेत्र को प्रभावित कर सके, या अनेक व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया जा सके, और

(४) **आयात-यामता**—साधक में श्रेष्ठ व्यक्तित्व की क्षमता हो।

इन सभी तथ्यों का समावेश होने से मन्त्र की प्रक्रिया से दैवीशक्ति का समावेश हो जाता है। साथ ही मन्त्राराधना का चामत्कारिक फल भी दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि मन्त्र की श्रेष्ठता एवं गरिमा कम नहीं होती, किन्तु सामान्य व्यक्तित्व के मन्त्र-साधक यथेष्ठ प्रतिफल नहीं पा सकते।

इसके अतिरिक्त मन्त्र विनियोग के पाँच अंगों का भी ध्यान रखना जरूरी होता है—

(१) **ऋषि**—(मार्गदर्शक गुरु),

(२) **छन्द**—(स्वर, ताल, लय),

(३) **देवता**—(सूक्ष्म अव्यक्त जगत् में चलने वाले दिव्यशक्ति प्रवाहों में से अभीष्ट परत का चयन)

(४) **बीज**—(उद्गम—ह्रीं, क्लीं, श्रीं आदि बीजाक्षरों का विधान) और

(५) **तत्त्व**—(लक्ष्य—मन्त्रानुष्ठान के प्रयोजन का निर्धारण)।

वैसे देखा जाय तो किसी भी मन्त्र में आपको कुछ अक्षरों का समूह ही मिलेगा। परन्तु केवल अक्षरों का अव्यवस्थित समूह मन्त्र नहीं बन जाता। अक्षरों का समूह इस तरीके से स्थापित किया जाय, जिसमें बीजमन्त्र का अक्षर भी हो, मन्त्र के देवता का भी नाम हो, और साथ में उस मन्त्र से जो अभीष्ट सिद्ध करना है, उसका संकल्प भी अंकित हो, तभी वह वास्तविक मन्त्र बनता है। 'दशरा मशरा' की तरह ऊटपटांग रूप से अक्षरों को बिठा देने से वह मन्त्र नहीं बन जाता। मन्त्र केवल नियत ध्वनियों का समूह ही नहीं है अपितु वह विज्ञान या विद्या है, जिसकी बार-बार आवृत्ति करने से शक्ति का उद्भव एवं जागरण होता है, मन्त्राधिष्ठायक दिव्यात्मा का आह्वान होता है, और वे दिव्यात्मा मन्त्रसिद्धि हो जाने पर मन्त्रसाधक मन्त्र से जिस अभीष्ट को सिद्ध करना चाहता है, उसमें सहायक हो जाते हैं।

यही कारण है कि बीजमन्त्रों के आधार पर नमस्कार मन्त्रकल्प, लोगस्सकल्प, नमोत्थुणं विद्याकल्प, उवसग्गहरस्तोत्र, तिजयपहुत्तस्तोत्र, सन्तिकरस्तोत्र, भक्तामर-स्तोत्र एवं कल्याणमन्दिरस्तोत्र तथा ऋषिमण्डलकल्प आदि का भी विविध उद्देश्यसाधक मन्त्रों के रूप में प्रयोग हुआ। जैन मनीषियों ने घण्टाकर्ण आदि और भी अनेक मन्त्र विविध अन्य धर्मीय साहित्य से अपनाये। लक्ष्मी आदि देवियों के मन्त्र भी रचित किये।

बौद्धों में वज्रयान से लेकर सहजयान, सिद्धयान काल तक मन्त्र-तन्त्रादि का बड़ा जोर रहा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार पहाड़ी गद्दियों के भी कई मन्त्र हैं, वैदिक परम्परा में अथर्ववेद काल से लेकर भक्तिकाल तक मन्त्र-तन्त्रों की रचना का बड़ा जोर रहा। इस प्रकार लाखों मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि बन गये। भारतीय संस्कृति के एक विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया—

अमन्त्रमक्षरं नास्ति,
नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति,
योजकस्तत्र दुर्लभः॥

"कोई ऐसा भी अक्षर नहीं है, जो मन्त्र न हो, कोई मूल (वनस्पति की जड़) ऐसा नहीं, जो औषध न हो, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसमें योग्यता के बीज न हों, पर दुर्लभ है, इनको व्यवस्थित ढंग से जोड़ने वाला, योजना करने वाला।"

मन्त्रविद्या की उत्पत्ति का लक्ष्य

साधारण मनुष्य सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहता है, परन्तु उसे सुख-शान्ति प्राप्त होने में कई बाधक तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं, वह उन्हें समझ या जान नहीं पाता, कई बार वह प्रयत्न करता है, सुख-शान्ति के लिए, परन्तु उसके बदले प्राप्त होते हैं—दुःख और अशान्ति। शब्दों में निहित अव्यक्त शक्ति से वह परिचित नहीं होता, संकल्पशक्ति के गूढ़ रहस्य से भी वह अज्ञात होता है, पदार्थों के व्यक्त पर्याय कम हैं और परिणमनशील एवं संयोगजन्य होने से अव्यक्त पर्याय बहुत अधिक हैं, उनकी शक्ति भी सामान्यतया ज्ञात नहीं होती, न शब्द संयोजना की विधि ज्ञात होती है। इसलिए सामान्य बुद्धि वाला मानव दुःख और अशान्ति पाता रहता है। परन्तु उसकी जिज्ञासा होती है कि कोई व्यक्ति किसी भी उपाय से मुझे अव्यक्त शक्तियों का रहस्य बताये और दुःख-दर्द दूर करे। इसी में से मन्त्रविद्या की उत्पत्ति हुई है। जो शब्दों, संकल्पों तथा शब्द-संयोजना की शक्ति से परिचित और अभ्यस्त थे, उन्होंने विविध मन्त्रों की रचना की और जिज्ञासु जनता को उनका रहस्य बताया।

यह सुना जाता है कि मन्त्र गुप्त रखा जाता है, उसे ही बताया जाता है, जो श्रद्धालु, जिज्ञासु और गम्भीर हो, जो मन्त्र का दुरुपयोग न करे, उसे स्वार्थसिद्धि और धनार्जन का साधन न बनाये। वास्तव में यह बात यथार्थ है, बहुत-से लोगों ने मन्त्रों का दुरुपयोग किया, उनसे गलत प्रयोजन भी सिद्ध किये हैं, कई लोगों को पीड़ित भी किया है। यही कारण है कि मन्त्र अयोग्य को नहीं दिया जाता, वह अत्यन्त गुप्त रखा जाता है। कई बार लोग जिस मन्त्र से अत्यधिक परिचित हो जाते हैं, उसके प्रति उनकी श्रद्धा या रुचि नहीं होती, वे उस मन्त्र की अवज्ञा करने लगते हैं। अश्रद्धापूर्वक मन्त्र जाप करने से भी उसका यथेष्ट फल नहीं मिलता।

सूरत की बात है, वहाँ पीरभाई नामक एक मुसलमान रहता था। उसे किसी जैनमुनि ने जिज्ञासु एवं श्रद्धालु समझकर नमस्कार मन्त्र सिखा दिया था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसकी विधि भी बता दी थी। वह अत्यन्त श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन उस महामन्त्र का जाप करता था। उसने सवालक्ष जाप विधिपूर्वक करके नवकार मन्त्र सिद्ध भी कर लिया था। पड़ौस में एक जैन भाई रहता था। एक दिन उसके लड़के को साँप ने काट खाया। वह बहुत घबराया। अनेक डाक्टरों को दिखाया, पर साँप का जहर न उतरा। पीरभाई को पता लगते ही वह आया, उसने जैन भाई को आश्वासन दिया—घबराओ मत, परमात्मा पर विश्वास रखो। सब कुछ ठीक हो जाएगा। उसने उसी समय मन ही मन नवकार मन्त्र का जाप प्रारम्भ कर दिया और लगभग १५ मिनट में ही उसने जाप पूरा करके फूंक मारकर उस लड़के के सिर पर हाथ फिराया कि वह एकदम उठ बैठा, मानो कोई जहर चढ़ा ही न था। उसे स्वस्थ देख जैन भाई के परिवार के सब लोगों के जी में जी आया। सबने अत्यन्त आभार माना और पीरभाई को इनाम देने लगे। उसने साफ इन्कार कर दिया कि यह इन्सानियत के नाते मेरा कर्तव्य था, मेरे पास जो विद्या है, वह किस काम की ?

एक दिन प्रसंगवश उस जैन भाई ने पीरभाई से पूछा—"वह कौन-सा प्रभावशाली मन्त्र था, जिसके प्रभाव से तुमने सर्प का विष उतारकर मेरे लड़के को स्वस्थ कर दिया ?" पहले तो पीरभाई ने उस बात को टालना चाहा। परन्तु जैन भाई का अत्याग्रह देखकर उसने कहा—"मुझे यह मन्त्र जैनमुनिजी का बताया हुआ है। उनकी कृपा से प्राप्त हुआ है। जैन लोग तो इस मन्त्र का प्रतिदिन पाठ करते हैं। इसलिए आपको तो पता ही होगा।"

जैन भाई—"बताओ तो सही वह कौन-सा मन्त्र है ?"

पीरभाई—"वह है नवकार मन्त्र, जिसे मैंने सिद्ध किया है।"

जैन भाई—"हें ! नवकार मन्त्र, यह तो हमारा जाना-माना मन्त्र है। हम तो रोज इसका जाप करते हैं, लेकिन हमें तो इसका प्रभाव कभी मालूम नहीं पड़ा।"

पीरभाई ने कहा—"यह तुम्हारा घर का मन्त्र है, इसलिए इस पर तुम्हारी श्रद्धा नहीं। विश्वास इसीलिए नहीं कि यह मन्त्र तुम्हारा अति परिचित है।"

मन्त्र तो दुनिया में लाखों हैं, परन्तु विश्वासी, श्रद्धालु और उसमें तन्मय होकर जाप करने वाले मन्त्रसाधक नहीं रहे। इसीलिए बहुत से मन्त्रविदों ने प्रभावशाली मन्त्र आजीवन गुप्त रखे, वह मन्त्रविद्या उनके साथ ही चली गयी।

चूंकि मन्त्र देवाधिष्ठित होते हैं, मन्त्र के माध्यम से अपने अभीष्ट प्रयोजन के लिए उस देव का आह्वान किया जाता है। आप जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति बिना आदर-सत्कार के कब किसी के यहाँ आ सकता है ? फिर देवता तो भावों के भूखे होते हैं, वे तो मनुष्य की श्रद्धा-भक्ति और विश्वास देखते हैं, वे वस्तु को नहीं देखते कि कितनी मात्रा में कितने मूल्य की वस्तु चढ़ाई है, उन्हें तो अर्पणता चाहिए। वह अर्पणता, उत्कट श्रद्धा-भक्ति जिसमें नहीं होती, उसकी मन्त्र-साधना सफल नहीं हो सकती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैसे मन्त्रों में अचिन्त्य शक्ति है, उनका प्रभाव अमोघ होता है, उनसे अनेक कष्टसाध्य कार्य आसान हो जाते हैं। मन्त्रों (जिनमें विद्या और मन्त्र दोनों ही सम्मिलित हैं) से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

संस्कृत गद्य साहित्य के मूर्धन्य ग्रन्थ कादम्बरी में बताया है—

'अचिन्त्योहि मणिमन्त्रौषध्यादीनां प्रभावः'

"मणि, मन्त्र और औषधि आदि का प्रभाव ही अचिन्त्य है।"

मन्त्रों के प्रकार और उद्देश्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने मूलाचार में दो प्रकार के मन्त्र बताये हैं—

सिद्धे पविदे मन्त्रे, विज्जा साधित सिद्धा

एक सिद्धमन्त्र होता है, दूसरा होता है—साधित मन्त्र। जो पठनमात्र से सिद्ध हो जाता है, उसे सिद्ध मन्त्र कहते हैं, जो विद्या साधित होने पर सिद्ध होती है, उसे साधितमन्त्र कहते हैं। यहाँ मन्त्र और विद्या का अन्तर भी आचार्यश्री ने स्पष्टतः सूचित कर दिया है।

अब हम दूसरी दृष्टि से मन्त्रों को दो भागों में विभक्त करते हैं—एक लौकिक मन्त्र, दूसरा लोकोत्तर मन्त्र। अथवा यों भी दो भेद किये जा सकते हैं :—

(१) कामनायुक्त मन्त्र, और

(२) निष्काम-निष्कांक्ष मन्त्र।

जो मन्त्र लौकिक कामनामूलक होते हैं, जिनका जाप करने से केवल इह-लौकिक या पारलौकिक कामना पूर्ण होती है, धन-प्राप्ति, सन्तान-प्राप्ति, आकस्मिक संकट एवं भय का निवारण, रोग-निवारण, बल एवं विजय की प्राप्ति आदि भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए जो मन्त्र होते हैं, वे कहलाते हैं, लौकिक मन्त्र। इसी प्रकार जिन विद्याओं से कुछ भौतिक सिद्धियाँ, या उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं, कुछ विशिष्ट भौतिक शक्तियाँ हासिल की जाती हैं, वे विद्याएँ भी लौकिक मन्त्र के अन्तर्गत हैं। परन्तु जिन मन्त्रों से केवल आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं, मनोबल, मानसिक एकाग्रता, चित्त की स्थिरता, मनोविजय, इन्द्रीयवशीकरण, ध्यान में स्थिरता, मन-वचन-काया की एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त की जाती है, साथ ही स्मरणशक्ति, निर्णयशक्ति, निरीक्षण-परीक्षणशक्ति एवं स्फुरणाशक्ति सिर्फ आत्मविकास, अध्यात्मज्ञानप्राप्ति एवं शुद्ध साधना (रत्नत्रय की) करने के लिए प्राप्त की जाती है, वह मन्त्र लोकोत्तर या निष्काम मन्त्र हैं।

यद्यपि मन्त्रों के ये दो भेद हमने स्थूल रूप से समझने के लिए किये हैं, तथापि यदि कोई मन्त्रसाधक लोकोत्तर मन्त्रों [नमस्कार मन्त्र, लोगस्स (चतुर्विंशति-स्तव), शक्रस्तव (नमोत्थुणं) आदि] का प्रयोग लौकिक कामनावश करता है, तो वह लोकोत्तर मन्त्र कहा जाने वाला मन्त्र भी लौकिक मन्त्र की कोटि में आ जायगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए यह मन्त्र के प्रयोग करने वाले पर निर्भर है कि वह मन्त्र प्रयोग किस प्रयोजन से, किस दृष्टि से करता है ?

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में तथा कई तांत्रिक आदि कई अन्य मतों के शास्त्रों में मन्त्रों के निम्न प्रकार के निकृष्ट प्रयोग भी बताये गये हैं—मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण आदि। जैन मन्त्रविद्याओं में इन्हें उत्सर्गमार्ग में कहीं स्थान नहीं दिया गया है। जिसमें उच्चाटन, विद्वेषण या मारण के प्रयोग हिंसाजनक होने से कथमपि अभीष्ट नहीं है, जैन-गृहस्थ एवं साधु के लिए। हाँ, इनमें से शान्ति, पुष्टि तुष्टि के लिए, वशीकरण के लिए या क्वचित् सम्मोहन के लिए किया गया मन्त्र प्रयोग क्षम्य है, वह भी विशिष्ट परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर ही किया जा सकता है।

मन्त्रों की रचना के उद्देश्य के बारे में एकदम यथार्थ रूप से कुछ कहना मेरे लिए कठिन है। फिर भी इतना ही कहूँगा कि जैन मनीषियों ने जिन मन्त्रों की रचना की है, वे मन्त्र प्रायः लोकोपकार, लौकिक कामनाओं की पूर्ति एवं भौतिक-आध्यात्मिक शक्तियाँ या उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए हैं।

मन्त्रों का दुरुपयोग और सावधानी

शक्ति आदि सम्प्रदायों में मन्त्र-तन्त्रों का दुरुपयोग हुआ, मारण, मोहन, विद्वेषण, उच्चाटन आदि के लिए उनका प्रयोग खुलेआम हुआ। साथ ही मन्त्र-तन्त्रों की विधियों में पशुबलि एवं पंचमकार (मद्य, मीन, मांस, मुद्रा और मैथुन) का प्रयोग खुलेआम होने लगा। यह सब मन्त्र रचना के उद्देश्य के विपरीत मालूम होता है।

कई मन्त्रों की विधियाँ इतनी जटिल होती हैं कि यदि मन्त्रसाधक जरा-सी भी गलती कर बैठता है तो उसे लेने के देने पड़ जाते हैं। मन्त्राधिष्ठित देव कुपित होकर उसका अनिष्ट कर बैठते हैं। किन्तु जैन-मन्त्रों की विधियाँ इतनी जटिल नहीं हैं, न ही उनमें इस प्रकार का खतरा है। मन्त्रसाधक से कदाचित कोई गलती या असावधानीवश भूल हो जाती है तो उसके लिए मन्त्राधिष्ठित देव से क्षमायाचना करने पर उसकी क्षतिपूर्ति हो जाती है। जैनमन्त्रों या विद्याओं के देव सात्त्विक, क्षमाशील एवं दयालु होते हैं। हाँ, श्रद्धा, भक्ति, भावना आदि तो यहाँ सर्वत्र अपेक्षित हैं ही।

मन्त्रों का प्रयोगकर्त्ता : कैसा और कौन ?

एक बात निश्चित है कि सामान्य मन्त्रसाधक हो या विद्याधर, सभी मन्त्र-प्रयोक्ताओं के लिए सात्त्विक प्रयोजनवश ही मन्त्रप्रयोग अभीष्ट है, अन्यथा यदि तामसिक प्रयोजनवश मन्त्र का प्रयोग किया तो मन्त्रों से जो शक्तियाँ या उपलब्धियाँ प्राप्त की गयी हैं, वे टिक नहीं सकेंगी, वे विफल हो जाएँगी। उस मन्त्रसाधक के द्वारा इस प्रकार मन्त्रों का दुरुपयोग होने पर जो मन्त्र या विद्या उसने सिद्ध कर रखी है, वह भी निष्फल हो जायगी। उसके जीवन पर भी बहुत बड़ा खतरा उपस्थित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता है। यही कारण है कि विद्याधरों या मन्त्रसाधकों के लिए जैनमन्त्र-ग्रन्थों में कुछ आचार संहिता दी गयी है उसका पालन करना उसके लिए नितान्त आवश्यक है :—

(१) मन्त्रादि का प्रयोग वह किसी स्वार्थ के बिना लोकोपकार के लिए करे।

(२) मन्त्रसाधना एकाग्रचित्त से पूर्ण श्रद्धाभक्तिपूर्वक करना आवश्यक है।

(३) वह किसी भी दुर्व्यसन से ग्रस्त न हो; सदाचारी हो।

(४) कई मन्त्रों की साधना के साथ उसका सत्यवादी, ब्रह्मचारी, अहिंसा-परायण तथा नीति-न्यायपरायण होना आवश्यक है।

(५) कई मन्त्रों के साथ भूमिशयन तथा तपश्चरण भी अपेक्षित है।

(६) मन्त्र का उच्चारण, शुद्ध एवं स्पष्ट होना आवश्यक है, अन्यथा मन्त्र-जाप का यथेष्ट फल नहीं मिलेगा।

(७) मन्त्र-जाप के लिए शुद्ध स्थान, शुद्ध दिशा, शुद्ध वस्त्र, शुद्ध आसन, विधि की पूरी जानकारी, निर्धारित संख्या, पवित्र सुगन्धित वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक है।

(८) जिस मन्त्र का वह जाप करना चाहता है, उसका मन्त्राधिष्ठित देव अनुकूल होना चाहिए।

(९) मन्त्र-तन्त्रादि का दुरुपयोग न करे, किसी पर मारण, विद्वेषण तथा उच्चाटन का प्रयोग न करे।

मन्त्रसाधक या विद्याधर के लिए ये और इस प्रकार के नियमों का पालन करना अपेक्षित है; अन्यथा मन्त्रसाधना में वह सफल न हो सकेगा, अन्य अनिष्ट भी पैदा हो सकते हैं।

एक उदाहरण द्वारा इसे समझना ठीक होगा—

भरतक्षेत्रीय वैताढ्य पर्वत की उत्तरश्रेणी का आभूषण रूप देववल्लभ एक नगर था। वहाँ दो विद्याधर रहते थे। एक का नाम था—मेघरथ और दूसरे का नाम था विद्युन्माली। ये दोनों सहोदर भाई थे। दोनों में परस्पर गाढ़ स्नेह था। यौवनवय में पदार्पण करते ही दोनों ने एक दिन विचार किया—हमें जो विद्या सिद्ध करनी है, वह भूचर क्षेत्र में नीच कुल के मनुष्य के यहाँ रहकर ही सिद्ध हो सकती है। अतः हम दोनों को मनुष्यलोक में जाना और किसी नीच कुल की कन्या के साथ विवाह करके एक वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना होगा। दोनों ने इस प्रकार निश्चय किया और गुरु से आज्ञा लेकर दोनों मनुष्यलोक में आये। दक्षिण भरतक्षेत्र के बसन्तपुर नगर में पहुँचे। वहाँ दोनों विद्याधर चाण्डाल का वेष बनाकर चाण्डालों के मोहल्ले में गये। वहाँ दोनों ने अपनी बुद्धिमत्ता से एक महाबुद्धिनिधान चाण्डाल के साथ मित्रता की। एक दिन सहसा चाण्डाल ने पूछ ही लिया—मैंने आज तक कभी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप दोनों से नहीं पूछा, आज पूछ रहा हूँ, कि आप दोनों कहाँ से और किस प्रयोजन से यहाँ आये हैं ? इस पर दोनों ने अपना असली पता-ठिकाना और आने का प्रयोजन इसलिए नहीं बताया कि दोनों को चाण्डाल के यहाँ रहकर ही अपनी विद्या सिद्ध करनी थी। दोनों ने कहा—हमारे माता-पिता ने नाराज होकर हमें घर से निकाल दिया इसलिए हम दोनों भाई रुष्ट होकर फिरते-फिरते यहाँ चले आये।

चाण्डाल को उनकी बात में कोई शंका न हुई, वह बोला—तो फिर यहीं सुख-पूर्वक रहो और तुम्हारी इच्छा हो तो हम तुम्हें एक-एक कन्या भी दे दें। परन्तु शर्त यह है कि हमारी कन्याओं के साथ विवाह करने पर हमारे सभी उचित अनुष्ठान करने पड़ेंगे। दोनों विद्याधरों ने शर्त मंजूर कर ली। अतः चाण्डाल ने दोनों भाइयों में से एक के साथ अपनी 'काणी' कन्या का और दूसरे के साथ 'दन्तुर' कन्या का पाणिग्रहण कर दिया।

विद्युन्माली जो था, वह कुरूप चाण्डाल कन्या पर भी अत्यन्त मोहित और आसक्त हो गया कि विद्या की साधना करना भी भूल गया। सहवास के कारण विद्युन्माली की पत्नी गर्भवती हुई। इसी प्रपंच में उसका एक वर्ष पूरा हो गया। दूसरी ओर मेघरथ अपनी स्त्री के मोह में न पड़ा, वह पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर अपनी विद्यासाधना करने लगा, एक वर्ष में उसने अपनी विद्या सिद्ध कर ली और विद्यावान हो गया।

एक दिन उसने अपने भाई विद्युन्माली से प्रेमपूर्वक कहा—भैया ! हमें यहाँ रहते एक वर्ष पूर्ण हो गया है, हमने अपनी विद्या सिद्ध कर ली है। अतः अब हमें चाण्डालकुल छोड़कर अपने जन्मस्थान वैताढ्य पर्वत पर चलकर दिव्य सुखभोग करना चाहिए। यहाँ की चाण्डालिन को तू छोड़ दे, वहाँ वैताढ्य में विद्याधरी कन्यायें स्वयं हमें वरण करेंगी।

यह सुनकर लज्जा से नीचा मुँह किये हुए विद्युन्माली बोला—"भाई ! आप तो अपनी विद्या सिद्ध करके कृतकार्य हो गये, आपने ब्रह्मचर्य पालन करके विद्या सिद्ध कर ली। इसलिए आप तो सुखपूर्वक पधारें। ब्रह्मचर्यपालन में दुर्बल होने से मैंने अपना संकल्प तोड़ दिया, जिससे मैं विद्या सिद्ध कहाँ से करता ? अतः आप विद्यावान् के साथ मुझ विद्याहीन को आने में लज्जा आती है। और फिर मेरी पत्नी गर्भवती भी है, उसे ऐसी हालत में कैसे छोड़ा जा सकता है, अतः आप अकेले ही पधारें। मैं विद्यारहित वहाँ अपने पारिवारिकजनों को कैसे मुँह दिखाऊँगा ? मैंने प्रमादवश होकर अपनी आत्म-वंचना की। अब पुरुषार्थी बनकर विद्या सिद्ध करूँगा। आप मुझ पर स्नेह रखकर एक वर्ष बाद मुझे लेने आना। तब मैं अवश्य आपके साथ चलूँगा।"

यों विद्युन्माली को चाण्डालिनी के मोह में पागल देखकर मेघरथ अकेला ही वैताढ्य पहुँचा। वहाँ पारिवारिकजनों ने पूछा—"तुम अकेले ही कैसे आये ?" इस पर उसने अथ से इति तक विद्युन्माली की सारी घटना बता दी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु स्त्री-मूढ़ विद्युन्माली विद्याधरों के दिव्य सुखों को भूलकर चाण्डालिनी पत्नी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को देख-देखकर हर्षित होने लगा। दूसरे वर्ष फिर विद्युन्माली की पत्नी ने गर्भ धारण किया। इधर मेघरथ को एक वर्ष बाद फिर अपने भाई की याद आयी, सोचने लगा—'कहाँ मैं देवांगनासम विद्याधारियों के साथ दिव्य सुखभोग कर रहा हूँ, और कहाँ बेचारा विद्युन्माली, उस कुरूप चाण्डालिनी के साथ सुख मान रहा है। मैं सात मंजिले मकान में रहता हूँ और वह गन्दी, घिनौनी कोठरी में रहता है, मैं तो विविध विद्याओं के जरिये मनोज्ञ भोजन-वस्त्र पाता हूँ, और वह फटे-टूटे वस्त्रों और तुच्छ अन्न पर गुजारा चलाता है। चलूँ, जाकर उसे यहाँ लिवा लाऊँ।' यों सोचकर मेघरथ विद्युन्माली के पास आया और कहने लगा—"भाई! चलो, एक वर्ष पूरा हो गया है, अब तो वैताढ्य चलो और विद्याधरों के सुखभोग करो।"

विद्युन्माली उदास चेहरे से बोला—"भाई! कैसे चल सकता हूँ मैं? मेरी स्त्री पुनः गर्भवती हुई है। मैं उसे छोड़कर आऊँ, ऐसा कठोर हृदय नहीं बन सकता। आप जाइए, यथावसर फिर दर्शन दीजिएगा। अभी तो मैं यहीं रहूँगा। आप इसमें बुरा मत मानना।"

मेघरथ ने अपने भाई विद्युन्माली को बहुत समझाया, पर वह टस से मस न हुआ। आखिर हार-थककर वह पुनः वैताढ्य लौट आया।

अब तो विद्युन्माली के दूसरा पुत्र हुआ। उसे देखकर तो वह स्वर्ग से भी बढ़कर सुख मानने लगा। घर में अन्न-वस्त्र की तंगी थी, तो भी कष्ट सहता था। दोनों पुत्र उसकी गोद में टट्टी-पेशाब कर देते तो वह उसे गंगा स्नान के समान समझता था। चाण्डालिनी कभी उसे झिड़क देती तो भी चुपचाप सह लेता।

स्नेहवश मेघरथ फिर तीसरी-चौथी बार उसके पास आया, और कहने लगा—"अरे, तू कुलीन होकर क्यों चाण्डाल कुल में पड़ा है? क्या मानसरोवर का हंस घर की तलैया में आनन्द मान सकता है? विद्युन्माली! क्यों अपनी जिन्दगी बर्बाद कर रहा है, यहाँ?" परन्तु इतना समझाने पर भी विद्युन्माली अपनी जिद पर अड़ा रहा। मेघरथ ने भी अब साफ-साफ कह दिया—"अब मैं कभी तुम्हें समझाने नहीं आऊँगा।" वह अपने जन्म-स्थान में लौट आया। वहाँ अपने पिता के राज्य का चिरकाल तक संचालन करके यथावसर अपने पुत्र को राज्य सौंपा और स्वयं सुस्थित अनगार के पास दीक्षित हो गया। तप, जप, संयम का पालन करके देवलोक में गया।

इस कथा का यह निष्कर्ष है कि जो विद्याधर समय आने पर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक अपनी विद्या सिद्ध नहीं करता, वह फिर सारी जिन्दगी मोहमाया में फँसकर बेकार खो देता है। अतः सच्चा विद्याधर वही है, जो अप्रमत्त एवं ब्रह्मचर्यस्थ होकर समय पर अपनी विद्या सिद्ध कर लेता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्याधर और जादूगर में अन्तर

कई लोग कहते हैं कि इन विद्याधरों और जादूगरों में क्या अन्तर रहा? विद्याधर भी तो विद्या सिद्ध करके अपने जीवन में सुखभोग की क्रीड़ा करते हैं और जादूगर भी अपने जादू के खेल-तमाशे दिखाते हैं?

इसके उत्तर में यह कहना है कि विद्याधर अपनी विद्याओं का प्रदर्शन नहीं करता, वह या तो अपनी उचित सुख-सुविधा के लिए विद्या का प्रयोग करता है, या फिर किसी लोकोपकार के कार्य के लिए विद्याप्रयोग करता है। व्यर्थ ही कौतुक दिखाना, लोगों से पैसे बटोरना या खेल-तमाशे दिखाकर प्रसिद्धि पाना विद्याधरों का लक्ष्य नहीं होता, न वे ऐसा करते ही हैं। फिर जादूगर के पास कोई विद्या सिद्ध की हुई नहीं होती, वह तो हाथ की सफाई तथा कुछ जादू के तरीके से खेल-तमाशे दिखाता है, जबकि विद्याधरों के पास अपनी सिद्ध की हुई मन्त्र-विद्या होती है, जिससे उन्हें हाथ की सफाई करने की जरूरत नहीं होती।

विद्याधर और पेशेवर मन्त्रवादी

अब एक सवाल यह उठता है कि विद्याधर भी मन्त्रविद्या सिद्ध करके उसका प्रयोग करता है, और पेशेवर मन्त्रवादी भी मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र के प्रयोग करता है, फिर इन दोनों में क्या अन्तर रहा?

इन दोनों में यही अन्तर है कि विद्याधर का पेशा नहीं है कि वह जगह-जगह जाकर अपनी मन्त्रविद्या का प्रयोग दिखाये या किसी मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग करके पैसा कमाये; जबकि मन्त्रवादी तो जगह-जगह जाकर अपने मन्त्रों का प्रयोग बताता है और लोगों को प्रभावित करके पैसा कमाता है, अथवा किसी-न-किसी काम के लिए मन्त्र-तन्त्रादि का प्रयोग करने हेतु बुला लिया तो वह उससे भारी रकम ऐंठता है। विद्याधर यह धन्धा नहीं करता और न ही किसी से धनराशि ऐंठता है। हाँ, कभी किसी व्यक्ति के दुःख-निवारण के लिए लोकोपकार समझकर वह अपनी मन्त्रविद्या का प्रयोग करता है, तो फ्री करता है, एक पैसा भी नहीं लेता। बल्कि विद्याधर लोकहित के लिए या लोगों की सुख-सुविधा के लिए अपनी विद्या में नयी-नयी शोध करते हैं, नयी-नयी चीजें बनाते हैं, उसका खुद उपयोग करते हैं, दूसरों को भी उपयोग करने को देते हैं। विद्याधर जिन लोगों को अपनी विद्या सिखाते हैं या जिनके लिए विद्याप्रयोग करते हैं, उनसे कुछ न कुछ दुर्व्यसन-त्याग आदि भी कराते हैं; जबकि मन्त्रवादी न तो स्वयं त्याग करते हैं, न दूसरों से त्याग-नियम कराते हैं। विद्याधरों का सारा जीवन ही विद्याएँ सिद्ध करने और स्व-पर-सुख के लिए उनका प्रयोग करने में व्यतीत होता है।

विद्याधरों की मन्त्रपरायणता, क्या और कैसे?

मैंने पहले भगवान ऋषभदेव के पौत्रों की जो कथा सुनाई, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विद्याधर एक कुल है, और उस कुल का कुलाचार है—मन्त्रों और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्याओं की साधना के लिए अप्रमत्त होकर नियमित रूप से तत्पर रहना, सिद्धि प्राप्त न हो जाय, तब तक सत्य, ब्रह्मचर्य आदि यम-नियमों का पालन करना और अपनी सुख-सुविधाओं के लिए अथवा लोकोपकार के हेतु मन्त्रों का प्रयोग करना। यही विद्याधरों की मन्त्रपरायणता है। जो विद्याधरकुल में जन्म लेकर भी मन्त्रों और विद्याओं की सिद्धि नहीं करता, आलस्य और प्रमाद में पड़ा रहता है, या विद्या-सिद्धि के दौरान यम-नियमों आदि का पालन नहीं करता अथवा इनमें असावधानी करता है, अथवा लोभ-लालच में पड़कर लोकोपकार की दृष्टि छोड़कर स्वार्थवश मन्त्रादि का प्रयोग करता है, अथवा मारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि के लिए मन्त्र प्रयोग करता है, वह विद्याधर कुलधर्म से भ्रष्ट हो जाता है, अथवा विद्याधर कुल को छोड़कर हीनकुल का बन जाता है।

निष्कर्ष यह है कि विद्याधर सही अर्थों में वह है, जो मन्त्रादि की साधना और प्रयोग में कभी असावधानी या प्रमाद नहीं करता। वास्तव में जो विद्याधर पुरानी विद्याओं की थ्योरी के आधार पर नयी-नयी विद्याओं और मन्त्रों का लोकहित या जनता की सुख-शान्ति के लिए आविष्कार और प्रयोग करता है, वह लोकहितकर्ता सच्चा विद्याधर है, उसे ही गौतम ऋषि मन्त्रपरायण कहते हैं। ऐसे विद्याधर का लोकहितार्थ मन्त्रपरायण जीवन होता है।

आधुनिक विद्याधर और उनकी विद्याएँ

वर्तमान युग के वैज्ञानिकों को भी विद्याधर कहा जा सकता है। जैसे प्राचीन विद्याधरों ने उड़नखटोला, विमान आदि यन्त्रों का आविष्कार और प्रयोग किया था, वैसे ही वर्तमान युग के विद्याधरों—वैज्ञानिकों ने टेलीफोन, टेलीग्राम, टेलीपैथी, टेली-विजन, रेडियो, वायरलेस (बेतार का तार), विद्युत और उससे चलने वाले नाना इंजिनों, यन्त्रों, रेलगाड़ी, मोटर, हवाईजहाज, स्टीमर, जल, थल और नभ पर नियन्त्रण करने वाले एक से एक बढ़कर वैज्ञानिक उपकरणों का आविष्कार करके दुनिया को चमत्कृत कर दिया है। वर्तमान वैज्ञानिकों ने गणक मशीन (कम्प्यूटर), मशीन का मानव, मशीन की गाय आदि बनाकर तथा चन्द्रादि की अन्तरिक्ष यात्रा करके तो विश्व को आश्चर्य में डाल दिया है। सचमुच, इन्हें आधुनिक विद्याधर कहा जा सकता है। इनकी विद्याएँ हैं—भौतिक विज्ञान, टेक्नोलॉजी, जीवविज्ञान, (ज्योलॉजी), अन्तरिक्ष विज्ञान, भूगर्भ विद्या आदि। ये विद्याएँ थ्योरिटिकल और प्रेक्टिकल अर्थात्—मन्त्रात्मक एवं प्रयोगात्मक दोनों ही रूप में हैं। आधुनिक विद्या-धरों के मन्त्र हैं—विविध वैज्ञानिक थ्योरियाँ, जिनको सिद्ध करने के लिए वे वर्षों तक अपनी प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) में अनुसन्धान, अन्वेषण और एकाग्रचित्त होकर अभ्यास करते हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक (आधुनिक विद्याधर) तो एक ही यन्त्र (थ्योरी) के अन्वेषण और प्रयोग में वर्षों बिता देते हैं, वे अपना खाना-पीना तक भूल जाते हैं, तब तक वे विवाह नहीं करते, ब्रह्मचर्य से रहते हैं, अनेक बातों में संयम से रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे विद्याधर फिर अपनी आविष्कृत वस्तु या (वर्षों तक के अभ्यास से) सिद्ध की हुई विद्या का लोकजीवन के सुखवृद्धि के लिए जन-हितार्थ प्रयोग करते हैं, स्वयं भी उससे लाभ उठाकर अपनी सुख-सुविधाएँ बढ़ाते हैं। तात्पर्य यह है कि आधुनिक विद्याधर भी मन्त्र और तन्त्र दोनों को सिद्ध करने और प्रयोग करने में तत्पर रहते हैं। विविध थ्योरियों को मन्त्र एवं तन्त्र के रूप में सिद्ध करने का अभ्यास करते हैं और फिर उस विद्या का प्रयोग करने में तत्पर हो जाते हैं। ये आधुनिक वैज्ञानिक (विद्याधर) भी आलस्य एवं प्रमाद से दूर रहते हैं।

विद्या के आविष्कारार्थ अपना प्राणार्पण करने वाले भी

इन आधुनिक विद्याधरों में हम उन लोगों की गणना भी कर सकते हैं, जो किसी भयंकर रोग—टी. बी., कैंसर, महामारी (प्लेग), हैजा आदि की रोकथाम के लिए किसी दवा, इन्जेक्शन, टीका आदि साधनों के आविष्कार के लिए अपना बड़े से बड़ा स्वार्थत्याग, या प्राणत्याग तक करने के लिए तत्पर रहते हैं। ऐसे लोकोपकारी महानुभाव को क्या हम आधुनिक विद्याधर की कोटि में नहीं गिनेंगे ?

सन् १७२० की घटना है। फ्रांस के मार्सेल्स नगर में एकाएक भयंकर महामारी (प्लेग) फैली। आदमी मक्खियों की तरह टपाटप मरने लगे। श्मशान में लाशों का ढेर लग गया, उन्हें जलाने या दफनाने वाला भी नहीं रहा। सारा प्रान्त इस महाभय से काँप उठा। डॉक्टरों के सभी बाह्य उपचार निष्फल हो गये। कई डॉक्टर भी इस चेपी रोग के शिकार होकर मरण-शरण हो गये। आखिर इस महारोग के निदान और अकसीर इलाज की खोज के लिए प्रसिद्ध डॉक्टरों की मीटिंग हुई। सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह रोग सामान्य उपचारों से मिटने वाला नहीं है। महामारी के रोग से मरे हुए व्यक्ति की लाश चीरकर देखे बिना इसका निदान असम्भव है। पर प्लेग से मरे हुए व्यक्ति की लाश को चीरे कौन ? प्लेग वाले की लाश को चीरना यमराज को न्यौता देना था। कोई इसके लिए तैयार नहीं हो रहा था। सारी सभा विसर्जित होने को थी, तभी एक जवान खड़ा हुआ, उसकी आँखों में करुणा और ओठों पर निर्णय था। उसका नाम था—डॉ. हेनरी गायन। सभी डॉक्टरों का ध्यान उसकी ओर खिंचा हुआ था कि यह कोई नई खोज तो नहीं लाया ? वह जरा आगे बढ़कर नम्रतापूर्वक बोला—"आप जानते हैं कि अपनी जिन्दगी का मोह छोड़े बिना दूसरों को जीवनदान नहीं दिया जा सकता। और कोई भी शोध जीवन अर्पण किये बिना नहीं हो सकती। मेरे शरीर के अर्पण से यदि हजारों-लाखों माताओं एवं भाई-बहनों के आँसू रुकते हों तो मैं अपना यह शरीर अर्पण करने को तैयार हूँ। लो, मेरा यह वसीयतनामा। मेरे आगे-पीछे कोई नहीं है। मेरी यह सारी सम्पत्ति महामारी के रोगियों की चिकित्सा के लिए खर्च करना। मनुष्य जीवन का इससे बढ़कर और अच्छा क्या उपयोग हो सकता है ?" यह सुनकर बड़े-बूढ़े डॉक्टर देखते ही रह गये। जो देह की ममता वृद्ध न छोड़ सके, वह इस नवयुवक डॉक्टर हेनरी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गायन ने बात की बात में छोड़ दी। वह तुरन्त आपरेशन रूम में प्रविष्ट हुआ और महामारी से मरे हुए मनुष्य की लाश को चीरने लगा। भयंकर बदबू से नाक फटी जा रही थी। फिर भी वह लाश को चीरता गया, और निदान करता गया। रोग के जन्तुओं के आक्रमण के स्थान, उनके कारणों और उनकी स्थायी चिकित्सा के सम्बन्ध में उसने एक नोंध तैयार की। यह नोंध उसने रासायनिक द्रव्यों में रखी, जिससे छूने वाले को रोग का चेप न लगे।

हेनरी गायन ने अपना काम पूरा किया; पर उसका शरीर तो बुखार से कभी का तप गया था। प्लेग के जन्तु इसके शरीर में अपना घरौंदा बना चुके थे। वह खड़ा होने लगा, पर सहसा गिर पड़ा और वहीं उसके प्राण पखेरू उड़ गये। परन्तु उसके मुख पर अपनी शोध पूर्ण करने का सन्तोष था। वास्तव में हेनरी गायन महामारी के निदान की विद्या और उसकी स्थायी चिकित्सा के विषय में अन्वेषण करने वाला महान परोपकारी विद्याधर था, जिसने अपना प्राणोत्सर्ग करके लाखों मानवों को जीवन दान दिया।

इसी प्रकार लुई पाश्चर, मैडम क्यूरी आदि कई परोपकारार्थ अपने प्राणों को खतरे में डालकर भी शोध एवं प्रयोग करने वाले महानुभावों को आधुनिक विद्याधरों में परिगणित किया जा सकता है।

प्राचीन विद्याधर, जो विद्याधरकुल के न थे

वैदिक धर्मग्रन्थों में विद्या के दो प्रकार बताये हैं—पराविद्या और अपराविद्या। जिससे अक्षर परमात्मा का ज्ञान हो, वह पराविद्या है और ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद, शिक्षा (वर्णों के शुद्ध उच्चारण तथा लेखन विद्या), कल्प (धार्मिक आचार-विचारों की विद्या), व्याकरण, निरुक्त (शब्दों का विश्लेषण करने वाली विद्या), छन्द, ज्योतिष, आयुर्वेद, इतिहास-पुराण, मीमांसा-न्याय और धर्मशास्त्र; ये १४ विद्याएँ अपराविद्या हैं। इन विद्याओं के अन्वेषण में रत, इन विद्याओं के सूत्र, मन्त्र या नुस्खे देने वाले, तथा इनका प्रयोग व आचरण करने-कराने वाले महानुभाव भी प्राचीन विद्याधर की कोटि में माने जा सकते हैं, भले ही वे वंश-परम्परा से विद्याधरकुल के न थे, परन्तु उनकी लोकोपकारिता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

मैं आयुर्वेद के अन्तर्गत रसायनविद्या को सिद्ध करने और उसके प्रयोग एवं सिद्धान्त (मन्त्र) के अन्वेषण में दत्तचित्त नागार्जुन का उदाहरण आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा—

भारत के प्राचीन रसवैद्यों ने पारद और उसके विभिन्न आश्चर्यजनक प्रयोगों के बारे में बड़ी खोजबीन की थी। जिस प्रकार आज के वैज्ञानिकों ने 'यूरेनियम' धातु के प्रयोग से अणुशक्ति को प्राप्त कर लिया है, उससे कई रोगों का शर्तिया इलाज भी करना सीख लिया है, मनुष्य को अजर-अमर बना देने का भी कीमिया जान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिया है, वैसे ही प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों (विद्याधरों) ने पारद पर प्रयोग करके कई विधियाँ खोज निकाली थीं, जिनसे तांबे का सोना बनाना, भौतिक शरीर को बहुत अंशों में अजर-अमर बनाना, कई रोगों का स्थायी इलाज करना पूर्णतः सम्भव था।

रससिद्ध नागार्जुन ऐसे ही सौराष्ट्र निवासी एक विद्याधर थे, जिनकी रुचि अपने राज्य संचालन की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन और खोज की ओर विशेष थी। उन्होंने संसार का कायापलट कर देने के लिए 'अमृत' और पारस की खोज करने का निश्चय किया। अपनी एक बड़ी प्रयोगशाला बनाकर विभिन्न जड़ी-बूटियों द्वारा पारद सम्बन्धी परीक्षण में जुट पड़े। साथ ही रस वैज्ञानिकों और साधकों को बुलाकर उनका सहयोग भी प्राप्त करने लगे। अपनी आन्तरिक लगन, रसविद्या की सिद्धि की तत्परता और कठोर साधना के कारण उन्हें शीघ्र ही आश्चर्यजनक सफलता मिली। दोनों उद्देश्यों की सिद्धि में वे सफल हुए। उनकी खोजों का साक्षी है—उनका 'रसोद्धारतन्त्र' नामक ग्रन्थ।

सौराष्ट्रान्तर्गत ढांक के राज्यकार्य की उपेक्षा करके जब नागार्जुन ने अपनी समस्त शक्ति और समय अमृत की खोज में लगा दी, यह देख राज्यहितैषी मन्त्रियों ने प्रार्थना की—"आपकी विज्ञान-रुचि के कारण राज्यकार्य में क्षति हो रही है, प्रादेशिक सामन्त स्वेच्छाचारी बनकर कर देना बन्द कर रहे हैं, उपद्रवी तत्व बढ़ रहे हैं।" मन्त्रियों की बात सुनकर नागार्जुन ने कहा—"अमृत की खोज में लगने के कारण राज्यकार्य में क्षति हो रही है, यह ठीक है। पर जिन दो विपत्तियों का भय दिखाया, उनकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। अगर सामन्तों से कर न मिले तब भी मेरा खजाना स्वर्ण से भरा रह सकता है, यदि कोई विदेशी मेरे राज्य पर आक्रमण करने का साहस करेगा तो सेना के बजाय थोड़ी सी औषधि से ही उसे नष्ट करने का सामर्थ्य रखता हूँ। वैसे मेरा उद्देश्य अमृत की खोज करना है, किसी का विनाश करना नहीं। मैं तो मनुष्य मात्र को अर्थाभाव और मृत्यु के भय से मुक्त करने की विद्या की साधना में संलग्न हूँ।"

पर जब मन्त्रियों ने आन्तरिक उपद्रवों का भय दिखलाया तो नागार्जुन ने कहा—"अगर राज्य को संभालने का आपका ऐसा ही आग्रह है तो युवराज को बुलाओ, मैं आज ही अपना राजमुकुट उसके मस्तक पर रख देता हूँ। फिर आप सब राज्यहितैषी लोग उसे उचित प्रशिक्षण देकर राज्य संचालन की व्यवस्था करें। मैं तो अमृत विद्या की शोध में पूर्ण सफलता न मिलने तक अन्य किसी बात पर ध्यान नहीं दे सकता।"

सचमुच उस दृढ़निश्चयी विद्याधर ने युवराज को राज्याभिषिक्त कर दिया और निश्चिन्त होकर पूर्ण रूप से अपने परीक्षणों में दत्तचित्त हो गया। अज्ञात जड़ी-बूटियों का सेवन करके उनके प्रभाव की जाँच करना खतरे से खाली न था, कोई भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने प्राणों को संकट में डालने के लिए तैयार न था। किन्तु नागार्जुन प्राणों का मोह त्यागकर उनका प्रयोग अपने ही शरीर पर करने लगा। अमृत की खोज के लिए ऐसा करना अनिवार्य था। अपनी समस्त शक्तियों और भावनाओं को एक लक्ष्य पर केन्द्रित करके खाने-पीने, सुख-दुःख, विघ्न-बाधाओं की परवाह न करके नागार्जुन एक कठोरव्रती, योगी एवं सच्चे साधक का-सा जीवन व्यतीत कर रहा था। धीरे-धीरे वह अपने कार्य में सफल होने लगा। शरीर को इतना सहनशील बना लिया कि भले-बुरे सभी परीक्षणों के प्रभाव को निःशंक सहन कर सकता था, शस्त्रादि तथा किसी प्रकार के विष आदि का प्रभाव उसके शरीर पर नहीं पड़ सकता था।

युवराज से एक दिन कहा—"बेटा ! अब मैं कुछ ही दिनों में संसार से मृत्यु-भय को हटाने में सफल हो जाऊँगा। अमर बनाने वाली समस्त औषधियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं, सिर्फ उचित मात्रा में विधिपूर्वक उनका योग करना ही शेष रह गया है। भगवान ने चाहा तो दरिद्रता और मृत्यु दोनों के भय से संसार को मुक्त कर सकूंगा।"

परन्तु दुर्भाग्य से नागार्जुन अपनी अमृतविद्या का प्रयोग अधूरा छोड़कर ही इस संसार से चल बसे। किन्तु वे संसार को अपनी रससिद्धियों की बहुत बड़ी देन दे गये हैं। क्या ऐसे उपकारी विद्याधरों का संसार ऋणी नहीं रहेगा ?

बन्धुओ ! विद्याधरों पर प्राचीन और नवीन सभी पहलुओं से हमने विचार किया। चाहे वंशपरम्परा से विद्याधर हों या अन्य प्रकार से जो लोकहितैषी बनकर विद्याओं की साधना करते हैं और उनमें सिद्धि प्राप्त करके संसार को दे जाते हैं, वे सदैव मन्त्रपरायण, विद्यासाधना तत्पर रहें, इसमें कोई सन्देह नहीं है, ऐसा जीवन धन्य है, सार्थक है। आपको विद्याधरों के मन्त्र-तत्पर जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए।

विद्या एवं मन्त्र : जीवन के तट पर

मैंने विद्याधर एवं मन्त्र की जो व्याख्या आपके सामने प्रस्तुत की है। वह प्रायः प्राचीन आचार्यों की शैली के आधार पर की है। अब जरा इन दोनों शब्दों की जीवन-स्पर्शी व्याख्या पर भी चिन्तन कर लें। विद्या एवं मन्त्र का हमारे व्यावहारिक जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है और **'विज्जाहरा मंतपरा हवंति'** के पीछे महर्षि का अन्य क्या आशय हो सकता है, इस पर भी चर्चा कर लें।

'विद्या' का सामान्य अर्थ है ज्ञान ! शिक्षण ! साधारण अक्षर-ज्ञान से लेकर उच्चतम ज्ञान के लिए—विद्या शब्द का प्रयोग होता है। 'शिशुओं आदि को जहाँ 'अक्षर-ज्ञान' कराया जाता है उन केन्द्रों को भी 'विद्यालय' कहा जाता है। और शरीर विज्ञान, मानस विज्ञान, तन्त्रविज्ञान आदि की उच्चतम शिक्षा के केन्द्र भी 'विद्यालय' नाम से ही सम्बोधित होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्या का हमारे जीवन से अनन्य सम्बन्ध है। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य-जीवन के विकास के लिए विद्या अनिवार्य है। विद्यारहित या विद्या-विहीन मनुष्य 'पशु' तुल्य माना गया है। जैसे कि कहा है—

विद्या विहीना पशुभिः समानाः

अविद्या या अज्ञान को महातम और अन्धकार बताया है और विद्या को दिव्य प्रकाश। शास्त्र में कहा है—

णाणं पयासकरं

ज्ञान प्रकाश देने वाला है। बल्कि ज्ञान स्वयं ही प्रकाश है, यह भी कह सकते हैं। ज्ञान दिव्यचक्षु है।

शरीर में जितना महत्व चक्षुओं—आँखों का है, जीवन के विकास एवं उत्थान में उससे भी अधिक महत्व ज्ञान या विद्या का है।

'विद्या' एक ज्ञान है, अन्तर की स्फुरणा है, आत्मा का नेत्र है। फिर भी विषय की दृष्टि से इसके कई भेद हो जाते हैं। जैसे—लौकिक विद्या और अध्यात्म विद्या।

सामान्य अक्षर-बोध, पुस्तकीय ज्ञान या भूगोल, खगोल, शरीर, यन्त्र, तन्त्र आदि से सम्बन्धित विद्या लौकिक या लोक-विद्या कही जाती है तथा आत्मा, ईश्वर आदि अनुभूतिगम्य विषयों का ज्ञान, उनका चिन्तन-मनन आत्मविद्या कहलाती है। जीवन में दोनों ही प्रकार की विद्या का महत्व है, आवश्यकता है।

यहाँ आचार्य ने 'विद्याधर' शब्द से यह संकेत किया है कि जो लौकिक वस्तुओं का ज्ञान रखता है, तथा आत्मा आदि का भी बोध रखता है वह 'विद्याधर' है। साधारण भाषा में उस विद्याधर को हम 'विद्वान' कह सकते हैं। इस प्रकार 'विद्याधर' शब्द से हम विद्वान पढ़े-लिखे सुशिक्षित व्यक्ति का संकेत समझ सकते हैं।

मन्त्र—मननशीलता

विद्या की तरह 'मन्त्र' शब्द का भी जीवनस्पर्शी अर्थ है—चिन्तनशीलता, विचारशीलता या मननशीलता। मन्त्री शब्द मननशीलता का द्योतक है। आजकल मन्त्री शब्द की परिभाषा बदल गई है, अब तो चुनाव में जीत जाय, अथवा जिसे सत्ता की कुर्सी मिल जाय, वही मन्त्री बन सकता है, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या अंगूठा छाप हो, चाहे विचारशीलता, मननशीलता से भी उसका कोई रिश्ता न हो, पर प्राचीन समय में ऐसा नहीं था। प्राचीन युग में मंत्रियों के चुनाव के लिए जनमत नहीं लिया जाता था, किन्तु उनकी बौद्धिक परीक्षा की जाती थी। अनेक प्रकार की कठिन से कठिन बुद्धि परीक्षा करके, जटिलतम समस्याओं को सामने रखकर उनका परीक्षण किया जाता था। जिस व्यक्ति की विचारशीलता, मननशक्ति प्रखर होती थी, जो विचक्षण बुद्धि व गम्भीर विचारयुक्त होता था उसे ही 'मन्त्रि पद' दिया जाता था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो इससे स्पष्ट होता है कि 'मन्त्र' शब्द सिर्फ एक विशेष अक्षर समूह का ही सूचक नहीं है, किन्तु मन्त्र का अन्य अर्थ है—विचार या गम्भीर चिन्तन। मन्त्रणा चल रही है—इस वाक्य का भी यही अर्थ है—कि गम्भीर विचार चर्चा हो रही है।

यहाँ पर जब हम 'विद्याधर' शब्द से विद्वान अर्थ लेंगे तो 'मन्त्र' शब्द से 'मननशीलता' या विचारशीलता का अर्थ होना चाहिए और तब **'विज्जाहरा मन्तपरा हवंति'**—इस पद का अर्थ होगा—विद्वान विचार-परायण होते हैं, पढ़े-लिखे या सुशिक्षित व्यक्ति को गम्भीर, चिन्तनशील या मननशील होना चाहिए। ऐसा नहीं कि कोई भी बात या प्रसंग आया और आनन-फानन में कुछ भी निर्णय ले लिया। उस पर विचार-चिन्तन किये बिना ही, उसके सभी पहलुओं पर मनन किये बिना ही निर्णय या फैसला कर बैठना मनुष्य की क्षुद्रता का परिचायक है, अपरिपक्वता का द्योतक है और उसे हम विद्वान या मन्त्री नहीं कह सकते जो बिना सोचे-विचारे ही कदम उठाये।

बादशाह ने अपने नौजवान मन्त्रियों से पूछा—"जो मेरी दाढ़ी को नोच ले, उसे क्या सजा देनी चाहिए?"

तत्काल जवान वजीरों ने उत्तर दिया—"जो दुष्ट व्यक्ति आपकी दाढ़ी को हाथ लगाने की जुर्रत करे उसे तुरन्त मौत के घाट उतार देनी चाहिए या उसके हाथ काट देना चाहिए।"

बादशाह ने बीरबल की तरफ देखा, बीरबल ने गंभीर होकर कहा—"हजूर! उसे इनाम देना चाहिए।"

सभी सभासद और मन्त्री चकित रह गये, बीरबल ने कैसा उल्टा जबाव दिया है। बादशाह ने इसका स्पष्टीकरण पूछा, तो बीरबल बोला—हजूर की दाढ़ी को हाथ लगाने की हिम्मत किसमें है? हजूर का शहजादा (पोता) जो गोद में बैठता है वही सिर्फ आपकी दाढ़ी के बाल खींच सकता है, तो उसे मिठाई देना चाहिए कि नहीं?

बीरबल की समझदारी पर सभी लोग चुप थे। वास्तव में उसने जो उत्तर दिया वह उसकी गम्भीर विचारशीलता का परिचायक है। जैसे—जौहरी, हीरे को सभी पहलुओं से परखकर उसकी कीमत आँकता है उसी प्रकार मनुष्य बात को सब पहलुओं से सोचकर ही वह फैसला करता है।

हमारे यहाँ एक कहावत प्रचलित है—"बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय।" इसी बात को एक कवि ने यों कहा है—

कर सोचे सो कूर है, सोच करे सो शूर।
सोच किये मुख नूर है, कर सोचे मुख धूर॥

जो व्यक्ति कार्य करके, बाद में सोच करता है, काम करके फिर पछताता है, वह मूर्ख है, उसके सिर पर संसार धूल डालता है, किन्तु जो कार्य करने से पहले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोच-विचार कर लेता है, काम से पहले उसका अंजाम सोच लेता है, वह कभी बाद में नहीं पछताता, और संसार में भी उसकी इज्जत-प्रतिष्ठा बढ़ती है।

कहा जाता है एक बार राजा भोज के दरबार में महाकवि भारवि ने एक श्लोक भेंट किया। राजा ने वह श्लोक पढ़ा, उसे बड़ा सुन्दर लगा। उसने उस श्लोक को सुन्दर अक्षरों में लिखवाकर अपने शयनकक्ष में टँगवा दिया और रोज प्रातः काल उठकर सर्वप्रथम उस श्लोक को पढ़ लेता।

एक बार राजा महलों में देर रात गये सोने को गया, शयनागार में देखता है कि रानी की शय्या पर कोई अन्य पुरुष सोया है और रानी भी सोई है। देखते ही राजा क्रोध में पागल हो उठा। आँखों में खून बरसने लगा, हाथ क्रोध से काँपने लग गये। तलवार खींची और मुँह से बड़बड़ाने लगे—"दुराचारिणी! निर्लज्ज! यह आदत है तेरी। अभी इस कुकृत्य की सजा देता हूँ।" और एक कदम आगे बढ़ाकर ज्योंही तलवार उठाई कि सामने टँगा कवि भारवि का वह श्लोक दिखाई दिया। राजा रुक गया, श्लोक पर नजर टिकी—

सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

एकदम, बिना विचारे कोई कार्य मत करो, अविचार सब आपत्तियों-विपत्तियों का घर है। विचारपूर्वक कार्य करने वाले को सम्पत्ति व सुख स्वयं अपना लेते हैं।

श्लोक पढ़ते ही राजा का हाथ रुक गया। तलवार आकाश में ही खिंची रह गई। एक क्षण सोचने के लिए जैसे ही वह रुका, पैरों की आहट से रानी की नींद खुल गई। वह चौंककर उठी। राजा का विकराल रूप देखकर सहमी ही खड़ी हो गई।

राजा ने ललकारा—"दुष्टे! कौन है यह पुरुष? तेरा यह नीच आचरण!"

रानी ने स्वयं को सँभालकर कहा—"महाराज! रुक जाइए। बड़ा राजकुमार है। रात को इसके सिर में पीड़ा हो रही थी सो मैंने अपने पास ही सुला लिया और सिर दबा रही थी। सिर दबाते-दबाते राजकुमार को आराम मिला, आँख लग गई। आपके पधारने में भी बिलम्ब हो गया था सो मैं भी जरा कमर सीधी करने लेट गई और मेरी भी आँख लग गयी।"

राजा का मुँह फक्क हो गया। उसके काँपते हुए हाथ से तलवार नीचे गिर पड़ी। आँखों में खून की जगह आँसू उमड़ आये। उसने पुनः उस श्लोक पर नजर टिकाई—"बिना विचारे कोई काम मत करो।" आज इसी श्लोक ने मेरे पुत्र व पत्नी की जान बचाई। व्यर्थ में ऐसा अन्याय कर बैठता, जिसके पश्चात्ताप की अग्नि से मेरा जीवन जलकर खाक हो जाता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रातः राजा ने महाकवि भारवि को बुलवाया। इस श्लोक पर सवा लाख मोहरें इनाम दीं और चाँदी के पत्र पर स्वर्णाक्षरों में श्लोक को] मँढ़ाकर अपने प्रत्येक कक्ष में टँगवा दिया।

अगर राजा बिना विचारे कुछ कर बैठता तो क्या हाल होता? कितना अनर्थ हो जाता? इसलिए 'विद्याधर होते मन्त्र परायण'—इस पद का यह अर्थ भी बहुत गम्भीर और उपयोगी है कि विद्वान को सदा विचारशील, मननशील होना चाहिए, अथवा जो विचार-परायण होते हैं, वे ही विद्वान या विद्यासम्पन्न कहलाते हैं।

जीवन में विद्या, ज्ञान या शिक्षा का उपयोग तभी है जब मनुष्य में विचार-शीलता, मननशीलता आये, गम्भीरता आये। यही इस जीवनसूत्र का हार्द है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४४

मूर्ख नर होते कोपपरायण

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष एक ऐसे जीवन की चर्चा करूँगा, जिसमें क्रोध, रोष का आवरण छा जाने के कारण ज्ञान का निर्मल प्रकाश बन्द हो जाता है, और मूर्खता के कीटाणु वहाँ जम जाते हैं। संसार में ऐसे भी लोग हैं, जो समझदारी और विवेक-बुद्धि से जीवन बिताना नहीं जानते, उनका जीवन दुःख-दारिद्र्य और अशान्ति में व्यतीत होता है। वे दूसरों के साथ नम्र, मधुर और उदार व्यवहार करना नहीं जानते, जब देखो तब क्रोध का भयंकर हथियार लिये रहते हैं। इसी-लिए गौतमऋषि ने इस जीवनसूत्र द्वारा मूर्ख मनुष्य के जीवन का परिचय देते हुए कहा है—

'मुक्खा नरा कोवपरा हवंति'

"मूर्ख मनुष्य कोपपरायण होते हैं, अथवा जो कोपपरायण होते हैं, वे मूर्ख कहलाते हैं।"

गौतम कुलक का यह सैंतीसवाँ जीवनसूत्र है, जिसके द्वारा महर्षि गौतम संसार के समझदार लोगों को मानो चेतावनी देते हुए कहते हैं—मूर्खताभरा जीवन मत बिताओ, क्योंकि वह क्रोधानल से भरा रहता है; तथा क्रोध मत करो, ताकि मूर्खता तुम पर हावी न हो।

मूर्ख की मूर्खता : जीवनरत्न व्यर्थ फेंकना

मनुष्य जीवन एक अमूल्य रत्न है। परन्तु जो मूढ़ इस रत्न को पाकर इसका मूल्य और इसका सही उपयोग नहीं जानता, वह मूर्खतावश इसे फेंक देता है, यों ही विषय-भोगों और लड़ाई-झगड़ों में इसे व्यर्थ गँवा देता है, जीवन-रस को यों ही निरर्थक लुटा देता है।

एक बन्दर को कहीं से कीमती हीरा मिल गया। बन्दर हीरे का मूल्य और उपयोग तो जानता नहीं था। उसने हीरे को खाने की चीज समझकर मुँह में रखा, पर कुछ भी स्वाद न आया। फिर वह उसे जीभ से चाटने लगा, पर चाटने से वह पिघला भी नहीं। तब वह दाँतों से उसे तोड़ने लगा, पर हीरा बन्दर के दाँतों से कैसे टूट सकता था ? वह टूटा नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस पर उसने हीरे को मुँह में से निकाला और अपने सामने रखकर उसकी ओर एकटक देखने लगा; और रोष से कहा—"अरे ! कठिन पानी वाले पत्थर ! तू दिखने में बड़ा सुन्दर और चमकदार है, लेकिन मेरे किसी काम का नहीं। तुझे रखकर मैं क्या करूँगा ?" यों गुस्से में बड़बड़ाते हुए उसने हीरे को दूर फैंक दिया।

हीरा अपना अपमान समझकर पछताने लगा—"हाय ! मैं कहाँ ऐसे मूर्ख के हाथ में पड़ गया, जो मेरी कीमत एवं कद्र नहीं जानता। इसी कारण मेरी यह दुर्दशा हुई। अगर किसी जौहरी के हाथ में पड़ा होता तो वह मेरी कीमत जानता और कद्र करता; मुझे देख-देखकर खुश होता। यदि किसी राजा के पास होता, उसके मुकुट में जड़ा जाता; या रानी के हार में जड़ा जाता।

वहीं एक कवि बैठा था, उसने कहा—"अरे हीरे ! बन्दर ने तेरी कद्र न की, इससे निराश मत हो, सौभाग्य समझ कि उसने पत्थर से तोड़कर तुझे चूर-चूर नहीं किया।"

यह एक रूपक है। मूर्ख के हाथ में मनुष्य-जीवनरूपी रत्न आ गया है, लेकिन वह बन्दर की तरह उसे काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, स्वार्थ आदि में लगाकर व्यर्थ ही नीरस बना देता है और नीरस समझकर लड़ाई-झगड़ों में इसे तोड़ने-फोड़ने को उतारू होता है, जब उससे भी नहीं टूटता तो दुर्व्यसनों के चंगुल में फँसाकर मूर्खतावश इसे इतनी दूर फैंक देता है कि फिर यह मनुष्य-जीवनरूपी रत्न सहसा हाथ में नहीं आता।

परन्तु जौहरी की तरह जीवनरत्न के परीक्षक एवं कद्रदान व्यक्ति इसका मूल्य और उपयोग समझते हैं, वे इसे व्यर्थ ही नष्ट नहीं करते, न इसे तोड़ते-फोड़ते हैं और न ही इसे मूर्खतावश इतनी दूर फैंकते हैं। वे इसे सेवा, दया, सहानुभूति, परोपकार, धर्माचरण एवं आत्मविकास में लगाकर सार्थक करते हैं, शान्ति और सहृदयता के साथ जीवन यापन करते हैं, सबके साथ प्रेम और सहयोग का व्यवहार करके जीवन को सार्थक करते हैं।

मूर्ख के लक्षण और पहचान

यहाँ एक प्रश्न होता है कि ऐसा मूर्ख कौन होगा, जो अपनी अपार हानि भी न समझता हो ? यों तो पशु भी सामान्यरूप से अपने हानि-लाभ का विचार कर सकता है, तब क्या मनुष्य अपने हानि-लाभ का विचार नहीं कर सकता ? यह तर्क तो युक्तिसंगत है, परन्तु सामान्य स्वार्थ का विचार करने मात्र से मनुष्य मूर्ख नहीं कहलाता, मूर्ख वह कहलाता है, जो सामान्य स्वार्थ का विचार कर सकने पर भी, विशेष स्वार्थ का, अथवा स्व-हित के साथ पर-हित का, या विशिष्ट आत्म-हित का दूरदर्शितापूर्वक विचार नहीं कर सकता।

कई बार वह स्वहित का विचार कर लेने पर भी अपने क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और स्वार्थ से युक्त मूढ़ व्यवहार के कारण उस स्वहित को भी बिगाड़ लेता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसकी बुद्धि पर मोह का ऐसा पर्दा पड़ जाता है कि वह दूरदर्शितापूर्वक सोच नहीं पाता, गहराई से उसके नतीजे पर विचार नहीं कर पाता, उतावला होकर काम बिगाड़ लेता है, हर किसी को अपने क्षुद्र और मूढ़तापूर्ण कार्यों से भड़का देता है, जिससे उसके प्रति किसी की सहानुभूति नहीं जागती, उससे जो हित की बात कहने जाता है उससे भी वह उलझ जाता है, टोक देता है, प्रतिवाद करता है, किसी की हितकर बात भी सुनना नहीं चाहता। न तो उसका विचारों पर कन्ट्रोल होता है और न ही वाणी पर, तथा न ही किसी व्यवहार या कार्य पर उसका कन्ट्रोल होता है। वैताल कवि ने मूर्ख की पहचान दो छप्पयों में बता दी है—

बिन नौते घर जाय, बिन बतराए बोले।
बिन मौके हँस देत, प्रयोजन बिन ही डोले॥
बिना दिये सम्मान, जाय बैठे आगेरो।
बैठे अंग भिड़ाय, फिरे फिर खावे फेरो॥
मारग चाले खावतो, गुप्त बात चौड़े कहे।
'बेताल' कहे विक्रम! सुनो मूरख छाना किम रहे?॥१॥
बुद्धि बिन व्यापार, दृष्टि बिन यान चलावे।
सुर बिन गावे गीत, लाभ बिन खर्च बढ़ावे॥
बल बिन मांडे राड़, मूख बिन भोजन खावे।
गुण बिन जाय विदेश, सुयश बिन आगे आवे॥
अनहोनी इच्छा करे, बिना समझ की बात।
'वैताल' कहे विक्रम! सुनो यह मूरख की बात॥२॥

भावार्थ स्पष्ट है। निष्कर्ष यह है कि जिसका बोलना, चलना, उठना-बैठना, विचारना, खाना-पीना आदि सारी प्रवृत्तियाँ समझदारी की न हों, सभी ऊटपटांग हों, बुद्धिमान व्यक्ति के व्यवहार से ठीक विपरीत व्यवहार हो, जो अपनी बुद्धि, बल, दृष्टि, योग्यता, क्षमता, गुण, पद-प्रतिष्ठा आदि को समझे बिना तथा उसका मूल्यांकन किये बिना ही उनकी सीमा का अतिक्रमण करके कार्य करता हो, वह मूर्ख शिरोमणि है।

एक उदाहरण लीजिए—

एक साहूकार के एक ही लड़का था, पर था वह पूरा मूर्ख, जड़बुद्धि। जब भी पिता किसी से बात करता तो वह बीच-बीच में बोलता रहता। पिता ने समझाया—"बेटा! बड़ों के बीच में या सामने नहीं बोलना चाहिए।"

दूसरे दिन ही माता-पिता को किसी कार्यवश कहीं बाहर जाना पड़ा। पीछे घर में लड़का अकेला ही था। वह घर का दरवाजा बन्द करके अन्दर बैठ गया। चार घन्टे बाद पिता वापस लौटकर आया तो उसने दरवाजा बन्द देख आवाज

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लगाई ; पर बोले कौन ? पिताजी ने सामने बोलने से इन्कार किया था, अतः वह चुप्पी लगाये बैठा रहा। आखिर बहुत आवाज लगाने पर भी लड़का न बोला तो पिता पड़ौसी के मकान की छत से उतरकर घर में घुसा तो लड़के को चुपचाप बैठे देख कहा—"अरे मूर्ख ! इतनी आवाजें दीं, पर तू बोला क्यों नहीं ?"

लड़के ने कहा—"आपने ही तो कहा था—'बड़ों के सामने नहीं बोलना'।"

पिता बोला—"अरे मूर्ख ! सामने नहीं बोलना, इसका मतलब तो था कि जोर से नहीं बोलना, पाँच आदमी बैठे हों, उस समय बीच में न बोलकर, धीमे से कहने में कोई हर्ज नहीं है।"

उसने पिता की बात स्वीकार करते हुए कहा—"अब ऐसा ही करूँगा।"

एक दिन घर में आग लग गई। माता ने पिताजी को बुलाने हेतु लड़के को भेजा। पिताजी कहीं दूसरी जगह बैठे चार-पाँच आदमियों से बात कर रहे थे। यह देख लड़का दूर ही बैठ गया। दो घण्टे बाद जब वे सब चले गये, तो लड़के ने पिता के पास जाकर धीमे से कहा—"घर में आग लगी है, अतः माताजी ने जल्दी घर पर बुलाया है।"

पिता—"कितनी देर हो गयी, आग लगे ?"

पुत्र—"दो-तीन घण्टे हो गये।"

पिता—"मूर्ख ! तब फिर इतनी देर चुपचाप क्यों बैठा रहा ?"

पुत्र—"आपने ही तो कहा था, पाँच आदमी बैठे हों, तब बीच में बोलना नहीं।"

पिता ने मूर्ख लड़के की जड़बुद्धि पर सिर पीट लिया।

वास्तव में मूर्ख बिना सोचे-समझे कोई बात कह देता है, जिसका परिणाम बहुत भयंकर या अहितकर होता है, जिसे वह सोच नहीं पाता, बाद में तो वह भी पछताता है, पर पहले नहीं सोचता। किसी ने ठीक कहा है—

"A wise man reflects before he speaks, a fool speaks and then reflects on what he has uttered."

"बुद्धिमान बोलने से पहले सोच लेता है, और मूर्ख बोल देता है, तब सोचता है, कि उसने क्या कह दिया ?"

एक सेठ का पुत्र लक्ष्मीचन्द बहुत बुद्धू था, इसलिए लोग उसका व्यवहार देखकर उसे 'मूरखचन्द' कहने लगे।

लक्ष्मीचन्द को यह नाम बहुत खटकता था। नाम बदलवाने के लिए उसने स्थान बदलने का निश्चय किया। तदनुसार उसने नयी पोशाक पहनी और सैकड़ों मील दूर जाने के लिए घर से रवाना हुआ। रेलगाड़ी में बैठा। एक स्टेशन पर पानी पीने के लिए मूरखचन्द गाड़ी से उतरा। नल के पास जाकर अंजलि से पानी पी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेने के बाद भी वह वहाँ खड़ा-खड़ा मुँह हिलाता रहा। काफी देर तक उसकी चेष्टा देखने के बाद एक प्यासे यात्री ने कहा—"अबे मूरखचन्द! हट न अब यहाँ से, दूसरों को भी पानी पीने देगा कि नहीं?"

यह सुन लक्ष्मीचन्द ने चकित होकर कहा—"लो हट जाता हूँ मैं, लेकिन यह तो बताइए जिस नाम को बदलवाने के लिए मैं सैकड़ों मील दूर चला आया, उसे आपने कैसे जान लिया?"

वह यात्री बोला—"यह तो मैंने तुम्हारे लक्षणों से ही जान लिया कि तुम मूरखचन्द ही हो।"

लक्ष्मीचन्द ने समझ लिया कि लक्षण या स्वभाव बदले बिना केवल वेश या स्थान बदलने से कोई नाम नहीं बदल जाता। परन्तु लक्ष्मीचन्द को यह समझ कब आयी? अपनी प्रवृत्ति कर लेने के बाद आयी न? यही तो मूर्खता का लक्षण है।

इसीलिए सुकवि 'अज्ञेय' ने मूर्ख के लक्षण बताए हैं—

बिना सोचे समझे ही करता जो काम सदा,
अपना बिगाड़े काम जग को हँसावे है।
पूरब को कहिये तो पश्चिम को चलता है,
इसीलिए भले पुरुषों को नहीं भावे है॥
घर फूँक अपना तमाशा दिखलाता जो कि,
दर-दर खाक छान उमर गँवावे है।
स्वयमेव थूक कर स्वयमेव चाटता जो,
सुकवि 'अज्ञेय' वही मूरख कहावे है॥

वास्तव में मूर्ख प्रायः अपनी मूर्खता को नहीं जान पाता, जबकि बुद्धिमान अपनी मूर्खता को जान जाता है। यही मूर्ख और बुद्धिमान में अन्तर है।

पाश्चात्य विद्वान थेकरे (Thackeray) ने सच ही कहा है—

"A fool can no more see his own folly than he can see his ears."

"मूर्ख जितना अपने कानों को देख सकता है, उतना अपनी मूर्खता को नहीं देख सकता।"

एक आदमी घास का गट्ठर बाँधकर उसे घोड़ी पर लादकर घर की ओर चल दिया। रास्ते में लोगों ने कहा—"घोड़ी गर्भवती मालूम होती है, इस पर बोझ लादना ठीक नहीं।" यह सुनकर उसने गट्ठर का बोझ अपने सिर पर उठा लिया। आगे चला तो दूसरे गाँव वालों ने उसे देखकर कहा—"यह किसान कितना मूर्ख है। घोड़ी की पीठ खाली पड़ी है, फिर भी बोझ अपने सिर पर उठा रखा है।" यह सुना तो मूर्ख किसान घास का गट्ठर सिर पर उठाए ही घोड़ी पर सवार हो गया। लोगों ने देखा तो किसान की मूर्खता पर हँसने लगे—"कैसा मूर्ख है, क्या घास का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गट्ठर सिर पर उठा लेने से घोड़ी के भार में कोई फर्क पड़ता है ? फिर भी यह मूर्ख घोड़ी पर चढ़कर भी गट्ठर अपने सिर पर उठाये हुए है।"

इसके अतिरिक्त मूर्खों में एक और विशेषता होती है, वे जिस बात को एक बार पकड़ लेते हैं, फिर उसे जिन्दगी भर छोड़ते नहीं। चाहे उन्हें कोई कितना ही समझाए, उनके हित की बात कहे, उन्हें अहितकर बात को छोड़ने के लिए कितना ही ललचाए, वे उसे छोड़ने और हितकर बात को सुनने-समझने के लिए तैयार नहीं होते।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने मूर्ख के विषय में ठीक ही कहा है—

फूलै फरै न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै बिरंचि-सम॥

लगभग दो शताब्दी पहले यूरोप भी मूढ़ताओं और अन्धविश्वासों का केन्द्र था। यूरोप की उस समय बड़ी दुर्दशा थी। लोग गन्दगी भरे स्थानों में रहते थे। नगरों की सड़कें घूरे के समान कूड़े-कचरे से भरी रहती थीं। यूरोप के एक नगर की बात है, जब नवयुग का प्रवेश हुआ, वहाँ म्युनिसिपल संस्थाओं की स्थापना हुई तो समझदार लोगों का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने सोचा कि इन सड़कों की सफाई कर डालना चाहिए। परन्तु इससे पहले कभी सड़कों की सफाई नहीं की गई थी। मूर्ख लोगों ने देखा कि यह तो बिल्कुल नयी बात है, ऐसा तो कभी हुआ ही नहीं, क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे ? अगर सड़कों की सफाई कराना आवश्यक होता तो वे क्यों न कराते ? न मालूम इस सफाई से कोई अनर्थ हो जाएगा तो ? अगर सड़कों की सफाई होगी तो देवता कुपित हो जाएँगे, वे रुष्ट होकर बीमारियाँ फैलायेंगे। हम मर जायेंगे।

म्युनिसिपल-अधिकारियों के सामने विकट समस्या खड़ी हो गई कि इस मूर्ख जनता को कैसे समझाएं कि सड़कों की सफाई होने से बीमारियाँ बढ़ेंगी नहीं, घटेंगी ही। अन्त में यह निश्चय हुआ कि डाक्टरों की सलाह ली जाए और जनता के सामने उनकी राय रखी जाए तो शायद जनता समझ जाये। लेकिन मूर्ख जनता ने विचार कर लिया था कि अगर डाक्टर पुरानी रीति के विरुद्ध बोलेंगे तो उनका बायकाट किया जाएगा।

डाक्टरों ने जब यह सुना तो सोचा—"सड़कों की गन्दगी से लोग कल मरते हों तो भले ही आज मरें, हम अपना बायकाट कराके क्यों अपनी रोजी खोएँ ?"

फलतः जब म्युनिसिपल अधिकारियों ने डाक्टरों से सलाह ली तो उन्होंने भी मूर्ख लोगों का पक्ष लिया कि सड़कों की सफाई आवश्यक नहीं है, इससे बीमारियाँ बढ़ेंगी। डाक्टरों के तो दोनों हाथों में लड्डू हो गये। एक तो जनता के पक्ष में राय देने से जनता खुश हो गई, दूसरे गन्दगी से बीमारी बढ़ेंगी, बीमार बढ़ेंगे तो उनकी पाँचों अंगुलियाँ घी में होंगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस घटना को सुनकर आप उन महामूर्खों पर हँसेंगे, और उन डाक्टरों को भी नीच, स्वार्थी और मूर्खों के सरदार कहेंगे। पर यह सच्ची घटना है। गन्दगी से रोग बढ़ने लगे, तब म्युनिसपैलिटी के युवक मेम्बरों ने कुछ समझदार लोगों को समझा-बुझाकर तैयार किया। सफाई में जुट गये। गन्दगी के ढेर साफ करने के बाद जब बीमारियाँ घटने लगीं, तब जनता—जो अब तक मूर्खता की शिकार थी, प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर सफाई के लिए सहमत हो गई। कुछ बूढ़े मूढ़ अब भी चिल्ला रहे थे—"सफाई तो कर रहे हो, पर देवता कुपित हो गए तो नगर का सर्वनाश हो जाएगा।" आज तो यूरोप में उस कुरूढ़ि का मूल से उच्छेद हो गया।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि मूर्ख के द्वारा क्रोध, विरोध, द्वेष और दुर्वचन होने का एक कारण है—अन्धविश्वास की पुरानी पर्तें उखाड़ना। जब मूर्ख यह देखता है कि पुरानी रूढ़ि या रीति को उखाड़ा जा रहा है, तब उसके दिल-दिमाग पर चोट पड़ती है, वह सोचता है, मानो सर्वस्व छीना जा रहा है। यही तो नासमझी है, अदूरदर्शिता है, मूढ़ता है, जिसे मूर्ख अपनाता है।

मूर्ख को जरा-सी हितकर बात कह दो, वह यह समझने लगता है कि मेरा अपमान किया जा रहा है, मेरे (मिथ्या) अभिमान पर चोट लगाई जा रही है, इसलिए वह एकदम चिढ़ जाता है और प्रतिकार करने लगता है। प्रतिकार के समय वह अन्धा हो जाता है और उस उपदेश को नहीं सुनता।

अभिमान में भरी एक लारी ने बैलगाड़ी से कहा—पों पों ऐ! हटो आगे से कच्चे में चलो। यह तारकोल की काली सड़क तुम्हारे लिए नहीं है।" बैलगाड़ी ने नम्रता से कहा—"बहन! रास्ता बहुत चौड़ा पड़ा है, तुम ही बचकर एक तरफ से निकल जाओ न!" इस पर लारी का क्रोध भड़क उठा। उसने तमककर कहा—"जवाब देती है, बदतमीज! हट आगे से मुर्दे बैल वाली।" बैलगाड़ी ने व्यंग की मुद्रा में कहा—"हाँ, बड़ी रूपसी हो तुम तो! पर बहन क्या किया जाए, तुम तो जड़ लोहा ही हो, और मेरे मुर्दा बैलों में भी धड़कता जीवन है।" लारी के अभिमान को गहरी ठेस लगी, क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति वह फुंकार उठी—"पों, पों, हटो, नहीं तो टक्कर मारती हूँ।"

बैलगाड़ी ने तब भी प्यार से कहा—"लो बहन! तुम दुःखी न हो, मैं ही कच्ची सड़क पर चल देती हूँ। तुम खुशी से ही पक्की सड़क पर चलो। पर बड़ी बहन के नाते तुम मेरी एक बात तो मान लो कि तुम परदेशी हो और आजकल मेरे देश की मेहमान हो। मेहमान के लिए यह उचित नहीं कि वह मेजबान के घर पर कब्जा कर ले और उसे डाँटे।" निर्लज्जता से लारी ने कहा—"तुम्हारी जाति ही मूर्ख है जो इसे अनुचित समझो। हमारी जाति में तो यह नीतिपूर्ण वीरता ही समझी जाती है।" बैलगाड़ी पर धूल उड़ाती लारी सरसराती हुई आगे चली गई। इसी समय बैलगाड़ी की घण्टी टनटना उठी। यह शायद उसके हृदय का निःश्वास था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह एक रूपक है जो मूर्खों पर घटित होता है। मूर्ख अपने आपको अच्छा, उत्कृष्ट और दूसरे को खराब और निकृष्ट समझता है। उसकी यह समझ ही अपने मुँह मियाँ मिट्ठू-पन प्रगट करती है, अपने मुँह से अपनी प्रशंसा मूर्ख ही कर सकता है, अक्लमन्द नहीं।

इस प्रकार अहंकार पर चोट लगने से मूर्ख एकदम रोष से भर जाता है, और सामने वाले पर उचित-अनुचित छींटाकशी कर ही देता है। वह अपने जिद्दी स्वभाव के कारण अपनी मूर्खता को दोहराता जाता है, सुधारता नहीं। एक पश्चिमी विचारक ने मूर्खों के सम्बन्ध में उचित ही कहा है—

"Any man may make a mistake, but none but a fool will continue in it."

"गलती कोई भी मनुष्य कर सकता है, किन्तु मूर्ख के सिवाय कोई उस गलती को लगातार करता नहीं रहेगा।"

एक अधिकारी ने अपने नौकर को हिदायत दी कि किसी की चीज नहीं उठानी चाहिए। एक दिन अधिकारी घोड़े पर सवार होकर कहीं जा रहा था, उसका वह मूर्ख नौकर भी पीछे-पीछे पैदल चल रहा था। रास्ते में अचानक अधिकारी का रूमाल गिर गया। कुछ आगे चलने पर घोड़े ने लीद कर दी। थोड़ी देर बाद अधिकारी को पता चला कि उसका रूमाल कहीं गिर गया है। उसने नौकर से पूछा तो उसने कहा—"साहब ! मैंने एक जगह आपका रूमाल गिरते देखा था। परन्तु आपका आदेश था, 'किसी की चीज उठानी नहीं चाहिए', इसलिए मैंने नहीं उठाया।" अधिकारी डाँटते हुए बोला—"मूर्ख ! अपनी चीज को उठाने में कोई हर्ज नहीं। जाओ, अपना रूमाल उठा लाओ।" नौकर गया, रूमाल रास्ते में पड़ा था, नौकर ने उसे उठाया और उसमें घोड़े की लीद भी बाँध ली। जब उसने घोड़े की लीद सहित रूमाल अधिकारी को पकड़ाया तो उसने झुँझलाकर पूछा—"अबे बेवकूफ ! इसमें यह क्या बाँधा है ?

मूर्ख नौकर ने कहा—"साहब ! यह तो घोड़े की लीद है। वह तो अपनी ही चीज है, इसलिए मैं इसे उठा लाया।" अधिकारी उसकी मूर्खता पर हँसा और नाराज होते हुए कहा—"चला जा, बेवकूफ ! मुझे तुम्हारे जैसा मूर्ख नौकर नहीं चाहिए, जो आदेश को भी ठीक से समझ नहीं सकता।"

वास्तव में मूर्ख पहले तो बात को पूरी तरह सुनता-समझता नहीं, दूसरे वह उतावली में आकर अपने मन में समझ लेता है कि मैं सब से समझदार हूँ। मगर मूर्खता को बार-बार दोहराने पर वह स्वयं अनेक संकटों से घिर जाता है।

इसीलिए एक भारतीय नीतिकार ने मूर्ख के पाँच चिह्न बताए हैं—

मूर्खस्य पंच चिह्नानि, गर्वो दुर्वचनी तथा।
हठी चाप्रियवादी च, परोक्तं नैव मन्यते॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"मूर्ख के पाँच चिह्न हैं—(१) अभिमानी, (२) दुर्वचन बोलने वाला, (३) हठी, (४) कटुभाषी और (५) दूसरों का कहना न मानने वाला।"

मूर्ख अभिमानी और हठी होता है, इसी कारण वह दूसरों का कहना नहीं मानता, न पूरा सुनता-समझता है। वह अपनी धुन में उल्टे-सीधे काम करता रहता है। साथ ही कोई उसे अच्छी बात कहता है तो झल्ला उठता है और उसे ही दुर्वचन कहने लगता है, कड़वी और चुभती, बिना प्रसंग की बात कह देता है।

एक गाँव में एक बार चार मूर्ख आये और धर्मशाला में ठहर गये। रात को उन्हें दिया जलाने के लिए तेल की जरूरत पड़ी तो उनमें से एक मूर्ख एक रुपया लेकर तेली के यहाँ पहुँचा। वहाँ वह तेली की ओर घूरकर देखने लगा तो तेली ने पूछा– "क्या देखता है ?" उसने कहा—"मैं यह देखकर चिन्तित हूँ कि मरने पर आपके इतने मोटे शरीर की अर्थी उठाने वालों के कन्धे कितने छिल जाएँगे।" तेली ने उसे फटकार दिया—"भाग जा मूर्ख ! यहाँ से।" उसने धर्मशाला पहुँचकर दूसरे मूर्ख को रुपया देकर तेली के यहाँ से तेल ले आने को कहा। वह भी उसी का भाई था। तेली को देखकर बोला—"एक बैल पड़ौसी से माँग लेना, ताकि मरने पर आपकी लाश को आसानी से बैलगाड़ी में डालकर श्मशान में ले जाया जा सके, अन्यथा कन्धे छिल जाएँगे अर्थी उठाने वालों के।" तेली ने नाराज होकर उसे पीट कर भगा दिया।

अब तीसरा मूर्ख तेल लेने आया तो उसने भी गम्भीर होकर तेली से कहा—"मरने पर आपके शव को श्मशान में ले जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी, इसी कोल्हू में रखकर जलाया जा सकेगा। ऐसा करने से न किसी के कन्धे छिलेंगे और न ही बैल माँगकर लाना पड़ेगा।" तेली ने तीसरे की भी खूब मरम्मत करके उसे भगा दिया। कहा—"मूर्ख ! यहाँ तेल लेने आया है या किसी की मौत बुलाने ? जा, तुझे तेल नहीं मिलेगा।" वह मुँह लटकाए धर्मशाला लौटा और सारी आपबीती कह सुनाई। अब चौथे मूर्ख की बारी थी, तेल लाने की। वह पहुँचा रुपया लेकर तेली के पास और तेल माँगा।

तेली ने कहा—"तेल किसमें लोगे ?" वह बर्तन लाना तो भूल ही गया था। अतः सामने ही भैरोंजी के मन्दिर से धूपदानी उठा लाया, जो दोनों ओर कटोरीनुमा होती है। तेली ने उसमें तेल भर दिया, किन्तु बचा हुआ तेल भरने को दूसरा बर्तन माँगा तो उस मूर्ख ने धूपदानी ही उलटकर उसके सामने धर दी। पहले वाला तेल तो सारा का सारा गिर ही गया था। बचा हुआ तेल धूपदानी के दूसरी ओर भरवा कर धर्मशाला लौटा। उसके साथियों ने पूछा—"बाकी के तेल का क्या हुआ ? कहाँ रख आए ?" तब उस मूर्ख ने तपाक से धूपदानी को उलटकर बता दिया कि बाकी का तेल इस प्रकार गिर गया। चारों मूर्ख अपनी मूर्खता के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण तेल के अभाव में पछताते रहे। अपनी बिनमाँगी सलाह देने के कारण दुःखी हो गये।

वस्तुतः मूर्ख अपनी खराब आदतों के कारण बार-बार दुःखी होता रहता है। एक विचारक ने मूर्ख की १२ खराब आदतें बताई हैं, जिनके कारण वह बहुत-सी आफतें मोल ले लेता है। १२ दोषपूर्ण आदतें ये हैं—

(१) भगवान को भूल जाना।

(२) समय का मूल्य न समझना।

(३) अपने को बड़ा और बुद्धिमान मान बैठना।

(४) आपस में बातें करते हुए लोगों के बीच में जा बैठना।

(५) बड़े आदमियों की मजाक उड़ाना।

(६) अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च करना।

(७) सभा में ऊँची जगह बैठने की कोशिश करना।

(८) बहुत बोलना और ऐसा बोलना जो दूसरों को अखरे।

(९) दूसरों से मीठे बोलकर उधार ले लेना, लेकिन उसे चुकाने की चिन्ता न करना।

(१०) किसी के भोज में बिना न्यौते के ही जा पहुँचना।

(११) किसी के यहाँ अतिथि बनकर उस घर के मालिक पर हुकुम चलाना।

(१२) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग देखने की चेष्टा करना।

अगर मूर्ख इन बारह दोषयुक्त आदतों को छोड़ दे तो अनायास ही बहुत-सी आफतों से बच सकता है। परन्तु मूर्ख को कितना ही समझाया जाय, वह अपनी आदत से बाज नहीं आता।

इन सबसे भी भयंकर मूर्ख—वक्र मूर्ख वे हैं, जो व्यर्थ ही जरा-जरा सी बात पर कुपित हो जाते हैं। जब देखो तब भौंहें तनी हुई और आँखें लाल रहती हैं, या जरा-सी प्रतिकूल बात पर वैसी हो जाती हैं। कोप ही ऐसे मूर्खों का शस्त्र है, जिससे वे दूसरों पर अपना रौब जमाना और दबाव डालना जानते हैं।

मूर्ख मनुष्यों के कुपित होने के कारण

मूर्ख मनुष्यों के कुपित होने के कई कारण हैं, एक कारण है—**वाद-विवाद**।

कई दफा मूर्ख लोग अपने मूल कार्य को छोड़कर व्यर्थ के वाद-विवाद में पड़ जाते हैं, जिससे समय बेकार चला जाता है, जो काम करना है, वह होता नहीं और व्यर्थ की तकरार बढ़ जाती है। वह तकरार कभी-कभी इतना उग्र रूप धारण कर लेती है कि उसमें से परस्पर गाली-गलौज, अपशब्द और हाथापाई तक नौबत आ जाती है, काम तो काम के ठिकाने धरा रह जाता है और यह नया बबंडर और पैदा हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। काम करने वाला मालिक काम कराने के बदले व्यर्थ का तूफान मचाकर समय बर्बाद करने वाले मूर्खों को अपमानित करके नौकरी से हटा देता है।

एक राजा का बड़ा महल बनवाया जा रहा था। उसके निर्माण-कार्य में हजारों मजदूर लगाये गये थे। राजा अपनी राजधानी में रहता था। महल पास के दूसरे गाँव में बनाया जा रहा था। इसलिए इन हजारों श्रमिकों में से किसी ने राजा को प्रत्यक्ष नहीं देखा था। इतने विशाल और अद्भुत कला-कौशलपूर्ण बनवाये जाते हुए राजमहल को देखकर कई मजदूर परस्पर बातें करने लगे—"जिसका इतना विशाल राजमहल है, वह राजा कितना बड़ा होगा? वह कैसे-कैसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनता होगा?"

इस पर दूसरे मजदूर ने कहा—"नहीं जी! वह तो बिलकुल सीधा-सादा है, बहुमूल्य गहने-कपड़े नहीं पहनता।"

इसी बीच एक मियाँ भाई बोल उठा—"उसकी दाढ़ी बड़ी मजे की होगी।"

इसका प्रतिवाद करते हुए एक हिन्दू मजदूर बोला—"अजी! वह दाढ़ी रखता ही नहीं। उसके सिर पर तो चोटी है।"

एक मजदूर बोला—"वह बहुत स्वादिष्ट भोजन करता होगा।"

दूसरे ने कहा—"वह तो प्रायः उपवास ही करता होगा।"

एक मजदूर ने कहा—"उसकी नजर सब ओर पड़ती है।"

दूसरे ने कहा—"वह कहीं नजर डालने को निकम्मा नहीं बैठा है। वह तो अपने महल में आनन्द से बैठा रहता है, किसी को दर्शन भी नहीं देता।"

किसी मजदूर ने कहा—"वह तो चातुर्य का भण्डार है।"

दूसरे ने उसकी बात को काटते हुए कहा—"अरे! वह चातुर्य का भण्डार होता तो हम उसकी रैयत होते हुए भूखे क्यों मरते, दुःखी क्यों रहते?"

एक ने कहा—"मेरा खयाल है, वह पीले कपड़े पहनता है।"

दूसरा तमककर बोला—"बिलकुल झूठ! वह तो सफेद वस्त्र पहनता है।"

फिर एक बोला—"उसकी मूँछें बहुत बड़ी-बड़ी हैं।"

दूसरा बोला—"तुझे कुछ पता ही नहीं है, यों ही हाँके जाता है। वह मूँछें ही कहाँ रखता है?"

इतने में एक बोला—"वह अपनी प्रजा पर बहुत प्रेम करता है।"

दूसरे ने कहा—"उसमें तो प्रेम का नाम ही नहीं है। प्रेम होता तो इतना कठोर दण्ड क्यों देता?"

एक मजदूर ने कहा—"तब तो वह रंग का काला होगा।"

दूसरा बोला—"नहीं जी, वह तो गोरा और सुन्दर है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक बोला—"वह तो बूढा है।"

दूसरे ने कहा—"नहीं जी, वह जवान है।"

तीसरा बोला—"वह तो बालक-सा है।"

चौथे ने कहा—"अरे यारो ! क्यों फिजूल की बकवास कर रहे हो ? कुछ लेना, न देना, व्यर्थ की इल्लत मोल ले रहे हो।"

इस पर सब उसे झिड़कते हुए कहने लगे—"वाह ! यह भी कोई बात है ? हम अपनी सच्ची बात भी प्रकट न करें ? हमने राजा को जिस रूप में समझा है, वह भी न कहें ?"

इस प्रकार व्यर्थ का वाद-विवाद करते-करते वे आपस में लड़ने-झगड़ने और गाली-गलौज करने लगे। समय काफी बेकार चला गया, शाम होने को आई, पर इस विवाद में उलझकर उन्होंने काम कुछ भी न किया। सन्ध्या समय राजा के सिपाही आए। विवाद करने वाले उन तमाम मजदूरों को पकड़कर अधिकारी के सामने ले गये और कहने लगे—"साहब ! महाराजा का बड़ा महल बनवाने के काम में इन मजदूरों को रखा गया था, पर इन्होंने आज रत्तीभर भी काम न किया, आपस में वादविवाद और लड़ाई-झगड़े में सारा समय खो दिया। अतः इन्हें सजा देनी चाहिये।"

अधिकारी ने उन सब मजदूरों से पूछा—"बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो ? तुम लोगों ने आज काम क्यों नहीं किया ?"

इस पर उन मजदूरों ने आपबीती सारी बात कह सुनाई। अन्त में कहा—"हम तो महाराजा की ही बात कर रहे थे, और कोई खराब बात तो नहीं कर रहे थे ? उन बातों में रह जाने से काम नहीं हो सका।"

यह सुनकर अधिकारी ने कहा—"यह बहानेबाजी नहीं चलेगी। तुम्हें काम के लिए रखा था या बातें बनाने को ? बातें बनानी थीं, तो घर ही रहते, यहाँ किस लिये आये थे ? महाराजा दयालु हैं या कठोर, काले हैं या गोरे, मूंछें रखते हैं या नहीं, जवान हैं या बूढ़े, दाढ़ी रखते हैं या चोटी ? इन सब बातों के बिना तुम्हारा कौन-सा काम अटका पड़ा था ? इन सब बातों को जाने बिना तुम्हारा क्या बनता-बिगड़ता था ? तुम्हारा कर्तव्य था, राजमहल का निर्माण-कार्य करना, उसमें तुम लगे नहीं और व्यर्थ की बहस में लग गये। इसलिए तुम सब नालायक हो। तुम्हें आज का वेतन नहीं मिलेगा। मुंशीजी ! जेलर से कहो कि जिन-जिनने काम नहीं किया, आपस में लड़े-झगड़े उनका पिछला वेतन जब्त कर लो, और कैद में डालकर उनसे सख्त मेहनत कराओ।"

भाइयो ! यह है मूर्खों की असली पहचान; जो असली काम से हाथ नहीं लगाते और व्यर्थ की बकवास, बहस और तकरार करते रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षणे रुष्टा : क्षणे तुष्टा

कई बार ऐसे मूर्ख क्षणभर में तुष्ट और दूसरे क्षण रुष्ट हो जाते हैं। उनकी प्रसन्नता भी भयंकर होती है और रोष भी। उनके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता, फिजूल तू-तू-मैं-मैं करके अपना सिर खपाते रहते हैं। ऐसे मूर्खों के लिए गुजराती में एक कहावत है—

'भैंस भागोले, छास छागोले ने घेर धमाधम।'

एक किसान ने अपने खेत पर दो मजदूर लगा रखे थे, दोनों आपस में मामा-भानजे थे। खेत में फसल लहलहा रही थी, दोनों मजदूर अपने श्रम का सुन्दर फल जानकर प्रसन्न हो रहे थे कि अचानक पासा पलटा। मामा ने कल्पना के घोड़े दौड़ाते हुए कहा—इस खेत में दो टन गेहूँ निकलेंगे। भानजा कहने लगा—दो टन ही क्यों, तीन टन निकलेंगे। आपका अंदाज गलत है। इसी बात पर दोनों में मतभेद खड़ा हो गया और तू-तू-मैं-मैं होने लगी। अन्त में विवाद इतना उग्र हो गया कि दोनों हाथा-पाई पर उतर आये।

एक समझदार पड़ौसी किसान वहाँ आया, उसने डाँटकर कहा—'अरे मूर्खो! गेहूँ जितने भी होंगे, मालिक के होंगे, तुम्हें तो केवल मजदूरी ही मिलेगी, फिर क्यों आपस में सिर-फुटौव्वल मचा रहे हो?' दोनों बहुत शर्मिन्दा हो गये और चुप होकर पश्चात्ताप करने लगे। इसी प्रकार मूर्खों का जीवन क्षणे रुष्ट और क्षणे तुष्ट के झूले में झूलता रहता है।

कलहप्रिय एवं छिद्रान्वेषक—मूर्ख

मूर्खों के कुपित होने का तीसरा कारण है—**कलह और छिद्रान्वेषण**। मूर्खों की आदत होती है, बात-बात में तकरार और कलह करने की। जिस समय वे तकरार करते हैं, उस समय भान भूल जाते हैं, परिणाम का विचार नहीं करते और दूसरों के द्वारा उत्तेजित किये हुए साँड़ों की तरह वे परस्पर लड़ने लगते हैं। इसमें गुस्से का तो उफान चलता ही है। गुस्से में आकर एक-दूसरे की शिकायत करने लगते हैं, छिद्र भी प्रगट करने लगते हैं। हालाँकि परस्पर एक दूसरे का छिद्र प्रगट करने में उन दोनों की भारी हानि होती है। पर मूर्ख इस बात को क्यों सोचने लगा?

सास-बहू में प्रायः प्रतिदिन जमकर लड़ाई होती थी। दोनों आक्रोशपूर्वक एक-दूसरे को कटुवचन, व्यंग एवं तानाकशी करती थीं। बहू इसी फिराक में थी कि सास का कोई ऐसा छिद्र मिल जाये तो उसे इतना दबा दूँ कि फिर बोल न सके। एक दिन उसे सास के जीवन की एक दुर्बलता का पता लग गया, बस फिर क्या था, तकरार होते ही बहू ने क्रोधावेश में आकर वचन का तीर छोड़ दिया—"मैं जानती हूँ, तुम कैसी पतिव्रता हो। अब तुम बढ़-चढ़कर बातें कर रही हो। ससुरजी को कुएँ में धकेला था, उस दिन पतिव्रतापन कहाँ चला गया था?" बस, सास की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बोलती बन्द हो गई। उसने इस दुःख से आत्महत्या कर ली, उसके पीछे उसके ससुर, पति और स्वयं को भी आत्महत्या करनी पड़ी। कितना भयंकर रूप है मूर्ख के कोप और तज्जनित मर्मोद्घाटन का ?

छिद्रान्वेषक और मर्मोद्घाटक मूर्ख कोपावेश में आकर भयंकर अनर्थ कर बैठता है। एक भारतीय मनीषी ने ठीक ही कहा है—

"आत्मच्छिद्रं न पश्यति, परच्छिद्रं पश्यति बालिशः।"

"मूर्ख अपना छिद्र (दोष) नहीं देखता, वह दूसरों के छिद्र देखने की ताक में रहता है।"

संस्कृत साहित्य में एक नीति कथा आती है—एक जगह दो सर्पों में लड़ाई हो गई। लड़ाई इतनी भयंकर हुई कि दोनों सर्प अपना आपा खो बैठे। दोनों एक दूसरे को नष्ट करने तथा उनकी बाँबियों को समाप्त करने पर तुल गये। एक सर्प ने गुस्से में आकर कहा—"तू क्या बढ़-बढ़कर बात करता है, अगर तेरी बाँबी में गर्मा-गर्म तेल डाला जाए तो तेरा सारा आश्रय-स्थान ही खत्म हो जाए।" दूसरे सर्प ने भी क्रुद्ध होकर उसका छिद्र प्रगट करते हुए कहा—"हाँ, हाँ, मैं भी जानता हूँ, तेरे विनाश का उपाय। अगर तेरी बाँबी में जलती हुई लकड़ी डाली जाए, तो तेरा पता भी न लगे।" इन दोनों मूर्ख सर्पों की बातें कोई सुन रहा था। उसने एक की बाँबी में गर्मागर्म तेल डाला, जबकि दूसरे सर्प की बाँबी में जलती हुई लकड़ी डाली। इससे दोनों छिद्रोद्घाटक मूर्ख सर्पों का सर्वनाश हो गया।

यह है—मूर्खता का भयंकर नमूना। इसी प्रकार के कई मूर्ख होते हैं जो एक-दूसरे का छिद्र—रहस्य खोलकर अपने विनाश को न्यौता दे देते हैं।

अपना दोष दूसरों के सिर मढ़ना—मूर्ख का लक्षण

मूर्खों के कुपित होने का चौथा कारण है—**अपनी हानि होने पर दूसरों (निमित्तों) पर दोषारोपण**। प्रायः देखा जाता है कि जब अपनी कोई हानि या क्षति अपनी ही गलती से हो जाती है तो मूर्ख लोग दूसरों पर उसका सारा दोष डाल देते हैं। वे अकसर कहने लगते हैं—अमुक ने ऐसा किया, इसलिए मेरा इतना नुकसान हो गया। अमुक ऐसा नहीं करता तो मेरा इतना नुकसान क्यों होता। इस प्रकार उस निमित्त को दोषी और अपराधी मानकर मूर्ख व्यक्ति उस पर रोष करता है, उसे डाँटता-फटकारता है, उसे गुस्से में आकर भला-बुरा कहता है, मारता-पीटता भी है।

इस प्रकार निमित्तों को कोसकर मूर्ख उन पर अपना गुस्सा उतारता है, परन्तु वह यह नहीं देखता कि इस कार्य के बिगड़ने या इसमें हानि या क्षति होने में मेरा कितना दोष या अपराध है ? मेरी कितनी व्यावहारिक भूल हुई है ? या मैं किस हद तक इसमें उत्तरदायी हूँ ? मेरा उपादान शुद्ध होता या मेरे कर्म शुभ होते तो यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षति या हानि होती ही क्यों ? इसमें मूल दोष तो मेरे कर्मों का या उपादान का है, निमित्त तो कोई भी बन सकता है, यह नहीं तो अन्य कोई निमित्त बनता। मेरी पात्रता जितनी थी, उतना मुझे मिल गया, इसमें दूसरों को दोष देने से क्या लाभ ?

एक रूपक द्वारा इसे स्पष्ट कर दूं—पहाड़ी झरना अपनी मस्ती में बहा जा रहा था, न जाने किधर और क्यों ? गाँव की एक किशोरी आई और उसने अपना कटोरा पानी से भर लिया। तभी घड़ा लिए आई एक दुल्हन। उसने अपना घड़ा भर लिया और सामने दूसरे तट पर खड़ी हो गई। किशोरी ने जब अपने कटोरे की ओर देखा तो घृणा से देख झरने की ओर घूर कर कहा—"तुम बड़े बेइन्साफ हो जी !"

झरने ने पूछा—"क्यों क्या बात है ?"

किशोरी ने रोष में आकर कहा—"देखते नहीं, उस दुल्हन को तो तुमने इतना पानी दे दिया कि वह बोझ से दबी चले, और मुझे दिया चार चुल्लू पानी।"

किशोरी ने झरने का उत्तर सुने बिना ही एकदम गुस्से से उबलकर अपने कटोरे का पानी धरती पर फैंक दिया। झरना कुछ कहने को ही था कि एक भिश्ती वहाँ आकर खड़ा हो गया। उसने अपनी भारी मशक पानी से भर ली।

झरने के अट्टहास से दिग्मंडल गूंज उठा। किशोरी अपना खाली कटोरा लिये खड़ी थी। वह कभी झरने पर, कभी दुल्हन पर और कभी भिश्ती पर गुस्से में आकर तानाकशी कर रही थी कि झरने ने मुझे पानी कम क्यों दिया ? इस दुल्हन और भिश्ती ने पानी इतना अधिक क्यों ले लिया ?

यह रूपक ठीक उस मूर्ख पर घटित होता है, जो अपना पात्र नहीं देखता कि वह कितनी योग्यता या क्षमता वाला है ? और दूसरे अधिक योग्य व्यक्तियों को जीवन घट में सुख रूपी जल लेते देखकर उनसे ईर्ष्या करता है, कभी भगवान को और कभी अपने अन्य अधिकारी या साथियों को कोसता है। कभी-कभी रोष में आकर जीवन घट में रहे-सहे सुखरूपी जल को भी फैंक देता है और कुढ़ता रहता है। इसीलिए विदुरनीति में ऐसे व्यक्ति को मूढ़तम कहा है—

परं क्षिपति दोषेण, वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः, स च मूढतमो नरः॥

"जो व्यक्ति स्वयं दोषयुक्त हुआ भी दूसरों पर दोष मढ़ देता है; स्वयं अयोग्य या असमर्थ होता हुआ भी दूसरे पर रोष करता है, वह मनुष्य सबसे बड़ा मूर्ख है।"

धम्मपद में अपनी योग्यता-अयोग्यता न जानने वाले को मूर्ख कहा है—

जो बालो मञ्ञति बाल्यं, पंडितो चापि तेन सो।
बालो य पण्डितमानी, स वे बालोति वुच्चति॥

"जो मूर्ख अपनी मूर्खता को जानता-समझता है, उतने अंश में वह पंडित है, असली मूर्ख तो वह है, जो मूर्ख होते हुए भी अपने आपको पण्डित समझता है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कई मूर्ख लोग किसी समाज, संस्था या व्यक्ति पर अवसर न देने की शिकायत करते हैं, या परिवार के नेता या माता-पिता की शिकायत करते हैं कि उन्होंने हमें योग्य नहीं बनाया, पढ़ाया-लिखाया नहीं, परन्तु संसार के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं; जिनमें अत्यन्त गरीब, असहाय एवं अनाथ अथवा अपाहिज व्यक्तियों ने किसी की सहायता या अवसर न मिलने की शिकायत नहीं की, वे स्वयं आत्म-विश्वास के बल पर आगे बढ़े। परन्तु मूर्ख लोग बात-बात में दूसरों की शिकायत करते रहते हैं, उन पर गुस्सा करते रहते हैं। अपनी योग्यता और पात्रता नहीं देखते।

व्यर्थ का झगड़ा : मूर्खता की निशानी

मूर्खों के कुपित होने का पाँचवाँ कारण है—व्यर्थ की रार, रास्ते चलते छेड़खानी। 'आ बैल सींग मार' की कहावत के अनुसार मूर्ख बिना किसी कारण के किसी से झगड़ पड़ता है और गुस्से में आग-बबूला हो जाता है। बचपन में एक कहानी पढ़ी थी—

एक बकरी का बच्चा (मेमना) नदी के संकड़े लट्ठे पर से पार हो रहा था, उधर सामने से एक भेड़िया आ रहा था। भेड़िये ने मेमने से लड़ाई छेड़ दी—"अबे! मेरे रास्ते में क्यों आया? किसने कहा था कि तू मेरे मार्ग में आये? तेरी माँ ने मेरे साथ टक्कर ली थी, तो अब मैं तेरे से टक्कर लेता हूँ।" यों कहकर मेमने के टक्कर मारी और गुस्से में आकर चल दिया।

इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि कई मूर्ख ऐसे होते हैं जो 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान' की तरह जानबूझकर दूसरों से टक्कर लेते हैं, झगड़ पड़ते हैं, कोई कारण न होते हुए भी गुस्से में आकर लड़ाई ठान बैठते हैं।

पूर्वाग्रह : मूर्खता का छठा चिह्न

मूर्खों के कुपित होने का छठा कारण है—**साम्प्रदायिक, जातीय, प्रान्तीय आदि किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह।**

पूर्वाग्रह एक ऐसा रोग है कि वह जिस व्यक्ति के साथ लग जाता है, वह अकारण ही द्वेष, वैर-विरोध, कलह और घृणा करने लगता है। अन्य सम्प्रदाय वाले व्यक्तियों को देखते ही अकारण ही रोष से उबल पड़ता है। ऐसा मूर्ख भी कम खतरनाक नहीं होता।

जब किसी व्यक्ति या बात के प्रति पूर्वाग्रह हो जाता है, तब व्यक्ति दूसरे की कही हुई हित की बात पर भी ध्यान नहीं देता; बल्कि जिस व्यक्ति के प्रति पूर्वाग्रह हो जाता है, उस व्यक्ति को उखाड़ फैंकने का प्रयत्न करता है। वह मन ही मन उसके प्रति कुढ़ता रहता है। क्रोधानल के आन्तरिक दाह से वह मूर्ख क्लेश पाता रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भारत-विभाजन के समय पंजाब में साम्प्रदायिक उन्माद छाया हुआ था। सदियों से पड़ौस-पड़ौस में रहने वाले हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहवश एक-दूसरे के खून के प्यासे बने हुए थे। एक-दूसरे को देखकर आँखों में खून उतर आता था। न मनुष्य के प्राणों का मूल्य था और न बहनों की इज्जत का। निरीह बच्चों को मारकर, बहनों की इज्जत लूटकर सृष्टि की सर्वोत्तम देन को नष्ट करने पर तुले हुए थे।

वास्तव में, इन मूर्खों में साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का नशा चढ़ा हुआ था, जो क्रोध, द्वेष और वैर-विरोध का खेल करवा रहा था। इसी प्रकार के जातीय और प्रान्तीय पूर्वाग्रह द्विभाषी बम्बई राज्य के समय बम्बई आदि में गुजराती-महाराष्ट्रियों में देखा जा रहा था। 'मुम्बई अमची' कहकर पूर्वाग्रह के भूत से ग्रस्त मूर्ख विरोध करने वालों की खोपड़ी फोड़ डालते थे। आज भी देश में धर्म, संप्रदाय, जाति-बिरादरी के नाम पर हृदय दहलाने वाले नृशंस काण्ड होते सुने जाते हैं। यह सब मनुष्य की महामूर्खता के लक्षण हैं।

इस सम्बन्ध में विदुरनीति में बताया है—

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं, तमाहुर्मूढचेतसम्॥

"जो शत्रु को मित्र बना लेता है और जो उसके अपने हितैषी मित्र हैं, उनके साथ द्वेष रखता है, उन्हें मार डालता है, तथा भयंकर दुष्कर्म करता है, उसे मूढचेता कहते हैं।"

जरा-सी बात पर भड़क जाना—मूर्खता का सातवाँ चिह्न

इसके पश्चात मूर्ख के कुपित होने का सातवाँ कारण है—**किसी के द्वारा जरा सा छेड़ना**। छेड़ना तो दूर रहा, मूर्ख को अगर कोई जरा-सी भी उसकी भूल बता देता है तो वह उबल पड़ता है। कभी-कभी क्रोधावेश में आकर वह दूसरे की हत्या भी कर बैठता है।

आज से लगभग २६ साल पहले की दिल्ली की एक घटना है—एक जौहरी का लड़का नन्दकिशोर और राधेश्याम एक ही मुहल्ले में रहते थे। नन्दकिशोर मैट्रिक में फेल हो गया। दुर्भाग्य से परीक्षाफल निकलने के दूसरे दिन दोनों एक जगह मिल गये। राधेश्याम ने नन्दकिशोर से सहजभाव से कहा—"सुना है, तू फेल हो गया। जरा ढंग से पढ़ाकर भाई!" यह बात मूर्ख नन्दकिशोर को चुभ गई। उसने उसे गाली निकालकर कहा—"तू कौन होता है, कहने वाला?" इस पर मूर्ख राधेश्याम ने भी चाकू निकाला और नन्दकिशोर पर तीन वार किये। वह घायल होकर गिर पड़ा। उसे तुरन्त अस्पताल पहुँचाया गया, जहाँ उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई।

यह घटना बताती है कि मूर्ख—जिसमें पठित मूर्ख तो जरा-सा छेड़ते ही तुरन्त कुपित होकर अनर्थ कर बैठता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य विचारक जिम्मरमेन (Zimmerman) कहता है—

Fools with bookish knowledge, are children with edged weapons, they hurt themselves and put others in pain.

"केवल किताबी ज्ञान वाले मूर्ख तो तेज धार वाले हथियार लिये हुए बच्चे हैं, जो स्वयं को तो नुकसान पहुँचाते ही हैं, दूसरों को भी मुसीबत में डाल देते हैं।"

इसीलिए एक अनुभवी कहता है—

शतं दद्यान्न विवदेति विज्ञस्य सम्मतम्।
बिना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्॥

"विज्ञ मनुष्य की यह सम्मति है कि सौ रुपये देने पर भी मूर्ख के साथ विवाद या छेड़छाड़ नहीं करना चाहिए, क्योंकि मूर्ख की आदत है, वह बिना ही कारण लड़ाई ठान लेता है।"

यद्यपि क्रोधावेश में आकर किसी नम्र सज्जन से लड़ पड़ने में मूर्ख की हानि अधिक है, पर वह अपने हानि-लाभ पर विचार करे तब न?

एक रूपक याद आ रहा है—

एक बार आग और पानी में विवाद खड़ा हो गया। आग ने पानी से कहा—"मूर्ख पानी! चल, मेरे पास से दूर हट जा। जानता नहीं, मेरी ज्वाला के समक्ष संसार में कोई नहीं टिक सकता। मैं अपनी शक्ति से सारे संसार को जलाकर खाक कर सकती हूँ।"

पानी मुस्कराया। उसने हँसकर उत्तर दिया—"बहन! सच ही तो कहती हो, तुम्हारी शक्ति की कोई समता नहीं कर सकता; पर बुरा न मानो तो एक बार मेरी शीतलता का स्पर्श तो कर देखो!"

आग झपटी कि जल को जला डालूं, पर हुआ यह कि वह स्वयं ही बुझ गई।

हाँ तो, मूर्ख मानव की क्रोध की आग सज्जन मनुष्य की शीतलता का स्पर्श करते ही स्वयं बुझ जायगी, वह अपने ही अस्तित्व को खो बैठेगी।

पर मूर्ख मनुष्य मानते कब हैं? वे क्रोध की आग लेकर हर एक पर झपटते हैं; फिर भले ही उन्हें मुंह की खानी पड़ जाए।

एक बेवकूफ यात्री अभिमान में अकड़ कर अंधाधुन्ध जा रहा था। रास्ते में बाड़ का ध्यान न रखने से उसके पैर में बाड़ का एक काँटा चुभ गया। चुभते ही उसे बहुत दुःख हुआ। उसे काँटे की बाड़ पर इतना गुस्सा चढ़ा कि एक के बाद एक १०-१५ लातें उस पर जमा दीं। मगर ऐसा करने से परिणाम क्या आयेगा, यह उस मूर्ख यात्री ने सोचा नहीं था। यही हुआ कि एक काँटे के बदले उसके पैर में कई काँटे चुभ गये, अधिक पीड़ा हुई। कारण यह है कि बाड़ के लात मारने से बाड़ तो कोई खिसकती नहीं, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता, नुकसान होता है लात मारने वाले का ही।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही हालत मूर्ख व्यक्ति के क्रोध की है, वह जरा-सा कटु वचन का अमनोज्ञ शब्द का कांटा चुभते ही, कहने वाले व्यक्ति पर टूट पड़ता है, धड़ाधड़ दस-पन्द्रह गालियाँ बक देता है, अपशब्द कह देता है, पर उससे नुकसान किसका हुआ ? यह उस कुपित होने वाले मूर्ख को नहीं सूझता। इसी सूझबूझ के अभाव में वह क्रोधाविष्ट होकर अपनी शक्ति और सहानुभूति खो बैठता है।

मूर्ख यात्री जैसे बाड़ के काँटों से उलझ पड़ा, वैसे ही मूर्ख मनुष्य जरा सी बात पर दूसरों से उलझ पड़ता है। बात में चाहे कुछ भी तथ्य न हो, वह उसे बतंगड़ बना देता है, तिल का ताड़ बनाकर वह उस बात से महाभारत छेड़ देता है। यह है, मूर्खता की निशानी।

एक अरबियन कहावत है—

A fool may be known by six things—anger, without cause; speech, without profit; change, without progress; inquiry, without object; putting trust in a stranger and mistaking foes for friends."

मूर्ख व्यक्ति ६ बातों से जाना जा सकता है—

(१) बिना ही कारण क्रोध से,

(२) बिना लाभ के बोलने से,

(३) बिना उन्नति के परिवर्तन करने से,

(४) बिना प्रयोजन पूछताछ करने से,

(५) अजनबी आदमी पर सहसा विश्वास करने से, और

(६) शत्रुओं को मित्र मानने की गलती कर बैठने से।

ये और इसी प्रकार के कुछ कारण हैं, जिनसे मूर्ख कुपित होते हैं।

मूर्ख क्रोध करता ही नहीं; कराता भी है

मूर्ख स्वयं ही क्रोध नहीं करता, अपितु अपने व्यवहार या वचन से दूसरों को भी कुपित कर देता है। मूर्ख के कुछ व्यवहार या वचन ही अजीब ढंग के होते हैं कि वे दूसरे व्यक्ति में सहसा क्रोध भड़का देते हैं।

एक रोगी था बड़ा मूर्ख और बेसमझ। उसे वैद्यजी ने दवा दी और खिचड़ी खाने को कहा। रोगी दूसरे प्रान्त का था, न ही पढ़ा-लिखा था, इसलिए अर्थ न समझने के कारण अपने दो मील दूर निवास स्थान की ओर रटता-रटता जा रहा था, "खा चिड़ी, खा चिड़ी।"

रास्ते में खेत पर बैठने वाले पक्षियों को उड़ाते हुए किसी किसान ने उसे ऐसा कहते सुना तो पीटा और कहा—"ऐसे कहो—जा चली, जा चली।"

आगे पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बिछाये एक शिकारी बैठा था, उसने सुना तो अच्छी तरह धुनाई करके कहा—"ऐसे बोलो—आते जाओ, फँसते जाओ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह यों कहता जा रहा था कि चोरों ने सुनकर खूब मरम्मत की फिर कहा—"यों बोल—आते जाओ, धरते जाओ।"

रास्ते में कुछ लोग मुर्दे को श्मशान की ओर ले जा रहे थे, उन्हें ये शब्द बहुत बुरे लगे। उन्होंने इस मूर्ख की खूब पिटाई की और कहा—"यों बोल—ऐसा दिन तो कभी न आए।"

यों बोलता हुआ जब गाँव में पहुँचा तो वहाँ गाँव के ठाकुर को पुत्र-रत्न की प्राप्ति होने से उत्सव मनाया जा रहा था। इस मूर्ख की अमंगल वाणी सुनकर लोगों को बहुत गुस्सा आया, उन्होंने डंडों से इसकी पूजा की। मूर्ख रोगी ने घर में घुसकर निश्चय कर लिया कि मैं उस चीज को कभी न खाऊँगा, जिसके नाम लेने पर इतना तूफान खड़ा हो गया।

वास्तव में यह तूफान खड़ा किया था, मूर्ख ने स्वयं ही। उसने अपनी मूर्खता-वश अमंगलसूचक या प्रतिकूल वचन बोलकर लोगों का क्रोध भड़का दिया जिसकी सजा भी उसे पूरी-पूरी मिली। जगह-जगह उसकी अच्छी तरह पूजा हुई। अतः मूर्ख स्वयं ही क्रोध नहीं करता, दूसरों में क्रोध उत्पन्न भी करता है।

कोपपरायणता से हानि या लाभ ?

मूर्ख प्रायः यह समझते हैं कि हम दूसरे पर कोप करके उसे डाँटे-फटकारेंगे, तो उस पर हमारा दबाव पड़ेगा, हमारी धाक जम जाएगी। आयन्दा वह कभी सिर नहीं उठाएगा, परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। किसी पर क्रोध करने से कदाचित कोई दुर्बल व्यक्ति दब जाए, मगर उसके मन में उसकी प्रतिक्रिया जाग उठती है और वह किसी न किसी दिन भयंकर रूप में फूट पड़ती है।

सच पूछें तो मूर्ख की कोपपरायणता से कदाचित जरा-सा लाभ दिखाई दे, किन्तु उससे अपार हानि होती है। जिस समय मूर्ख में क्रोध का उफान आता है, उस समय उसे बोलने का भान नहीं रहता, वह शिष्टता, सभ्यता और सौम्यता खो बैठता है। वह क्रोध के समय प्रायः अधिकार की भाषा में बोलता है। इससे उसके प्रति लोगों में नफरत पैदा होती है, लोग उसके निकट नहीं आते, उसके साथ कोई व्यवसाय सम्बन्धी बात नहीं करते। इससे वह सबका स्नेह, आत्मीयता और सहानुभूति गँवा बैठता है। स्नेह और सभ्यता के व्यवहार से वह जो लाभ उठा सकता था, दूसरे से सहानुभूति, सुरक्षा और सुख-शान्ति पा सकता था, उससे वंचित हो जाता है। क्रोधावेश में वह जो कुछ कटु वचन बोलता है उससे सामने वाला व्यक्ति शत्रु बन जाता है। क्रोधावेश में कई बार अपनी वस्तु का भी बहुत नुकसान हो जाता है। एक रोचक दृष्टान्त लीजिए—

एक अहीर-अहीरन घी के घड़े गाड़ी में भरकर निकटवर्ती नगर के बाजार में आए। घी बेचने का सौदा किसी के साथ कर लिया। अहीर गाड़ी में से घी का घड़ा उतारने के लिए नीचे खड़ी हुई अहीरन के हाथ में घड़ा सौंपने लगा। यों घड़े

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देते-लेते एक छोटा-सा घड़ा असावधानी के कारण अहीरन के हाथ से नीचे गिर पड़ा। वह टुकड़े-टुकड़े हो गया, उसका घी जमीन पर फैल गया। अहीर को अत्यन्त दुःख हुआ। उसने अहीरन को फटकारते हुए कहा—पापिनी, कुलटे ! मालूम होता है, तू कामपीड़ित होकर किसी रूपवान पुरुष को देख रही थी, इसीलिए तो घड़ा ठीक से न पकड़ा, उसे फोड़ डाला।"

मूर्ख आदमी को क्रोधावेश में कुछ भी भान नहीं रहता। जब आदमी कोई गलती कर देता है और उसे समझाये जाने पर भी स्वीकार नहीं करता, तब वह गुस्से में लाल हो जाता है।

पाश्चात्य विचारक हैलीबर्टन (Haliburton) यही बात कहता है—

When a man is wrong and won't admit it, he always gets angry.

"जब मनुष्य गलती पर हो, और उस गलती को स्वीकार नहीं करता, तब वह गुस्सा हो जाता है।"

हाँ, तो उस मूर्खा ने अपनी भूल स्वीकार नहीं की, किन्तु अपने पति के वचन सुनकर होठ फड़फड़ाती हुई भौंहें तानकर बोली—"अरे अधम गँवार ! देख लिया तुझे। खुद तो घी का घड़ा ठीक से पकड़ाता नहीं, अन्यमनस्क होकर सुन्दर कामिनी का मुँह देखता रहता है, उल्टा मुझे डाँटता है ?"

यह सुनकर उसका मूर्ख पति भी क्रोधाग्नि से दग्ध होकर अंटसंट बकने लगा। बहुत-से तमाशाई लोग मूर्ख पति-पत्नी का झगड़ा देख वहाँ इकट्ठे हो गये। दोनों में गाली-गलौज बढ़ते-बढ़ते हाथापाई और मारपीट होने लगी। इसी धमाचौकड़ी में पैर आगे-पीछे पड़ने से घड़े का सारा घी जमीन पर गिर गया। कुछ घी जमीन चूस गई, कुछ कुत्ते चाट गये और बाकी का घी वहाँ खड़े हुए चोर ले गये।

झगड़ा इतना बढ़ गया कि सूर्य अस्त होने तक वह निपटा। दोनों को थोड़ा होश आया। अतः वे दोनों गाड़ी में बैठे। बेचे हुए घी की रकम लेकर वे अपने गाँव की ओर जा रहे थे। रास्ते में ही रात हो गई। घना अँधेरा हो गया। कुछ लुटेरों ने एकदम इनकी गाड़ी पर हमला बोल दिया। इनसे धनराशि छीन ली, वस्त्र, बैल एवं गाड़ी भी वे लूट ले गए। बेचारे अहीर दम्पती अपना-सा मुँह लेकर घर लौटे।

यह है क्रोधपरायण मूर्खों को कोपाविष्ट होने की सजा। ऐसा ही दण्ड प्रायः प्रत्येक कोपपरायण मूर्ख को एक या दूसरे रूप में भोगना पड़ता है।

बन्धुओ ! इसीलिए महर्षि गौतम ने सुविज्ञ जिज्ञासुओं को इस जीवन-सूत्र द्वारा सावधान किया है—

'मुक्खा नरा कोवपरा हवंति'

आप भी मूर्खों के कोपपरायण जीवन से प्रेरणा लें और ऐसे मूर्खतापूर्ण कोप-परायण जीवन से सौ कोस दूर रहने का प्रयत्न करें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४५

सुसाधु होते तत्त्वपरायण—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष सुसाधु के जीवन के सम्बन्ध में चर्चा करना चाहता हूँ। महर्षि गौतम का विचार है कि जो सुसाधु होते हैं, वे तत्त्वपरायण होते हैं। वे तत्त्व-दृष्टि के अनुसार चलते हैं, वे प्रत्येक वस्तु की तह में पहुँचते हैं और उसके असली स्वरूप को जानकर अपना कर्तव्य निर्धारित करते हैं; वे ऊपर-ऊपर नहीं तैरते, वस्तु के बाह्य सौन्दर्य को, या उसके सुरूप-कुरूप को देखकर कोई निर्णय नहीं करते। गौतम कुलक का यह अड़तीसवाँ जीवनसूत्र है, जो इस प्रकार है—

"सुसाहुणो तत्तपरा हवंति"

—सुसाधु तत्त्व-परायण होते हैं।

सुसाधु कौन, कुसाधु कौन ?

यहाँ 'सुसाधु' शब्द होने से पहला सवाल यही उठता है कि सुसाधु और कुसाधु के क्या लक्षण हैं ? उन दोनों की पहिचान क्या है ? क्योंकि सुसाधु की तरह कुसाधु या नकली साधु भी साधु के वेष में रहता है, वह भी साधु की तरह क्रिया करता है, वह भी सुसाधु की तरह बल्कि सुसाधु से बढ़कर लच्छेदार भाषण देता है, लोगों के साथ सम्भाषण करने और उनको प्रभावित करके अपने हित के लिए लाखों रुपये दान कराने में कुशल होता है, सुसाधु की अपेक्षा कुसाधु का आडम्बर और धुंआधार प्रचार भी अधिक होता है, वह देश-विदेशों में फैल जाता है। बुझते दीपक की तरह उसकी चमक-दमक दूसरों को एकदम चकाचौंध कर देती है। इसलिए साधारण लोगों के लिए यह पहचानना कठिन होता है कि यह साधु ठीक है या ठीक नहीं ?

साधारण लोगों की दृष्टि तो वेशभूषा एवं क्रियाकाण्ड तक ही जाती है, इसलिए वे झटपट सुसाधु-कुसाधु का निर्णय नहीं कर सकते। यही कारण है कि गौतम महर्षि ने यहाँ **'सुसाहुणो'** शब्द विशेष अभिप्राय से दिया है।

सम्यक्त्व के पाठ में देव, गुरु और धर्म, इन तीन तत्त्वों के ग्रहण—स्वीकार करने की जहाँ बात आती है, वहाँ भी स्पष्ट उल्लेख किया है—**'सुसाहुणो गुरुणो'**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुसाधुगण ही मेरे गुरु हैं; कुसाधु नहीं। इसलिए सहसा यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि सुसाधु कौन होते हैं ? उनकी पहचान क्या है ?

वैसे तो साधु का अर्थ होता है—

'साध्नोति स्वपरकार्याणीति साधुः।'

"जो स्व और पर का कार्य साधता है, वह साधु है। स्व-पर-हित साधना में जो विशेष दक्ष व सुन्दर रीति से लगा हो, वही सु-साधु होता है।"

इस दृष्टि से सुसाधु वह नहीं, जो केवल अपने ही स्वार्थ में रत रहता है, अपनी सुख-सुविधाओं की ही चिन्ता करता रहता है, अपनी प्रसिद्धि, अपनी कीर्ति और अपनी प्रतिष्ठा के लिए अनेक आडम्बर और खटपट करता रहता है, परन्तु जहाँ दूसरों के कल्याण, उपकार एवं दूसरों को तत्त्वज्ञान देकर सुधारने—सन्मार्ग पर लाने की बात आती है, वहाँ वह कहने लगता है—"साधु को संसार से क्या मतलब ? साधु को तो अपनी मस्ती में रहना चाहिए। संसारी लोगों के कल्याण के लिए वह नहीं जीता, वह तो अपने कल्याण के लिए ही बँधा है।" ये और इस प्रकार की बहाने-बाजी करके जो दूसरे—जिज्ञासु और मुमुक्षु लोगों के उद्धार या कल्याण से बिलकुल किनाराकसी करता है, उसे 'सुसाधु' कहने में संकोच होता है। हाँ, कोई सुसाधु पहले अपने यौवनवय में स्वकल्याण के साथ परकल्याण की प्रवृत्ति कर चुका है, अब भी यथाशक्ति करने के लिए उद्यत रहता है अथवा अब उसने जिनकल्पी साधुता अंगीकार कर ली है, या वह अपंग, अशक्त या असाध्य रोग से पीड़ित है, इस कारण परकल्याण की प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं कर सकता है, वह भी सुसाधु ही है।

अथवा क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच (पवित्रता), सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, इन दसविध साधुता के गुणों से युक्त हो, वह सुसाधु है। दशवैकालिक सूत्र में साधु की परिभाषा करते हुए (९ अध्ययन, ३ उद्देशक) में बताया गया है—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू।
गिण्हाहि साहुगुण मुंचऽसाहू॥
वियाणिया अप्पगमप्पएणं।
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

"गुणों से साधु होता है और अगुणों (दुर्गुणों) से अ (कु) साधु। इसलिए साधुगुणों—साधुता—को ग्रहण कर और असाधुगुणों—असाधुता—को छोड़। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है, वही पूज्य है।

नकली साधु से असली बनने में कारण : तत्त्वज्ञान की किरण

जो वेषधारी और नकली साधु होता है, उसकी आत्मा ही उसे कचोटती रहती है, अपने अनिष्ट कार्यों के कारण। आखिर उसकी कलई तो खुल ही जाती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। कदाचित् उसके अन्तर्हृदय में प्रेरणा जगे और तत्त्वज्ञान की किरण मिले तो वह नकली साधु से असली साधु भी बन जाता है।

यमुना नदी के एक हिस्से में मछलियाँ पकड़ने और मारने का निषेध था। एक दिन निषिद्ध क्षेत्र में एक मच्छीमार मछलियाँ मारने का प्रयास कर रहा था, कि वहाँ अकबर बादशाह आ पहुँचा।

मच्छीमार ने दूर से ही जब बादशाह को आते देखा तो वह एकदम घबरा गया। संकट से बचने के लिए उसने धूनी जलाई और जाल को आग में फेंककर भस्म कर दिया। वही भस्म शरीर पर रमा ली और अन्य औजार झाड़ियों में फेंक दिये। फिर वह एक महर्षि की तरह ध्यान लगाकर धूनी के पास बैठ गया। बादशाह वहाँ आया। उसने उस मच्छीमार को संन्यासी समझकर श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया और अपने गन्तव्य स्थल की ओर बढ़ गया।

बादशाह के चले जाने पर नकली साधु के हृदय में तत्त्वज्ञान की स्फुरणा जागी। उसने सोचा—वाह! साधु-वेष का कितना प्रभाव है। इसी वेष के कारण मुझे दिल्ली का सम्राट् भी आकर प्रणाम कर गया। यदि मैं सच्चा तत्त्वज्ञानी साधु बन जाऊँ तो कितना अच्छा हो!

इस प्रकार तत्त्व-स्फुरणा से वह सच्चे माने में संसार से विरक्त हो गया और साधुवेष को छोड़े बिना ही सच्चा साधु बन गया।

साधुओं के लिए आदर्श प्रेरक सच्चा साधु

सन्त कबीर ने सच्चे साधु की व्याख्या करते हुए कहा है—

गांठी दाम न बाँधई, नहिं नारी-सों नेह।
कह कबीर ता साध की हम चरणन की खेह॥
वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखें, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर॥

वास्तव में जो देह, गेह, वस्त्रादि से निरपेक्ष, सन्तोषी, परमार्थी तत्त्वज्ञानी और ब्रह्मचारी सन्त होते हैं, वे ही सच्चे सन्त होते हैं। वे तत्त्वज्ञानी पुरुष स्वयं कष्ट-सहिष्णु होते हैं, दूसरों द्वारा कहे गये कटुवचनों को सहते हैं, दूसरों को कभी कटु, कठोर, हिंसायुक्त, मर्मस्पर्शी, आघातजनक वचन नहीं कहते। किसी की निन्दा-चुगली नहीं करते, माया-कपट नहीं करते, क्रोध और अभिमान से तथा लोभ से ग्रस्त नहीं होते। जो रस-लोलुप नहीं होते, इन्द्रजाल आदि के चमत्कार नहीं दिखाते। यह स्वयं आत्मश्लाघा नहीं करते, न ही दूसरों से करवाते हैं। वह प्रसिद्धि के चक्कर से दूर रहते हैं। सहजभाव से जो कुछ हो जाए, उसी में सन्तोष मानते हैं। स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, प्रव्रजित हो या गृहस्थ किसी को उसके पूर्व दुश्चरित्र की याद दिलाकर लज्जित नहीं करते, न उसका तिरस्कार करते हैं, न उस पर रोष या द्वेष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। वे अपने उच्च आचरण की डींग नहीं हाँकते। ऐसे गुणों के सागर, स्वपर-कल्याणसाधक, तत्त्वज्ञानी सुसाधु ही पूजनीय होते हैं।

सच्चा तत्त्वज्ञानी सुसाधु अपनी तपस्या, साधना एवं संयम का फल पाने के लिए अधीर नहीं होता। वह अपनी साधना में सतत विवेकपूर्वक रत रहता है, अपनी आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके जीवन में कितना ही कष्ट, संकट या परीषह आने पर भी दीनता और अधीरता नहीं आती। वह देव (वीतराग परमात्मा), गुरु और धर्म पर पूर्ण आस्थावान, विश्वासी एवं दृढ़ श्रद्धालु होता है। वह उनसे भौतिक सुखों की याचना या कामना नहीं करता, सांसारिक सुखों के लिए मन में वाञ्छा भी नहीं करता।

वास्तव में जो कुसाधु होता है, उसके रोम-रोम में धर्मसाधना रमती नहीं, वह जरा-सी साधना करते ही प्रसिद्धि के लिए मचल उठता है, चमत्कार-प्रदर्शन के लिए उतावला हो उठता है, जनता से सुख-सुविधा पाने के लिए अधीर हो उठता है। उसकी स्वकल्याण-साधना भी स्वार्थ-साधना बन जाती है, परकल्याण-साधना तो कोसों दूर हो जाती है। वह आत्म-साधना के साथ-साथ विश्वात्म-साधना के विचार और आचार के प्रति रुचि नहीं रखता, न ही उसके तत्त्वज्ञान पाने की उसमें जिज्ञासा होती है। वह तो खाना-पीना और ऐश-आराम करने तथा आलस्य में या दिखावे के लिए कुछ क्रिया-काण्डों में पड़कर अपनी अमूल्य जिन्दगी खो बैठता है। उसका वेष तो साधु का होता है, क्रियाकाण्ड भी साधु के-से होते हैं, पर अन्तर् में उसके साधुता नहीं होती; वह अन्तर् में जाग्रत, विवेकी और तत्त्वज्ञ नहीं होता। यही कारण है कि उसका सब कुछ किया-कराया गुड़ गोबर हो जाता है। ऐसे कुसाधुओं के लिए उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १७) में स्पष्ट कहा है—

जे के इमे पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भोच्चा-पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
विवादं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते पावसमणे त्ति वुच्चई॥
दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

"जो साधु प्रव्रजित होकर (दीक्षा लेकर) अत्यन्त निद्राशील रहता है, अपने कर्तव्यों और दायित्वों पर ध्यान नहीं देता, खा-पीकर मजे से सो जाता है, जिसे अपनी साधुता की जरा भी चिन्ता नहीं है, वह पापश्रमण (पापी साधु) कहलाता है।"

"वह भी पापश्रमण कहलाता है जो अत्यन्त कपटी है, वाचाल है, मिथ्याभिमानी है, लोभी है, अपनी इन्द्रियों और मन को वश में नहीं रखता, साधर्मी साधुओं के साथ संविभाग नहीं करता और अप्रिय है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"जो शान्त हुए विवाद और कलह को फिर उभारता है, अधर्मरत है, आत्मज्ञान से हीन है, जब देखो तब विग्रह और कलह करने के लिए उद्यत रहता है, वह पापी साधु है।"

"जिसका अपने खाने-पीने और सुख-सुविधाओं की ओर ही ध्यान है, बार-बार दूध, दही आदि विकृतिजनक सरस स्वादिष्ट भोजन करता है। तपस्या का नाम सुनते ही जिसे बुखार चढ़ जाता है, ऐसा साधु भी पापश्रमण कहलाता है।"

यह है कुसाधुओं का आन्तरिक रूप, जिससे हर कोई उन्हें पहचान सकता है।

एक ऐसे ही बाबाजी की घटना देकर इस बात को स्पष्ट करता हूँ—दिल्ली से लगभग २० मील दूर बुलंदशहर जिले के धूमदादरी गाँव के मन्दिर में एक बाबा जी रहते थे। गाँव वालों ने उनके जीवन-निर्वाह के लिए मन्दिर के साथ थोड़ी-सी जमीन एवं कुछ सम्पत्ति लगा दी, लेकिन वह इतने आलसी थे कि जमीन की जरा भी देखभाल नहीं करते थे। फिर भी गाँव वाले उनके भोजन एवं दूध-पानी की व्यवस्था करते थे। बाबाजी तो सिर्फ खा-पीकर और भांग-गांजे का दम लगाकर पड़े रहते थे, उन्हें न लोकशिक्षण से कोई मतलब था और न ही तपस्या से या साधना से। स्वाव-लम्बन की बात तो बेचारे सोचते ही कहाँ से, तत्त्वज्ञान की उनमें कोई रुचि ही न थी।

एक जिज्ञासु युवक उनके पास आया-जाया करता था। उससे ज्ञान या सत्संग की बात तो क्या करते, पर दुनिया से वैराग्य की बातें करके उसमें वैराग्य चढ़ाते थे; क्योंकि बाबाजी को बुढ़ापे में सेवा के लिए एक शिष्य की जरूरत थी। शिष्य की जिज्ञासा कैसे तृप्त की जा सकती है, उसका आत्म-विकास कैसे हो सकता है, इस ओर बाबाजी का कोई ध्यान न था। सिर्फ चेला मूंड़ने की ओर ही ध्यान था, अतः उसे फुसलाकर चेला बना लिया, नाम रखा—सोमदत्त गिरि।

कुछ ही महीनों के संग से सोमदत्त को पता चल गया कि बाबाजी कितने गहरे पानी में हैं। उसे उनसे क्या उपलब्धि हो सकती है? साधुओं को समाज का मार्ग-दर्शन एवं जिज्ञासुओं को तत्त्वबोध देकर सन्मार्ग पर लाने के कर्तव्य से च्युत जानकर सोमदत्त गिरि को बड़ा दुःख हुआ। जिससे जन-जन के कल्याण का मार्ग पाने की आशा से जनता भगवान की तरह पूजती है, उस साधु वर्ग की यह दयनीय दशा! ओफ! इतना पतन है, साधु वर्ग का! सोमदत्त गिरि गहरे मन्थन में पड़ गये। अब मुझे क्या करना चाहिए? अब पीछे कदम हटाकर गृहस्थ में जाना ठीक नहीं, इसमें साधुता का पथ कलंकित होने का भय है। इसलिए सोचा कि यदि हम समाज को कुछ भी नहीं दे सकते तो हमें उस पर आश्रित रहने का भी कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।

जब तक सोमदत्त के गुरु जीवित रहे, तब तक वे धर्मग्रन्थों का अध्ययन, स्वाध्याय तथा कीर्तन के द्वारा अपनी योग्यता और साधना बढ़ाते रहे। इसी बीच

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरुजी का देहान्त हो गया। अतः गिरिजी ने विचार किया—अब मुझे पुरानी परम्परापराओं में कुछ सुधार करना चाहिए, कथा-कीर्तन और भजनोपदेश द्वारा लोक जागृति करनी चाहिए। समाज-कल्याण की कुछ प्रवृत्ति भी करनी चाहिए, आत्म-साधना भी बढ़ानी चाहिए। साधु जीवन कलंकित न हो, इस प्रकार के कुछ उपयोगी कार्य करने चाहिए। साधु के दायित्व का भी निर्वाह करना चाहिए।

उन्होंने कुछ शिक्षित और विचारशील सज्जनों से परामर्श करके सबसे पहले मन्दिर एवं उसके आसपास की जगह की सफाई का कार्य ग्रामीणजनों के सहयोग से स्वयं किया। फिर मन्दिर में नियमित भजन-कीर्तन एवं प्रार्थना की व्यवस्था की। जो बालक, युवक और वृद्ध पहले अपने खाली समय का उपयोग झगड़े, राजनैतिक चर्चाबाजी तथा दुर्व्यसनों में बिताते थे, वे अब उन बुराइयों से बचने लगे। लोक मनोरंजन के साथ-साथ धर्मभावना, भक्तिभावना एवं परस्पर आत्मीयता बढ़ने लगी। लोगों में परस्पर सहयोग, संगठन और समाज-सुधार की लहर दौड़ गई। फलतः अवांछनीय कुरूढ़ियों और खोटे रीति-रिवाजों को तोड़ने का दौर शुरू हो गया। मृतक-भोज, शादी-विवाहों आदि में अपव्यय, जेवर-कपड़ों का मोह, कर्जदारी, बालिकाओं को न पढ़ाने, बाल-विवाह आदि अन्धमान्यताओं और कुरीतियों में एकदम परिवर्तन आ गया। जनता में शराब, मांसाहार, जुआ, चोरी, व्यभिचार, लूट-पाट आदि दुर्व्यसनों में कमी आने लगी। पारिवारिक जीवन में नये आदर्शों और मान्यताओं को लोग क्रियान्वित करने लगे।

स्वामी सोमदत्त गिरि ने इस प्रकार अपनी साधना के साथ ग्रामीणों की श्रद्धाभक्ति में वृद्धि करके समाज-कल्याण के कई कार्य किये तथा उनकी प्रेरणा से गाँव का काया-पलट सा होने लगा।

इस प्रकार उन्होंने मन्दिर को समुन्नत और स्वावलम्बी संस्था का रूप प्रदान किया; साथ ही उसके माध्यम से साधु का कर्तव्य और दायित्व भी निभाया।

अपने गुरु की साधुता के कर्तव्य एवं दायित्व की उपेक्षा को उन्होंने पूर्ण रूप से दूर करके, जनता में साधु के प्रति श्रद्धा भावना विकसित की।

गहराई से सोचा जाए तो स्वामी सोमदत्त गिरि में जो असाधुता से सुसाधुता आई, उसके पीछे उनका अन्तःस्फूर्त तत्त्वज्ञान ही विशिष्ट कारण था। तत्त्वज्ञान ने ही सोमदत्त गिरि को आगे बढ़ने और साधु जीवन के दायित्व एवं कर्तव्य का निर्वाह करने के लिए प्रेरित किया।

इसलिए सुसाधु और कुसाधु या असाधु के निर्णय के लिए गौतम महर्षि ने सबसे महत्त्वपूर्ण थर्मामीटर बताया है—तत्त्वज्ञानपरायणता को। उसका आशय यही है कि सुसाधु तत्त्वज्ञानपरायण होता है।

तत्त्व क्या ? उसका ज्ञान क्या ? तत्त्वपरायणता क्या ?

जब सुसाधु में तत्त्वज्ञानपरायणता आवश्यक है, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि तत्त्व क्या है ? उसका ज्ञान क्या है ? तत्त्वज्ञानपरायणता क्या है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हम क्रमशः एक-एक प्रश्न को छुएँगे। सर्वप्रथम हमें समझ लेना चाहिए कि तत्त्व क्या है ?

अगर हम विविध धर्म-सम्प्रदायों की दृष्टि से इसका उत्तर पाना चाहेंगे तो इसके अलग-अलग उत्तर मिलेंगे—

जैनशास्त्र कहते हैं—"**जिणपण्णत्तं तत्तं**" जिनप्रज्ञप्त ही तत्त्व है।

बौद्ध-आगम कहते हैं—तथागत द्वारा निर्दिष्ट धर्म ही तत्त्व है।

वैदिक धर्मशास्त्र वेद कहते हैं—वेदविहित कर्म या आचरण ही (धर्म) तत्त्व है।

इसलिए हमें तत्त्व शब्द के अर्थ पर व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए, जिसमें किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का विरोध न हो।

'तत्त्व' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है—

'तद्भावः अथवा तस्य भावः तत्त्वम्'

"जिस वस्तु का जो भाव है, वस्तु स्वभाव है, वही तत्त्व है।"

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—

'योऽर्थो यथावस्थितिस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः'

"जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसका उस रूप होना यही यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ है।"

तत्त्वार्थराजवार्तिक के अनुसार—

'अविपरीतार्थ विषयं तत्त्वमित्युच्यते'

"अविपरीत (सम्यक्) अर्थ का विषय तत्त्व कहलाता है।"

जैनसिद्धान्तदीपिका के अनुसार—

'तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु'

"जो पारमार्थिक वस्तु है, वही तत्त्व है।"

मतलब यह है कि जो वस्तु जिस रूप में है, उसका जो सम्यक् रूप है, वही तत्त्व है। किसी भी वस्तु का वस्तुत्व ही तत्त्व कहलाता है। उदाहरणार्थ—पशु को जिन गुणों के कारण पशुसंज्ञा प्राप्त हुई है, उस समग्र का स्वरूप यानी पशुमात्र का सामान्य तत्त्व—पशुत्व कहलाता है।

साधारण मनुष्य वस्तु को ऊपर-ऊपर से स्थूल रूप में देखता है। वह उस वस्तु का बाह्य तत्त्व है। बाह्य तत्त्व क्या है ? बाहर का ढाँचा है, बाहर का आकार-प्रकार है। परन्तु उसका अन्तरंग रूप कुछ और होता है, वह विशेषतः गुणों से ही सम्बन्धित होता है। उसे अन्तस्तत्त्व कहते हैं। यद्यपि वस्तु को बाह्य स्थूलरूप से भी जानना-देखना आवश्यक है, क्योंकि वस्तु के बाह्य रूप को देखे बिना उसके साथ ठीक से व्यवहार नहीं हो सकता।

संसार का सारा व्यवहार बाह्यरूप पर आधारित है। जैसे कोई व्यक्ति किसी घोड़े को खरीदता है, तो वह उसके बाह्य रंग-रूप, चाल-ढाल, आकृति-प्रकृति और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार को देखता है, वह घोड़े के अन्तरंग तत्त्व को नहीं देखता है कि घोड़े में भी मनुष्य की तरह आत्मा है, वह भी पंचेन्द्रिय है, उसके भी मन है, उसके साथ भी हमारी तरह सुख-दुःख लगे हुए हैं, उसे भी हमारी तरह सुख प्रिय है, जीना पसन्द है, उसे भी जीने के लिए भोजन तथा रहने के लिए अन्य सुविधाएँ चाहिए।

हाँ तो, घोड़े का बाह्य रंग-रूप आदि बाह्य तत्त्व है और अन्तरंग बातें, परमार्थ, स्वभाव आदि अन्तस्तत्त्व है। केवल अन्तस्तत्त्व से ही काम नहीं चलता, बाह्य तत्त्व भी आवश्यक है। घोड़े के केवल अन्तरंग रूप से ही काम नहीं चलता, उसे अपने अस्तित्व को टिकाने, तथा अश्वरूप में अपने को व्यक्त करने के लिए बाह्य रूप भी आवश्यक है। इसी प्रकार बाह्य रूप का शुद्ध और अपना असली रूप, जिसकी शक्ति और प्रकाश के सहारे बाह्य रूप टिका हुआ है, वह उसका अन्तरंग रूप है। दोनों ही तत्त्व परस्पर सहायक हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आध्यात्मिक तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है—

'अन्तरतच्चं जीवो, बाहिरतच्चं हवति सेसाणि।'

"जीव (आत्मा) अन्तस्तत्त्व और बाकी सब द्रव्य बहिस्तत्त्व हैं।"

यह जो अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व का स्वरूप बताया है, वह चेतनावान द्रव्यों की अपेक्षा से बताया गया है। संसार के सारे द्रव्यों—चेतन हों या अचेतन—की अपेक्षा से तो अन्तस्तत्त्व का पहले बताया लक्षण ही ठीक है।

वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ का अन्तस्तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। इसीलिए पंचाध्यायी में तत्त्व शब्द का लक्षण अन्तस्तत्त्वपरक दिया गया है—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥८॥

"तत्त्व का लक्षण सत् है, अथवा सत् ही तत्त्व है; क्योंकि वह स्वभाव से ही सिद्ध है, अतः अनादिनिधन है, वह स्वसहाय है और निर्विकल्प है।"

तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं।
ध्येयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा॥

'नयचक्र ग्रन्थ' के इस वचन के अनुसार तत्त्व के पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द ये हैं—परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, परमपर, ध्येय, शुद्ध और परम।

इस दृष्टि से तत्त्व शब्द से वस्तु का अन्तःस्वरूप ही सिद्ध होता है।

तत्त्वज्ञान : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

उस तत्त्व का दर्शन एवं ज्ञान दोनों मिलकर तत्त्वज्ञान है। इसी को दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। दर्शन वस्तु को निराकार रूप में जानने का नाम है और ज्ञान वस्तु को साकार रूप में जानना है। सम्यग्ज्ञान वस्तु का जैसा हो वैसा, यथार्थ, निराकार और साकार ज्ञान है और ऊपर-ऊपर से वस्तु का जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप प्रतीत होता हो, वह नहीं, किन्तु वस्तु का सिद्ध, परिनिष्ठित, वास्तविक रूप जानना और देखना—सम्यग्ज्ञान है। इसी को दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञान कहते हैं।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति

विश्व में आपको अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। अनेक घटनाएँ घटित होती हैं। आपको पदार्थों से सुख-दुःख, आश्चर्य, भय होता है। आप इन सब पदार्थों, घटनाओं तथा परिस्थितियों को उनके यथार्थ अन्तस्वत्त्व के रूप में न समझकर राग-द्वेष से युक्त होने के कारण भिन्न-भिन्न रूप में समझ लेते हैं। आप उन पदार्थों और पदार्थों से अपने पर होने वाले प्रभावों को यथार्थ वस्तु रूप में लक्ष्य में नहीं लेते, और जैसे-तैसे उसी राग-द्वेष के प्रवाह में बहते चले जाते हैं। जो विचारक होते हैं उन्हें यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि इन सब पदार्थों और विश्व की रचनाओं को मैं जिस रूप से देखता हूँ, वे उसी रूप में हैं, या उनका स्वरूप कुछ और तरह का है। जगत् में ये अकस्मात् ही होते जाते हैं या इनके भी कार्य-कारण रूप कुछ नियम हैं? इसी जिज्ञासा में से तत्त्वज्ञान पैदा होता है।

मनुष्य ने जब पहले-पहल प्रकृति की गोद में जन्म लिया और विश्व की ओर आँखें खोलकर देखा तो उसके सामने अनेक चामत्कारिक वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुईं। एक ओर सूर्य, चन्द्रमा, अगणित तारामण्डल, दूसरी ओर गर्जता हुआ समुद्र, पर्वत, विशाल नदी प्रवाह, मेघगर्जना और बिजली की चमक-दमक ने उसका ध्यान आकर्षित किया। मनुष्य का मानस इन और ऐसे ही अन्य आश्चर्यजनक स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म चिन्तन में प्रवृत्त हुआ, और उसके बारे में अनेक प्रश्न उसके दिल-दिमाग में प्रादुर्भूत हुए। उसके बाद आन्तरिक विश्व के गूढ़ और अति सूक्ष्म स्वरूप के बारे में भी उसके मानस में विविध प्रश्न पैदा हुए। इन प्रश्नों में से जो वस्तु की तह तक पहुँचकर उसके यथार्थ स्वरूप, आन्तरिक और बाह्य स्वरूप की छानबीन की गई, वही ज्ञान तत्त्वज्ञान का कारण बना।

उदाहरण के तौर पर—इस विश्व के वस्तुतत्त्व की जब जिज्ञासा हुई तब उसके बाह्य एवं आन्तरिक रूप के सम्बन्ध में कई प्रश्न समुद्भूत हुए होंगे—यह विश्व शाश्वत है या परिवर्तनशील? यह विश्व कब और कैसे उत्पन्न हुआ होगा? यह अपने आप उत्पन्न हुआ होगा या किसी ने इसे उत्पन्न किया होगा? उत्पन्न हुआ हो तो क्या यह विश्व ऐसा ही था, ऐसा ही रहेगा? इस विश्व की रचना और संचालना, जोकि व्यवस्थित और नियमबद्ध है, वह बुद्धिपूर्वक हुई है, होती है, या यन्त्रवत् अनादि सिद्ध होती है?

इसी प्रकार आत्मा, परमात्मा के सम्बन्ध में, आत्मा से सम्बन्धित शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के सम्बन्ध में भी विविध प्रश्न उठाकर उनका समाधान कराने हेतु जो तत्त्व की छानबीन करता है, उसके असली स्वरूप के बारे में निश्चय करता है, यही तत्त्वज्ञान है।

निष्कर्ष यह है कि किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप की शोध करके यथार्थ निश्चय करना तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान करने वाला वस्तु के यथार्थ स्वरूप—आन्तरिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व—या सत्य की शोध करता है, उसी शोध का परिणाम तत्त्वज्ञान है। वस्तुतः सत्यशोधन के प्रयत्न में से फलित हुए या फलित होने वाले सिद्धान्त ही तत्त्वज्ञान के प्राण हैं।

तत्त्वज्ञान सत्य-शोध का एक मार्ग है। मनुष्य चाहे जिस विषय का अध्ययन करे, उसके साथ सत्य और तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध होता ही है। जिसके मन के सभी द्वार सत्य के लिए उन्मुक्त हों, राग-द्वेषादि से निर्लिप्त हों, तो वह जो कुछ भी सोचेगा या करेगा, वह सब तत्त्वज्ञान में आ जाता है।

तत्त्वज्ञान का दायरा सीमित नहीं है। वह विश्व की जड़-चेतन सभी वस्तुओं एवं उनसे सम्बन्धित शुभ-अशुभ प्रभावों और उनके सामान्य एवं व्यापक नियमों के सम्बन्ध में बाह्य-आन्तरिक स्वरूप का विचार करता है।

मानव जाति के कुछ विशिष्ट ज्ञानवान पुरुषों ने, सर्वज्ञों ने आदिमकाल से लेकर अब तक जो तत्त्व-विचारणा करके कुछ सिद्धान्त निश्चित किये हैं, कई वस्तुओं के वस्तु स्वरूप स्थिर किये हैं, जैसे जीवादि आदि नौ तत्त्व षड् द्रव्य आदि, उनके विषय में यथार्थ श्रद्धान करना और उस विशुद्ध तत्त्वज्ञान को उपलब्ध करना और स्वयं अनुभूत करना, हेय को त्यागकर उपादेय तत्त्व का अनुसरण करना तत्त्वोपलब्धि है, जो तत्त्व ज्ञान का ही विशिष्ट रूप है।

साधु-जीवन का आन्तरिक सामर्थ्य : तत्त्वज्ञान-परायणता

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने एक जगह अपना अनुभव लिखा है कि एक दिन मैं किसी पहाड़ी से गुजर रहा था। वहाँ एक बड़ा विशाल वट वृक्ष खड़ा तलहटी की शोभा बढ़ा रहा था। उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि संसार में कैसे-कैसे सामर्थ्यवान् पदार्थ हैं, जो दूसरों का कितना हित करते हैं। यों सोचता हुआ मैं आगे बढ़ गया। कुछ दिन बीते। उसी रास्ते पुनः लौटना हुआ। जब उस पहाड़ी पर मैंने वह [illegible] न देखा तो बड़ा विस्मय हुआ। ग्रामवासियों से पूछने पर पता चला कि दो दिन पहले तेज तूफान आया था उसी से वह वट वृक्ष उखड़कर धराशायी हो गया।

मैंने पूछा—"भाई ! वृक्ष तो बहुत मजबूत था, फिर उखड़ कैसे गया ?"

वे बोले—"उसकी मजबूती दिखावामात्र थी। भीतर से तो वह खोखला था। खोखला पेड़ हल्के-से आघात भी कब सहन कर सकता है ?"

तब से मैं बराबर सोचा करता हूँ कि जो लोग बाहर से बलवान् हैं मगर भीतर से दुर्बल हैं, ऐसे लोग संसार में औरों का हित तो क्या कर सकते हैं, स्वयं अपना अस्तित्व भी वे सुरक्षित नहीं रख सकते। वे खोखले पेड़ की तरह एक ही झोंके में उखड़कर गिर जाते हैं।

यह [illegible] तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में है। तत्त्वज्ञान साधुजीवन का आन्तरिक सामर्थ्य है। जिस साधु के जीवनवटवृक्ष में तत्त्वज्ञानरूप मूल सशक्त, सुदृढ़ एवं रोम-रोम में रमा हुआ नहीं होता, उसका मूल मजबूत नहीं होता, इस कारण जीवन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निःसत्त्व एवं खोखला होता है, वह विपत्ति की जरा-सी आँधी आते ही, प्रतिकूल परिस्थिति का जरा सा झोंका आते ही, परीषह की जरा-सी लपट आते ही ढह जाता है, हतोत्साह होकर उत्पथ पर चल पड़ता है, वह पतित और भ्रष्ट भी हो जाता है। तत्त्वाज्ञानरूप आन्तरिक सामर्थ्य के अभाव में बाह्य साधु-वेशभूषा में लिपटा, बाह्य-क्रियाकाण्डी साधु विकारों की आँधियों के सामने टिक नहीं सकता। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में उसका मन विषमता और क्लेश से या राग-द्वेष से भर जायगा, वह संतुलित एवं स्वस्थ नहीं रह सकता।

साधुजीवन में जब तत्त्व-परायणता होती है, तो वह बड़ी से बड़ी विपत्ति एवं संकट घटा में भी उद्विग्न नहीं होगा। सुखों का सागर लहराता हो तब भी उसका मन उनके लिए ललचाएगा नहीं, दुःख हो या सुख, जीवन हो या मरण, शत्रु हो या मित्र, भवन मिले या विकट वन, संयोग हो या वियोग, तत्त्वपरायण साधु का मन सदैव समता की पगडंडी पर अविचल रहेगा। वह तत्त्वज्ञान के सहारे सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, भवन-वन, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्वों का यथार्थ वस्तु स्वरूप जान लेता है कि ये सब नाशवान् पदार्थ, है, क्षणिक हैं, इनके प्रति न तो मोह या असक्ति होनी चाहिए, न द्वेष या घृणा। ये तो स्वयं अपने आप में कुछ नहीं हैं। मनुष्य अपने मन में इनके बारे में जैसी-तैसी अच्छी-बुरी कल्पना कर लेता है, जिस किसी प्रकार से मन को उल्टा-सीधा समझाता है, तभी एक पर राग और दूसरे पर द्वेष होता है। अतः मुझे इन वस्तुओं से मन पर होने वाले अच्छे-बुरे परिणामों से बचना चाहिए।

इतनी बात तत्त्वज्ञानी साधु ही समझ सकता है, और तत्त्व-परायण साधु ही इन विचारों से अपनी आत्मा को बचा सकता है।

तत्त्व-परायणता केवल तत्त्व जानने से नहीं

कई लोग यह समझते हैं कि तत्त्व जान लिया, इतने भर से तत्त्वज्ञानी बन गये, परन्तु केवल तत्त्वों को जानने मात्र से तत्त्वज्ञान-परायणता नहीं आ जाती, अपितु, तत्त्व को जीवन में उतारने से ही कार्य हो सकता है। अग्नि को केवल जानने या अग्नि के तत्त्व का ज्ञान होने मात्र से रोटियाँ नहीं बन जातीं, पानी के तत्त्व को केवल जानने भर से वह प्यास नहीं बुझा सकता, इसी प्रकार किसी पदार्थ के तत्त्व को जानने भर से काम नहीं चलता, उसके हेय अंश से दूर रहकर उपादेय अंश को अपनाने से ही मनुष्य कृतकार्य हो सकता है। जैसे—असत्य तत्त्व है। इस तत्त्व को हेय जानकर भी यदि मनुष्य बार-बार असत्य में प्रवृत्त होता है तो वह जानना केवल बौद्धिक विलास है। असत्य हेय तत्त्व है; यह जानकर भी असत्य से लिपटे रहने वाले व्यक्ति को क्या आप तत्त्वज्ञ कहेंगे ? कदापि नहीं। तत्त्वज्ञ या तत्त्वपरायण वह तभी कहलायेगा, जब वह हेय, ज्ञेय और उपादेय को वास्तविक रूप में जानकर हेय का त्याग करे, ज्ञेय को जाने और उपादेय को ग्रहण करे। इसीलिए एक विचारक ने कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जानन्ति केचित् न तु कर्तुमीशाः, कर्तुं क्षमा ये न च ते विदन्ति ।
जानन्ति तत्त्वम् प्रभवन्ति कर्तुं, ते केऽपि लोके विरला भवन्ति ।।

"बहुत-से लोग तत्त्व को जानते हैं, लेकिन वे तदनुसार आचरण नहीं कर सकते, इसके विपरीत बहुत-से लोग करने में समर्थ होते हैं, लेकिन वे तत्त्व को नहीं जानते, कि क्या करना है, क्या नहीं करना है ? कौन-सा तत्त्व हेय, ज्ञेय या उपादेय है, इस बात को वे नहीं जानते । परन्तु जो लोग वस्तु तत्त्व को जानते हैं और तदनुसार व्यवहार या आचरण भी करने में समर्थ हैं, वे तो विश्व में बहुत थोड़े-से इने-गिने हैं ।"

पहले की दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं हैं । एक ओर वे लोग अन्ध स्थिति में हैं, जो तत्त्व को बिलकुल नहीं जानते, न जानने की रुचि है । वे लोग केवल क्रियाकाण्ड में रचे-पचे रहते हैं । उन क्रियाओं का क्या प्रयोजन है, उनका उद्देश्य क्या है, उनसे कौन-सी साधना में किस प्रकार से सहायता मिलती है ? इन बातों को वे नहीं जानते, क्योंकि उनके पास तत्त्वज्ञान के वे दिव्य नेत्र नहीं हैं ।

दूसरी ओर वे लोग हैं, जो तत्त्व को जानते तो हैं, तत्त्व की हेयता, ज्ञेयता और उपादेयता को भी समझते हैं, उस पर लम्बे-चौड़े भाषण भी दे सकते हैं, विस्तृत लेख भी लिख सकते हैं; पर वे तदनुसार आचरण करने में समर्थ नहीं हैं । ऐसे लोग पंगु स्थिति में हैं । आज अधिकांश लोग, विशेषतः ग्रामीण अनपढ़ लोग श्रद्धाशील होकर कुछ करने की भावना लिये हुए हैं, लेकिन क्या और कैसे करना, किस मार्ग से जाना, यह सूझ-बूझ उनमें नहीं है । उनके दिमाग में वस्तु के अन्तस्तत्त्व का ज्ञान नहीं है । अधिक समझाएँ तो वे मोटी-मोटी बातें ग्रहण कर सकते हैं, जबकि पढ़े-लिखे डिग्रीधारी लोग तत्त्वज्ञान की बातें बहुत बघार सकते हैं, व्याख्यान-मंच पर बैठकर तत्त्वज्ञान पर सुन्दर छटादार भाषण दे सकते हैं, परन्तु आचरण के नाम पर वे शून्य हैं । अश्रद्धा और कुतर्क के राहु-केतु उनकी सद्बुद्धि पर आवरण डाले हुए हैं, जिस कारण वे तत्त्वज्ञान की बातों को आचरण में लाने से कतराते हैं । तत्त्वज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करने वाले वे लोग अपने कुव्यसनों, अनावश्यक जरूरतों और मौज-शौक के विचारों के चंगुल से छूट नहीं पाते । इसलिए वे पंगु स्थिति में हैं । भारतीय अध्यात्मज्ञान के एक पुरस्कर्ता ने ठीक ही कहा है—

'एकाग्रोहि बहिर्वृत्ति-निवृत्तस्तत्त्वमीक्षते ।'

"एकाग्र होकर बाह्य वृत्तियों से निवृत्त होने वाला व्यक्ति ही तत्त्व (वस्तु के यथावस्थित स्वरूप) को पाता है ।"

जिनकी रुचि और श्रद्धा ही तत्त्वज्ञान प्राप्त करने तथा तदनुसार व्यवहार या आचरण करने की न हो, वे न तो किसी वस्तु के तत्त्व को जान सकते हैं, और न ही तदनुसार यथार्थ आचरण कर सकते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केवल शब्दों को पकड़ने वाले भी तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते

दूसरी ओर कुछ बुद्धिजीवी लोग ऐसे हैं, जो शास्त्र के शब्दों को पकड़कर अपने मनमाने अर्थ की खींचतान करते रहते हैं। कोरा पाण्डित्य और बौद्धिकता भी जीवन के लिए ऐसा खतरा है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। शस्त्रों का खतरा तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जबकि शास्त्रों का खतरा साक्षात् दृष्टिगोचर नहीं होता। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा है—

"अन्य वासनाओं के खतरे से बचना आसान है, लेकिन शास्त्र-वासना से मुक्त होना अत्यन्त दुष्कर एवं दुःशक्य है। शास्त्रजीवी लोग शास्त्र के शब्दों की छीछालेदर करते हैं, वे उन शब्दों की भावना एवं हार्द को नहीं समझते, उनकी आत्मा को नहीं पकड़ते, केवल स्थूल में ही आग्रहपूर्वक लगे रहते हैं। ऐसे शास्त्रजीवी भी तत्त्व को नहीं पकड़ पाते।"

चार पण्डित काशी में बारह वर्ष तक पढ़े, किन्तु उन्होंने सिर्फ शब्द रटे थे, वे उन ग्रन्थों के हृदय तक नहीं पहुँच पाये। वे एक बार अपनी जन्मभूमि की ओर आ रहे थे, तभी नदी के पार एक ऊँट को तेजी से दौड़ता देख उनमें से एक ने सोचा—धर्मग्रन्थों में कहा गया है—

'धर्मस्य त्वरिता गतिः।'

"धर्म की गति तीव्र है, अतः तीव्र गति से दौड़ने वाला ऊँट ही धर्म है।"

दूसरे पण्डित को श्मशान पर गधे को खड़ा देखकर शास्त्र वाक्य याद आ गया।

'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः।'

"राजद्वार और श्मशान पर जो खड़ा हो, उसे अपना इष्ट बन्धु मानना चाहिए। अतः गधा हमारा इष्ट बन्धु है।"

तभी तीसरे पण्डित को याद आया—

'इष्टं धर्मेण योजयेत्।'

"इष्ट बन्धु को धर्म के साथ जोड़ देना चाहिए।" अतः उसने ऊँट और गधे को एक साथ बाँध दिया।

अब रहा चौथा पण्डित, उसने नदी पार करते समय अपने पण्डित मित्रों को डूबते देखकर तलवार से उनका सिर इसलिए काट लिया क्योंकि नीतिशास्त्र में कहा गया है—

'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः।'

"सम्पूर्ण नष्ट होने की स्थिति में पण्डित आधे को छोड़ देता है, आधे को बचा लेता है।"

उक्त चारों पठित मूर्खों ने—शास्त्र का अवलम्बन लेकर तत्त्व की बातें बघारने वालों ने—शास्त्र का कहीं उल्लंघन नहीं किया। शास्त्र के शब्दों और वाक्यों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का सहारा लेकर ही सब काम किया। लेकिन वे शास्त्र के हार्द—तत्त्व तक नहीं पहुँच पाये।

आज भी धर्म के सम्बन्ध में पण्डित लोग शास्त्रों का प्रमाण देते हैं। शास्त्रों में विधान और निषेध बताकर ही छुआछूत, जन्मना जातिवाद के नाम पर शूद्र के प्रति घृणा करना तथा शूद्र के वेद सुनने पर उसके कान में पिघला हुआ गर्मागर्म शीशे का रस डाल देना आदि बातों का औचित्य सिद्ध कर देते हैं। लेकिन यदि वे शास्त्रों का हार्द पकड़ते, शब्दों की आत्मा का स्पर्श करते तो कदापि शास्त्रों की दुहाई न देते और न ही शास्त्रों के नाम पर इस प्रकार का अत्याचार करते। पशु की बलि देने का विधान है वहाँ शब्दस्पर्शी शास्त्रजीवी काम, क्रोध आदि को पशु न मानकर मूक निर्दोष पशुओं की बलि का जोर-शोर से प्रचार करते नहीं चूकते, जबकि दूसरी ओर **'अहिंसा परमोधर्मः' 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** आदि शास्त्रवाक्य की भी दुहाई देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि तत्त्व से अनभिज्ञ शास्त्रवादी लोग शास्त्रों की वाणी दुहराते हैं, किन्तु उसके साथ युक्ति और आत्मानुभूति को नहीं जोड़ते, इसीलिए तो वे तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते।

धर्माचरण के पुरुषार्थ के साथ तत्त्वज्ञान न हो तो

धर्माचरण में पुरुषार्थ तो हो, लेकिन साथ में तत्त्वज्ञान न हो तो वह साधक आगे जाकर लड़खड़ा जाता है। धर्म जब तत्त्वज्ञान के प्रकाश से वंचित रहता है, तब उसकी गति विपरीत भी हो जाती है। तत्त्वज्ञान से शून्य धर्म को पकड़ना, तलवार या शस्त्र को उल्टा पकड़ना है। ऐसा करने से उस साधक की स्वयं की क्षति बहुत अधिक होती है। देखिए उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २०) में महानिर्ग्रन्थ के सम्बन्ध में अनाथी मुनि कहते हैं—

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसोऽवि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥

"जैसे कोई व्यक्ति कालकूट नामक विष पी लेता है, या शस्त्र को विपरीत रूप में पकड़ता है, वह स्वयं मारा जाता है; वैसे ही कोई साधक धर्म को विषय युक्त रूप में पकड़ता है, वह भी वैतालग्रस्त व्यक्ति की तरह मारा जाता है।"

यह निर्विवाद सत्य है कि तत्त्वज्ञान से रहित धर्म जड़ता, बहम और अन्धविश्वास से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए धर्म के साथ तत्त्वज्ञान का होना बहुत आवश्यक है, तभी धर्म शुद्ध रूप में आचरित होगा। अन्यथा, धर्म में विषय-वासना, सुख-सुविधा, अन्धविश्वास तथा प्रमाद की मिलावट हुए बिना न रहेगी।

पाप का प्रधान कारण : तत्त्वज्ञान का अभाव

यदि सच पूछा जाय तो साधक पाप कार्य में तभी प्रवृत्त होता है; जब उसमें तत्त्वज्ञान नहीं होता। तत्त्वज्ञान के अभाव में उसे यह नहीं सूझता कि मैं जो कुछ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर रहा हूँ, उसका परिणाम क्या आएगा ? क्या ऐसा करना साधु-जीवन के लिए उचित है। तत्त्वज्ञानहीन साधक के सामने जब अनेक परीषह और उपसर्ग, कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ, कष्ट और संकट धर्मपालन के मार्ग में आते हैं तो वह उस समय अपनी आत्मशक्तियों, आत्मगुणों और स्व-स्वभाव को नहीं जान पाता, उन्हें विस्मृत कर बैठता है, परीषह, उपसर्ग आदि के आ पड़ने पर वह तत्त्वज्ञ साधक की भाँति परिस्थितियों का सामना न करके उनसे मुख मोड़ लेता है और सुख-सुविधा वाले किसी भी पाप-मार्ग या अधर्म पथ पर चल पड़ता है अथवा अपनी शक्तियों को भूलकर कठोर परिस्थितियों में वह गिड़गिड़ाने, रोने-धोने या आर्तध्यान करने लगता है, जो कि एक प्रकार का पाप है। अथवा वह निमित्तों को कोसने लगता है कि अमुक व्यक्ति के ऐसा करने से हम पर संकट आए, विघ्न आए और विपत्तियाँ आयीं।

इस प्रकार अमुक दुष्परिस्थितियों के लिए तत्त्वज्ञानहीन साधक दूसरों पर दोषारोपण करने लगता है। ये परिस्थितियाँ स्वयं की ही बनाई हुई हैं, ऐसा नहीं मानता। और इसी कारण वह अधिकाधिक मानसिक संक्लेश पाता है। अगर साधक में तत्त्वज्ञान का सामर्थ्य हो तो वह कैसी भी परिस्थिति और वातावरण में निर्भय रह सकता है, शक्तिहीन नहीं होता। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र (अ० १०) में तत्त्वज्ञ भिक्षु जीवन के सम्बन्ध में कहा है—

जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरव-सद्द-सप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू॥

"जो साधक ग्रामकंटकों (गाँव में आने वाले कष्टों) को तथा आक्रोश, प्रहार, तर्जना (डांट-फटकार), भय, भयंकर शब्द, भयंकर हंसी मजाक आदि को समभाव-पूर्वक सह लेता है, सुख और दुःख में सम रहता है, वही सच्चा भिक्षु है।"

बात यह है कि सुसाधु प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानता है, वह कैसी भी परिस्थिति में अपने तत्त्वज्ञान के बल पर स्थिर रहता है, सन्तुलन नहीं खोता, अधीर होकर दूसरों को भला-बुरा नहीं कहता या आर्तध्यान नहीं करता।

शास्त्रों में मुनि गजसुकुमाल, मैतार्य मुनि, हरिकेशबलमुनि आदि मुनियों पर मरणान्त कष्ट आने का वर्णन जब हम पढ़ते हैं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं परन्तु अगर उनमें मृत्यु का तत्त्वज्ञान न होता तो क्या वे ऐसे भयंकर संकट के समय में समभाव-पूर्वक स्थिर रह सकते थे ? कदापि नहीं। अगर उनमें आत्म-तत्त्व की निष्ठा न होती तो वे भी दूसरों को कोसते, प्रहार करने या कष्ट देने वाले को शत्रु मानकर उसका सामना करते, उसे गाली देते या आक्रोश करते, उसकी शिकायत राजा या अधिकारी से करते अथवा उसे दण्ड दिलाते। परन्तु उनके जीवन में तत्त्वनिष्ठा कूट-कूटकर भरी थी। इसी कारण उन्होंने समभावपूर्वक मृत्यु का वरण किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधक में तत्त्वज्ञान न हो तो सारे सुख, दुःख में बदल जाते हैं

तत्त्वज्ञान संसार का सबसे बड़ा धन और सर्वश्रेष्ठ बल है। इसके अभाव में ही साधक बुराइयों की ओर बढ़ते हैं और उसके फलस्वरूप नाना प्रकार के दुःख उठाते रहते हैं।

किसी मनुष्य के पास धन हो तो वह संसार की मनचाही वस्तुएँ खरीद सकता है, किन्तु अगर उसे धन का ठीक तरह से उपयोग करना नहीं आता या उससे विषय-वासनाओं पोषण करके स्वास्थ्य को चौपट कर देता है तो वह उन मनचाही वस्तुओं का उपयोग नहीं कर सकता। अच्छी-अच्छी वस्तुएँ एक किनारे धरी रहेंगी, वह टुकुर-टुकुर देखता रहेगा, पर बीमारी होने से उनका उपभोग करना सम्भव न होगा, उनसे उसे परहेज करना होगा। ऐसा क्यों? क्योंकि उस व्यक्ति में तत्त्वनिष्ठा नहीं है, इसी से सुख के साधन भी उसके लिए दुःख रूप में परिणत हो जाते हैं।

मनुष्य अपने बाहुबल से बड़ी से बड़ी सत्ता अर्जित कर लेता है। परन्तु यदि उसमें तत्त्वज्ञान का बल नहीं है तो सत्ता अर्जित करने का सुख भी दुःख में पलटकर संकट उत्पन्न कर सकता है।

एक राजा था। उसका राज्य बहुत विशाल था। पर उस राज्य की एक विचित्र परम्परा थी कि पाँच वर्षों के बाद शासनासीन राजा को निकटवर्ती भयानक जंगल में छोड़ दिया जाता था, जहाँ बाघ,चीते, सिंह आदि खूंखार जंगली जानवर उसे फाड़कर खा जाते और वह समाप्त हो जाता। उसकी जगह जो दूसरा राजा राजगद्दी पर बैठता, उसकी भी पाँच वर्ष बाद यही दुर्गति होती थी। राजा को राज-महल, वैभव, अन्तःपुर तथा नौकर-चाकर, सुख-सुविधाएँ, ठाठ-बाट आदि सभी सुख-साधन उपलब्ध थे, लेकिन तत्त्वज्ञान न होने से ये ही साधन उसके लिए मानसिक क्लेश और दुःख के कारण बन जाते थे। जब-जब राजा राजमहल के झरोखों से भयंकर जंगल की ओर देखता तो उसके मुँह से एक आह निकल पड़ती—"हाय! ये सुख के साधन मेरे लिए क्या काम आएँगे? पाँच वर्ष बाद तो मुझे इस दुःख की भट्टी—जंगल में छोड़ दिया जायेगा, मैं इन हिंसक जन्तुओं का भक्ष्य बन जाऊँगा।"

राजा इस प्रकार सुख के सभी साधन होते हुए भी तत्त्वज्ञान के अभाव में दुःखी था।

एक दिन उस राजा के राज्य में एक तत्त्वपरायण साधु आ गया। राजा ने सुना तो अत्यन्त श्रद्धाभक्तिपूर्वक साधु की सेवा में पहुँचा। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'

"अगर तू जिज्ञासु होकर तत्त्वदर्शी ज्ञानी के पास जाएगा, तो वे तुझे ज्ञानोपदेश देंगे।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा जब पहुँचा तो उसने ज्ञानी साधु को प्रणाम किया और जिज्ञासुभाव से उनके समक्ष बैठा। तत्त्वज्ञानी साधु ने राजा का चेहरा उदास और खिन्न देखकर जान लिया कि यह किसी विपत्ति का मारा हुआ है। अतः राजा से उदासी एवं खिन्नता का कारण पूछा तो उसने अपनी सारी कष्टकथा सुनाई और कहा—"महात्मन्! इससे तो अच्छा है, मैं एक साधारण मनुष्य रहता, राजा न बनता, क्योंकि मेरे सामने पाँच वर्ष बाद मौत नाचती दिखाई दे रही है, वह इन सब सुख-साधनों को दुःखसाधन बना रही है। मुझे ऐसा कोई उपाय बताइए, जिससे मैं इस दुःख से मुक्त हो सकूँ।"

तत्त्वज्ञ साधु ने राजा की सारी आपबीती सुनकर शान्ति से उत्तर दिया—"राजन्! तुम्हारे हाथ में अभी लगभग पाँच वर्ष तो हैं न? फिर क्यों चिन्ता करते हो? पाँच वर्ष में तो तुम अपने सारे दुःखों से मुक्त हो सकते हो।"

राजा—"महात्मन्! वह कौन-सा उपाय है, जिससे मैं दुःख से मुक्त हो सकूँ।"

तत्त्वज्ञ साधु ने कहा—"उपाय तुम्हारे हाथ में है। सर्वप्रथम तो तुम्हें अपने मन से इस ममत्व को हटा देना है कि राज्य, वैभव, ठाठ-बाट, खजाना, सुख-साधन आदि मेरे हैं। साथ ही तुम्हें अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिवार, जनता आदि सचेतन एवं धन, वैभव, राज्य आदि अचेतन वस्तुओं पर से मेरेपन का भाव हटा लेना है। यह सोचना है, ये सब चीजें मेरी नहीं हैं, मेरी तो सिर्फ आत्मा है, जो कभी नष्ट नहीं होती। अगर शरीर आदि सभी वस्तुएँ तेरी होतीं तो तुझ से कभी अलग क्यों होतीं? ये सब चीजें नाशवान हैं, तेरी नहीं हैं, सिर्फ संयोग के कारण तू इन्हें अपनी मान बैठा है। यह ममत्व जिस दिन मेरे चित्त से हट जायगा, बस फिर दुःख का नामोनिशान न रहेगा।"

भगवान महावीर ने कहा है—

दुक्खं हयं जस्स न होई मोहो।

"जिसका इन पर-भावों पर से मोह हट जाता है, समझ लो, उसका दुःख नष्ट हो गया।"

यह उपाय राजा के गले उतर गया और उसी दिन से राजा ने ममत्व-त्याग की साधना प्रारम्भ कर दी। आप मानें या न मानें, एक ही महीने में राजा के चित्त में शान्ति हो गई।

एक दिन फिर जब राजा प्रसन्नचित्त होकर तत्त्वज्ञ साधु के पास पहुँचा तो उसने दूसरा पुण्यमय उपाय बताया—"राजन्! अब दूसरा उपाय यह करो कि तुम्हारे पास अपार सम्पत्ति है, उससे इस भयानक जंगल को बस्ती में बदल दो, नया नगर बसा दो। और जो भी इसमें बसना चाहे, उसके लिए पाँच वर्ष तक फ्री आवास का प्रबन्ध कर दो। उन नवीन नगरवासियों को सब तरह की सुख-सुविधाएँ दो,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और तुम्हारा पंचवार्षिक राज्यकाल समाप्त होते ही तुम भी उसी नगर में—जहाँ आज भयानक जंगल है—बस जाओ। वहाँ फिर खूँखार जानवरों की जगह सभ्य नागरिक होंगे। वे तुम्हारा सम्मान करेंगे, तुम्हारे प्रति कृतज्ञ एवं श्रद्धावान भी रहेंगे। मैं समझता हूँ, जिसे आज तुम भयंकर नरक समझ रहे हो, पाँच वर्ष में तो वह स्वर्ग का नन्दनवन बन जाएगा।"

राजा इस उपाय को सुनते ही हर्ष से उछल पड़ा। कहने लगा—"धन्य हो महाराज ! आपकी सुबुद्धि को, आपके तत्त्वज्ञान को। मैं तो आपकी तत्त्वज्ञानमयी प्रेरणा से कृतकृत्य हो उठा।"

वह तत्त्वज्ञ साधु तो कुछ दिन बाद ही वहाँ से चला गया। मगर राजा ने अपने जीवन का और साथ ही उस भयंकर वन का कायापलट कर दिया।

बन्धुओ ! जब तक राजा को तत्त्वज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई थी, तब तक उसका जीवन कितना आर्तध्यान में बीतता था, और जब तत्त्वज्ञान पाया तो सारा ही जीवन बदल गया। राजा स्वयं सुखी हो गया। राजा के पास जो पहले साधन थे, उतने ही बाद में रहे, पर उसकी दृष्टि में, उसके रुख में परिवर्तन आ गया। राजा जिन साधनों को अपने मानता था, उन्हें अब सबके मानने लगा। सबके उपकार के लिए उन साधनों का प्रयोग करने लगा।

यह है तत्त्वज्ञान के अभाव में और तत्त्वज्ञान के सद्भाव में मानव जीवन का अलग-अलग रूप ! वास्तव में तत्त्वज्ञान के अभाव में किसी भी व्यक्ति का जीवन सुख-शान्तिमय नहीं हो सकता, विशेषतः साधु का जीवन तो तत्त्वज्ञानपरायणता के अभाव में नरक-सा बन जाता है।

तत्त्वज्ञान के अभाव में साधक की भ्रान्तियाँ

तत्त्वज्ञान जब किसी साधु या सज्जन पुरुष में नहीं हो तो उसे अपनी आत्मशक्ति पर ही विश्वास नहीं होता, उसका मनोबल गिर जाता है। बहुधा साधक लोग किसी अतत्त्वज्ञ से परामर्श लेकर उसके मार्गदर्शन में चलते हैं तो वे गुमराह हो जाते हैं, वे स्वयं तत्त्वज्ञान के अभाव में अपना आत्मोत्कर्ष नहीं कर पाते। कई साधु-बाबा त्याग, वैराग्य, तितिक्षा आदि की बहुत लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं। परन्तु साथ में तत्त्वदृष्टि न होने से उनमें आलस्य, प्रमाद, कटुवचन, नशेबाजी, भाग्यवाद, कर्तव्यों और दायित्वों से पलायन, अन्धविश्वास आदि अनेक दोष प्रविष्ट हो जाते हैं। बाहर से सीधे-सादे, भोले-भाले लगते हुए भी ऐसे साधुबाबा भीतर से तत्त्वज्ञान से शून्य होते हैं, इसलिए उनमें जिज्ञासावृत्ति की कमी होती है, वे प्रायः अनुकरणशील, परम्परापरायण और गतानुगतिक हो जाते हैं।

तत्त्वपरायणता के अभाव में किस प्रकार साधक अपने कर्तव्य से भटक जाता है, इसे उपनिषदकालीन प्रकृति-उपासक दो ऋषियों की घटना से समझिए—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिन ढल रहा था। रम्य वनस्थली में एक पर्णकुटी में से कुछ धुंआ-सा उठ रहा था। कुटीर निवासी दो ऋषि शनक तथा अभिप्रतारी अपना भोजन तैयार कर रहे थे। वनवासियों का भोजन था—कुछ फल; कुछ दूध और थोड़े-से कंद-मूल। भोजन लगभग तैयार हो चुका था, केले के पत्तों पर उसे परोसा जा रहा था।

तभी बाहर किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। दोनों ने जानने का प्रयत्न किया—बाहर एक युवा ब्रह्मचारी खड़ा था।

ऋषि ने पूछा—"कहो वत्स ! क्या चाहिए ?"

ब्रह्मचारी युवक विनम्र स्वर में बोला – "आज सबेरे से मुझे कुछ भी प्राप्त न हो सका। मैं क्षुधा से अत्यन्त व्याकुल हूँ। यदि कुछ भोजन मिल जाता तो बड़ा अच्छा होता।"

कुटीर-निवासी कहने को ऋषि थे, पर तत्त्वद्रष्टा नहीं थे, उनका हृदय उदार कैसे होता ? अत्यन्त संकीर्ण हृदय के थे। मात्र सिद्धान्तवादी या यों कहिए तत्त्ववादी थे, तत्त्वदृष्टा नहीं। इसलिए उन्होंने रूखे और तीखे स्वर में कहा—"किसी गृहस्थ के यहाँ जाओ। यहाँ तो हम वनवासी अपने उपभोगभर का भोजन जुटाते हैं।"

आगन्तुक को निराशा और मानसिक पीड़ा इस बात से नहीं हुई कि उसे भोजन न मिल सका था, अपितु इसलिए हुई कि अगर कोई सांसारिक मनुष्य इस प्रकार का उत्तर देता तो ठीक था, वह उसके भौतिकतावादी—मोहयुक्त दृष्टिकोण का परिचायक होता, लेकिन ये बनवासी ऋषि तो अपने आपको संसार की मोहमाया से परे और आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का अधिकारी मानते हैं, उनके द्वारा ऐसा उत्तर उचित न था। युवक ब्रह्मचारी यद्यपि पूरा तत्त्वनिष्ठ नहीं था, फिर भी तत्त्वबोध की किरण का स्पर्श उसे हो गया था। अतः चुपचाप चले जाने की अपेक्षा युवक ने उचित समझा कि इन अज्ञानमग्न ब्रह्मवादी ऋषियों को इनकी भूल का बोध करा दूँ। अतः उसने उन्हें पुनः आवाज दी। झुंझलाते हुए दोनों ऋषि कुटिया से बाहर आये। तब युवक बोला—"क्या मैं यह जान सकता हूँ कि आप किस देव की उपासना करते हैं ?"

यह सुनकर ऋषियों को तनिक क्रोध आ गया। इधर भोजन करने में विलम्ब हो रहा था, उधर उदर की जठरानि प्रदीप्त हो रही थी। अतः वे झल्लाकर बोले—"बड़े असभ्य मालुम होते हो जी, तुम ! समय-कुसमय नहीं देखते। हमारा इष्टदेव वायु है, जिसे प्राण भी कहते हैं।"

"तब तो आप अवश्य ही जानते होंगे कि वह व्यापक है, जड़-चेतन सभी में ?" उस ब्रह्मचारी ने कहा।

ऋषि बोले—"यह सब तो हमारे लिए जानना अनिवार्य है।"

ब्रह्मचारी—"तब फिर यह भोजन आपने किसके निमित्त तैयार किया है ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऋषि सगर्व बोले—"हमारा प्रत्येक कार्य अपने उपास्य को समर्पित होता है।"

ब्रह्मचारी ने मन्दस्मित के साथ कहा—"तब तो आप मानते हैं न, कि यदि प्राणतत्त्व समस्त संसार में व्याप्त है तो, वह मुझ में भी है ?"

ऋषि अब निरुत्तर हो गए। वे अनजाने ही इस युवक ब्रह्मचारी के समक्ष हार चुके थे। उनका अहं और अज्ञान विगलित होता जा रहा था। आवेश का स्थान अब विनम्रता लेती जा रही थी।

शनक धीमे स्वर में बोला—"तुम सत्य कहते हो, ब्रह्मचारी ! अवश्य ही तुममें भी वही प्राण है, वही वायु व्याप्त है जो सारे संसार का आधार है।"

ब्रह्मचारी संयत स्वर में बोला—"तो हे ज्ञानी ऋषियो ! आपने मुझे भोजन देने से इन्कार करके अपने इष्टदेव का ही अपमान किया है। चाहे भोजन प्रचुर मात्रा में हो, चाहे एक कणभर हो, मात्रा में अन्तर हो सकता है, किन्तु उसके तत्त्व की एकरूपता में कोई अन्तर नहीं आता। आशा है, आप मेरी इस बात का कुछ और अर्थ न लगायेंगे।"

ब्रह्मचारी का तत्त्वज्ञान से भरा उत्तर दोनों ऋषियों के हृदय में उतर गया। दोनों अत्यन्त लज्जित हुए खड़े थे। उन्होंने तत्काल अपनी भूल को सच्चे हृदय से स्वीकारते हुए विनम्र स्वर में कहा—"ब्रह्मचारी जी ! हमसे बड़ी भूल हो गई है। मालूम होता है, तुमने किसी योग्य गुरु से तत्त्वज्ञान पाया है। इसी कारण उम्र में हमसे छोटे होते हुए भी तत्त्वज्ञानी हो। अब कृपा करके हमारी कुटी में आओ और भोजन ग्रहण करके हमें अपनी भूल का प्रायश्चित्त करने का अवसर दो।"

और वे दोनों ऋषि सादर उस ब्रह्मचारी युवक को कुटी में ले गये। पाद-प्रक्षालन करा कर अपने साथ बैठाकर ससम्मान भोजन कराया।

उस दिन से वे अपनी पर्णकुटी में ऐसी व्यवस्था रखते कि कोई भी अतिथि या यात्री किसी समय आए, वे भोजन किये बिना न जाने देते। अब उन्हें अपने इष्ट देव की उपासना का तत्त्व—सच्चा स्वरूप समझ में आ गया था।

बन्धुओ ! साधक की पात्रता की सच्ची कसौटी उसके तत्त्वज्ञान से होती है। समाज में चिरकाल तक उसी को प्रतिष्ठा मिलती है, जो साधक तत्त्वज्ञान से ओत-प्रोत हो।

वस्तुतः मानवीय प्रतिभा का विकास, आध्यात्मिक उत्कर्ष और धर्म का अभ्युदय तत्त्वज्ञान से होता है। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके महान व्यक्तित्व का विकास तत्त्वज्ञान से हुआ है। सार्थक साधक-जीवन की आधारशिला तत्त्वज्ञान-निष्ठा है। साधु के लिए तत्त्वज्ञान आत्मा का नेत्र कहा गया है। वह तत्त्वज्ञान आगमों से भी होता है। इसलिए समयसार में कहा गया है—

'आगमचक्खू साहू'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधु के पास आगम (तत्त्वज्ञान) रूपी नेत्र होता है। नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए सारा लोक अन्धकारमय है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानहीन साधक के लिए इस संसार में जो भी कुछ उत्कृष्ट है, उसे देख सकना असम्भव है। इसीलिए भगवान महावीर ने अपनी ओजस्विनी वाणी में साधकों को कहा है—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥

"समस्त (तत्त्व) ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान तथा मोह के दूर होते ही, जब राग और द्वेष का संक्षय हो जाता है तब साधक एकान्तसुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"

निष्कर्ष यह है कि तत्त्वज्ञान के आधार पर ही साधक श्रेय और पाप का, धर्म और कर्तव्य का, शुभाशुभ का, एवं उचितानुचित का तथा हेयोपादेय का विवेक कर सकता है।

पापमय प्रलोभनों एवं इन्द्रिय-विषयों के आकर्षणों के पार अन्तः दूरवर्ती हित का देख सकना तत्त्वज्ञान से ही सम्भव है। इसीलिए महर्षि गौतम ने साधनामय जीवन के लिए तत्त्वज्ञानपरायणता अनिवार्य बताई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४६

सुसाधु होते तत्त्वपरायण—२

धर्मप्रेमी बन्धुओं !

पिछले प्रवचन में मैंने इसी जीवनसूत्र के सम्बन्ध में प्रकाश डाला था। आज भी इसी जीवनसूत्र के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में मैं चर्चा करूँगा। पिछले प्रवचन में तत्त्व, उसका ज्ञान तथा तत्त्वज्ञानपरायणता के स्वरूप, तथा साधु-जीवन में तत्त्वज्ञान न होने से हानि एवं होने से लाभ के सम्बन्ध में अच्छे ढंग से विश्लेषण किया है। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न और अवशेष रह जाते हैं—जैसे कि तत्त्वज्ञानी साधु बन्धन के प्रसंगों में भी कैसे बन्धनमुक्त रह जाते हैं ? अभावों में भी कैसे सुख मानते हैं ? तत्त्वज्ञानी पुरुष जीवन को किस समझदारी से बिताते हैं ? तत्त्वज्ञानी की पद्धति क्या है ? उसका पारमार्थिक, निष्पक्ष एवं सेवाभावी जीवन कैसा होता है ? शाश्वत सौन्दर्य, सुख, वैचारिक जागृति, अनासक्त कर्मयोग, समभाव आदि का तत्त्व-ज्ञान कैसा होता है ? तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधु के जीवन में क्या विशेषताएँ होती हैं ? इत्यादि; इन प्रश्नों को मैं इस प्रवचन में क्रमशः स्पर्श करूँगा।

तत्त्वज्ञान-परायण साधु के लिए बन्धन भी अबन्धन

आपका यह तो प्रतिदिन का अनुभव है कि साधारण आदमी क्रोध का प्रसंग आने पर उत्तेजित हो उठता है, अभिमान या मद, फिर वह चाहे जाति का हो, प्रान्त का हो, राष्ट्र का हो, भाषा का हो, वर्ण का हो या धर्म-सम्प्रदाय आदि का हो, साधारण मनुष्य उसमें झटपट लिप्त हो जाता है। और भेदभाव के चक्कर में आकर वह राग-द्वेष से युक्त हो जाता है। अपने आप को शेष समाज के अलग मानने लगता है। इस प्रकार मानव-जाति के वह टुकड़े-टुकड़े कर देता है, उन टुकड़ों को केवल व्यवस्था हेतु सीमित रखे तब तक तो ठीक है, परन्तु उन टुकड़ों को वास्तविक और ईश्वरकृत मान लेता है, तब तो स्वार्थ, घृणा, अहंकार, मत्सर, क्रोध आदि उसमें आ जाता है। इसी प्रकार साधारण व्यक्ति इष्ट पदार्थ के वियोग एवं अनिष्ट पदार्थ के संयोग के अवसर पर शोकसंतप्त एवं विक्षुब्ध हो उठता है, तथैव इष्ट के संयोग और अनिष्ट के वियोग में हर्षित होकर फूल उठता है।

तत्त्वपरायण साधक का रवैया कुछ दूसरा ही होता है, उसका दृष्टिकोण ही निराला होता है। जबकि साधारण आदमी क्रोधादि के प्रसंग पर तत्त्वज्ञान के अभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में कर्मबन्ध कर लेता है, क्योंकि राग और द्वेष, ये दो ही मुख्यतया कर्मबन्धन के कारण हैं। वह जाति आदि के भेदभाव से युक्त होकर राग-द्वेषवश कर्मबन्ध करता है, तथैव इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग के अवसर पर भी। परन्तु तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधक क्रोध, अभिमान, लोभ, मोह, और मत्सर आदि के प्रसंगों में उत्तेजित, आसक्त एवं मूढ़ नहीं बनता, वह समभावपूर्वक शान्ति और विवेक के साथ अपना कदम बढ़ाता है। इसी प्रकार वह जाति, धर्म-सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त या संकीर्ण राष्ट्रवाद को कतई स्थान नहीं देता, और न परस्पर भेद करके एक दूसरे से घृणा, द्वेष, वैर या मोह करता है। वहाँ भी वह समभावपूर्वक व्यवहार करता है। **'पण्डिताः समदर्शिनः'** की उक्ति ऐसे ही तत्त्वपरायण साधकों के लिए है। वह इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगों के अवसर पर भी अपना सन्तुलन नहीं खोता, वह रोता-धोता नहीं, न आर्तध्यान करता है, इसी प्रकार अनिष्ट-वियोग एवं इष्टसंयोग के समय भी वह हर्षित होकर फूलता नहीं। यही कारण है कि वह राग-द्वेष से दूर रहने के कारण कारण कर्मबन्ध नहीं करता।

योग वाशिष्ठ में कहा है—

'विचारात् ज्ञायते तत्त्वं, तत्त्वाद् विश्रान्तिरात्मनि।'

"विचार से तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से आत्मा में शान्ति प्राप्त होती है।"

तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति इन्द्रियों के मनोज्ञ एवं प्रलोभनकारी विषयों के मिलते ही एकदम आकर्षित हो जाता है और उनमें फँस जाता है, जबकि तत्त्व-परायण साधक इन्द्रिय-विषयों की वासना और प्रलोभनों की तृष्णा के नचाये नहीं नाचते। वे इन्द्रियों के तत्त्व को भलीभाँति जानते हैं। यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी साधक जब परिपक्व हो जाते हैं तब उन्हें कैसे भी आकर्षणकारी एवं प्रलोभनकारी वातावरण में रख देने पर भी वे लुब्ध नहीं होते।

कामविजेता स्थूलभद्र का नाम तो आपने सुना ही होगा। बारह वर्ष तक वे कोशा वेश्या के प्रणय-बन्धन में इस तरह फँसे रहे कि उन्होंने अपने पिता, भाइयों तथा सम्बन्धियों तक की भी सुध न ली और पिता की मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को वासना से विरक्ति हो गई। यद्यपि कोशा ने अपने आप को तन-मन से स्थूलभद्र के प्रति समर्पित कर दिया था, फिर भी कोशा के प्रति उनका आकर्षण एकदम समाप्त हो गया और एक दिन कोशा के महलों में सौन्दर्य की अर्चना करने वाला स्थूलभद्र अब आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए चल पड़े, घरबार, पाटलिपुत्र, कोशा, कुटुम्बीजन आदि सबको छोड़कर।

स्थूलभद्र पंचेन्द्रिय विषयों के तत्त्वों का गहराई अध्ययन-मनन एवं निदि-ध्यासन करके लगे। पहले आत्मतत्त्व का दर्शन (स्पर्श), आत्मतत्त्व का अन्तर्दर्शन (ज्ञान) यानी उसका सभी पहलुओं से ज्ञान, और फिर वे आत्मतत्त्व के आनन्द के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप में उसमें मन को रमण कराने लगे। जब उनकी तत्त्वनिष्ठा परिपक्व हो गई तो उन्होंने अपने गुरुदेव के चरणों में निवेदन किया—"गुरुदेव ! मैं अब कोशा को प्रतिबोध देने हेतु उसके यहाँ वर्षावास बिताने की आज्ञा चाहता हूँ।" गुरुदेव ने उनके तत्त्वज्ञान की परिपक्व दशा देखकर सहर्ष आज्ञा दे दी।

तत्त्वनिष्ठ स्थूलभद्र मुनि ने कोशा के भव्य भवन में प्रवेश किया। साधु के वेष में भी तत्त्वज्ञानी स्थूलभद्र का देदीप्यमान चेहरा अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। उनके मुखमण्डल पर तप-संयम का तेज कम आकर्षक न था। कोशा तो उन्हें देखते ही मुग्ध हो गई, वर्षों के अरमान पूरे होने की उसकी आशा जाग उठी। चिर-विरह की धूप के बाद वर्षा का सुहावनापन जिस तरह मन को भा जाता है, वैसे ही स्थूलभद्र को अचानक आये देखकर प्रसन्नता से पागल-सी हो उठी। उसके भवन में फिर से बहार आ गई।

कोशा ने अपना सारा महल सुसज्जित, सुगन्धित और आकर्षक बनवा डाला। कोशा ने वे उत्तम वस्त्राभूषण धारण किये, जिन्हें ससुराल जाने से पूर्व दुल्हन पहली बार धारण करती है।

तत्त्वज्ञ स्थूलभद्र के हृदय में पाँचों ही इन्द्रियों के मनोमोहक आकर्षण और प्रलोभनों के वातावरण में भी शान्ति, सन्तुलन एवं समता थी। वे निर्लिप्त भाव से अपने आत्मचिन्तन में बैठे थे। प्रत्येक वस्तु का यथास्थित स्वरूप वे जानते थे। विचलित होने का कोई प्रश्न नहीं था।

परन्तु अब इससे भी अधिक विस्खलित कर देने वाला दृश्य उनके सामने उपस्थित था। सोलह शृंगारों से सजी रूपसी कोशा उनके समक्ष हाव-भाव, कटाक्ष एवं अभिनय के साथ नृत्य, गीत और वाद्यसहित उपस्थित थी। बहुत अनुनय-विनय किया उसने अपने भूतपूर्व हृदयेश्वर को रिझाने, मनाने का। लेकिन तत्त्वज्ञ स्थूलभद्र तो आत्मा के असीम सौन्दर्य में लीन हो गये थे। उन्हें कोशा का सौन्दर्य फीका लग रहा था। कोशा उन्हें एक चंचल बालिका-सी लग रही थी। वह आज हैरान थी कि उसके कामदेवता बोलते क्यों नहीं ? पूर्ववत् उन्हें उसके शरीर और सौन्दर्य पर मोह क्यों नहीं ? उसे क्या पता था कि स्थूलभद्र तो अब विनश्वर सौन्दर्य की अपेक्षा शाश्वत सौन्दर्य में लीन हैं। वे प्रत्येक आत्मा के आन्तरिक तत्त्व, अन्तः-सौन्दर्य को निहारते हैं। फिर भी कोशा ने हिम्मत न हारी, आशा न खोई। उसने प्रतिदिन नित नये शृंगार सजे, गीत-नृत्य और वाद्य नव-नवीन स्वरों में प्रस्तुत किये, किन्तु कामविजेता स्थूलभद्र को वह जरा भी मोहित, चलित एवं विस्खलित न कर सकी। वे अपने आत्मतत्त्व पर चट्टान के समान दृढ़ रहे। तत्त्वज्ञ कामविजेता स्थूलभद्र मुनि के चातुर्मासिक सान्निध्य से कोशा का भी हृदय परिवर्तन हो गया। वह भी बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आत्मिक सौन्दर्य की पुजारिन बन गई। उसने गणिकावृत्ति छोड़ दी। वह व्रतबद्ध श्राविका बन गई।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हाँ तो मैं कह रहा था कि तत्त्ववेत्ता स्वयं भी विषयादि प्रलोभनों से डिगता नहीं और दूसरों को भी अपनी तत्त्वनिष्ठा से प्रभावित करके मूल एवं स्वाभाविक धर्म पर स्थिर कर देता है, उनमें आत्मनिष्ठा जगा देता है।

स्थूलभद्र मुनि की कथा को तो काफी अर्सा हो गया, वर्तमान युग के तत्त्व-परायण स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक घटना सुनिए—

खेतड़ी के राजा अजितसिंह स्वामी विवेकानन्द को अपना गुरु मानते थे। एक बार राजा और दरबारी लोग एक वाटिका में बैठे थे। राजा साहब को कुछ उदासी और सुस्ती प्रतीत हुई। उन्होंने संगीत-निपुण एक वृद्धा गायिका को गायन सुनाने का आदेश दिया। स्वामी विवेकानन्द भी उन दिनों राजा साहब के यहाँ पधारे हुए थे। अतः उन्होंने स्वामीजी को भी गायन सुनने के लिए बुला भेजा। स्वामीजी ज्योंही पधारे गायिका ने गाना प्रारम्भ किया। प्रथम तो स्वामीजी संन्यासी के शिष्टाचार के अनुसार वहाँ के झट उठकर चल दिये। लेकिन गायिका अपनी मस्ती में गाती रही—"**प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो**", यह सूरदासजी का प्रसिद्ध भजन।

कहते हैं, स्वामीजी ने बाहर जाकर जब गीत की सारी कड़ियाँ सुन लीं तो सहसा ठिठक गये और उसके तत्त्व पर विचार करने लगे—'क्या तू तत्त्वज्ञानी और अद्वैतवाद का पुरस्कर्ता वेदान्ती संन्यासी होते हुए भी गायकों की आत्मा से घृणा करता है? घृणा पाप से होती है, पापी से घृणा कैसी? और फिर पूजागृह के लोहे और वधिकगृह के लोहे में क्या पारस अन्तर करता है? क्या गंगा नदी नाले का गन्दा पानी और छोटी पहाड़ी नदी का स्वच्छ पानी दोनों को अपने में एकभाव से नहीं समा लेती? फिर तू समदर्शी और तत्त्वज्ञानी होते हुए भी इस माता के प्रति क्यों हृदय में भेदभाव को लिये हुए हैं?

बस, स्वामीजी इस तत्त्वचिन्तन में इतने डूब गये कि उनकी आँखों से अश्रु-धारा बह निकली।

वे गीत के अन्त में फिर लौटे, वृद्धा गायिका को अपनी शिक्षिका, गुरुणी तथा माता माना। इस घटना के बाद उस वृद्धा गायिका ने अपना शेष समस्त जीवन प्रभुभक्ति के गीत गाने में सात्त्विकता से बिताया।

यही कारण है कि तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधक बंधन के प्रसंगों में भी सावधान होकर बन्धन से दूर रहते हैं। वे स्वतन्त्र विचार के धनी होते हैं।

तत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति मुँह से तो कहता है—हमें बन्धन से मुक्त होना है, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो वह बन्धन से मुक्त होना नहीं चाहता, बंधन में पड़े रहने में ही उसे आनन्द आता है।

एक व्यक्ति ने एक तोते को पिंजरे में बन्द कर रखा था। एक सन्त ने उसके मालिक से पूछा—"भाई! इस तोते को तुमने पिंजरे में क्यों बन्द कर रखा है?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसने इसका कुछ भी जवाब दिये बिना तुरन्त पिंजरे का द्वार खोल दिया। तोता बन्धन से मुक्त हुआ, थोड़ा उड़ा, परन्तु आप आश्चर्य करेंगे कि बन्धन में ही सुख मानने वाला वह तोता आकाश में कुछ चक्कर लगाकर फिर आकर उसी पिंजरे में बंद होकर बैठ गया।

क्या आज तत्त्वज्ञान से हीन साधारण मनुष्यों की स्थिति इस तोते जैसी नहीं है? वे तत्त्व का स्वाभाविक आनन्द लेना भूल गये हैं, वे प्रवचन भी सुनते हैं, शास्त्र की पवित्र वाणी उनके कानों में पड़ती है, बन्धन मुक्ति की बातें कई बार स्वयं भी करते हैं किन्तु घूम-फिरकर पुनः उसी मोह-माया के बन्धन में—स्त्री-पुत्र धन-सम्पत्ति आदि के मोह में और शरीर, इन्द्रियों आदि की गुलामी के बन्धन में पुनः पड़ जाते हैं। कभी मसानिया वैराग्य आ भी जाता है तो वह चिरस्थायी नहीं होता। क्षणिक आवेश एवं सोडावाटर के उफान की तरह वैराग्य का उफान उन्हें आता है, और फिर वे संसार के उसी प्रवाह में बहे चले जाते हैं।

उन सांसारिक लोगों में तत्त्वज्ञान की झाँकी कब तक टिकती है? जब तक कि विषय-वासना का झोंका न आ जाए, कषायों की जरा-सी आँच न लगे, क्योंकि उनके तत्त्वज्ञान की जड़ें गहरी नहीं हैं। वृक्ष की जड़ें जितनी गहरी होती हैं, उतने ही वे ऊपर को बढ़ते, फलते-फूलते और मजबूत होते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान की जड़ें जिसकी जितनी गहरी होती हैं, उसका जीवन उतना ही वृद्धिगत एवं पुष्पित-फलित होता है, साथ ही उतना ही वह सुदृढ़ होता है। चाहे जितनी वासना की आँधियाँ चलें, चाहे जितनी कषायों की आग चारों ओर भड़के, वह शीतल, शान्त, निर्विकार, सिद्धान्तनिष्ठ, अटल-अचल होता है। तत्त्वज्ञानशून्य साधारण मानवों में यह बात नहीं होती।

स्प्रिंग लगे हुए गद्दे पर बैठते ही वह नीचे को दब जाता है, परन्तु उठने के साथ ही वह फिर पहले की तरह ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार सांसारिक पुरुष जब तक धर्म की या आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की बातें सुनते हैं, तब तक उनके विचार धार्मिकता तथा रटे-रटाए या धर्मग्रन्थों के द्वारा मस्तिष्क में ठूंसे हुए थोड़े-बहुत तत्त्व-ज्ञान में युक्त रहते हैं, परन्तु ज्यों ही वे किसी सांसारिक व्यवहार में जुटते हैं, त्यों ही वे उन धार्मिकता एवं तत्त्वज्ञान के उच्च तथा उत्तम विचारों एवं आदर्शों को भूलकर पूर्ववत् आचार-विचारयुक्त बन जाते हैं।

लोहा जब तक भट्टी में रहता है, तब तक वह लाल सुर्ख रहता है, मगर भट्टी से बाहर निकलते ही फिर पहले की तरह काला हो जाता है। तत्त्वनिष्ठा से दूर साधारण सांसारिक लोगों की भी यही हालत है। वे धर्मस्थानों, मन्दिरों, उपासना-गृहों या साधु-सन्तों के प्रवचन-श्रवणार्थ सत्संग में रहते हैं, तब तक विरक्ति या श्रेष्ठ भावों में अनुरक्त रहते हैं, परन्तु वहाँ से बाहर निकलते ही श्रेष्ठ भावों को भूलकर पूर्ववत् विषय-वासनाओं के काले भावों में डूब जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मक्खियाँ हलवाई की दुकान में बिक्री के लिए रखी हुई मिठाइयों पर आकर बैठती हैं, लेकिन जब वे आसपास विष्ठा से भरी हुई टोकरियाँ या गंदगी का ढेर देखती हैं तो तुरन्त उन मिठाइयों को छोड़कर उन विष्ठा से भरी मैली टोकरियों या गन्दगी पर बैठ जाती हैं। परन्तु मधुमक्खी ऐसा नहीं करती। वह सदैव फूलों के मधु-आस्वादन में लगी रहती है।

संसार में फँसे हुए तत्त्वज्ञानहीन मनुष्य भले ही जरा-सी देर के लिए धर्म-ग्रन्थों से या प्रवचन-श्रवण से आध्यात्मिक ज्ञान का आनन्द ले लें, क्षणिक आस्वाद पा लें, परन्तु विषय-वासना की गन्दगी की तरफ उनकी स्वाभाविक संस्कारबद्ध प्रवृत्ति होने के कारण वे फिर झटपट उसी तरफ लौट आते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानी अध्यात्मरस के रसिक साधु पुरुष उन मधुमक्खियों की तरह सदैव सतत तत्त्वज्ञान के मधुर आस्वाद में या अध्यात्मज्ञान के दिव्य आनन्द में ही मग्न रहते हैं, विषय-वासनाओं की गन्दगी का तरफ उनका ध्यान जाता ही नहीं।

मछली पकड़ने के लिए बने हुए बांस के जाल में चमकते हुए पानी को बहते हुए देखकर छोटी-छोटी मछलियाँ उसमें बड़ी प्रसन्नता से चली जाती हैं, किन्तु जाने के बाद फिर वे बाहर नहीं निकल सकतीं, वहीं फँस जाती हैं। इसी तरह संसार की मिथ्या चमक-दमक से मोहित तत्त्वज्ञानशून्य मूढ़ लोग विषय-वासना के जाल में चले जाते हैं, परन्तु लौटने का रास्ता सुगम न होने से वे उन छोटी मछलियों की तरह वहीं फँस जाते हैं और सदा के लिये बँध जाते हैं। मगर तत्त्वपरायण साधु पुरुष पहले तो मूढ़ होकर जाल में फँसते ही नहीं, कदाचित् धोखे से फँसा भी दिये जायें तो वे आसानी से निकल जाते हैं, वे उसमें फँसे और बँधे नहीं रहते।

तत्त्वनिष्ठ साधनाशील को विषयों से विरक्ति एवं अरुचि

जिस साधनाशील व्यक्ति में तत्त्वनिष्ठा बढ़ जाती है, उसमें विषयों के प्रति आसक्ति एवं रुचि अत्यन्त कम होती जाती है, उसे विषयों से विरक्ति हो जाती है, वह अपनी आत्मा को आत्मगुणों की वृद्धि करने और समस्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्कृष्ट साधना करने में लगाता है और परमात्मा के निकट पहुँचने का सतत प्रयत्न करता है। इष्टोपदेश में सत्य ही कहा है—

यथा-यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा-तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि॥
यथा-यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा-तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥

बुद्धि में ज्यों-ज्यों उत्तम तत्त्व का प्रवेश होता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति आसान होने पर भी उसे उन शब्दादि विषयों में रुचि नहीं रहती; तथा ज्यों-ज्यों सुलभ इन्द्रिय-विषयों से भी उसकी रुचि हटती जाती है, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि में उत्तम तत्त्व प्रविष्ट होता जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मैंने एक बार आपके समक्ष मैत्रेयी की आत्मसाधना के सम्बन्ध में कहा था। आज यहाँ प्रसंगवश उसका संक्षेप में उल्लेख करना अनुचित न होगा।

जिस समय याज्ञवल्क्य आत्मसाधना करने अरण्य में जाने वाले थे, वे पहले अपनी सारी सम्पत्ति एवं सुख-सामग्री अपनी दोनों पत्नियों—कात्यायनी और मैत्रेयी में बाँट देना चाहते थे। जब उन्होंने मैत्रेयी से कहा—"यह आधा धन और ये आधे सुख-साधन तुम ले लो, इनसे तुम सुख से जीना और सुख से रहना," तब मैत्रेयी ने कहा—"क्या आप मुझे यही सम्पत्ति और सामग्री देना चाहते हैं? अगर ये ही वस्तुएँ मेरे लिए आत्म-कल्याणकारिणी हों तो आप इन्हें छोड़ने को क्यों उद्यत हुए हैं? क्या मुझे इन सबसे अमृत (आत्म) तत्त्व मिल जाएगा? जिससे अमृततत्त्व न मिले, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? जिसे लेने के बाद फिर छोड़ना पड़े, या छूट जाए उसे लेकर मैं क्या करूँ? मुझे तो वह साधना-सम्पत्ति प्रदान कीजिए, जिस साधना से आप आत्मतत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं।"

मतलब यह है कि मैत्रेयी को वह तत्त्वज्ञान मिल गया था, जिससे वह धन-सम्पत्ति, भौतिक साधन-सामग्री के असली तत्त्व को प्राप्त कर चुकी थी कि ये सभी नाशवान हैं, पराधीन बनाने वाले हैं, क्षणिक सुख के बदले इनमें असीम दुःख के बीज छिपे हुए हैं। इसी तत्त्वज्ञान के कारण उसे इस विषयसुख-सामग्री से विरक्ति हो गई थी और वह उस असीम, अमृत, शाश्वत सुख को प्राप्त करने के लिए सर्वथा उद्यत हो गई थी। उसने सुलभ और अपने अधिकार में आई हुई विषयसुख-सामग्री को तिलांजलि दे दी और उस अमृततत्त्व की साधना के लिए याज्ञवल्क्य के पथ पर चल पड़ी।

परमात्म-भक्ति के तत्त्व में मस्त मीराबाई राजस्थान की एक अपूर्व साध्वी-महिला हो गई है। मीराबाई की रग-रग में प्रभुभक्ति का तत्त्व रमा हुआ था, इसलिए उसका विवाह चित्तौड़ के राणा के साथ हो जाने पर भी वह सांसारिक विषयों से विरक्त रही। मीरा के लिए महल था, मनोज्ञ शयनीय साधन-सामग्री थी, उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण थे, स्वादिष्ट भोज्य सामग्री थी, लेकिन भक्तितत्त्व में लीन मीराबाई का चित्त इन सबसे विरक्त था, उसकी रुचि सांसारिक पदार्थों के उपभोग में नहीं रही। मीराबाई के पति राणाजी ने जब उससे कहा—

मीरां ! कुण हो साधुजी थांने भोलव्या ?
मीरां ! हिंगलूरा ढोल्या परिहर्या, थारो चित्त तो चटाई रे मांय,
हो मेड़ताणी राणी !
मीरां ! नवसेरो हार जो परिहर्या, थारो चित्त तो तुलसीमाला रे मांय,
॥ हो मेड़ताणी० ॥
मीरां ! महल बगीचा परिहर्या, थारो चित्त टूटी झूंपी रे मांय,
॥ हो मेड़ताणी० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मीरां ! शालदुशाला परिहर्या, थारो चित्त सादी साड़ी मांय,
॥ हो मेड़ताणी० ॥
मीरां ! लाडूजलेबी परिहर्या, थारो चित्त सूखा टुकड़ा रे मांय,
॥ हो मेड़ताणी० ॥

मीराबाई की इन सब विषयसुख-सामग्री के त्याग और सभी सीधे-सादे साधनों के ग्रहण के सम्बन्ध में स्वीकारोक्ति थी। वह किस कारण से थी—एकमात्र भक्तितत्व की परमनिष्ठा के कारण, भक्तितत्व की इतनी पराकाष्ठा पर वह पहुँच गई थी कि जब राणाजी ने रुष्ट होकर मीराबाई को जहर का प्याला पीने के लिए भेजा तो भी बिना किसी प्रकार की आनाकानी किये भगवच्चरणामृत मानकर पी गई और सचमुच वह विष भी मीरा के लिए अमृत रूप हो गया।

यह था तत्त्वनिष्ठा या तत्त्वलीनता का चमत्कार ! क्या तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति इतना साहस कर सकता है कि वह जहर को भी अमृत मानकर पी ले ? अपमान और निन्दा की कड़वी घूँटें भी भगवद्भक्ति की कसौटी समझकर सहिष्णुता-पूर्वक पी ले ?

तत्त्वज्ञाननिष्ठ सुख को अपने भीतर खोजता है

तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति बाह्य विषयों में, वस्तुओं में, धन, वस्त्राभूषण आदि बाह्य साधनों में सुख ढूंढता है, जबकि तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति अपनी आत्मा में डूबकर अपने आत्मगुणों में सुख खोजता है, वह बाह्य विषयों में, या वस्तुओं में सुख नहीं देखता, वह बाह्य विषयों या वस्तुओं में सुख की मृग-मरीचिका देखता है, जो कि सुख नहीं, सुखाभास है। तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति उसे अपनी दृष्टि से आँकते हैं, उसे अपने ही समान वैषयिक सुखों में लिप्त करना चाहते हैं, लेकिन तत्त्वपरायण साधुमना व्यक्ति वैषयिक सुखों में लिप्त न होकर अपने भीतर ही सुख को ढूंढता है, उसे आत्मतुष्टि का ऐसा अनुपम सुख मिलता है कि उसे दुनिया के सभी क्षणिक सुख फीके लगने लगते हैं।

श्रावस्ती के कोषाध्यक्ष की अनुपम सुन्दरी षोडशी कन्या उत्पलवर्णा यौवन के सिंहद्वार पर पहुँच चुकी थी। उसके अंग-प्रत्यंग से अद्भुत कान्ति, सौष्ठव और कमनीयता फूट रही थी। यही कारण था कि अनेक श्रेष्ठी, सामन्तों और राजकुमारों की उत्पलवर्णा के साथ विवाह के लिए प्रार्थनाएँ आने लगीं। कोषाध्यक्ष के लिए उत्पलवर्णा का सौन्दर्य समस्या बन गया था। वह उसका हाथ किसे दे और किसे न दे, यह निर्णय करना भी कठिन हो रहा था।

परन्तु उत्पलवर्णा जितनी रंग-रूप से सुन्दर थी, उतना ही उसका अन्तःकरण तथागत बुद्ध के चरणों में पहुँचकर उपदेश श्रवण से तत्त्वज्ञानरूपी सौन्दर्य से ओत-प्रोत था। चिन्ता में डूबे हुए अपने पिता को देखकर वह स्वयं पिता के पास आकर बोली—"पिताजी ! एक बात आपसे पूछूं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिता ने दृष्टि ऊपर उठाई और पुत्री के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"कहो, क्या कहना चाहती हो, बेटी उत्पल !"

तत्त्वज्ञान की गम्भीरता से उत्पलवर्णा कहने लगी—"पिताजी ! आप मुझे सुखी देखना चाहते हैं न ? मैं इन बाह्य विषय-सुखों में सुख नहीं देखती, इनमें तो दुःख के बीज छिपे हुए हैं। विवाह करने से मैं सुखी नहीं हो जाऊँगी; बल्कि विषय-जाल में फँसकर और अधिक दुःखी हो जाऊँगी। आपकी चिन्ता मेरे लिए योग्यवर के तलाश की और मेरे झूठे सौन्दर्य की समस्या को हल करने की है। विवाह का प्रस्ताव लेकर आये हुए किसी भी कुमार में मुझे आदर्श गृहस्थोचित जीवन का स्थायित्व नहीं दीखता। ये सब तो रूप के प्यासे कीट-पतंगे हैं। इनसे तो दूर रहना ही अच्छा ?

"आपने नहीं सुना, उस गंगातीरवासी ने पहले विवाह किया। अपनी वासनाएँ शान्त करने के लिए भार्या के जीवन-सत्त्व को निचोड़ा, फिर उसने एक अन्य स्त्री को रख लिया। उसके गर्भ से कन्या पैदा हुई, उसे भी उसने सहगामिनी बनाया। बताइये, जिस समय सामाजिक मर्यादाएँ और व्यवस्थाएँ इस प्रकार तिनके की तरह तोड़ दी जाती हैं, नीति कहती है—उस समय तत्त्वज्ञ लोगों को अपने लौकिक और क्षणिक वैषयिक सुखों का परित्याग करके समाज के समक्ष एक आदर्श—वास्तविक सुख का पथ—प्रस्तुत करना चाहिए। इसलिए आप आज्ञा दें तो मैं तथागत बुद्ध से प्रव्रज्या ग्रहण करके आजीवन अविवाहित रह जाऊँ और वैषयिक सुखाभास की चकाचौंध में पथभ्रष्ट समाज को अपनी तत्त्वज्ञान की शक्ति एवं साधना द्वारा सत्पथ पर लाने का प्रयास करूँ।"

आर्य पिता ने अपनी कन्या के सुसंस्कार एवं तत्त्वज्ञान के तेज से चमकते मुखमण्डल की ओर देखा तो उसमें पूर्ण निश्चय की दृढ़ता झलक रही थी। उसे हृदय से लगाते हुए स्नेहपूर्वक कहा—"उत्पल ! तुम धन्य हो ! तुमने सांसारिक सुखों को महत्त्व न देकर साधना के द्वारा अन्तःविराजित सुख प्राप्त करके आत्मकल्याण के साथ समाजकल्याण का मार्ग अपनाने का निश्चय किया है। तुम्हारे इस आदर्श से भारतीय नारी वर्ग और समाज युग-युगों तक प्रकाश और प्रेरणा लेता रहेगा। तुम सुख से प्रव्रज्या ग्रहण करो। मैं अन्तर् से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी साधना फले-फूले।"

और एक दिन उत्पलवर्णा ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। तथागत बुद्ध ने अपना पितृतुल्य स्नेह, अपनी साधना की शक्ति और अधिकाधिक तत्त्वज्ञान देकर उसे आत्मिक आनन्द की स्थिति तक पहुँचा दिया।

बन्धुओ ! यह है तत्त्वद्रष्टा साधनाशील के जीवन की उत्कृष्ट स्थिति का दर्शन ! तत्त्वशून्य और तत्त्वनिष्ठ के जीवन में यही बड़ा अन्तर है।

आपने देखा होगा, सुख-सुविधापूर्ण जीवन बिताने के पर्याप्त साधन उपलब्ध होने पर भी तत्त्वज्ञानशून्य लोग अपनी अज्ञानता और मूढ़ता के कारण सन्तप्त, अशान्त और उद्विग्न रहते हैं। इसके विपरीत तत्त्वज्ञान के धनी सन्त-महात्मा या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थसाधक भी मामूली साधनों में भी यहाँ तक कि अभावों में भी सुख-शान्ति और सन्तोष का जीवन व्यतीत कर लेते हैं, जीवन के सहज आनन्द को प्राप्त करते हैं। योगवाशिष्ठ (६/८१/१४) में स्पष्ट कहा है—

देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं मानसामयम् ।
मौर्ख्यमूलं हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षय ॥

अर्थात्—शारीरिक दुःखों को व्याधि और मानसिक दुःखों को आधि कहते हैं। ये दोनों दुःख अज्ञानमूलक हैं। तत्त्वज्ञान से ही ये दोनों दुःख नष्ट होते हैं।

वस्तुतः जिन साधकों के जीवन में तत्त्वज्ञान का प्रकाश होता है, वे बाह्य सुख-साधनों एवं सुविधाओं से निःस्पृह एवं निरपेक्ष रहते हैं, यथालाभ सन्तोष ही उनका जीवन-सूत्र हो जाता है।

शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोक, प्रसन्नता-विक्षोभ एवं मानसिक असंतुलन अतत्त्वज्ञ मनुष्य के मन और शरीर में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। हर्ष के प्रति आसक्ति और शोक से उत्पन्न होने वाली दुःखानुभूति, दोनों ही तत्त्वज्ञानशून्य मानव के मन को मोहित कर उसे विवेकशून्य बना देते हैं। इसका परिणाम होता है—गलत कार्य, गलतफहमी, गलत अनुभव, जिनका पर्यवसान होता है—दुःख, द्वन्द्व, क्लेश, शोक आदि में। किन्तु जिस मनुष्य का अन्तःकरण तत्त्वज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता है, वह इन दोनों ही प्रपंचों से मुक्त रहकर आत्मस्थिर, निःस्पृह और आत्मतृप्त हो जाता है। तत्त्वज्ञानी किसी भी कार्य में लिप्त और आसक्त नहीं होता, वरन् तटस्थ एवं निष्कामभाव से अपने कार्य में लगा रहता है। इसलिए वह कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

तत्त्वज्ञाननिष्ठ दुष्परिस्थितियों से भागता नहीं

साधारण तत्त्वज्ञान से रहित मनुष्य के सामने जब विपरीत परिस्थितियाँ आती हैं, तब वह वहाँ से भागने लगता है, वह समझदारी और सूझबूझ के साथ टिक नहीं पाता। जबकि तत्त्वनिष्ठ साधक कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति हो, वहाँ से हटता नहीं, दृढ़तापूर्वक डटा रहता है, परिस्थितियों को सुधारने का प्रयत्न करता है। तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधक इस प्रकार से चिन्तन करता है कि यह संसार बहुत विस्तृत है। इसमें फूल भी हैं, काँटे भी हैं, पहाड़ भी हैं तो गहरे समुद्र भी हैं। मैदान हैं तो ऊबड़-खाबड़ घाटियाँ भी हैं। इस विविधतापूर्ण संसार में हर वस्तु का विरोधी भाव विद्यमान है। सद्गुण हैं तो दुर्गुण भी हैं, अच्छाइयाँ हैं तो बुराइयाँ भी हैं। माना कि अन्याय, अत्याचार, अनीति, अधर्म, हिंसा, असत्य, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि बुराइयाँ अधिक हैं पर क्या उनसे भागकर जगत् की शेष बहुत-सी अच्छाइयों और सन्तोषप्रद एवं श्रेयस्कर परिस्थितियों से मुँह मोड़ लेना ठीक है? क्या विवेकी और दूरदर्शी मानव इस प्रकार से पलायन वृत्ति अपना सकता है? कदापि नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिसके जीवन में तत्त्वज्ञान का प्रकाश हो गया है, वह चाहे जैसी बुरी परिस्थिति में से भी समझदारी से जीने का रास्ता निकाल लेता है, जबकि तत्त्वज्ञानहीन मानव उसी परिस्थिति में रहकर मन में क्लेश करता रहता है, कुढ़ता रहता है, दूसरों को कोसता रहता है और यों रोता-पीटता जिंदगी बिताता है। वह अच्छी परिस्थिति वाले स्थान में जायेगा तो वहाँ भी अपने अज्ञान और मूढ़ता के कारण उसे बुरी बना देगा, वहाँ भी दुःख और क्लेश में घुटता रहेगा।

चीन के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ सन्त कन्फ्यूशियस एक बार बड़े सवेरे पदयात्रा कर रहे थे। यात्रा करते-करते वे एक निर्जन स्थान में पहुँचे, वहाँ देखा कि एक महात्मा पेड़ की छाया में लेटे विश्राम कर रहे हैं। कन्फ्यूशियस ने पूछा—"महात्मन्! हरी-भरी बस्ती को छोड़कर आप यहाँ जनशून्य एकान्त में क्यों पड़े हैं?"

महात्मा ने उत्तर दिया—"भद्र! इस राज्य का राजा बड़ा दुष्ट है। वह स्वयं तो अकर्मण्य और अत्याचारी है ही, उसके राज्य में बहुत-से लोग स्वेच्छाचारी, अनुशासनहीन, कलहकारी, अत्याचारी, कुटिल और दुष्ट हो गये हैं। ऐसी स्थिति में मेरे जैसे शान्तिप्रेमी, सद्गुणों और आत्मशान्ति पर विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए ऐसे समाज में रहना कठिन हो गया है। क्यों न आप भी यहाँ आकर एकान्त और शान्त प्रकृति का आनन्द लूटते हैं? अत्याचारों के कारण पैदा हुई निराशा से बचने का क्या यह सर्वोत्तम उपाय नहीं है?"

कन्फ्यूशियस मुस्कराकर कहने लगे—"क्या थोड़ी-सी बुराइयों या बुरे आदमियों के कारण अच्छाइयों की रक्षा करना और उनसे लाभ उठाना तत्त्वज्ञ साधक का कर्तव्य नहीं है? थोड़े-से व्यक्तियों के कर्तव्यच्युत हो जाने से क्या तत्त्वदर्शी भावनाशील साधकों को अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ लेना चाहिए? जब बुराई आगे बढ़ने से हार नहीं मानती तो क्या भलाई की शक्ति को हार मान लेना चाहिए? अच्छाई की ताकत को भी अजमाना चाहिए। किन्तु उसको नपुंसक बनाकर भाग जाना तो बेहतर नहीं है?"

महात्मा ने कहा—"सो तो ठीक है। मगर इतने झंझटों की अपेक्षा स्वयं बुराई से हट जाना क्या बेहतर नहीं है? हम बुराई से स्वयं हटकर यहाँ अच्छाई का रसास्वादन कर रहे हैं।"

कन्फ्यूशियस से कहा—"महात्मन्! आप भूल रहे हैं कि झंझटों से भरा जीवन आपके जीवन का आधार है। नहीं, आपकी शान्ति अपने पास है। आप कहीं भी रहें, वह छीनी नहीं जा सकती। फिर आप यहाँ रहकर भी तो समाज की कमाई पर जीवित हैं, उसी के आश्रय से पल रहे हैं, जिस समूचे समाज को आप बुरा कह रहे हैं। क्या यह कृतघ्नता न होगी कि समाज से जीवन निर्वाह के लिए लेकर उसकी बुराइयों को सुधारने के अवसर पर आप मुख मोड़कर जंगल में भाग जाएँ। फिर आप जिन्हें झंझट कहते हैं, कष्ट और कठिनाई मान रहे हैं, वह तो आपकी साधना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का एक अंग है। वे तो नौकाएँ हैं, जो असम्भव को पार करने में सहायक होती हैं। रही बात बुराइयों की, हम उससे भागें क्यों? स्वयं बुराइयाँ ही क्यों न भागें? हमारे भागने का मतलब है—सद्गुण और सज्जन दुर्गुणों और दुर्जनों से दुर्बल हैं, सत्य असत्य की अपेक्षा निर्बल है, तत्त्वज्ञान पर अज्ञान ने कब्जा कर लिया है।"

महात्मा भी यों ही हार मानने वाले न थे, वे अपनी बात को पुष्ट करते हुए बोले—"हम यहाँ सद्गुणों की ही तो रक्षा कर रहे हैं, बुराइयों की ओर से आँखें मूंदकर। आप ही बताइए, क्या मैं भलाई को बुराई का ग्रास होने से नहीं बचा रहा हूँ?"

कन्फ्यूशियस ने कहा—"असम्भव महात्मन्! जिस भलाई को आप समूह में बुराई के आगे पराजित करके आ गये वह भलाई यहाँ कैसे जीवित रह सकती है। यहाँ भी हिंस्र पशुओं की बुराई के आगे आप उसे समर्पित कर देंगे। हर वस्तु एकान्त में नष्ट हो जाती है, समूह में वह बहुगुणित होती है। अच्छा होता, आप समूह में रहकर अपने सद्गुणों का प्रकाश करते तो सद्गुणों की वृद्धि होती? और वे वृद्धिगत सदगुण दुर्गुणों को अवश्य ही पराजित कर देते। उसका प्रतिफल भी आपको देखने को मिलता। जनता तत्त्वपरायण साधुजनों का अनुसरण करती है। आप में वह प्रकाश स्पष्ट हुआ होता तो निःसन्देह बुराई की मात्रा घटती और अच्छाई की बढ़ती।"

आखिर तत्त्वज्ञानी कन्फ्यूशियस के सामने महात्मा निरुत्तर हो गये।

निष्कर्ष यह है कि सच्चा तत्त्वनिष्ठ साधक बाधक परिस्थिति को देखकर हिम्मत हारता नहीं, और न ही वहाँ से भागता है।

वस्तुतः मनुष्य में अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ मौजूद हैं, परन्तु तत्त्वज्ञानी साधक उनका सदुपयोग करके गिरी हुई परिस्थितियों में भी निरन्तर प्रगति करके अनेक बाधाएँ पार कर सकता है, तथा उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है; पर जिसके जीवन में तत्त्वज्ञान का प्रकाश नहीं है, वह शक्तियाँ होते हुए भी अपने आपको शक्ति-हीन मानता है, वह न तो शक्तियों का ठीक-ठीक उपयोग कर पाता है और न ही अपने मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं को पार कर सकता है, उसका उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचना तो और भी कठिन है।

लोहा एक ठोस पदार्थ है। उसमें बहुत ही शक्ति निहित है। उससे बड़ी-बड़ी शक्तिशाली मशीनें बनाकर चलाई जाती हैं और उनसे बड़े-बड़े कार्य किये जाते हैं। परन्तु उसके साथ उस लोहे के तत्त्वज्ञान का जानकार व्यक्ति का स्पर्श हो, तभी उसका उत्तम उपयोग होता है। अन्यथा, कोरी मशीन पड़ी रहे, उसका चलाने वाला जानकार व्यक्ति न हो तो वह बेकार हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, हृदय और आत्मा, इन सबका ठीक तरह से यथायोग्य संचालन और उपयोग करने वाला तत्त्वज्ञानी साधक न हो, तब तक इनसे कोई खास लाभ प्राप्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं किया जा सकता। पशु-पक्षियों की तरह अज्ञानग्रस्त मानव भी जैसे-तैसे इनका उपयोग-दुरुपयोग करके जीवन बिता देता है। इसमें न तो जीवन की सार्थकता है और न ही जीवन का सच्चा आनन्द! इसी कारण तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति अपने में निहित शक्तियों का सदुपयोग कर ही नहीं पाता। वह अपने सामने बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाएँ या बाधक वस्तुएँ देखकर पस्तहिम्मत हो जाता है।

रामायण का एक प्रसंग है—हनुमानजी में अपार शक्ति मौजूद थी। उनका शरीर वज्रांग था। उनकी इन्द्रियाँ भी सशक्त थीं। अंगोपांग भी सुडौल थे। परन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में वे लंका पहुँचने के लिए समुद्र लाँघने का साहस नहीं कर रहे थे। जाम्बवन्त ने हनुमानजी को आत्मशक्तियों का तत्त्वबोध दिया तो शीघ्र ही खुशी-खुशी वे तैयार हो गये और सहज ही उस कार्य को सम्पन्न करने में सफल भी हो गये। हनुमानजी की उस सफलता में उनकी शक्तियों का तत्त्वबोध कराने में जाम्बवन्त का उद्‌बोधन महत्त्वपूर्ण रहा।

अगर जाम्बवन्त के स्थान पर कोई और कायर या भीरु तत्त्वज्ञानहीन परामर्श-दाता या उद्‌बोधक रहा होता, जो वह नाना आशंकाएँ व्यक्त करके उनमें निहित शक्तियों को कुण्ठित कर देता, उनका मनोबल गिरा देता। ऐसी स्थिति में उनके लिए समुद्र लाँघने का काम असंभव ही हो जाता।

तत्त्वज्ञानी को कहीं न कहीं से सही मार्ग मिल जाता है

तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति के जीवन में जब उलझनें आती हैं, तो वह घबरा जाता है, किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, लेकिन तत्त्वज्ञानी उलझनें आने पर, समस्या आ पड़ने पर घबराता या चिन्ता नहीं करता, वह तत्त्वदृष्टि से गहरा चिन्तन-मन्थन करता है और कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेता है। तत्त्वज्ञानी इस अहंकार में नहीं रहता कि मैं सामान्य व्यक्ति से प्रेरणा क्यों लूँ या इसे महत्त्व क्यों दूँ? वह जहाँ कहीं से प्रेरणा मिले, ले लेता है। जैनशास्त्र में एक जगह बताया गया है, कि साधु को चक्रवर्ती की सामान्य दासी से भी बोध मिले या सत्य (तत्त्व) मिले तो तो ग्रहण कर लेना चाहिए। उसके हृदय में सरलता और गुणग्राहकता होनी चाहिए। एक विचारक ने कहा है—

गहे तत्त्वज्ञानी पुरुष, बात विचारि-विचारि।
मथनहारि तजि छाछ को, माखन लेत निकारि॥

तत्त्वज्ञ साधकों की तत्त्वग्रहण की यही पद्धति है।

तथागत बुद्ध ने घोर तपस्या करके शरीर को कृश कर दिया था। फिर भी अभी तक उन्हें बोधि प्राप्त नहीं हुई थी। वे किसी उपाय की खोज में थे, सतत चिन्तन करते रहते थे, कि मुझे कब और कैसे बोधि प्राप्त हो? सभी लोग तपस्या से कृश हुए उनके शरीर को देखकर चिन्तित थे। एक दिन एक नर्तकी अपनी कुछ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गायिकाओं के साथ उसी रास्ते से जा रही थी। वह रास्ते में अपनी साथिनियों को समझा रही थी—देखो ! वीणा के तारों को अत्यन्त मत कसो, बहुत अधिक कसने से भी तार टूट जाते हैं और आवाज अच्छी नहीं निकलती। इसी प्रकार वीणा के तार अत्यन्त ढीले नहीं होने चाहिए। क्योंकि तार ढीले होने से भी आवाज सुरीली नहीं निकलेगी।"

नर्तकी ने फिर अपनी बात दोहराई—'वीणा के तार न तो अत्यन्त कसे हों और न ही अत्यन्त ढीले हों। तार सन्तुलित अवस्था में हों, तभी वीणा से मधुर स्वर निकलता है।"

नर्तकी की बात तथागत बुद्ध के कानों में पड़ी। पड़ते ही वे मन्थन में पड़ गये—शरीर भी तो वीणा के समान वाद्ययन्त्र है। इसके तार भी न तो अत्यन्त कसे जाने चाहिए, यानी शरीर को कठोर तप या कठोर यातना देकर इसे अत्यन्त कसना उचित नहीं, इसी प्रकार शरीररूपी वाद्ययन्त्र के तार अत्यन्त ढीले भी नहीं होने चाहिए। शरीर को विषयों में दौड़ने की अत्यन्त खुली छूट न दे दी जाए या न इसे अत्यन्त आरामतलब बनाओ, न ही आलसी, अकर्मण्य, सुस्त और प्रमादी बनाओ अन्यथा शरीर निकम्मा हो जायेगा। इसमें जो सत्कार्य करने का साहस, शक्ति, सत्त्व या क्षमता है, वह खत्म हो जायेगा। इस प्रकार की प्रेरणा नर्तकी से पाकर तथागत बुद्ध एकदम सतर्क हो गये। उन्होंने अपनी तपस्या समेट लेने का विचार कर लिया, और शरीर को यथोचित संयम में रखने लगे। इसी तत्त्वनिष्ठा से तथागत बुद्ध को मध्यम मार्ग मिला।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि तत्त्वज्ञानी साधक किसी समस्या या उलझन का कोई न कोई उचित हल निकाल ही लेता है, वह घबराता नहीं।

तत्त्वज्ञानी अनिष्ट प्रवृत्ति में फँसा नहीं रहता

तत्त्वज्ञानी पहले तो किसी भी प्रवृत्ति की हेयोपादेयता या इष्टानिष्टता का भली भाँति विचार कर लेता है। वह सहसा किसी भी अनिष्ट प्रवृत्ति में फँसता नहीं, कदाचित् धोखे से या सरलता से कभी किसी प्रवृत्ति को इष्ट या उपादेय मानकर फँस भी जाए तो वह बूरे पर बैठने वाली मक्खी की तरह जब चाहे तब झटपट उस प्रवृत्ति को छोड़ देता है। वह मोहवश उस अनिष्ट प्रवृत्ति में फँसा नहीं रहता। इसके विपरीत तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति पहले तो प्रवृत्ति की हेयोपादेयता या इष्टानिष्टता का कोई विचार करता नहीं, कदाचित् कर भी ले तो भी जब एक बार किसी अनिष्ट प्रवृत्ति का चस्का लग जाता है तो फिर छूटता ही नहीं। उसमें गले तक वह डूब जाता है। मोहवश निकलना भी नहीं चाहता, भले ही वह प्रवृत्ति उसके लिए दुःखदायी हो। मैं एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा इसे समझा दूँ—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक सज्जन थे। वे चुनाव में दो बार हार गये थे। फिर भी अपने इष्ट मित्रों के सामने रोना रोते हुए कह रहे थे—क्या करें साहब! राजनीति का नशा ऐसा है, जो छुड़ाए छूटता ही नहीं।

भला बताइए, जिसकी बुद्धि में तत्त्वज्ञान भरा है, जागरूक चेतना है, विवेक-युक्त स्वस्थ सन्तुलित मनोभूमि है, भला वह ऐसे अनिष्ट में फँस ही कैसे सकता है? या फँसा कैसे रह सकता है? साँप को निकट आते देख लेने पर क्या विवेकी मनुष्य उससे दूर हटे बिना कैसे रह सकता है?

तत्त्वज्ञानी अन्धविश्वास में भी नहीं फँसता

तत्त्वज्ञानी प्रत्येक वस्तु, घटना, वचन एवं कार्य-प्रवृत्ति पर तात्त्विक दृष्टि से गहराई से विचार करता है। उसकी तत्त्वनिष्ठा उसे धोखा नहीं दे सकती। वहाँ अन्धविश्वास में फँसने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। वह वस्तु तत्त्व का विचार करके हेय को हेय समझता है, उपादेय को उपादेय और ज्ञेय को और ज्ञेय।

जर्मन निवासी तत्त्वज्ञानी मार्टिन लूथर एक अन्धविश्वासोच्छेदक था। वह धर्म के मामले में रोम में प्रचलित पोपलीला को धर्म के लिए कलंक मानता था। वह अन्धविश्वास के खिलाफ लोगों को समझाता तथा उसकी हानियाँ भी बताता। इससे तत्त्वशून्य कट्टर पादरी भड़क उठे और उसे मारने को दौड़े। एक पादरी ने उससे कहा—देखो! यह जो सोपान दृष्टिगोचर हो रहा है, उस पर चढ़कर ईसामसीह स्वर्ग सिधारे थे। इस **पाइलट स्टेअर** का यह प्रभाव है कि पोप जिसको इस पर चढ़ा देते हैं, उसके समस्त पाप दूर हो जाते हैं, वह अवश्य ही स्वर्ग चला जाता है। मगर मार्टिन लूथर को यह सब पादरियों का ढोंग लगा।

मार्टिन स्वयं सच्चा पादरी (धर्माचार्य) बनकर लोगों को सद्विचार देने लगा। रोम में प्रचलित अन्धविश्वास और धर्म में प्रविष्ट विकारों को दूर करने का उसने बीड़ा उठाया। उस अन्धकार युग में अन्धविश्वासों का खण्डन करना अत्यन्त साहस का काम था। लूथर ने अपनी तत्त्वनिष्ठा का परिचय देते हुए सबसे बड़ी बात यह कही कि—**'मनुष्य अपने सत्कर्मों द्वारा स्वयं मुक्ति प्राप्त कर सकता है।'** अतः अन्धपरम्पराओं को न मानो। उद्धार का मार्ग है—**'पाप कर्मों से स्वयं बचना तथा अब तक जो ऐसे कृत्य बन गये हों, उनके लिए प्रभु से क्षमा माँगना।'** परलोक में स्वर्ग मिल जाने के नाम पर लोगों से लाखों रुपये बटोरकर पोप उक्त व्यक्ति को हुण्डी लिख देता था। इसका मार्टिन लूथर ने विरोध किया, जिसका स्वीकार वहाँ के तत्त्व-प्रेमी लोगों ने किया। इस प्रकार मार्टिन लूथर ने आजीवन पादरी रहकर धार्मिक अन्धविश्वासों से लोगों को बचाया।

वास्तव में तत्त्वनिष्ठ साधु की वाणी में वह बल होता है कि लोग अन्ध-विश्वासों में नहीं फँसते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वपरायण सुसाधु सत्य को बहुत शीघ्र स्वीकारता है

तत्त्वपरायण सुसाधु में एक विशेषता यह होती है कि वह सत्य को—वस्तु के यथार्थ अन्तस्तत्त्व को—ज्यों ही समझ लेता है, त्यों ही उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करने में उसे कोई झिझक नहीं होती। वह पूर्वाग्रहपूर्वक किसी कुरूढ़ि या गलत परम्परा को पकड़े हुए नहीं रहता। ज्यों ही उसे अन्तर्हृदय से वस्तुतत्त्व का यथार्थ रूप समझ में आ जाता है, त्यों ही जैसे सांप कैंचुली को फैंक देता है, वैसे ही वह पहले की गलत मान्यता या परम्परा को फैंक देता है। फिर वह यह नहीं देखता कि मेरे अनुयायी क्या कहेंगे ? जिनको मैंने अब तक विपरीत रूप में वस्तुतत्त्व समझाया, वे अब इसे छोड़ते समय मुझे कोसेंगे, या मेरी निन्दा करेंगे, समाज में मेरी प्रतिष्ठा समाप्त हो जायेगी। इन बातों को यथार्थ तत्त्वनिष्ठ सुसाधु नहीं सोचता। वह इन्हें गौण मानता है।

जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य भारत के बहुत बड़े अद्वैतवादी वेदान्ती संन्यासी थे। एक बार वे नदी में स्नान करके पवित्र होकर मन्दिर में जा रहे थे। अभी प्रातः काल के चार ही बजे थे। वे सीढ़ियाँ पार करके झुटपुटे अन्धेरे में चले जा रहे थे। तभी सामने से एक चाण्डाल आ रहा था, उसने उन्हें छू लिया। आचार्य शंकर एक बार तो अपने पूर्वसंस्कारानुसार क्रोधाविष्ट होकर बोले—"अरे चाण्डाल ! तू ने मुझे छूकर अपवित्र कर दिया।"

चाण्डाल भी कम तत्त्वज्ञ नहीं था। उसने पूछा—"आचार्यजी ! मैं यह पूछना चाहता हूँ कि किसने किसको छू लिया ? आप तो कहते हैं न कि एकमात्र ब्रह्म के सिवाय कोई तत्त्व है ही नहीं। सारा दृश्यमान संसार प्रपंच माया है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। तो जो है ही नहीं, वह कैसे छूयेगी ? अगर आप कहते हैं कि मेरी आत्मा ने आपकी आत्मा छू लिया है, शरीर ने नहीं, क्योंकि आत्मा (ब्रह्म) सत्य है वह क्या चाण्डाल या शूद्र हो सकती है ? मुझे बताएँ कि किसने आपको छूआ है ? अगर मेरी भूल होगी तो मैं आपसे क्षमा मागूंगा और भविष्य में ऐसी भूल कभी न करूँगा।"

आचार्य शंकर क्षणभर के लिए स्तब्ध हो गये। उनकी आँखों में विद्युत की-सी चमक आ गई। सारे शास्त्रों को पढ़-लिखकर जो तत्त्व आज तक वे नहीं प्राप्त कर सके थे, वह उन्हें इस सम्पर्क से अनुभव में आ गया। आचार्य शंकर ने तत्काल अपने पुराने पूर्वाग्रहग्रस्त संस्कार को फैंक दिया और सत्य का स्वीकार करते हुए कहा—"भाई ! क्षमा करना मुझे। मैं अब तक भ्रान्ति में था। मैं धर्मशास्त्रगत तत्त्व को आज तक कहता रहा, थ्योरी के रूप में ही; परन्तु आज पहली दफा मैं उसे क्रियान्वित कर रहा हूँ। कौन किसको छू सकता है ? कौन चाण्डाल है, कौन ब्राह्मण ? यह स्पष्ट कर दिया तुमने।" कहते हैं, वे फिर गंगास्नान करने न गये सीधे मन्दिर में प्रविष्ट हो गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य शंकर की जगह और कोई शुष्क तत्त्ववादी होता तो चाण्डाल की खोपड़ी फुड़वा देता, किन्तु पूर्वाग्रह को न छोड़ता, न सत्य तत्त्व को क्रियान्वित करता। तत्त्वनिष्ठ पुरुष में यह विशेषता होती है कि वह सत्य को शीघ्र अपना लेता है।

तत्त्वज्ञानी आन्तरिक एवं शाश्वत सौन्दर्य को देखता है

तत्त्वज्ञान से विहीन साधारण जन संसार की सभी वस्तुओं—देह, गेह, खाद्य पेय आदि—के बाह्य सौन्दर्य एवं चमक-दमक को देखकर प्रसन्न होता है, उसमें आसक्त हो जाता है, परन्तु तत्त्वदृष्टा पुरुष बाह्य सौन्दर्य नहीं देखता, वह वस्तु के आन्तरिक सौन्दर्य, सुन्दर स्वभाव, सुन्दर के साथ सत्यं एवं शिवं की शोभा को देखता है। साँप और मोर बाहर से कितने सुन्दर दिखते हैं, मगर उनकी प्रकृति में सुन्दरता नहीं है, उनके अन्तर् में उज्ज्वलता नहीं है। बगुला और हंस दोनों ही बाहर से तो श्वेत एवं स्वच्छ लगते हैं, अन्दर से दोनों के स्वभाव के सौन्दर्य में रात-दिन का अन्तर है। कोयल और कौआ दोनों एक-से काले हैं, दोनों की आकृति भी प्रायः एक सी मिलती है। परन्तु दोनों की वाणी और प्रकृति में महान अन्तर होता है। तत्त्वदृष्टा वस्तु के आन्तरिक सौन्दर्य को देखता है, और तत्त्वविमुख देखता है—बाह्य रूप-रंग को जिसके कारण वह बहुत-सी बार धोखा खा जाता है।

बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन है—मगध सम्राट बिम्बिसार[1] तथागत बुद्ध के स्वागत की तैयारियाँ करा रहे थे। तथागत बुद्ध लोकयश को यथा उच्च-नीच के भेद को निःसार बताते थे। जीव मात्र परस्पर समता, सहयोग और शुचिता से सुखपूर्वक जीवन बिताएँ। वे छोटे बनकर रहना पसन्द करते थे, इसलिए राजकीय अतिथि होते हुए भी उन्होंने राजभवन की अपेक्षा वेणुवन में निवास करना पसन्द किया।

आज एक सामान्य परिचारिका से लेकर मगधनरेश तक सुसज्जित होकर तैयार थे उनके स्वागत के लिए, सिर्फ मगध सम्राज्ञी क्षेमा अब तक तैयार न थी, वह अन्यमनस्क थी, अन्तःपुर के स्वाध्याय कक्ष में बैठी आचार्य धर्मपाल का जीवन दर्शन पढ़ रही थी। तथागत बुद्ध के परम निष्ठावान शिष्य सागलनरेश की पुत्री क्षेमा के अन्तःकरण में तथागत के प्रति उपेक्षा भाव खटकने वाला था। स्वयं नरेश ने उपस्थित होकर कहा—"प्रियतमे! सारा राजप्रासाद तथागत की अगवानी के लिए तैयार है, लेकिन तुमने अभी तक परिधान भी नहीं बदले। राजकुल के अतिथि की अवमानना अच्छी नहीं, उठो, स्वागत हेतु शीघ्र तैयार हो जाओ।"

महारानी क्षेमा ने करवट के साथ पुस्तक का पृष्ठ बदलते हुए कहा—"जिस व्यक्ति के लिए संसार और सौन्दर्य निःसार हो, उस व्यक्ति के सम्मुख जाकर संसारी मानव क्या करे? वहाँ जाने पर यही प्रवचन सुनने को मिलेगा—यह संसार भ्रम

---

१ उस समय बिम्बसार (श्रेणिक) राजा बौद्धधर्मानुयायी थे। —सम्पादक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, नश्वर है, सांसारिक सुख मिथ्या है, सौन्दर्य निःसार है, जबकि हम लोग सौन्दर्य और सुख-साधनों के उपभोग ही सुख मानते हैं।"

सम्राट बिम्बसार बोले—"गृही हो या विरक्त, सबको एक दिन आखिर तो जाना ही पड़ेगा, इसीलिए पारलौकिक लक्ष्य की तैयारी यहाँ से विदा होने से पूर्व की जानी उचित ही है। यदि इस तरह का तत्त्वज्ञान और तत्त्व-मार्गदर्शन किसी योग्य परमतत्त्वद्रष्टा मार्गदर्शक से मिलता हो तो क्या बुरा है? इसे अपना सौभाग्य समझना चाहिए, प्रिये!"

परन्तु क्षेमा सम्राज्ञी ने कोई उत्साह प्रदर्शित न किया। इसी बीच तथागत बुद्ध वहाँ आ पहुँचे। समस्त राज-परिवार और स्वयं सम्राट तथागत के स्वागत में दौड़ पड़े, सिर्फ एक क्षेमा रानी नहीं आयी। तथागत बुद्ध ने क्षेमा की कुशलक्षेम पूछी और समझ गये कि उसका सौन्दर्य अहंकार ही उसे यहाँ आने में बाधक बना है।

उधर क्षेमारानी को सहसा योगनिद्रा आ गई। उसने एक स्वप्न देखा कि एक अत्यन्त सौन्दर्यवती अप्सरा तथागत बुद्ध को चंवर डुला रही है। फिर उसने उस अप्सरा की बाल्यावस्था, यौवन और बुढ़ापा तीनों अवस्थाएँ देखीं। अप्सरा का शिथिल जर्जर शरीर, पके बाल, अन्दर धँसी हुई आँखें देखते ही क्षेमा का अन्तर्मन व्याकुल हो उठा—कहाँ गया उसका यौवन! कहाँ गया वह सौन्दर्य जो अंग-अंग में आकर्षणीय था। उसकी नींद टूट गई और साथ ही उसकी मोहनिद्रा भी। सोचा—'मनुष्य-जीवन कितना निःसार है। मनुष्य अपने आपको कितना सजाता-सँवारता है, लेकिन अन्त में विनाश के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं आता। बालू के ढेर की भाँति यह भौतिक शरीर ढह जाता है।' क्षेमारानी तत्काल तथागत के चरणों में उपस्थित हुई और नमन करके क्षमा माँगने लगी। फिर उसने पूछा—"मुझे आत्मोद्धार का मार्ग मिलेगा, भंते!"

तथागत मुस्कराकर बोले—"पुत्री क्षेमा! आत्मोद्धार का मार्ग मिलेगा अवश्य। पहले तुम अपने बाह्य सौन्दर्य को भूलकर आन्तरिक सौन्दर्य को ढूँढ़ो। तुम्हारी जिज्ञासा जितनी प्रबल होती जाएगी, लक्ष्य उतनी ही तेजी से तुम्हारे निकट आता जाएगा।"

यह है, तत्त्वनिष्ठ साधक का सौन्दर्य का तत्त्वदर्शन, जिसमें मग्न होकर वह स्वयं का एवं संसार का उद्धार करता है।

तत्त्वज्ञानी सुसाधु का जीवन परमार्थी होता है

तत्त्वनिष्ठ सुसाधु स्वार्थी और स्वयं की सुख-सुविधा के लिए प्रयत्नशील नहीं होता; किन्तु स्वयं के प्रति निःस्पृह होकर अपने प्राणों का मोह त्यागकर वह समस्त जीवों में एक आत्मतत्त्व को देखता है, सभी में परमात्मा का रूप देखता है। उसकी दृष्टि में अपने-पराये, धनी-निर्धन, सुरूप-कुरूप आदि का भेदभाव नहीं होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैष्णव भक्त नरसिंह मेहता ने एक कुत्ते को अपनी बनाई हुई रोटियों में से एक सूखी रोटी मुँह में दबाकर ले जाते हुए देखा तो वे उसके पीछे दौड़े घी की हंडिया लेकर। पुकारा—"अरे भगवान ! मुझे क्या पता था, आप इतने भूखे हैं। पर यह सूखी रोटी आपके गले में अटक जायगी, जरा घी से चुपड़ तो लेने दो।" कहते हैं—जहाँ कुत्ता रुका, नरसिंह मेहता ने वह रोटी घी से चुपड़कर उसके सामने धर दी। नरसिंह मेहता की पारदर्शी दृष्टि कुत्ते में भी भगवान को देख रही थी। **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'** (कुत्ते और श्वपाक—चाण्डाल में तत्त्वज्ञ पण्डित समदर्शी होते हैं), यह उक्ति यहाँ चरितार्थ हो रही थी और भगवान महावीर को **'एगे आया'** की दृष्टि भी।

परमार्थी तत्त्वनिष्ठ साधक अपने अधिकारों के लिए पुकार नहीं करता, वह अपने कर्त्तव्य और दायित्व को निभाता है, **'सियाराम-मय सब जग जानी'** का भावदीप उसके तत्त्वपरायण हृदय में जगमगाता रहता है। स्वार्थ उसके पास ही नहीं फटकता। वह परमार्थ में असीम आनन्द मानता है, दुःखों और कष्टों की भी परवाह नहीं करता।

हवाई द्वीप की सरकार ने मोलोकाई नामक एक छोटे से टापू पर कोढ़ियों को बसा दिया था। कोढ़ से पीड़ितों को समस्त समाज से पृथक इस उत्तरद्वीप में निर्वासित करने के बाद वहाँ पहुँचे हुए व्यक्ति का शेष सारे संसार से सम्पर्क टूट जाता था।

तत्त्वज्ञ संत फादर डेमियन को इस बात का पता चला तो उन्होंने उन्हीं निर्वासित कोढ़ियों के बीच जाकर रहने की अपनी योजना बनाई। उनके हितैषीजन इसे देख सिहर उठे, उन्होंने वहाँ जाकर रहने की योजना को जानबूझकर आग में कूदना बताया और उन्हें मना किया। लेकिन फादर डेमियन तो तत्त्वद्रष्टा सन्त थे, प्राणि-मात्र के प्रति उनकी आत्मीयता थी। उन्होंने कहा—"सरकार ने तो जनसुरक्षा की दृष्टि से उन्हें अलग बसाकर अपने कर्तव्य का पालन किया है, लेकिन हम भी उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखें, तो यह अनैतिकता होगी। वे बेचारे शरीर के रुग्ण हैं तो क्या उन्हें अपनी आत्मा की दिव्यता जगाने का भी अवसर नहीं दिया जाना चाहिए ? वे भी प्रभु के प्रिय बच्चे हैं। उन्हें हम शारीरिक सुविधाएँ न दे सकें तो क्या हृदय का प्यार भी न दें। और प्राणों के चले जाने का भय क्यों हो, जबकि हमने परमात्मा के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है।"

और प्रसन्नता से वह चल पड़े मोलोकाई टापू की ओर। हितैषियों की आँखों में आँसू थे, हृदय भारी था, किन्तु शुभकामनाओं से लबालब भरा हुआ।

सन्त फादर डेमियन सिर्फ तैंतीस वर्ष की उम्र में चले जा रहे थे कोढ़ियों के संसार में आग से खेलने। वे पहुँचे तो देखा—मोलोकाई द्वीप ऐसी जगह है, जहाँ एक ओर ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं, दूसरी ओर अथाह समुद्र है। बीच में थोड़ी-सी जगह है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ ८०० चलते-फिरते निर्जीव से शरीर रह रहे हैं। न उनमें आशा की चमक थी, न उत्साह की लहर। फादर डेमियन वहाँ पहुँचे तो १६०० भावहीन आँखें उनकी ओर उठीं—आश्चर्य भाव से कि आगन्तुक कोढ़ी नहीं है, फिर यहाँ क्यों आया है।

फादर डेमियन ने उन्हें शब्दों से नहीं, अपने कार्यों और व्यवहारों के द्वारा शीघ्र ही उनके दिमागों में यह बात बिठा दी कि वह उनकी भलाई के लिए उनके जीवन में दुःख बँटाने तथा सुख का संचार करने आया है। उन्हें यह भरोसा हो गया कि आगन्तुक उन्हें हृदय से प्यार करने आया है। फादर के प्यार ने कुछ ही दिनों में उन निष्प्राण-से मानवों में प्राण डाल दिये, उनके उदास चेहरे मुस्कराने लगे। साथ ही उन्हें ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति भी करा दी, उनकी आत्मा में दिव्यचेतना भी प्रगट कर दी। उनके मन में जो हीनता की भावना थी, अपने आपको दण्डित और पापी मानते थे, वे सब फादर ने उनके जीवन में आत्मगौरव की भावना भरकर काफूर कर दी। कोढ़ियों का मन स्वर्गीय सुख से सराबोर हो उठा।

मोलोकाई द्वीप एक आध्यात्मिक द्वीप बन गया। वहाँ के लोगों में आत्मशक्ति प्रगट हो गई। वहाँ पर आवास, अन्न, जल, विद्यालय आदि की सुन्दर व्यवस्था भी फादर ने की। प्रार्थना-गृह भी बनाया, जहाँ बैठकर सभी प्रतिदिन प्रार्थना करते थे और प्रवचन भी सुनते थे। सच्चे इन्द्रियजयी की तरह तत्त्वनिष्ठ फादर डेमियन ने बारह वर्षों तक अम्लान भाव से परमात्म-भक्ति समझकर कोढ़ियों की सेवा की और उन्हें उनके एक सच्चे साथी तथा प्रभुभक्त होने का अनुभव करा दिया।

और एक दिन इस तत्त्वपरायण सुसाधु ने प्रसन्न चित्त से अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया।

ऐसे तत्त्वपरायण सुसाधु के जीवन को भला कौन उच्च कोटि का न कहेगा? परन्तु इस प्रकार का उच्चकोटि का जीवन उनकी तत्त्वनिष्ठा से ही बन पाया, अन्यथा, कौन इस प्रकार का साहस करता?

तत्त्वनिष्ठ साधु दूसरों को भी तत्त्व समझाते हैं

तत्त्वनिष्ठ सुसाधु मस्तिष्क को पूर्वाग्रह, राग-द्वेष या पक्षपात से दूर रखकर सोचते हैं और तदनुसार निष्पक्ष व्यवहार करते हैं, इस कारण उनका तत्त्वज्ञान बिना बोले या समझाये, सिर्फ उनके तत्त्वपरक आचरण से ही दूसरों को मिल जाता है और वे प्रतिबुद्ध होकर अनुकूल बन जाते हैं।

आर्य स्थूलभद्रजी के दो दशपूर्वधर शिष्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति। आर्य महागिरि ने अनेक शिष्य बनाये, उन्हें शास्त्रीय वाचना दी और अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर अपने गच्छ का भार आर्य सुहस्ति को सौंप दिया। जिनकल्पी वृत्ति का विच्छेद हो जाने पर भी स्वयं गच्छ की निश्राय में रहते हुए तत्त्वतः मन से जिनकल्पी वृत्ति से एकाकी विचरण करने लगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक बार आर्य महागिरि पाटलिपुत्र पधारे। आर्य सुहस्ति ने वहाँ वसुभूति सेठ को प्रतिबोध देकर जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता श्रावक बनाया। वह जीवादि तत्त्वज्ञ श्रावक आर्य सुहस्ति की धर्मदेशना के अनुसार अपने कुटुम्ब को बोध देने लगा, परन्तु कोई भी तत्त्वबोध प्राप्त नहीं करता। सेठ ने आर्य सुहस्ति से प्रार्थना की—"गुरुदेव ! मेरा प्रतिबोध मेरे परिवार को लगता नहीं, अतः आप पधारकर प्रतिबोध दें तो अच्छा हो, आप विशिष्ट तत्त्वनिष्ठ सुसाधु हैं।" आर्य सुहस्ति सेठ के यहाँ पधारकर धर्मदेशना दे रहे थे। इसी दरम्यान आर्य महागिरि भी वहाँ भिक्षा के लिए पधारे। उन्हें देखते ही आर्य सुहस्ति ने खड़े होकर नमस्कार किया। यह देखकर सेठ बोला—"गुरुदेव ! आप तो जगद्वन्दनीय हैं, आपके भी कोई गुरु हैं, जिन्हें आप नमस्कार कर रहे हैं ?"

आर्य सुहस्ति ने कहा—"ये आचार्यश्री मेरे तत्त्वबोधदाता गुरु हैं। मैं तो इनकी चरणरज भी शिरसा वन्द्य मानता हूँ। ये महातिमहान् त्यागी हैं, सर्वथा उपेक्षित फैंकने योग्य शुद्ध आहार ये ग्रहण करते हैं। इनमें तत्त्वबोध देने की प्रबल शक्ति है।" इस प्रकार गुणगान करने से सेठ का सारा परिवार शीघ्र ही प्रतिबोधित हो गया। सेठ ने भी आर्य महागिरि के प्रति महाभक्तिवान् होकर अपने परिवार को कह दिया—"जब भी ये गुरुदेव भिक्षा के लिए पधारें, तब फैंकने योग्य आहार कहकर इन्हें आहार-पानी देना।"

दूसरे दिन आर्य महागिरि भिक्षा के लिए पधारे। सेठ के परिवार ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक, यह आहार फैंकने योग्य है यों कहकर उन्हें भक्तिभाव से आहार देना चाहा। परन्तु आचार्य ने उपयोग लगाकर देखा तो उस आहार को अकल्प्य व सदोष जानकर ग्रहण न किया, आहार लिये बिना ही अपने धर्मस्थान में वापिस लौट गये। वे आर्य सुहस्ति को मधुर उपालम्भ देने लगे—"वत्स ! तुमने मेरा विनय तथा गुणगान किया, तथा वसुभूति सेठ के परिवार को उपदेश दिया, इससे उसका परिवार भक्तिवश होकर भिक्षा में मुझे अशुद्ध आहार देने लगा। तुमने यह अच्छा नहीं किया, वत्स !" यह सुनते ही तत्त्वनिष्ठ आर्य सुहस्ति ने आर्य महागिरि के चरणों में नमन करके अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी और भविष्य में ऐसा न करने का वचन दिया।

यह है तत्त्वपरायण सुसाधुओं के जीवन व्यवहार का निदर्शन ! जहाँ एक भी तत्त्वपरायण सुसाधु रहता है, वहाँ जनता में विचार-जागृति आ जाती है। उसके निमित्त से अनेक लोग तत्त्वज्ञ बन जाते हैं, प्रतिबुद्ध हो जाते हैं और धर्म-प्रभावना के अनेक सत्कार्य करते हैं। सम्प्रति राजा ने आर्य सुहस्ति की प्रेरणा से पूर्वजन्म में मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी, उसके प्रभाव से वह इस जन्म में उज्जयिनी का सम्राट् बना। उसने आचार्यश्री के प्रति उपकृत भावना धर्म-प्रभावना करने हेतु आन्ध्र आदि अनार्य देशों में साधुवेशी सुभट भेजकर वहाँ की जनता को भद्र और साधुओं के प्रति भक्तिशील बना दिया। उसके बाद सम्प्रति राजा की प्रार्थना पर आर्य सुहस्ति अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शिष्यों सहित उन अनार्य, किन्तु सुलभ बोधि जनपदों में पधारे और अनेक भव्य मानवों को तत्त्वबोध दिया।

सच्चे तत्त्वनिष्ठ सुसाधु की पहचान

बहुधा तत्त्वनिष्ठ साधु की पहचान बड़ी कठिन होती है। जो आडम्बरी, वाचाल और प्रपंची होते हैं, वे तत्त्वज्ञानी होने का दावा करते हैं और भोले-भाले लोग उन्हें तत्त्वज्ञ और पहुँचे हुए महात्मा समझ लेते हैं। परन्तु सच्चा तत्त्वनिष्ठ प्रपंची और आडम्बरी नहीं होता, वह विज्ञापन नहीं करता। वह सामान्य से सामान्य कार्य में भी तत्त्वदृष्टिपरायण होता है। एक महात्मा को बगीचे में सफाई करते देखकर कुछ दर्शनार्थी सत्संगी यह कहकर वापस लौटने लगे कि आये थे सत्संग करने, किन्तु आपको कार्य-व्यस्त देखकर लौट रहे हैं।

महात्मा ने कहा—"केवल वाणी से ही बोध नहीं मिलता, क्रिया से भी तत्त्व-बोध मिलता है। जैसे अभी मैं सफाई कर रहा था। इसके पीछे तत्त्वबोध यह है कि मनोभूमि में जो व्यर्थ का कूड़ा-कर्कट इकट्ठा हो गया है, उसे साफ करके बाहर निकाल दो, तभी सद्विचारों के पौधे लग सकते हैं। इस तरह संसार के प्रत्येक पदार्थ से से तत्त्वबोध मिल सकता है।" सच्चा तत्त्वनिष्ठ पुरुष अनासक्त कर्मयोग का, पंचेन्द्रिय के विषयों में अनासक्तिपूर्वक उपयोग का, सुख-शान्ति एवं सौन्दर्य आदि का सच्चा तत्त्व जानता है और उसके अनुसार व्यवहार भी करता है। उसकी अनुभवी आँखें दिव्य तत्त्वज्ञान में लगी रहती हैं। यही उसकी पहचान है। तत्त्वपरायण की पहचान के लिए एक उदाहरण ले लें—

एक धार्मिक व्यक्ति गुरु-दीक्षा लेना चाहता था। सच्चा तत्त्वज्ञानी हो, उसे गुरु बनाना था। गुरु बनने को तो अनेकों साधु तैयार थे, पर वह पहचान नहीं कर पा रहा था कि कौन तत्त्वनिष्ठ गुरु है। उसे चिन्तित देखकर उसकी पत्नी ने चिन्ता का कारण पूछा। उसने कहा—"मैं तत्त्वज्ञानी गुरु की तलाश में हूँ, परन्तु कौन तत्त्वज्ञानी सुसाधु है, उसकी पहचान नहीं कर पा रहा हूँ।" पत्नी सुनते ही बोली—"यह कौन कठिन बात है, इसकी पहचान मैं कर दूंगी। जिस व्यक्ति को आप गुरु-दीक्षा देने बुलाएँ उसे घर बुला लाया करें। मैं उनकी परीक्षा करके बतला दूंगी कि कौन आपके गुरु बनने के लिए उपयुक्त हैं।" पति बहुत ही प्रसन्न हुआ और प्रतिदिन एक-एक तथाकथित तत्त्वज्ञानी को जो गुरु बनने की इच्छा से बुलाये जाते थे, घर पर ले आता था।

उसकी पत्नी ने एक पिंजरे में कौआ बन्द कर रखा था, जो भी साधु संन्यासी या महात्मा आता, उसी से पूछती—"महाराज ! यह कबूतर ही है न ?"

उसकी मूर्खता भरी बात सुनकर कई साधु हँस पड़ते, कई उपहास करने लगते, कई समझाने लगते कि यह कबूतर नहीं, यह तो साफ कौआ दिखाई देता है, कौन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४७

उग्रतप की शोभा : क्षान्ति—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं तपस्वी-जीवन की शोभा के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा। वैसे तो तपस्या ही मानव-जीवन की शोभा में चार चाँद लगाने वाली है, परन्तु तपस्या में जैसे जीवन को तपाना पड़ता है, मन और इच्छाओं को तपाकर वृत्तियों को परिष्कृत करना पड़ता है, उसमें शरीर और मन के तपने के साथ-साथ दिमाग भी बहुधा तप जाया करता है, उग्र तपस्वी के जीवन के लिए यह शोभास्पद नहीं है। इसीलिए उग्र तपस्वी जीवन के लिए क्या शोभास्पद है ? इसे महर्षि गौतम इस जीवन सूत्र द्वारा बताते हैं—

"सोहा भवे उग्गतवस्स खंती"

"उग्र तप की या उग्रतपस्वी की शोभा क्षमा होती है।"

गौतमकुलक का यह उन्तालीसवाँ जीवनसूत्र है। अब हम इस पर विविध पहलुओं से विचार करना चाहते हैं।

तप क्या है, क्या नहीं ?

सर्वप्रथम आपको यह विचार कर लेना है कि तप किसे कहते हैं ? उग्रतप को गहराई समझने के लिए हमें तप के लक्षणों की ओर ध्यान देना होगा। तप का लक्षण स्थानांग सूत्र (ठा० ५ उ० १) की टीका में इस प्रकार किया गया है—

रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाशुभानि इत्यतस्तपो नाम निरुक्तम्।

—जिससे तप का कर्ता अपने रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा, वीर्य इन सात धातुओं को तपाता है, या अशुभ कर्मों को तपाता है। उसका नाम तप है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में तप का लक्षण बताया है—

कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः।

कर्मक्षय के लिए जो सम्यग्दर्शनपूर्वक तपा जाता है या शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि को तपाया जाता है, उसे तप कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई व्यक्ति मक्खन में से घी निकालना चाहे तो वह क्या करता है? वह सर्वप्रथम कचरा, मैल या छाछ के अंश को अलग करता है, तत्पश्चात् उस बर्तन को आँच पर रखकर मक्खन को तपाता है, उसे पिघलाता है, और घी निकालता है। इसी प्रकार जीवनरूपी मक्खन में से कषाय, काम, मोह, विषय-वासना एवं तज्जनित कर्मों का मैल निकालने के लिए उपवास आदि तपों की आँच से शरीर, इन्द्रियाँ और मनरूपी बर्तनों को तपाया जाता है। इस प्रकार शरीर आदि को तपाने से विषय-कषाय, मोह, काम आदि विकारों तथा तज्जनित कर्मों का कचरा-मैल अलग हो जाता है। आत्मा शुद्ध, तेजस्वी, बलवान और गुण समृद्ध हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि तप वह है, जिसके द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कुसंस्कारों या विकारों को विविध क्रियाओं द्वारा तपाकर निकाला जाय।

संस्कार शोधन : तप

एक होते हैं—बाह्य कुसंस्कार (दुष्कर्म), जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं। बाह्य कुसंस्कार शरीर और इन्द्रियों से बनते हैं। शरीर जब बुरे कामों में (फिर वह चाहे हिंसा हो, झूठ हो, चौर्यकर्म हो, बेईमानी हो, अब्रह्मचर्य हो या ममतापूर्वक संग्रह वृत्ति हो) प्रवृत्त होता है, तो उनसे जो कर्मबन्ध होते हैं, उन्हें बाह्य तप द्वारा तपाकर रोका जाता है या नष्ट किया जाता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर कुसंस्कार सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि, हृदय आदि) से सम्बन्धित है, जिससे विविध प्रकार की बुरी इच्छाएँ, बुरे (आर्त्त-रौद्रध्यानयुक्त) विचार, कामनाएँ, वासनाएँ जागृत होती हैं, उनसे भी राग-द्वेषवश कर्मबन्ध होते हैं, उन्हें आभ्यन्तर तप द्वारा तपाकर रोका जाता है या नष्ट किया जाता है। संक्षेप में—एक बाह्य तप है, जिसका प्रयोजन है बाह्य क्षेत्र के कुसंस्कारों का मूलोच्छेद करना और दूसरा है—आभ्यन्तर तप, जिसका प्रयोजन है, आभ्यन्तर क्षेत्रवर्ती कुसंस्कारों को नष्ट करना। संस्कार शुद्धि तप का प्रथम प्रयोजन है।

वास्तव में देखा जाय तो यह सारा तपन आत्मा को अपने शुद्ध रूप में निखारने के लिए है। इसीलिए नियमसार में तप का लक्षण बतलाया गया है—

"प्रसिद्धशुद्धकारण परमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः।"
"आत्मानमात्मन्यात्मना संधत्ते, इत्यध्यात्मं तपनम्॥"

प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्मतत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहने में जो प्रतपन (मन, इन्द्रियों, बुद्धि, हृदय या शरीर को) होता है, वह तप है।

अथवा आत्मा को आत्मा से धारण (टिका) कर रखता है जोड़े रखता है, वह अध्यात्म है, और इस प्रकार के अध्यात्मभाव में सतत (मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ, शरीर आदि को) रखना ही तप है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चूंकि अपनी आत्मा को शुद्ध आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व में स्थिर रखना, जरा भी इधर-उधर न होने देना, बहुत बड़ा तप है, इसलिए व्यवहारदृष्टि से धवला में तप का लक्षण यों किया गया है—

"तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो तवो।"

तीनों रत्नों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र) को प्रगट करने के लिए (इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयों तथा कषायों के) इच्छानिरोध को तप करते हैं।

प्रवचनसार में भी इसी आशय का लक्षण दिया गया है कि भावों में समस्त इच्छाओं का त्याग करके स्व-स्वरूप में प्रतपन करना (मन, इन्द्रिय, काय आदि का सन्निरोध करना) तप है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मप्रतपन यानी आत्मतेज या आत्मशक्ति को जाग्रत करना ही तप है। आत्मशक्ति के जाग जाने पर साधक मन, वाणी, काया, इन्द्रियों, बुद्धि आदि द्वारा उत्पन्न संस्कारों को ललकार सके, उनके (कर्मों के) साथ युद्ध ठान कर उनकी शक्तियों को उधर जाने से रोककर शुद्ध आत्मस्वरूप में लगा सके, यही तप का उद्देश्य है।

संस्कारों (शुभाशुभ कर्मों) को ललकारने और उनके साथ युद्ध करने का तात्पर्य है—प्रतिकूल वातावरण में जाकर तपःसाधना करना, अथवा इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, शरीर आदि प्रतिकूल पथ पर—विपरीत प्रवाह पर जा रहे हों तो उन्हें रोकना और शुद्ध धर्म के अनुकूल प्रवाह या पथ की ओर द्वादशविध बाह्याभ्यन्तर तपों से मोड़ना ही तप है, यही इच्छा निरोध है।

मोक्ष पंचाशत् में यही बात मन-वचन-काया से होने वाले तप का वर्गीकरण करके कही गई है—

तस्माद् वीर्य समुद्रेकादिच्छानिरोधस्तपो विदुः।
बाह्यं वाक्कायसम्भूतमान्तरं मानसं स्मृतम् ॥४८॥

—विविध तपस्या द्वारा शक्ति का उद्रेक होने से इच्छानिरोध को तप कहते हैं जिसमें बाह्य तप वाणी और काया से होता है और आभ्यन्तर होता है मन से।

यद्यपि तपःसाधना का प्रारम्भ अनुकूल वातावरण में करके आत्म-शक्ति में वृद्धि कर ली जाती है, तब इसी शक्ति के आधार पर प्रतिकूल वातावरण का सामना किया जाता है।

इसलिए तप का प्रयोजन है—संस्कारों (शुभाशुभकर्मजनित) के साथ युद्ध ठानकर उनका मूलोच्छेद करना। तप के दो भेद भी इसी उद्देश्य से किये गये हैं। बाह्य तप से उन संस्कारों का विनाश किया जाता है जो कि शारीरिक कष्ट, दुःख, विपत्ति या संकट आ पड़ने पर व्यक्ति को समता और शान्ति से विचलित कर देते हैं तथा अन्तरंग तप से उन संस्कारों का विच्छेद किया जाता है, जो मानव के अन्तर् में विषयादि की इच्छाओं और कषायों के रूप में आविर्भूत होकर उसे विविध अपराध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या दोष करने के लिए प्रेरित या प्रवृत्त करते रहते हैं। इनलिए बाह्य तप में कुछ ऐसी अनशन (उपवास आदि), ऊनोदरी आदि क्रियाएँ की जाती हैं, जिनसे शरीर को ताप (संताप) पहुँचे; परन्तु उस संताप को समभाव से सहने की शक्ति तपःसाधक में आ जाए तथा अन्तरंग तप में कुछ ऐसी मानसिक प्रवृत्ति (भावनाएँ, संकल्प आदि) के साथ-साथ शारीरिक क्रियाएँ की जाती हैं, जिनसे विविध इच्छाओं, वासनाओं तथा कषायों को ताप पहुँचे और उससे इनका दमन-शमन एवं शोधन हो।

मतलब यह है कि तपःसाधक अनशन (उपवासादि), ऊनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्तशय्यासन (या प्रतिसंलीनता) एवं कायक्लेश, इन ६ बाह्यतपों के द्वारा तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग इन ६ आभ्यन्तर तपों के द्वारा शरीर मन और वचन की शक्ति को न छिपाता हुआ पूरे उत्साह, समता और शान्ति के साथ निर्भय होकर आगे बढ़ता जाता है और कर्मों के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करता है, अपनी आत्मा को शुद्ध करता है।

यद्यपि इन तपस्याओं में कष्ट-सहन तो है ही, चाहे शारीरिक कष्ट-सहन हो, चाहे मानसिक कष्ट-सहन, वह अवश्य है, पर यह कष्ट दूसरों के द्वारा लादा हुआ नहीं होता, तपःसाधक स्वेच्छा से इन कष्टों को आमंत्रित करता है और अपनी आत्मशक्ति, मनोबल, संकल्प शक्ति बढ़ाता है। वह अपने शरीर और मन को मोक्ष (कर्ममुक्ति या रत्नत्रय द्वारा समस्त कर्म मुक्ति) के उत्पादनार्थ लगाए हुए यंत्रों से अधिक नहीं समझता। यंत्र कदाचित् बिगड़ता है, चलते-चलते रुक जाता है, या मन्द चलता है तो यंत्र के मालिक को इतनी चिन्ता नहीं होती, वह इसे दुरुस्त करा लेता है, इसी प्रकार शरीर और मन के यंत्र के बिगड़ने या मन्द पड़ने की चिन्ता तपःसाधक को नहीं होती, वह जानता है कि तप से ये यंत्र शुद्ध होकर अधिक काम करेंगे, अन्यथा इनमें कूड़ा-कर्कट, कीटा, मैल आदि आ जाएगा और कर्मक्षयरूप उत्पादन को ठप्प कर देगा।

शरीर की आवश्यकताओं पर विजय प्राप्त करना या उन्हें रोकना बाह्य तप के द्वारा होता है, जबकि मन की आवश्यकताओं या इच्छाओं का निरोध करना आभ्यन्तर तप से होता है। दोनों ही प्रकार के तपों द्वारा शारीरिक, मानसिक शक्तियों में वृद्धि होने से कर्मों से समभावपूर्वक जूझने का कार्य आसान हो जाता है।

आज तप का नाम लेते ही लोग समझ लेते हैं कि उपवास करना ही एक मात्र तप है, किन्तु भगवान महावीर ने केवल भूखे रहने और उसके पीछे कोई उद्देश्य, प्रयोजन, चिन्तन, सम्यग्दर्शन आदि न रहे तो उसे वास्तविक ज्ञानमय तप नहीं कहा है, उसे बालतप (अज्ञान तप) कहा है।[1]

मान लो, उपवास के सिवाय अन्य बाह्यतप या प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप का भी अनुष्ठान किया, लेकिन अगर उस तप के पीछे कोई प्रसिद्धि, आडम्बर,

---

१. देखें भगवती सूत्र एवं औपपातिक सूत्र।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा या नामना की कामना है, यशोलिप्सा है, अथवा अन्य कोई धन, साधन, पद, या सत्ता आदि की इच्छा है या इहलौकिक अथवा पारलौकिक विषय-सुखभोग की इच्छा है, भोग के उत्तम साधनों या स्वर्गादि सुखों की लालसा है, अथवा वैसा तप करके जल्दी से जल्दी शरीर को समाप्त कर देने की इच्छा है, अथवा शरीर को स्वस्थ एवं सशक्त बनाकर उससे वैषयिक सुखोपभोग की या दीर्घायु बनने की लिप्सा है। ये और इस प्रकार की कोई भी लिप्सा तप के पीछे है तो अध्यात्म की दृष्टि में वह तप सच्चा तप नहीं है। देखिये तप के सम्बन्ध में भगवान महावीर का सम्यक् दृष्टिकोण—

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥

इहलौकिक सुखभोग या किसी पदार्थ या सिद्धि आदि की वाञ्छा से तप न करे। न पारलौकिक सुख-भोगादि की इच्छा से तप करे, पूजा, सत्कार, सम्मान, कीर्ति, प्रसिद्धि, वाहवाही, प्रशंसा या नामबरी की दृष्टि से तप न करे। किन्तु एक मात्र निर्जरा (कर्मक्षय) के हेतु से तप की साधना करे।

एक आचार्य ने तपस्या का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा है—

निर्दोषं निर्निदानाढ्यं तन्निर्जरा प्रयोजनम्।
चित्तोत्साहेन सद्बुद्ध्या तपनीयं तपः शुभम्॥

—दोषरहित, निदान (सुखादि वाञ्छा का नियाणा) से रहित, सिर्फ निर्जरा के प्रयोजन से, चित्त के उत्साह के साथ सद्बुद्धि तथा विवेकपूर्वक शुभ तप करना चाहिए।

तपस्या के उद्देश्य को न समझकर जो लोग बिना विवेक के केवल प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि से मूढ़तावश दुराग्रहपूर्वक तप करने जाते हैं, वे गीता की भाषा में तामसिक या राजसिक तप करते हैं। गीता तो स्पष्ट कहती है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम्॥

—जो मूढतावश, दुराग्रहपूर्वक, केवल अपने को उत्पीड़ित करने, शरीर को तोड़फोड़ कर समाप्त कर देने की दृष्टि से या दूसरों को उखाड़ने या हैरान करने के अभिप्राय से तप किया जाता है वह **तामस तप** कहलाता है।

जो तप सत्कार-सम्मान और पूजा, प्रतिष्ठा के लिए, दम्भ-दिखावा करके किया जाता है, वह **राजस तप** है, जोकि चंचल और अस्थायी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गीता में जो सात्त्विक तप—(उद्देश्य युक्त—सकाम) बताया है, उसकी परिभाषा देखिये—

श्रद्धया परमा तप्तं, तपस्तत्त्रिविधंनरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

किसी भी प्रकार की फलाकांक्षा (इहलौकिक, पारलौकिक सुखभोग-वाञ्छा आदि) के रखे बिना जो व्यक्ति मानसिक, वाचिक, कायिक—त्रिविध तप करता है, वह **सात्त्विक तप** कहलाता है।

जब तपःसाधक सम्यग्ज्ञानयुक्त तपोभावना से सुसंस्कृत होकर विषय-सुख-त्यागरूप अनशनादि तप करता है, तब सहज ही इन्द्रिय-दमन हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती नहीं हैं।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि तप जब आत्म-विशुद्धि के अभिप्राय से समाधि-पूर्वक किया जाता है, तब वह तपस्वी के लिए आनन्ददायक शान्तिप्रदायक मालूम होता है।

इसके अतिरिक्त तपस्या के साथ तपःसाधक की मानसिक शान्ति भंग नहीं होनी चाहिए। जिस तप से मानसिक शान्ति भंग हो जाती है, वह तप निरर्थक हो जाता है। परन्तु जो समभावी साधक इस लोक और परलोक के सुखों की अपेक्षा न करके कायक्लेश आदि अनेक प्रकार का तप करता है, उसका तप निर्मल होता है। साथ ही यह बात अवश्य ध्यान में रखना है कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों को तथा चारों कषायों को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का चिन्तन करता है, उसके नियम से तप होता है।

उग्रतप दुःख का कारण—कितना है, कितना नहीं ?

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब मनुष्य पहले बताया हुआ सच्चा तप भी जब अधिकाधिक मात्रा में करने लगता है, यानी तप जब उग्र या घोर हो जाता है, तब शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सबको दुःख होता है, ऐसी स्थिति में वह उग्रतप सुख-शान्ति और समाधि का कारण, आत्मशुद्धि और चित्तशुद्धि का कारण कैसे हो सकता है ?

दीर्घतपस्वी भगवान् महावीर की दृष्टि से इस प्रश्न का समाधान यही है, जिस तप के साथ केवल देह-दमन होगा, आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान, सम्यग्-दर्शन-ज्ञान नहीं होगा, उद्देश्य शुद्ध नहीं होगा, वह तप तप न रहकर ताप बन जाएगा, संतापकारक हो जाएगा। इसीलिए तपस्या के सम्बन्ध में ज्ञानसार में स्पष्ट निर्देश किया है—

तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत।
येन योगा न हियन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—वही तप करना चाहिए, जिसके करने में आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान पैदा न हो, मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करना दुःशक्य न हो, इन्द्रियाँ बिलकुल क्षीण न हो जायँ।

यद्यपि तपस्या करने वाला साधक स्वेच्छा से ही करता है, परन्तु स्वेच्छा के साथ यदि अपनी मनःसमाधि का ध्यान नहीं रखकर शरीर को एकदम निढाल एवं निश्चेष्ट बना देता है, इन्द्रियों को तोड़फोड़ या मार-पीटकर प्रवृत्ति करने से रोकता है, मन में आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान पैदा होता है, तो वह उग्र तप सुख-शान्तिकारक नहीं हो सकता। वह उग्रतप असमाधिकारी होने से बिलकुल हेय है। परन्तु जिस तप में मन की समाधि भंग न होती हो, साधक अपने आत्मस्वरूप या स्वाध्याय, सेवा आदि में इतना तल्लीन हो जाता है, कि उसे खाने-पीने की कभी मन में भी नहीं आती, न इन्द्रियों को कोई थकान महसूस होती है, मन में भी कभी यह विचार नहीं आता कि कहाँ प्रत्याख्यान ले बैठा इतने उपवासों के? या कहाँ मैंने जिम्मेवारी ले ली इसकी सेवा करने की? या कहाँ मैं फँस गया इस तपस्या के चक्कर में? यह तो अच्छा नहीं हुआ? इस प्रकार का आर्त्तध्यान या दूसरों को मारने-पीटने, सताने, धोखा देने, परिग्रह बढ़ाने आदि रौद्रध्यान के विचार कतई नहीं आते, तो ऐसा उग्रतप कभी असमाधिकारक नहीं हो सकता। ऐसा उग्र तप सम्यग्दर्शन एवं ज्ञानपूर्वक होने से सच्चा है, सुख-शान्तिकारक है।

उग्रतप से शरीरादि को साधा जाय

यह ध्यान रहे कि तपस्या से शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि सबको साधना है, इन्हें मारना नहीं है। मारने और साधने में बहुत अन्तर होता है। मारने में तो शरीरादि पर रोष, द्वेष, घृणा आदि आने की सम्भावना है; और यदि रोष, द्वेष आदि मन में आ गए या केवल हठाग्रह करके शरीरादि पर बलात्कार किया गया तो, वहाँ तपःसमाधि समाप्त हो जायगी। शरीरादि पर अत्याचार करना तप नहीं है, वह ताप है। शरीरादि को साधने के लिए तपःसाधक पहले अपनी आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान को समझ लेता है, फिर स्वेच्छापूर्वक अपनी मस्ती से तपश्चरण आगे से आगे बढ़ाता जाता है, अपनी आत्मसमाधि नहीं खोता। वही सच्चा उग्र तप है, जिसमें दुःख, क्लेश, आर्त्तध्यान आदि नहीं होते।

तप से शरीर, मन और इन्द्रियों को तपाकर इन्हें साधने की प्रक्रिया क्या है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। तप से शरीर आदि को साधने का मतलब है—शरीरादि को बेकाबू होने से रोकना, उन्हें नियन्त्रण में रखना या इन पर शासन करना; ताकि जिस समय जैसे चाहें वैसे ही रूप में हमारे शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि रह सकें। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, साधनों का अभाव, संकटों की बौछार जैसी कोई भी विकट परिस्थिति हो, समभावपूर्वक हमारे मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ आदि हमारे अनुचर बनकर रह सकें; विकट से विकट स्थिति में हम सुख, सन्तोष व आनन्द

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महसूस कर सकें। आप उस परिस्थिति के गुलाम नहीं, मालिक बनकर रहें। आपको खान-पान, वस्त्र तथा अन्य साधन मिले या न मिले, मिले तो पर्याप्त न मिले, मनोऽनुकूल न मिले, परन्तु तपस्या के कारण आपके शरीर और मन की इतनी अच्छी तैयारी रहे कि आप उस समय मस्ती से, शान्ति से, विक्षुब्ध हुए बिना रह सकें, रो-धोकर समय न काटें, अपितु, प्रसन्नता से समय बिता सकें। शरीर और मन की इतनी तैयारी रहे कि प्रत्येक कष्ट, रोग, दुख या संकट का सामना समभावपूर्वक कर सकें। जब तपस्या से शरीर और मन इतना सधा हुआ और कसा हुआ रहेगा तो साधक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मनोविकारों से लड़ सकेगा और उन्हें दुर्बल बनाकर खदेड़ सकेगा। जो अशुभ कर्म पहले बँधे हुए होंगे, उन्हें वह तपस्या से शरीर और मन को तपाकर, इच्छा निरोध करके नष्ट कर सकेगा। कहा भी है—

तवसा धुणइ पुराणपावगं

तपस्या के प्राचीन (पहले बँधे हुए) पापकर्मों को क्षीण करता है। शरीर, मन और इन्द्रियों को तप द्वारा कैसे साधा जा सकता है? इसके लिए एक प्रेरणाप्रद दृष्टान्त लीजिए—

एक धनाढ्य सेठ की पत्नी गुजर गई। उसके एक ही लड़का था। जब वह विवाह योग्य हुआ तो किसी कुलीन घराने की लड़की के साथ उसका विवाह कर दिया। दुर्दैव से लड़का शादी होते ही कुछ दिनों बाद चल बसा। बेचारी लड़की के भाग्य में पति का सुख बदा नहीं था। लड़की अपना मन बहलाने को कुछ दिनों के लिए अपने पीहर चली गई। परन्तु सारी जिन्दगी पीहर में तो कट नहीं सकती थी, ऐसा सोचकर वह अपनी ससुराल आई। उसका श्वसुर धनाढ्य के साथ-साथ धर्म-परायण और विवेकवान था। अपनी विधवा पुत्रवधू की मनःस्थिति को वह भली-भाँति समझता था। सेठ ने सोचा—'अगर मैं धौंस जमाकर या जली-कटी सुनाकर इसे दुःखित करूँगा तो इसकी आत्मा को बड़ा भारी आघात पहुँचेगा और सम्भव है, परिस्थिति असह्य हो जाने पर यह उसे न सह सकने के कारण आत्महत्या कर बैठे। अतः अच्छा तो यह होगा कि इसे इस ढंग से रखा जाय, ताकि इसका मन भी इस घर में लगा रहे और हमारी कुल-परम्परा के अनुसार यह धर्म में भी दत्तचित्त रहे।'

सेठ ने मौका पाकर एक दिन अपनी पुत्रवधू से कहा—"बेटी! ये ले चाबियाँ। आज से इस घर की मालकिन तू है। घर की सब चीजें तेरे अधिकार में हैं। तू इनका मनचाहा उपयोग करना। तुझे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने वगैरह के लिए जो कुछ भी वस्तु चाहिए वह मँगा लेना। पर एक बात का ध्यान रखना—तुम्हारे जीवन में कोई भी ऐसा आचरण न हो, जिससे तुम्हारे पितृकुल को अथवा मेरे (श्वसुर) कुल को दाग लगे, समाज में नीचा देखना पड़े।"

समझदार पुत्रवधू ने श्वसुर की बात सहर्ष स्वीकार की। घर का स्वामित्व पाकर अब वह प्रसन्न थी, साथ ही घर की व्यवस्था का सारा भार उस पर आ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पड़ने से उसमें गम्भीरता भी आती गई। घर और पड़ोस के सभी लोग उसे 'बड़ी जीजी' कहकर पुकारते थे। वह भी अपने अच्छे और उदार स्वभाव के कारण सबकी प्रिय हो गई, सबका पालन-पोषण माता की तरह करने लगी। श्वसुर की ओर से वह निश्चिन्त थी। खान-पान की सारी सुविधाएँ और सब प्रकार की आजादी उसे मिल ही गई थी। अतः वह उत्साहपूर्वक अपने कार्यों में जुटी रहती। धीरे-धीरे वह अपने वैधव्य का दुःख भूल गई।

यद्यपि सेठ ने दीर्घदृष्टि से सोचकर अपनी विधवा पुत्रवधू को सुन्दर ढंग से जीवन यापन करने की स्वतन्त्रता दी थी, परन्तु आप जानते हैं कि अत्यधिक सुख-सुविधाएँ, सरस स्वादिष्ट गरिष्ठ खान-पान और सब तरह की आजादी के साथ जीवन में यदि तप, संयम और त्याग का नियन्त्रण न हो, जीवन को तप की तालीम लेकर साधा न जाय तो उसके पतन का खतरा रहता है। विधवा युवती की उम्र भी अधिक नहीं थी फिर तप-संयम का नियन्त्रण न होने से कामोन्माद ने अपना रंग जमाना शुरू कर दिया। प्रारम्भ में तो वह संभल गई। पर जब उसकी उत्कटता छा जाने लगी, तब उसने मन ही मन सोचा—कोई ऐसा उपाय किया जाय, जिससे कामवासना भी शान्त हो जाय और दोनों कुलों की आबरू भी न जाय। अगर यह बात कहीं फैल गई तो मेरे दोनों कुलों को दाग लगेगा, नीचा देखना पड़ेगा। अतः बहतर यही है कि घर में ही ऐसा कोई उपाय किया जाय।

जब मनुष्य बुरी राह पर चलने को तैयार होता है तो उसकी बुद्धि कोई न कोई खोटा रास्ता भी खोज लेती है। सेठ की विधवा पुत्रवधू को भी अपने विचार को अमल में लाने की युक्ति सूझ गई। उसने दूसरे ही दिन अपने बूढ़े श्वसुर से कहा—"पिताजी! अपना रसोइया बहुत बूढ़ा हो गया है, उसे आँखों से भी कम दिखाई देता है, रसोई बनाने में भी उसे दिक्कत होती है, अतः आप कोई जवान रसोइया तलाश करके ले आइए। मैं आज से अपने पुराने रसोइये को छुट्टी दे रही हूँ।"

सेठ के बाल पक चुके थे। उसकी बुद्धि जीवन के कई उतार-चढ़ाव के गम्भीर अनुभवों की आँच में तपी हुई थी। वह पुत्रवधू की बात सुनते ही उसकी तह तक पहुँच गया। उसे डाँटने-फटकारने और धमकाने के बदले सेठ ने आत्मनिरीक्षण किया—'अहो! इसमें मेरी ही भूल है कि इसे इतनी सुख-सुविधाओं और साधनों की पूरी छूट तो दे दी, मगर इसके साथ ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर स्वैच्छिक अंकुश रखने की—तप की तालीम न दे सका। अन्यथा, इसे ऐसा सोचने की नौबत ही न आती। अपनी भूल का प्रायश्चित्त मुझे ऐसा करना चाहिए, जिससे इसे भी तप की तालीम मिले और इसके मन से दुर्विचारों का सफाया हो जाय।'

सेठ ने अपनी वणिक् बुद्धि का उपयोग किया। पुत्रवधू से स्नेहभरी मृदु वाणी में कहा—"बेटी! आज तो एकादशी है। मेरे तो उपवास है। तुम आज की रसोई का काम किसी तरह से चला लो। कल दूसरे रसोइये की तलाश करूँगा।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहू ने अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए कहा—"पिताजी ! आपको भोजन कराये बिना मैं भी भोजन नहीं करूँगी, मैं भी आज उपवास करूँगी।"

सेठ ने उसे प्रोत्साहन देते हुए कहा—"पुत्री ! जैसी तेरी इच्छा ! सुसंस्कारी पुत्रवधू का यही धर्म है।"

बेचारी पुत्रवधू ने कभी उपवास किया नहीं था, किन्तु अब सयानी होने से अपने श्वसुर की आन रखने के लिए उसने उपवास कर लिया।

सेठ उसके शरीर और मन पर उपवास की प्रक्रिया देख रहा था; क्योंकि वह चाहता था कि यह शरीर और मन को साधने के लिए पर्याप्त मात्रा में उपवास करे। परन्तु एक दिन में शरीर पर कोई खास प्रभाव न पड़ा। दूसरे दिन सेठ ने पुत्रवधू से कहा—"बेटी ! आज अमुक तीर्थंकर का जन्म कल्याणक का दिन है, इसीलिए मैं आज दूसरा उपवास करूँगा।"

बहू ने भी तपाक से कहा—"पिताजी ! मैं भी आज दूसरा उपवास (बेला) करूँगी।"

सेठ ने भी पूर्ववत् प्रशंसा के फूल बिखेर दिये।

तीसरे दिन भी सेठ ने अमुक तीर्थंकर का निर्वाण कल्याणक कहकर तीसरा उपवास करने को कहा तो बहू ने भी उत्साहपूर्वक अनुसरण किया। सेठ पुत्रवधू के शरीर और मन पर तप से होने वाले प्रभाव का पूरा ध्यान रख रहा था।

चौथे दिन चतुर्दशी थी। अतः सेठ ने कहा—"बेटी ! आज तो चतुर्दशी है, मुझे तो आज भी भोजन नहीं करना है, आज मेरा चौथा उपवास रहेगा।"

पुत्रवधू बोली—"मैं भी आज भोजन नहीं करूँगी; चतुर्दशी को तो उपवास रखना चाहिए।"

सेठ ने पुत्रवधू की प्रशंसा करते हुए कहा—"बेटी ! तुझ-सी धर्मात्मा ललनाओं के प्रताप से यह धरती टिकी है।"

पाँचवे दिन थी पूर्णिमा। सेठ ने कहा—"मैं तो आज पारणा नहीं करूँगा, क्योंकि आज पर्व दिन है।

पुत्रवधू का शरीर तीसरे ही दिन से शिथिल होने लग गया था। कभी इतना उग्र तप किया न था। फिर भी साहस करके कहा—"मेरे मन में तपस्या से शान्ति रहती है। अतः मैं भी आज पारणा नहीं करूँगी। पाँचवाँ उपवास करूँगी।" पाँचवें उपवास में पुत्रवधू का शरीर और इन्द्रियाँ और शिथिल पड़ जाने से, मन भी शान्त हो गया। मन की गुफा में कामवासना के जो बुरे विचार थे, वे सब काफूर हो गये। तप के प्रभाव से घृणित विचारों के बदले शुद्ध भाव धारा बहने लगी—'प्रभो ! मैं कितनी दुष्टा हूँ। मुझे श्वसुरजी ने सब तरह की स्वतन्त्रता दी, अधिकार दिये, किन्तु मैंने अपने तन-मन पर तप का अंकुश न रखा, जिससे मेरे मन में कुल-कलंकित करने वाले निन्द्य विचार आये। धिक्कार है मुझे ! मुझे तप के अंकुश की तालीम देने के लिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्वसुर जी को ५ उपवास करने का कष्ट उठाना पड़ा। अब मैं सुबह होते ही अपना अपराध उनके सामने प्रगट करके उनसे क्षमा माँगूंगी।'

इधर सुबह होते ही श्वसुर ने पुत्रवधू से कहा—"बेटी! अब आगे मेरी शक्ति नहीं है, तप करने की। आज पारणा करने के बाद मैं जवान रसोइये को ले आऊँगा।"

पुत्रवधू ने अश्रुपूरित नयनों से करबद्ध होकर कहा—"पिताजी! अब मुझे जवान रसोइये की जरूरत नहीं है। मुझे आपसे शरीर और मन को तप द्वारा साधने की तालीम मिल चुकी है। मुझे क्षमा करें। आपको मेरे लिए इतना कष्ट उठाना पड़ा।" यों कहकर उसने श्वसुर के चरणों में गिर धर्मपिता के रूप में मानकर सारी अपराध कथा कह डाली।

श्वसुर ने आश्वासन देते हुए कहा—"बेटी! यह तो मेरी गलती थी कि मैंने तुझे इतनी आजादी के साथ-साथ पहले से ही तप की तालीम नहीं दी। तू तो अबोध लड़की थी। जो भी हुआ, उसके लिए मैं भी कुछ हद तक जिम्मेवार हूँ। क्षमा कर दे मुझे! भविष्य में अपने पर तप का अंकुश रखकर धर्म पर दृढ़ रहना।"

उसी दिन से बहू ने अपना शरीर, इन्द्रियाँ और मन तप से तपाकर साधना शुरू किया। सादा भोजन और बीच-बीच में कभी उपवास, आयंबिल आदि तप का क्रम जीवन पर्यन्त उसने चालू रखा।

यह है—तप द्वारा शरीर आदि को साधने का उपाय।

आत्मसमाधि से रहित उग्रतप व्यर्थ

उग्र तप में यदि आत्मसमाधि न रहती हो, तो यह केवल शारीरिक कष्ट है। औपपातिक सूत्र में बड़े-बड़े तपस्वियों की कहानियाँ दी गयी हैं। वे तपस्वी बहुत ही उग्र तप करते थे, काँटों की शय्या पर सोते थे, पाँचों ओर पंचाग्नि तप तपते थे, औंधे लटककर रहते थे, घण्टों पानी में खड़े रहते थे, बहुत ही थोड़ा, कन्दमूल, फल आदि का आहार लेते थे। परन्तु इन सबके पीछे उद्देश्य आत्मशुद्धि का न होने से, तथा ये अज्ञानमूलक होने से आत्मसमाधिकारक नहीं होते थे, केवल शरीर और मन के लिए क्लेशकारक होते थे।

इसलिए इन्हें बालतप कहा गया है। अगर कोई व्यक्ति उग्र तपश्चरण करता है, किन्तु वह आत्मसमाधि या तपसमाधि से रहित है, तो भले ही शास्त्रों का ज्ञाता हो, तत्त्वज्ञान की बातें बघारता हो, या तपस्या के तत्त्व को जानता हो, या साधु जीवन की धार्मिक क्रियाएँ करता हो, उसका उग्र तप भी वास्तविक तप की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता। परमात्म प्रकाश में ठीक ही कहा है—

घोरं करंतु वि तवचरणु, सयलं वि सत्थं मुणंतु।
परमसमाहि विवज्जियउ, णवि देक्खइ सिउ संतु॥

—जो घोर तपश्चरण करता है, समस्त शास्त्रों को भी जानता है; लेकिन यदि वह परमसमाधि से रहित है तो वह शान्तरूप मंगलकारक शुद्धात्मा को नहीं देख सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मानुशासन में भी स्पष्ट कहा है—

सकल शास्त्रं सेवितां सूरिसंघानन्
दृढयतु च तपश्चाभ्यस्यस्यतु स्फीत योगम्।
चरतु विनयवृत्तिं बुध्यतां विश्वतत्त्वं,
यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किंचित् ॥

--कोई तपस्वी समस्त शास्त्रों का अध्ययन करे, आचार्य के संघ में रहकर संघ-प्रभावना से उसे सुदृढ़ करे, निश्चल योगों से तपश्चर्या भी करे, विनयवृत्ति भी धारण करे और विश्व के समस्त तत्त्वों को भी जानें किन्तु उसके जीवन में विषय-विलास है तो ये सब निरर्थक हैं।

निष्कर्ष यह है कि आत्मसमाधि, संयम और आत्मज्ञान के बिना उग्र से उग्र तप भी निरर्थक है, वह मोक्षफल देने में असमर्थ है। उग्र तपस्या करते समय प्रतिकूल वातावरण एवं विपरीत परिस्थितियाँ तथा अन्य आत्मसमाधि भंग करने के प्रसंग भी आ जाएँ तो भी सम्यग्द्रष्टा साधक इस बात की पूरी सावधानी रखता है कि कहीं मैं अपनी शान्ति से विचलित न हो जाऊँ, मेरे अन्तःकरण के किसी भी कोने में क्षोभ प्रकट न हो, मेरे चित्त में शान्ति और प्रसन्नता निराबाध रहे। यही सच्चा उग्र तप है।

निर्ग्रन्थ-परम्परा का मूल स्वर यही रहा कि देहदमन या कायक्लेश कितना ही उग्र क्यों न हो, यदि उसका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि तथा चित्तक्लेश निवारण में नहीं होता तो वह देहदमन या कायकष्ट वृथा है। निर्ग्रन्थ परम्परा देहदमन या कायक्लेश को तभी सार्थक मानती है, जब उसका सम्बन्ध आत्मिक शुद्धि के साथ हो। महर्षि पतंजलि ने भी योगदर्शन में स्पष्ट कहा है—"तप का प्रयोजन—क्लेशों को निर्बल करना तथा समाधि के संस्कारों को पुष्ट करना है।"

तथागत बुद्ध ने कई वर्षों तक कठोर तप किया। राजभवनों के सुखभोग छोड़े, वन में सतत रहे। शरीर अत्यन्त कृश एवं अस्थिपंजर हो गया, उन्हें आत्मसमाधि प्राप्त न हुई। आत्मसमाधि प्राप्त न होने से आत्मशक्ति तो मिलती ही कहाँ से? अतः तथागत बुद्ध के उस उग्र तप को आत्मसमाधिजनक नहीं कहा जा सकता; वह सिर्फ देहदमन या कायकष्ट ही हुआ। उस उग्र तप से उनका कर्मक्षय नहीं हुआ, क्योंकि उस तप से उनकी आत्मा में शान्ति, समता एवं निश्चिन्तता न आई; प्रत्युत उस उग्र तप से उनका चित्त विचलित हो उठा, उनकी श्रद्धा डोल उठी और अन्त में एक दिन उन्होंने सुजाता के हाथ से खीर लेकर पारणा कर ही लिया।

महाराजा शिखिध्वज ने अपना राज-पाट छोड़कर उग्रतप करने के लिए जंगल की ओर प्रस्थान किया। वहाँ तप करते हुए उन्होंने अनेक कष्ट सहे, परन्तु उस तप के साथ सम्यग्दर्शन, आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान एवं तदनुसार आत्मसमाधि नहीं थी। फलतः उन्हें आध्यात्मिक शान्ति नहीं मिली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं उनकी पतिव्रता पत्नी चूडाला ब्रह्मचारी के वेष में उनके पास गई और उग्र तप के साथ अनिवार्य नियमों, व्रतों एवं कर्तव्यों का उपदेश दिया जिससे उनकी गुत्थियाँ सुलझ गयीं। उनके तप के साथ फलाकांक्षा की तीव्रता, अहंकार की ग्रन्थि एवं लौकिक लाभ की स्पृहा जुड़ गयी थी, जिससे उनकी आत्मसमाधि भंग हो गई थी। किन्तु चूडाला के उपदेश से उन्हें स्पष्ट सूझ गया कि अभी तक वह उग्र तप के योग्य नहीं बने। सामान्य तप तो राज्यकार्य करते हुए भी किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि आर्यावर्त के तप-त्यागमय जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक शान्ति रहा है। आध्यात्मिक शान्ति का अर्थ है—क्लेशों और विकारों की शान्ति। दीर्घ-तपस्वी श्रमण भगवान महावीर ने इतने उग्र तप (लगभग ६-६ महीने तक के) किये, लेकिन उन तपश्चर्याओं में उनकी आध्यात्मिक शान्ति कभी भंग न हुई।

निष्कर्ष यह है कि तप की सीमा का अतिक्रमण करने, तपःसमाधि को भंग करने एवं आत्मसमाधि नष्ट हो जाने से यथार्थ माने में उग्र तप नहीं होता, वह एक प्रकार से शरीर और मन को उग्र ताप देना हो जाता है।

उग्रतपरूपी तलवार रक्षक भी, संहारक भी

उग्र तपस्या एक तलवार है। वह अगर तेज धार वाली हो तो कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालती है अन्यथा समय पर धोखा दे देती है, स्वयं के लिए हानिकारक हो जाती है। अर्थात् उग्र तपस्या अगर बाह्य के साथ आभ्यन्तर भी हो, सात्त्विक हो, राजसिक-तामसिक न हो, इहलौकिक-पारलौकिक सुखभोग की वाञ्छा से युक्त न हो, फलाकांक्षा से निरपेक्ष हो, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा आदि की कामना से रहित हो और आत्मसमाधि से युक्त हो तो वह अवश्य ही कर्मशत्रुओं का सफाया कर सकती है।

जैसा कि एक आचार्य ने कहा है—

अनादिसिद्ध दुष्कर्म द्वेषि संघातघातकम्।
इदमाद्रियते वीरैः खड्गधारोपमं तपः॥

—तपोवीरों के द्वारा ही अनादिकाल से संचित दुष्कर्म शत्रुओं के घातक तलवार की तीक्ष्ण धार के समान यह उग्रतप अपनाया जाता है।

परन्तु मोथरी तलवार की तरह जिस उग्र तपस्या में कोई तेज न हो, जो नामना-कामना, हठाग्रह-दुराग्रह से युक्त हो, जिसके साथ आभ्यन्तर तप न हो, आत्म-समाधि न हो, जिससे विषय-कषाय प्रबल हो गये हों, जो तामसिक-राजसिक हो, वह कर्मशत्रुओं को नष्ट करना तो दूर रहा, उलटे कर्मशत्रुओं से पराजित होकर उन्हें जिता देती है। कर्मशत्रु ऐसी मारक उग्र तपस्या से तपःसाधक पर हावी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उग्र तपस्यारूपी मोथरी तलवार किसी काम की नहीं होती। वह कर्मशत्रुओं का सफाया करने के बदले आत्मगुणों का सफाया कर देती है; दूसरों को हराने के बदले, वह उसके साधक को ही हरा देती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तुलसीकृत वैदिक रामायण का प्रसंग है। परशुरामजी उग्रतप के लिए प्रसिद्ध हैं। वे जितने उग्र तपस्वी थे उतने ही उग्र क्रोधी भी। जिन दिनों वे पर्वत शिखर पर तपस्यारत थे, उन्हीं दिनों, जनक के यहाँ रखा हुआ शिवधनुष सीताजी के स्वयंवर में आये हुए अनेक राजाओं एवं राजकुमारों में से श्रीराम ने तोड़ा था। धनुष टूटने की आवाज दूरस्थ पर्वतशिखर पर भी पहुँच गई थी। उग्र तपस्वी परशुरामजी जनक के यहाँ शिवधनुष को टूटा जानकर तुरन्त स्वयंवर मण्डप में पहुँचे। क्रोध से लाल उनके नेत्र, उनकी भयंकर कुटिल भृकुटि एवं फड़कते हुए नथुनों को देखकर सभागत सभी राजा आदि भयभीत होकर काँपने लगे। परशुरामजी के एक कंधे पर परशु रखा था, एक पर धनुष लटक रहा था। सभी राजा उनके चरणों में प्रणाम करने लगे। राजा जनक ने जब प्रणाम किया तो परशुराम ने क्रुद्ध होकर पूछा—"जनक! किसने तोड़ा है, यह शिवधनुष?"

राजा जनक उनके क्रोधाविष्ट प्रश्न से काँप उठे। वे चुप हो गये। शीलगुण-निधान श्रीराम ने उत्तर दिया—"मुनिवर! धनुष को तोड़ने वाला आपका ही कोई सेवक है।"

परशुराम क्रोध से गर्ज उठे—"वह सेवक नहीं, मेरा शत्रु है!"

श्रीराम परशुराम के क्रोध का शान्ति से उत्तर देना चाहते थे। लक्ष्मण ने जब परशुरामजी के क्रोध का क्रोध और व्यंग्य वचनों से प्रतिकार किया तो राम ने आँखों के इशारे से उन्हें चुप कर दिया। श्रीराम ने परशुरामजी का कोप शान्त करने के लिए मधुर वाणी में कहा—"भृगुकुलमणि! आपका अपराधी मैं हूँ। मेरे हाथ से ही यह शिवधनुष टूटा है। आपका क्रोध जिस तरह से शान्त हो, उसी प्रकार का दण्ड दीजिए। मैं सहर्ष दण्ड पाने को तैयार हूँ।"

श्रीराम के शान्ति-सुधामय वचनों से परशुराम का क्रोध कुछ ठण्डा हो गया। वे बोले—"राम! यदि धनुष तुमने ही तोड़ा है, तो तुम मुझसे युद्ध करो।"

राम ने शीतलताप्रद उद्‌गार निकाले—"विप्रवर! ब्राह्मण और क्षत्रिय में युद्ध कैसा? मैं तो आपका दास हूँ। आपके हाथ में फरसा है, मेरा मस्तक झुका हुआ है; लेकिन भृगुवंशमणि! आप तपस्वी हैं, आपको तो क्रोधविजयी होना चाहिए। तपस्वी में तो शम, दम, तप, शौच, क्षमा आदि अनेक गुण होते हैं। इन गुणों के कारण हम क्षत्रिय आपके साथ कभी युद्ध नहीं करते। इसलिए आप युद्ध का विचार त्याग दीजिए।"

परशुराम—"यदि तुम युद्ध नहीं करना चाहते हो तो परीक्षा दो।"

श्रीराम—"कैसी परीक्षा, विप्रवर!"

परशुराम—"मेरा यह धनुष लो, इसे चढ़ाकर दिखाओ।"

श्रीराम—"जो आज्ञा! मैं परीक्षा देने के लिए तैयार हूँ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्यों ही परशुराम धनुष देने को तैयार हुए, त्यों ही वह अपने आप श्रीराम के हाथों में चला गया। परशुराम विस्मित-से, पराजित-से, हतप्रभ होकर श्रीराम को देखने लगे। राम की शान्तस्निग्धधारा उनके मन-मस्तिष्क में समा गई, उनका क्रोध एकदम ठण्डा हो गया।

सच है, उग्रतप के साथ जहाँ क्रोध होता है, आत्मसमाधि नहीं होती, वहाँ वह व्यक्ति पराजित और अपमानित हो ही जाता है, उग्र तपस्या रूपी तलवार उसकी रक्षा करने के बदले उसके आत्मगुणों का संहार कर देती है।

उग्रतप ज्ञान-गंगा के साथ चमकता है

वस्त्र मलिन होता है तो उसे स्वच्छ करने के लिए दो चीजें जरूरी होती हैं—पानी और साबुन। अकेले पानी से वस्त्र भली-भाँति स्वच्छ नहीं होता और न अकेले साबुन से ही। अकेला साबुन वस्त्र पर रगड़ने से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार आत्मा की स्वच्छता के लिए तपरूपी साबुन के साथ ज्ञानरूपी जल की नितान्त आवश्यकता है।

आत्मा अनन्त-अनन्त काल से वासना, कुसंस्कार एवं कर्मों के संयोग के कारण मलिन, अपवित्र और अशुद्ध हो गया है, विषयों के प्रति आसक्ति और क्रोधादि कषायों ने उसकी स्वच्छता समाप्त कर दी है। अतः उसे स्वच्छ और शुद्ध करना आवश्यक है। आत्मा की शुद्धि और स्वच्छता के बिना कोई भी साधना सफल नहीं होती। जीवन साधनाजनित अहंकार और मद में फूलकर मलिन हो जाता है। कोरा उग्रतप भी ज्ञान के बिना आत्मा को गर्वित और मदग्रस्त बना देता है। तप से जो भी शक्ति पैदा होती है, वह दूसरों को पीड़ित करने, शाप देने, और अहंकार में आकर दूसरों पर रौब गाँठने में काम आती है। इसलिए उग्रतप के साथ ज्ञान का होना परम आवश्यक माना गया है।

तप, ज्ञान और जप

तप और ज्ञान के साथ जप भी हो तो सोने में सुगन्ध है। तप, जप और ज्ञान इन तीनों के संयोग से आत्मा शुद्ध और पवित्र हो सकता है। तप से साधक अपनी आत्मा को तपाता है, जप से अपने स्वरूप के प्रति श्रद्धा को दोहरा कर विश्वास पक्का करता है और ज्ञान से अपने आपको पहचानता है। एक कवि ने अपना सुन्दर चिन्तन व्यक्त किया है—

ज्ञान की निर्मल गंगा और तप-जप की यह जमना।
बोल मानव! बोल, संगम होगा कि नहीं? ॥ध्रुव॥
मन मैला है, तन है उजला, कैसी यह तेरी माया है?
दिल में नफरत, मुंह का मीठा, दोहरा रंग बनाया है।
तन-मन का रंग एक तेरा, कभी होगा कि नहीं? बोल....

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस मिट्टी के तन को सजाकर, क्यों तू अकड़ा जाता है ?
मन में तेरे, पाप घनेरे, कोरे तप से तू छिपाता है।
ज्ञान बिना वे कैसे धुलेंगे, फिर साफ होगा कि नहीं ? बोल....

समाधि शतक में इसी बात का जोरदार शब्दों में समर्थन किया गया है—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं, तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥

"जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता।"

निष्कर्ष यह है कि उग्रतप ज्ञान की गंगा के साथ हो तो दोनों के संयोग से आत्मा चमकता है, निर्मल हो जाता है।

भोपाल से कुछ ही दूर एक बीहड़ वनस्थली थी, जहाँ पहले साँप, बिच्छू, रीछ, भेड़िये आदि पशु अड्डा जमाये रहते थे, चोरों और लुटेरों का भी आवास-स्थान वही था। वहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति के सन्देशवाहक साधु नारायणदासजी ने आकर अपना डेरा जमाया। कुछ दिनों तक उन्हें इस भयंकर स्थान में नींद ही पूरी न आई। एक दिन प्रातः उठकर उस ऊबड़-खाबड़ जगह को साफ सुथरी बनाकर संकल्प किया कि इस जगह को अध्यात्मविद्या का केन्द्र बनाऊँ। संकल्प करना आसान है, लेकिन उसे निभाना बहुत ही कठिन है। बड़ी भारी तपस्या करनी पड़ती है, संकल्प सिद्धि के लिए। खूंखार डाकुओं ने सोचा सरल साधु है, आज यहाँ है, कल चला जायेगा। हमारी चोरी-डकैती जैसे अपराध से क्या मतलब ? परन्तु जब कई दिन हो गये तो एक दिन उनसे आमना-सामना हो गया। डाकू गर्म होकर बोले—"यहाँ से सबेरे ही चले जाना।" पर साधु नारायणदास किसी और ही धातु के बने हुए थे। उन्होंने कहा—भाइयो ! मेरी धरती माता के पुत्र अपने जीवनोद्देश्य से भटककर बुरे कर्म करें, उन्हें इनसे न छुड़ाकर मैं अन्यत्र जाकर सुख की नींद सोऊँ, भला यह मेरे जैसे साधु से कैसे हो सकता है ? इसलिए मुझे यहीं रहकर तप करना होगा।"

वे लोग साधु की वाणी से प्रभावित तो हुए पर इतनी जल्दी अन्यत्र कहाँ जाने वाले थे ? उन्होंने इन्हें तंग करना शुरू किया। पर साधु तो कृतसंकल्प थे, इसलिए अपना स्वप्न साकार करने के लिए डटे रहे। अन्ततोगत्वा सभी डाकू वहाँ से भाग गये। पर अभी कई परीक्षाएँ शेष थीं। एक दिन एक विषधर ने उन्हें डस लिया। न कोई दवा, न सेवा करने वाला। अपनी धूनी से एक चुटकी भभूत खाई। दो दिन बेचैनी में कटे, तीसरे दिन शरीर और मन पूर्ववत् स्वस्थ हो गया।

एक गुफा थी वहाँ, उसे भी स्वच्छ किया। आसपास के नागरिक आने लगे। हलचल बढ़ने से हिंस्र पशु भी अन्यत्र चले गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन साधुजी ने रामायण उठाकर देखी, उसमें सुवाक्य था—"**तपु आधार सब सृष्टि, भवानी !**" उपनिषद् में एक वाक्य मिला—'**दिवमारुहत तपस्या तपस्वी**' तपस्वी तप के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त करता है। और फिर एक वाक्य मिला—'**तपः स्वाध्यायाभ्यां मा प्रमदः**'—तप और स्वाध्याय से विषय में प्रमाद मत करो। सोचा—तप से आत्मशुद्धि और स्वाध्याय से आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उन्होंने कुछ दिन तक अल्पाहार रखा, फिर आंशिक उपवास, तत्पश्चात् पूर्ण उपवास किये। तप और स्वाध्याय दोनों का क्रम चलता रहा। इनसे आत्मशुद्धि और आत्मज्ञान दोनों प्राप्त हुए, सांसारिक मोहबन्धन टूटने लगे; केवल कर्त्तव्य शेष रहा।

और एक दिन सरकार और जनता के सहयोग से वहाँ एक आध्यात्मिक संस्थान खड़ा हो गया। साधु नारायणदासजी की उग्र तपःसाधना ज्ञानयोग के साथ सफल हुई।

उग्रतप का महत्व और लाभ

उग्रतप का वर्णन सुनने के बाद आप यह तो समझ ही गये होंगे कि उग्रतप कितना लाभदायक है ? फिर भी हम उग्रतप के माहात्म्य के सम्बन्ध में महापुरुषों के चिन्तन की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र एवं दशाश्रुतस्कन्ध में यत्र-तत्र तप की महिमा का गान किया गया है—

भवकोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।

"करोड़ों जन्मों के संचित कर्म तपस्या से जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।"

तवेण परिसुज्झइ।

"तपस्या से आत्मा पवित्र होती है।"

तवेण वोदाणं जणयइ।

"तपस्या से व्यवदान—कर्मशुद्धि—होती है।"

तवसा अवहट्टलेस्सस्स दंसणं परिसुज्झइ।

"तपस्या से लेश्याओं को संवृत करने वाले व्यक्ति का दर्शन—सम्यक्त्व-परिशोधित होता है।"

उग्रतप के साथ सहिष्णुता हो, तभी महाशक्ति

मनुस्मृति में तपस्या की महाशक्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

यद्दुस्तरं यद्दुरोहं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

"संसार में जो भी दुस्तर है, दुष्प्राय है, दुर्गम है, अथवा दुष्कर है, वह सब तप द्वारा सिद्ध किया जा सकता है; क्योंकि तप दुरतिक्रम है—इसके आगे कठिनता या दुर्लभता जैसी कोई चीज नहीं है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उग्रतप से दुष्प्राप्य वस्तु प्राप्त होने की साक्षी योगवशिष्ठ भी दे रहा है—

"तपसैव महोग्रेण यद्दुरापं तदाप्यते ।"

"जो भी दुष्प्राप्य वस्तुएँ हैं, वे महा उग्रतप से ही प्राप्त होती हैं ।"

परमात्म-प्राप्ति या परमात्म-साक्षात्कार सबसे कठिन कार्य है, परन्तु तप से आत्मशुद्धि होने पर परमात्मपद-प्राप्ति भी हो जाती है। सरलात्मा बालक ध्रुव की उग्र तपस्या इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण भागवत में प्रसिद्ध है।

बालक ध्रुव एक दिन खेलते-खेलते आया और अपने पिता राजा उत्तानपाद की एक तरफ की खाली गोद में बैठ गया। उत्तानपाद राजा उस समय अपनी मानीती छोटी रानी के महल में बैठा था। उसकी एक तरफ की गोद में छोटी रानी का लड़का बैठा था। सौत के लड़के को अपने लड़के की बराबरी में बैठे देख छोटी रानी ईर्ष्या से भड़क उठी। उसने ध्रुव को पिता की गोद से हटा दिया। वह बोली—"अगर इस गोद में बैठना था, तो मेरे पेट से जन्म लेना था।"

बालक ध्रुव सौतेली माँ के इस क्रूर व्यवहार से दुखित हो रोता-रोता अपनी माँ के पास पहुँचा। उसने अपना वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—"माँ ! तुम्हारे पेट से जन्म लेने के कारण क्या मैं पिताजी की गोद में बैठने लायक भी न रहा ?" पुत्र की यह बात सुनकर सहनशीला सुनीति रानी को कितना दुःख हुआ होगा ? किन्तु उसने यह सुनकर पति और सौत के विरोध में एक शब्द भी न कहा। बालक से कहा—"बेटा ! मुझसे बिना पूछे तू पिताजी की गोद में बैठने गया ही क्यों ? हम तो परमात्मा की गोद में बैठे हैं, फिर किसी और की गोद में बैठने की हमें जरूरत ही क्या है ? तप करके ईश्वर के प्रति अर्पित कर देने से वह सर्वश्रेष्ठ गोद-रूप पद प्राप्त होता है। बेटा ! उस राज्य के समक्ष सभी कुछ तुच्छ हैं !"

बन्धुओ ! ध्रुव की माता में कितनी सहनशीलता और धीरता थी ! कितनी उदात्त भावना थी ! अपने पुत्र को परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए उसने उग्रतप की कितनी उच्च शिक्षा दी थी। और अन्त में यह भी कहा—"बेटा ! इस उग्रतप की साधना किसी के प्रति द्वेष-दुर्भावना न रखते हुए सहिष्णु होकर करनी होती है।"

वह स्वयं अपने पति द्वारा किये हुए घृणित व्यवहार को उनके प्रति कुछ भी शिकायत किये बिना शान्ति से सहन करती थी और अपनी वर्तमान स्थिति में सन्तुष्ट थी। कोई कुछ सहानुभूति प्रकट करता तो वह कहती—"मुझ पर उनका कितना अनुग्रह है कि उन्होंने मुझे सांसारिक मोह से हटाकर परमात्म-भक्ति और धर्माचरण में जीवन बिताने का सुअवसर दिया।" वह अपने प्रति अपमानयुक्त व्यवहार को भी कायक्लेश या प्रायश्चित्त तप करने का लाभ मानती थी। कितनी उग्र तपस्या थी उसकी ! तभी तो वह ध्रुव को उग्र तप की शिक्षा दे सकी ! अगर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह उग्रतप की तालीम न पाई हुई होती तो पति और सौत के निष्ठुर व्यवहार पर क्रुद्ध और दुःखित होकर रोने लगती, या ईर्ष्यावश तप करके शक्ति अर्जित कर बदला लेने की सोचती। परन्तु ऐसा करने से वह सच्चा उग्र तप न कर पाती।

उससे बालक ध्रुव ने कहा—"माँ ! तू कितने उच्च विचार वाली शक्ति-दायिनी देवी है। तप द्वारा परमात्म-पद की शक्ति प्राप्त करने की तुम्हारी शिक्षा से मैं निहाल हो गया हूँ। अब मैं वही उग्रतप करके परमात्मा की गोद में बैठूंगा। मुझे आज्ञा दो, माँ ! मैं उस उग्रतप को करने जाऊँ ?"

आप कहेंगे कि ध्रुव जैसा छोटा सा बच्चा यह कैसे जानता था कि उग्रतप किस चिड़िया का नाम है, और उसमें कहाँ सामर्थ्य था, इतना उग्रतप करने का ? परन्तु मैं पूछता हूँ, उस अतिमुक्तक (अयवंता) मुनिवर में तप-संयम पालन की शक्ति कहाँ से आ गई ? छोटे से गजसुकुमार मुनि में आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान के साथ महाकाल श्मशान में जाकर तप करने की शक्ति कहाँ से प्राप्त हो गई थी ? ध्रुव को तो माता ने कुछ-कुछ बता भी दिया था—उग्रतप उसकी विधि और माहात्म्य के बारे में, लेकिन अतिमुक्तक एवं गजसुकुमार जैसे बालक मुनिवरों को किसने बताया था ? मगर उनके पूर्वजन्म के उत्तम संस्कार थे, जिनके कारण वे इतना उत्तम उग्रतप इतनी सहिष्णुता एवं क्षमा के साथ कर सके। यही कारण है कि ध्रुव को भी पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रेरित तपःशक्ति प्राप्त हुई थी।

ध्रुव माता की आज्ञा लेकर वन में तप करने के लिए चल पड़ा। वीरमाता उसे अकेले वन में भेजने से घबराई नहीं। वह जानती थी कि यह बालक भले ही है, इसकी आत्मा में अनन्त शक्ति मौजूद है, तप से कर्मावृत्त शक्तियाँ प्रकट हो जाएँगी।

ध्रुव को वन में जाते देख नारदजी ने उसका रास्ता रोककर कहा—"बेटा ! तू अभी छोटा-सा बच्चा है, इस कोमल उम्र में तुझसे यह उग्रतप कैसे होगा ? छोड़ दे अपने इस साहस को !"

दृढ़प्रतिज्ञ बालक ध्रुव ने निर्भीकता से उत्तर दिया—"भक्तराज ! आप तो परमात्मा के भक्त हैं, आपको तो मुझे इस उग्रतप के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए था, मगर आप तो मुझे इस उग्रतप से रोक रहे हैं। मैं राज्य करता तो आप न रोकते, किन्तु तप करने जा रहा हूँ, तो रोकने आए हैं, इससे मुझे तप की महाशक्ति में बड़ा आकर्षण लगता है, इसकी गरिमा की प्रतीति भी होती है।"

नारदजी ने कहा—"मुझे तुम्हें तप करने से रोकने की इच्छा नहीं, किन्तु अगर तू घर से रुष्ट होकर भागकर जंगल में देह-दमन करने जा रहा हो तो तुझे रोकना मेरा कर्त्तव्य है।"

ध्रुव ने उत्तर दिया—"मैं क्षत्रिय-पुत्र हूँ। घर से रूठकर वन में नहीं जा रहा हूँ, अपितु अपनी माता से तप की शिक्षा पाकर उनकी आज्ञा से वन में जा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहा हूँ। आप मुझे कायर मत समझिए। मैं तपस्या के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर आया हूँ। या तो कार्य सिद्ध करूँगा या शरीर को विसर्जित कर दूँगा।"

नारदजी ध्रुव की सहिष्णुता, विरक्ति और तपश्चरण की दृढ़ता देखकर दंग रह गये। उन्होंने ध्रुव को आशीर्वादसूचक वचन कहे—"जाओ तुम्हारी परीक्षा हुई, तुम उग्रतप के योग्य हो। मुझे भी तुम्हारी शक्ति का पता लगा।" ध्रुव ने अनेक कष्ट समभावपूर्वक सहते हुए उग्रतप किया और अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर परमात्म-पद का साक्षात्कार किया। अब उसे राजा की गोद की आवश्यकता न रही।

इस कथा से आप समझ गये होंगे कि उग्रतप के साथ कितनी सहिष्णुता और आत्मसमाधि की आवश्यकता है? सहिष्णुता उग्रतप की प्राण-शक्ति है। शान्ति के बिना उग्र तपस्या शोभास्पद नहीं होती।

इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—

'सोहा भवे उग्गतवस्स खंति।'

इस सम्बन्ध में अनेक पहलू शेष हैं, जिन पर मैं अगले प्रवचन में प्रकाश डालूँगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४८

उग्रतप की शोभा : क्षान्ति—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने उग्रतप के सम्बन्ध में आपको बहुत-सी बातें बताई थीं, अभी उस सम्बन्ध में अनेक पहलू बाकी हैं, जिन पर प्रकाश डाले बिना आपको उसका रहस्य समझ में न आ सकेगा, इसलिए इस प्रवचन में मैं उसी विषय पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा। महर्षि गौतम ने एक जीवनसूत्र दे दिया—

सोहा भवे उग्गतवस्स खंति।

"उग्रतप की शोभा क्षान्ति में है।"

हमें इस पर सभी पहलुओं से विचार करना आवश्यक है।

उग्रतप : जीवन में क्यों आवश्यक और उपादेय ?

उग्रतप नाम सुनते ही आप चौंक उठे होंगे, जब सामान्य एकाशन, आयम्बिल, उपवास आदि तप भी बड़ा कठिन है, तब उग्रतप इतना कष्टकर है कि रात-दिन कुछ न कुछ चरते रहने, मुँह हिलाते रहने वाले श्रेष्ठिपुत्रों और शासनकर्ताओं के लिए होना अत्यन्त ही कठिन लगता है। तब प्रश्न होता है कि उग्रतप जीवन में इतना आवश्यक क्यों है ? क्या इसके बिना मानव-जीवन सार्थक और सुखी नहीं हो सकता ?

प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस युग में जब कि मनुष्य दिनोंदिन अपनी आवश्यकताएँ और भोग-साधन प्राप्त करने की इच्छाएँ, विषयभोगों की लालसाएँ अधिकाधिक बढ़ाता जा रहा है, उग्रतप अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना निरंकुश भोगों पर, भोगासक्तिजनित कर्मों पर और पूर्वोपार्जित कर्मों पर कोई स्वेच्छिक नियन्त्रण नहीं है।

आप कहेंगे कि मनुष्य जब जेल में जाता है, तब उसे बहुत ही कम साधन मिलते हैं, भूखा भी रखा जाता है, बहुत ही कम और नीरस भोजन दिया जाता है, दिन भर सख्त परिश्रम भी करना पड़ता है, इसके अतिरिक्त व्यापार-धन्धों के लिए घर के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए या कभी निर्वासित या प्रवासित होना पड़े तब कई-कई रातों तक भूखे-प्यासे उनींदे तथा थोड़े-से साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। क्या ऐसी स्थिति में उग्रतप नहीं हो जाता है ? परन्तु जैनशास्त्र या कोई भी शास्त्र इसे उग्रतप तो क्या, तप भी नहीं कहता। यह तो बलात् कष्ट-सहन है, बिना इच्छा के दूसरे के दबाव से दण्डित होकर या दूसरे से प्रेरित होकर जबरन कष्ट सहना पड़ता है, स्वेच्छा से नहीं। जैसे नरक में भयंकर से भयंकर कष्ट और यातनाएँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगनी पड़ती हैं, अपराधियों को जेलों में भयंकर से भयंकर सजाएँ भोगनी पड़ती हैं, पर वे कष्ट, पीड़ाएँ या यातनाएँ तो बलात् सहनी पड़ती हैं, उन्हें स्वेच्छा से कोई नहीं सहता। उस प्रकार के अत्युग्र कष्ट सहने से भी सकाम निर्जरा (मोक्ष योग्य कर्मक्षय) नहीं होती। सकाम निर्जरा तो तब होती है, जब कोई भी किसी प्रकार का कष्ट न दे, रोगादि की पीड़ा न हो, तब भी अपने दुर्दान्त कर्मरिपुओं का क्षय करने के लिए स्वेच्छा से तप किया जाये और उसमें होने वाले भूख-प्यास, अशक्ति, या साधनाभाव को आत्मसमाधिस्थ होकर समभावपूर्वक सहन किया जाये। कर्मों से मुक्ति (मोक्ष) के लिए तप किया जाये, स्वर्गादि-सुखों या इहलौकिक सुखों की लालसा से नहीं।

अतः कर्मों का क्षय करने हेतु तथा अपनी आवश्यकताओं और उद्दाम इच्छाओं पर रोक लगाने हेतु उग्रतप आवश्यक प्रतीत होता है। वह कष्टकर तो तब होता है, जब कोई जबरदस्ती तप कराता हो, या क्रोधादि आवेश या द्वेषादि के वश किया जाता हो। जब वह स्वेच्छा से और वह भी किसी प्रकार के क्रोधादि आवेश में आकर नहीं, अपितु आत्मशुद्धि के लिए समझ-बूझ के साथ किया जाता है, तब ताप न होकर तप होता है।

यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि स्वेच्छा से कर्मक्षय का प्रयोजन क्या सामान्य तप से नहीं सिद्ध हो सकता? क्या उग्रतप जीवन में होना अनिवार्य है? आप यह तो प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि जब आपके शरीर के किसी अंग या हाथ-पैर में मिट्टी लग जाती है तो आप सारे शरीर को साफ नहीं करते, अपितु थोड़े से पानी से उस अंग को या हाथ-पैर को जहाँ मिट्टी लगी हुई है, साफ कर लेते हैं, किन्तु अगर मिट्टी या कीचड़ आपके सारे शरीर में लगा हुआ हो, तो जरा से पानी से आप उसे धोकर साफ नहीं करते, उसके लिए तो अधिक पानी लेकर, साबुन आदि लगाकर मल-मल कर नहाते हैं, तब जाकर सारे शरीर की सफाई (शुद्धि) होती है। इसी प्रकार कर्म-मल आपके सारे जीवन में लगे हों, काफी पुराना कर्मों का दल-दल चिपका हुआ हो, तो वह केवल मामूली तप और वह भी सिर्फ बाह्य तप से साफ नहीं हो सकता, **उसके लिए बाह्य तप के साथ-साथ आभ्यन्तर तप और वह भी उग्रतप आवश्यक है, जिससे कर्ममल भलीभांति साफ हो सके,** आत्मशुद्धि हो सके।

यह कोई जरूरी नहीं है कि आप प्रतिदिन ही उग्रतप करें या सतत तप करते रहें, परन्तु बीच-बीच में जब आपकी श्रद्धा, शक्ति, भावना तथा पर्युषणादि पर्वों के समय उत्साह हो, तभी आत्मसमाधिपूर्वक उग्रतपश्चरण करें।

उग्रतप करना इसलिए भी आवश्यक है कि जितने भी अधिक कर्मबन्ध हों, उतनी मात्रा में तप करने से ही वह कर्मों का जत्था टूट सकता है। कर्म तो हों बहुत अधिक संचित और आप करें एकाध उपवास, या कोई आभ्यन्तर तप तो उतने से ही वे कर्म नष्ट नहीं हो सकते। कूड़ा-कर्कट या मैल अधिक जमा हो तो उतनी ही मात्रा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में, उसके अनुपात में सफाई करनी पड़ती है। वर्षों की पुरानी बीमारी हो तो वैद्य की एक ही दिन की दवा लेने से वह ठीक नहीं हो जाती है, बीमारी को मिटाने के लिए दवा भी उसी अनुपात में लम्बे समय तक लेनी पड़ती है।

दीर्घतपस्वी श्रमण भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त होने से पहले तक चार ज्ञान के धारक थे, फिर भी उन्होंने इतने लम्बे-लम्बे घोर उग्रतप क्यों किये थे? उनकी आत्मा तो आपसे बहुत निर्मल थी। फिर भी उन्होंने आत्मशुद्धि के लिए जो दीर्घकाल तक उग्रतप किये, उसके पीछे क्या कारण था? यही कारण था कि उनके पूर्वबद्ध कर्मों का जत्था बहुत अधिक था और आयुष्य बहुत ही थोड़ा, ७२ साल का था। इसलिए थोड़ी-सी आयु में अधिक बँधे हुए कर्मों का क्षय करने के लिए उन्होंने उग्रतप किये थे। और कोई अन्य कारण नहीं था, उनके द्वारा उग्रतप किये जाने का। उन्होंने कर्मों के रोग के अनुपात में एकाध दिन या मामूली-सा तप करना पर्याप्त न समझा, इसलिए दीर्घकाल तक उग्रतपश्चरण किया।

इसी प्रकार कर्मों की बीमारी वर्षों पुरानी है, उसमें भी आपको तो इसी जन्म के किये हुए अपराधों या भूलों की स्मृति है, पूर्वजन्मों के भी कर्मदलिक प्रचुर मात्रा में होंगे, इसलिए उन कर्मदलिक रूप चिरकालिक रोग के निवारण के लिये चिरकालीन उग्रतप करना आवश्यक होगा। कुछ ही दिन या एकाध दिन उपवासादि दवा लेकर छोड़ देने से यह कर्मरोग जाने वाला नहीं।

तीसरी बात यह है कि कई बार मनुष्य के निकाचित कर्मबन्ध हुए होते हैं। निकाचित कर्म मामूली तपस्या से या एकाध दिन के तप से नष्ट नहीं होते। उन्हें उग्रतप से उदीरणा करके भोगने पर ही उनसे छुटकारा हो सकता है, अन्यथा नहीं। आराधनासार (७।२६) में स्पष्ट कहा गया है—

निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्म भवन्ति न।
यावत् प्रवचने प्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते॥

'निकाचित कर्म तब तक भस्म नहीं होते, जब तक प्रवचन (शास्त्र-सिद्धान्त) में कही हुई तपरूपी अग्नि दीप्त नहीं हो जाती।' तात्पर्य यह है कि निकाचित रूप से बँधे हुए कर्मों को भस्म करने के लिए भी उग्रतप आवश्यक है। निकाचित कर्मबन्ध का पता ज्ञानी पुरुषों के सिवाय सामान्य व्यक्ति को होता नहीं, इसलिए उसे सर्वज्ञों पर विश्वास रखकर उग्रतपश्चरण करना चाहिए।

चौथी बात यह है कि मनुष्य की आयु अधिक से अधिक सौ सवासौ वर्ष होती है, आजकल तो आयु का औसत दर घट गया है, और कर्मदलिक (कर्मों के जत्थे) होते हैं, बहुत अधिक मात्रा में। इसलिये इस थोड़े से समय में अधिक कर्मों को क्षय करने के लिये उग्रतप के सिवाय कोई चारा नहीं। मामूली एकाध बार के तप से इतनी थोड़ी-सी जीवितावधि में इतने अधिक बँधे हुए कर्मों का क्षय होना सम्भव नहीं है। इसलिए थोड़ी-सी आयु में अधिकाधिक कर्मपुंज को नष्ट करने हेतु उग्रतपश्चरण की आवश्यकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह उग्रतपश्चरण कैसा हो, कैसा नहीं ? खरा उग्रतप कौन-सा है, खोटा कौन-सा ? इस विषय में मैं पूर्व प्रवचन में इसी जीवनसूत्र के सन्दर्भ में कह गया हूँ। यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं समझता।

पाँचवीं बात उग्रतपश्चरण की उपयोगिता इसलिए भी है कि साधनाशील प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसका मरण—अन्तिम समय—सुधरे, अन्तिम समय में वह समाधिभावपूर्वक देह का त्याग करे, पण्डितमरणपूर्वक मृत्यु का स्वीकार करे। परन्तु अन्तिम समय में समाधिमरण के लिए समस्त कषायों, वासनाओं, इच्छाओं, अठारह पापस्थानकों, तथा चारों ही आहारों का त्याग करना आवश्यक होता है, वह पूर्वकालिक अभ्यास के बिना हो नहीं सकता। हो सकता है समाधिमरण के लिए किया हुआ संथारा (संल्लेखनापूर्वक आमरण अनशन) लम्बे समय तक चले। ऐसी स्थिति में यदि समाधिमरण के आराधक को पहले से उग्रतप करने का अभ्यास न होगा तो वह समाधिमरण के लिये किया जाने वाला संथारा नहीं कर सकेगा और इच्छा होते हुए भी समाधिमरण से वंचित हो जायेगा। जैसा कि भगवती आराधना में कहा गया है—

पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परिसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥१९१॥
बाहिरतवेण होदि उ सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता।
संल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३७॥

'जो व्यक्ति समाधिमरण का इच्छुक है, किन्तु उसने पूर्वकाल में उतना तपश्चरण का अनुष्ठान नहीं किया है, वह मरणकाल में परीषह सहन नहीं कर सकेगा फलतः उसका मन विषयसुखों से विमुख नहीं हो सकेगा। तप—उग्रतप—से (इन्द्रियों और मन की) समस्त सुखशीलता का त्याग हो जाता हैं। बाह्यतप करने से शरीर संल्लेखना के उपाय की प्राप्ति होती है और आत्मा संवेग (संसारभीरुता) गुण में स्थिर होता है।

इन सब कारणों से उग्रतप सम्यग्दृष्टि मानव के लिए अनिवार्य है।

उग्रतप के प्राप्त हुए अवसर को चूकिए मत

एक बात यह भी विचारणीय है कि आपको मानव-जीवन मिला है, पता नहीं, कितने जन्मों के बाद मिला है, और यह भी पता नहीं कि निकट भविष्य में पुनः मानव-जीवन अगले जन्म में मिलेगा या नहीं ? ज्ञानी पुरुष के सिवाय कोई भी निश्चित रूप से कह नहीं सकता कि अगले जन्म में मैं मनुष्य ही बनूँगा। ऐसी स्थिति में जब अनायास ही आपको मानव-तन मिला है, पाँचों इन्द्रियाँ मिली हैं, धर्म का बोध और धर्माचरण की शक्ति मिली है, सभी अंगोपांग यथावस्थित मिले हैं, शरीर स्वस्थ एवं सशक्त मिला है, तब अगर इस जीवन में उग्रतप करके कर्मबन्धनों को नहीं काटा जाएगा, तो फिर ऐसा उत्तम अवसर कब मिलेगा ? अगर तप-त्याग के बदले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य जीवन को इन्द्रियविषयभोगों और कषायों की उधेड़बुन में ही समाप्त कर दिया तो फिर आँखें मुँद जाने के बाद पता नहीं, ऐसा मौका मिलेगा या नहीं ? कौन ऐसा मूर्ख होगा जो प्राप्त रत्न को कौए उड़ाने में फैंककर भविष्य रत्न प्राप्त हो जाने की दुराशा करेगा।

मनुष्यजन्मरूपी रत्न उग्रतप करने के लिए मिला है, उसे यों ही विषय-वासनाओं के कौए उड़ाने में फैंककर भविष्य में उग्रतपश्चरण कर लेने की दुराशा में बैठा रहेगा ? आपको प्रतिदिन यह मनोरथ करना है कि मुझे सौभाग्य से उग्रतप करने का शुभ अवसर मिला है, इस अवसर को हाथ से न जाने दूँ, इसका जितना भी लाभ लिया जा सके ले लूँ। एक आचार्य ने कहा है—

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां निपचति तिलखलं चान्दनैरिन्धनौघैः।
सौवर्णैर्लांगूलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः॥
छित्त्वा कर्पूरखंडान् वृत्तिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्।
प्राप्येमां कर्मभूमिं न भजते तपो यो नरो मन्दभाग्यः॥

जो मूर्ख चन्दन की लकड़ियाँ जलाकर उनसे वैडूर्य मणि की तपेली में तिल की खली पकाता है, आक के तूल के लिए सोने के बने हुए हलों से जमीन जोतता है तथा कोदों के चारों ओर कपूर के टुकड़े करके उनकी बाड़ लगाता है, किन्तु वह कितना अभागा है कि इस कर्मभूमि को पाकर तप नहीं करता।

सचमुच ऐसा उत्तम अवसर पाकर उग्रतप न करना दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। एक जन्म की हार अनन्त जन्म की हार है। अतः जीवन की बाजी जीतने के लिये उग्रतप करना चाहिए।

उग्रतप करना इसलिये भी आवश्यक है कि सम्यग्दृष्टि या व्रती मानव शक्ति होते हुए भी यदि उग्रतप नहीं करता तो वह अपनी आत्मा को वैषयिक सुखों में फँसा कर अपनी शक्ति को छिपाता है। जो मनुष्य अपनी शक्ति को छिपाता है, उसे शक्ति प्राप्त होनी दुर्लभ है। विषय-सुखासक्त होने से मानव को असातावेदनीय कर्म का तीव्र बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप वह अनेक भवों में तीव्र दुःख भोगता है।[1]

तीव्रतप ही संसार के महादाह से दग्ध होने वाले भव्यों के लिए जलगृह के समान शान्तिदायक होता है। जैसे प्रचण्ड सूर्य की किरणों से संतप्त मनुष्य का शरीरदाह धारागृह से शान्त हो जाता है, वैसे ही तीव्रतप विषय-कषायों के प्रचण्ड-दाह को शान्त कर देता है।[2]

---

१. **अप्पाय वंचिओ तेण होइ, विरियं च गूहियं भवति।**
सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणीयं॥
—भगवती आराधना १४५३

२. **संसारमहादाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघरं।**
सुत्तवो दाहेण जहा सीयघरं डज्झमाणस्स॥ —भगवती आराधना १४६२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थराजवार्त्तिक में बताया है कि यह शरीर दुःख का कारण है; रोग, शोक, आधि, व्याधि, उपाधि आदि अनेक दुःख शरीर के साथ लगे हुए हैं, तथा यह अपवित्र है, इससे कितना ही विषयभोगों का सेवन किया जाए तृप्ति नहीं होती, किन्तु अशुचि एवं अनित्य होने पर भी इससे व्रतों, नियमों का पालन करने से यथाशक्ति मार्गाविरोधी तप करने से यह गुणों के संचय में आत्मा की सहायता करता है। इस विचार से विषय-विरक्त होकर आत्मकार्य के प्रति शरीर का नौकर की तरह उपयोग कर लेना उचित है।

इस दृष्टि से भी यथाशक्ति उग्रतप करना उचित है।

साधक छोटा हो या बड़ा, गृहस्थ हो या श्रमण, जीवन-यापन करते समय उससे अनेक बार अज्ञान, प्रमाद, भ्रान्ति आदि के कारण अनेक अपराध हो जाते हैं, शारीरिक भी, मानसिक भी। उन अपराधों तथा दोषों का परिमार्जन करने का एकमात्र उपाय प्रायश्चित्त है, जो कि जैन दृष्टि से आभ्यन्तर तप है। परन्तु उस प्रायश्चित्त को क्रियान्वित करने के लिए उग्र बाह्य तप करना आवश्यक होता है, उसके बिना कोरी प्रायश्चित्त करने की भावना से दोषों की शुद्धि नहीं होती।

अतः प्रायश्चित्त द्वारा आत्मा पर लगे हुए दोषों के निवारण के लिए भी उग्रतप करने का विधान शास्त्रों में किया गया है। जैसे कि एक आचार्य ने कहा है—

यत्किंचिदेनः कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मभिर्नराः।
तत्सर्वं विनश्यत्याशु तपसैव तपोधनाः॥

तपोधनी मानव मन, वचन और कर्म (काया) से जो भी पाप करते हैं; उन सबको वे तपस्या से ही नष्ट करते हैं।

उग्रतपश्चरण की शक्ति कैसे और कहाँ से ?

उग्रतप की उपयोगिता और आवश्यकता समझ लेने के बाद यह प्रश्न कदाचित् आपके दिमाग में उठ सकता है कि हममें इतनी शक्ति और इतना समय कहाँ जो उग्रतप करें, यह तो साधु-महात्माओं का काम है। उनके पास समय भी है, निश्चिन्तता भी है, कमाने-खाने की चिन्ता नहीं है और शक्ति भी है, क्योंकि गृहस्थ की अपेक्षा उच्च साधना होने के कारण तथा अनेक परीषह (धर्मपालनार्थ कष्ट) सहने के कारण उनका मनोबल ऊँचा है।

परन्तु दीर्घदृष्टि से सोचा जाये तो यह निरी भ्रान्ति ही सिद्ध होगी। सद्गृहस्थ हो या साधु, दोनों की आत्मा में शक्ति तो मूल में एक-सरीखी है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा में, अनन्त शक्ति है, परन्तु किसी की शक्ति अधिक आवृत्त है, किसी की कम है। साधु की अनन्त शक्ति पर भी पर्दा तो है, लेकिन ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना में पुरुषार्थ करे तो उसकी सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्यथा, साधु भी रत्नत्रय एवं तप में पुरुषार्थ न करके आत्महीनता का शिकार ब कर बैठ जाए कि मुझमें कहाँ तीर्थंकर जितनी शक्ति है, इसलिए मैं तो रत्नत्रय या तप में इतना तीव्र पुरुषार्थ कर नहीं सकता, तो उसकी भी आत्म-शक्तियाँ इतनी उद्‌बुद्ध नहीं हो सकेंगी। अगर गृहस्थ भी अपनी आत्मशक्तियों को जाग्रत करने के लिए अहर्निश पुरुषार्थ करता है, रत्नत्रय एवं तप में तो वह साधु से भी आगे बढ़ सकता है, आत्मशक्ति की घुड़-दौड़ में और अपनी आत्मशक्तियों को अधिकांश रूप में जाग्रत कर लेता है।

इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजममुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं साहवो संजममुत्तरा॥

"कई भिक्षुओं से गृहस्थ संयम में बढ़कर होते हैं, परन्तु सामान्यतया सभी गृहस्थों की अपेक्षा साधु संयम में उत्कृष्ट होते हैं।"

जो लोग यह शिकायत करते हैं कि हम में उग्रतप करने की शक्ति, समय और निश्चिन्तता नहीं है, उन लोगों से पूछा जाये कि तुम ताश खेलने बैठते हो या जूआ खेलने लगते हो, अथवा इधर-उधर का निन्दापुराण या राजनैतिक हलचल की कथा छेड़ देते हो, अथवा किसी से लड़ाई-झगड़ा करने लगते हो, किसी दुर्बल को मारने-पीटने लगते हो, अथवा निर्दोष पशु-पक्षियों का शिकार करने लगते हो, परस्त्री-लम्पटता या कामुकता में फँस जाते हो, या सैर-सपाटे करने के लिए दूर-दूर चले जाते हो, व्यापार-धन्धे में मुनाफा मिलता हो तो आफिसर के यहाँ १० बार चक्कर लगा लेते हो, कहीं नाटक या खेल तमाशा हो रहा हो तो वहाँ बिना बुलाये चले जाते हो और रातभर नींद हराम कर लेते हो, अथवा अपने निवास स्थान पर भूकम्प, बाढ़, या महामारी जैसी कोई आफत आ गई हो तो उस समय तुरन्त वहाँ से भागकर रातभर जागकर भूखे-प्यासे रहकर भी सैकड़ों कोस दूर चले जाते हो; उस समय भी क्या तुम समय न मिलने, शक्ति न होने या निश्चिन्तता न होने का बहाना बनाते हो या इन निन्द्य कामों में भी किसी से बिना पूछे ही लग जाते हो? नहीं, नहीं, उस समय तो तुम बड़े सयाने बन जाते हो और कहने लगते हो—"महाराज! यह तो लाचारी की परिस्थिति थी, इसलिए हमने अपनी शक्ति भी जुटाई, समय भी निकाला और निश्चिन्तता न होते हुए भी अपना काम बनाया। परन्तु निन्दा-चुगली करना, शिकार खेलना, जुआ, ताश, चौपड़ आदि खेलना, परस्त्री-लम्पटता, आदि कौन-सी लाचारी है, कौन-सी विवशता है, जिस कारण इन दुष्कृत्यों में तुमको अपनी शक्ति प्रगट करनी पड़ी? जब इन दुष्कृत्यों, दुर्व्यसनों और निरर्थक कृत्यों में तुम शक्ति प्रगट कर सकते हो, समय निकाल सकते हो और निश्चिन्तता न होते हुए भी अपना कार्य झटपट बना सकते हो, तब धर्मकार्य में—उग्र तपश्चरण में अपनी शक्ति लगाने में क्यों कतराते हो, क्यों पीछे हटते हो, क्यों यह सब बहानेबाजी करते हो?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कई बार मनुष्य अपने में निहित शक्तियों को पहचान नहीं पाता, और हीन-भावना का शिकार होकर अपने आपको निर्बल और निःसत्त्व तथा मिट्टी का माधो मानने लगता है, निश्चेष्ट होकर गिर जाता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर में गढ़े खजाने को न जानकर सोचता रहता है कि मैं निर्धन हूँ, दरिद्र हूँ, सदैव निर्धन ही रहूँगा; वैसे ही कोई व्यक्ति हीनता के रोग से ग्रस्त होकर अपने में निहित शक्ति के खजाने को जानता नहीं। लोगों के सामने कहता रहता है—मैं क्या तप-जप, नियम-व्रत आदि कर सकता हूँ, मेरे में तो कोई शक्ति नहीं है। ऐसा कहना या सोचना जवानी में ही बूढ़े बन जाने के समान है। जवान आदमी हमेशा यह सोचता रहे कि मैं तो बूढ़ा हो गया, अशक्त बन गया, अब मुझसे कुछ भी न होगा, ऐसा व्यक्ति उग्रतप तो क्या करेगा, सामान्य जप-तप या नियम का भी पालन न कर सकेगा। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि कई लोग जो नवकारसी या पौरसी का प्रत्याख्यान भी नहीं कर सकते थे, और अपने आपको दुर्बल, हीन तथा धर्मविहीन मानते थे, उन्होंने पर्युषण पर्व के मौकों पर अठाइयाँ तथा नौ-नौ उपवास तक कर लिये थे। यह शक्ति उनमें कहाँ से आ गई? क्या किसी से उन्होंने उधार ली थी या किसी ने उन्हें दे दी थी? बस, उसकी ही आत्मा में यह शक्ति निहित एवं सुषुप्त थी, उसे प्रकट करने का संकल्प एवं उत्साह आते ही वह प्रगट हो गई।

चोर, डाकू या हत्यारे में इतना साहस और बल कहाँ से आ जाता है, दूसरों को मारने-पीटने, सताने और डाका डालने या चोरी, हत्या आदि करने में वे जैसे उन दुष्कृत्यों का अभ्यास करके अपनी शक्ति बढ़ा लेते हैं, और लगातार शक्ति उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकट करते जाते हैं, वैसे ही अध्यात्मप्रिय आत्मार्थी साधक भी चाहे तो उग्रतप करने हेतु अपनी शक्ति बढ़ाकर एक दिन पराकाष्ठा पर ले जा सकता है। अभ्यास से उग्र तप करने की शक्ति भी बढ़ती जाती है।

एक बार सर्कस के अद्भुत करतबों को देखकर राजा-रानी में विवाद खड़ा हो गया। राजा कहने लगा—"इतना अद्भुत पराक्रम किसी दैवी शक्ति की सहायता के बिना कोई प्रगट नहीं कर सकता।" इस पर रानी ने नम्रतापूर्वक कहा—"प्राणनाथ! ऐसी बात नहीं है, अभ्यास से सब कुछ साध्य है। मनुष्य अभ्यास करे तो इससे बढ़कर आश्चर्यजनक एवं प्रबल शक्ति-साध्य कार्यों में अपनी शक्ति बिना किसी दैवी सहायता के प्रकट कर सकता है।"

वैज्ञानिक जगत में आज हम आए दिन नये-नये साहसी और शक्ति-साध्य कार्य देख रहे हैं। मनुष्य ने अपनी शक्ति से जल, स्थल एवं नभ पर काबू पा लिया है, शेर जैसे शक्तिशाली एवं हाथी जैसे बलवान् को वश में कर लिया है।

प्रो० राममूर्ति बहुत शक्तिशाली पहलवान थे। वे बचपन में बहुत ही कमजोर थे। किन्तु उन्होंने व्यायाम, प्राणायाम एवं संयम से शरीर इतना शक्तिशाली एवं सुदृढ़ बना लिया कि वे अपने प्रत्येक हाथ से एक-एक चलती कार को पकड़कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रोक लेते थे, दोनों मोटरें एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकती थी। वे अपनी छाती पर ढाई मन का पत्थर रखवाकर हथौड़े से तुड़वाते थे, लेकिन उनके शरीर में इतनी शक्ति थी कि उनका जरा भी बाल बाँका नहीं होता था। अपनी छाती पर वे तख्ता रखकर हाथी को भी चारों पैरों से खड़ा करवा लेते थे। यह अपूर्व शारीरिक शक्ति उनमें कहाँ से आई ? अभ्यास से ही तो। अगर प्रोफेसर राममूर्ति में अपनी शक्ति बढ़ाने का उत्साह, रुचि और साहस न होता, वे अभ्यास न करते तो क्या इतनी आश्चर्यजनक शक्ति उनमें बढ़ सकती थी ? कदापि नहीं।

श्री आचार्य सर्वे ने मानव की क्षमता का बहुत ही सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है—

है असीम क्षमता मनुष्य में, जो चाहे वह हो बन जाए।
पौरुष जागे पार्थ बने नर, मन का अंधियारा मिट जाए॥
भरी अथक संघर्ष-शक्ति है, सहिष्णुता-विश्वास कहाँ है।
और कहो, सन्तुलित-समन्वित, जीवन का आवास कहाँ है ?

मानव की असीम शक्ति का कितना सुन्दर निरूपण कवि ने कर दिया है।

हाँ तो, रानी की बात पर राजा गुस्से में आकर आपे से बाहर हो गया। उसने रानी को अहंकारिणी और बातूनी कहकर राजमहल से बाहर निकाल दिया और कहा—"अपनी बात सिद्ध करके बताओगी तभी राजमहल में प्रवेश पा सकोगी।" रानी का आत्मविश्वास सुदृढ़ था। उसने एक गाँव में जाकर गोपालक के यहाँ अपना डेरा डाला। गोपालक की गाय ब्याही, तब उसकी बछड़ी को वह अपनी पीठ पर उठाकर चलने और जीनों पर चढ़ने का क्रमशः अभ्यास करने लगी। चार वर्षों तक उसका यही क्रम रहता था।

एक दिन वह बछड़ी गाय जितनी बड़ी हो गयी, फिर भी वह रानी अपनी पीठ पर उठाकर जीने की कई सीढ़ियाँ चढ़ जाती थी। जब अभ्यास पक्का हो गया तो उस गोपालक के द्वारा राजपरिवार को खासकर राजा को उस गाँव में होने वाले तमाशे में पधारने का आमंत्रण दिया गया। राजा राजपरिवार एवं दरबारियों के साथ पहुँचे। रानी ने पुरुष का वेश बना रखा था। कोई उसे पहचान नहीं सका। उस गाय को अपनी पीठ पर उठाकर गाँव के महाजन की हवेली की ५० सीढ़ियाँ चढ़ी और वापस उतरी। सभी लोग उसकी शक्ति पर दाँतों तले उंगली दबाकर धन्य-धन्य बोल उठे। राजा उसे इनाम देने लगे, तभी पुरुषवेषी रानी ने राजा से एकान्त में मिलने की प्रार्थना की। राजा मिले तो उसने अपना परिचय देकर कहा—"अभ्यास से प्रत्येक असम्भव दिखायी देने वाला कार्य सम्भव हो सकता है, यह बात मैंने सिद्ध कर दी है।" राजा ने खुश होकर राजमहल में सम्मान के साथ प्रवेश कराया।

उग्र से उग्र तप करने की शक्ति भी इसी तरह अभ्यास से आ जाती है, स्वतः प्रस्फुटित हो जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उग्रतप की शक्ति में शंकित मेघमुनि का समाधान

मुनि मेघकुमार भी एक दिन उग्रतप की, या यों कहिए तीव्र कष्ट सहन की अपनी शक्ति पर शंकित हो गया था। अपनी तप-संयम की शक्ति पर उसका विश्वास डगमगा गया था।

बात यों बनी कि जब मगध सम्राट श्रेणिक का लाड़-प्यार में पला-पुसा सुकुमार और विलासिता में जकड़ा हुआ मेघकुमार संसार से विरक्त होकर जैन मुनि के रूप में दीक्षित हो गया तो पहली रात्रि नवदीक्षित मुनि का शयनासन क्रमशः सब मुनियों के अन्त में मकान के द्वार के पास लगाया गया। रात्रि में अँधेरा होने के कारण मुनि लोग जब लघुशंका के लिए या स्वाध्याय या चिन्तन करने बाहर जाते तो सहज ही किसी के पैरों का स्पर्श हो जाता था। कई साधुओं के पदाघात के कारण उनकी नींद उचट गई। वे रात भर में बहुत ही थोड़ी नींद ले पाये।

मेघकुमार ने कभी रूखा भोजन नहीं किया था, पर आज दीक्षा के बाद उसे रूखा भोजन मिला, कोमल शय्या के बदले भूमि पर सिर्फ एक शयनासन बिछाने को मिला। राजकुमार था तो नौकर-चाकरों की कोई कमी न थी, पर आज अपना सारा ही काम हाथ से करना पड़ा था; इतना ही नहीं, अन्य बड़े साधुओं की भी विनय की दृष्टि से सेवा-शुश्रूषा में लगा रहना पड़ा। पहले तो मेरे साथ इतना अधिक स्नेह से सब साधु-सन्त बोलते थे, पर आज तो मैं देख रहा हूँ मुझे शास्त्र स्वाध्याय तथा अन्याय क्रियाओं में लगाये रखकर मुझसे अधिक बोलते भी नहीं, मुझे भी अधिक बोलने से इन्कार कर दिया। और मैं पहले राजकुमार होने के नाते स्वतन्त्र रूप से कहीं भी घूम सकता था, मनोरंजन कर सकता था, पर यहाँ तो सिवाय भिक्षाचारी के और अभी तो भिक्षा लाने की भी मनाही करके मेरा घूमना-फिरना भी बन्द कर दिया। कहाँ वह आजादी थी, कहाँ आज पिंजरे के पंछी की तरह एक स्थान में बन्द! मेघकुमार का मन और उत्तेजित हो गया, साधुओं के द्वारा अनजाने में हुए रात्रिकालीन व्यवहार से! उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ सिर पीटने लगीं, उसका अहंकार बार-बार क्रोधमिश्रित होकर सर्प की तरह फुफकारने लगा— 'अरे मूर्ख मेघ! कहाँ स्वतन्त्रता और जीवन के सुखोपभोगों से भरा जीवन छोड़कर आ फँसा इस परतन्त्रता की संकीर्ण कोठरी में? जहाँ सारे ही सुखों से वंचित कर दिया गया तुझे! छोड़ दूँगा मैं इस बन्धन को! उतार फेंकूँगा सुबह ही झूठी विरक्ति के इस वस्त्र को! सुबह होते ही सारे उपकरण भगवान (महावीर) को सौंपकर मैं अपने घर चल दूँगा। मेरी शक्ति नहीं है, इतनी उग्र तपस्या करने की? मेरा बलबूता नहीं है, कष्टों से भरे हुए संयम का बोझ उठाने का! मैं नहीं चाहता, ऐसे परतन्त्र जीवन में रहना, जहाँ मेरी शक्ति से बाहर काम लिया जाता हो। अपनी शक्ति इन निकृष्ट कार्यों में लगाने में मुझ रस नहीं है।'

मेघमुनि के मन में आत्मा की शक्ति और अशक्ति का द्वन्द्व युद्ध चलने लगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आखिर उसके निर्बल मन ने अशक्ति को जिताया और प्रातः होते ही वह चल पड़ा—श्रमण भगवान महावीर के पास, सभी उपकरण लेकर मुनिदीक्षा के इस उग्रतप तथा घोर कष्ट सहने से छुटकारा पाने हेतु !

भगवान के निकट पहुँचते ही उन्होंने उसके चेहरे और रंगढंग से ही जान लिया कि मेघकुमार संयम और तपोमय जीवन से ऊब गया है, अशक्ति का आवरण ओढ़कर वह इससे पलायन करना चाहता है। अतः उन्होंने मेघमुनि से कहा—"मेघ ! ऐसी क्या बात हो गई, जो तुम जरा से कष्ट से विचलित हो गये ?"

मेघकुमार ने विनयपूर्ण शब्दों में कहा—"बस, भगवन् ! मुझे पता नहीं था कि इतनी कठोर उग्रतप और कष्ट-सहन से मेरी परीक्षा होगी। मुझसे इतना कष्ट नहीं सहा जाता, इतना उग्रतप करने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ।"

भगवान महावीर ने मेघमुनि को धर्मस्नेहपूर्वक आत्मा की अनन्त शक्ति का परिचय देते हुए तथा उसने पूर्वजन्म में हाथी के रूप में जिस शक्ति का परिचय दिया था, उसे बताते हुए कहा—"मेघ ! हाथी के भव में तुमने एक खरगोश की दया के लिए २० पहर तक अपना एक पैर ऊपर का ऊपर रखा था, उस समय तुममें शक्ति कहाँ से आ गई थी ? उसी के फलस्वरूप तुम राजकुमार बने और कल मुनि बने, अब तो तुममें अधिक शक्ति प्रगट करने की क्षमता होनी चाहिए। घबराओ मत, अभ्यास से सारी शक्तियाँ प्रकट हो सकती हैं। शक्ति सहिष्णुता और धैर्य रखने से प्रगट होती है।"

भगवान महावीर द्वारा किये गये युक्तिपूर्ण समाधान से मेघमुनि का मन, तप और संयम में स्थिर हो गया। उसने अपने आपको, सर्वतोभावेन समर्पण करके उग्रतप एवं संयम-पालन में अपनी शक्ति लगा दी। फिर कभी उसने उग्रतप की शक्ति न होने की शिकायत नहीं की।

सारांश यह है कि आत्मा में निहित अनन्तशक्ति को प्रकट करने के लिए धैर्य, साहस और सहिष्णुता और तितिक्षा के साथ अभ्यास करना अभीष्ट है। उग्र से उग्र तप करने की शक्ति अभ्यास से आ जाती है। शक्ति का स्रोत अन्दर है, वह बाहर से कहीं से प्राप्त होने वाली नहीं है। वह अन्दर से ही प्रकट होगी, होना चाहिए उस अन्तर्निहित शक्ति के स्रोत से उग्रतप आदि द्वारा शक्ति खींचने का बार-बार प्रयत्न। स्वयं उग्रतप से अनेक शक्तियाँ, लब्धियाँ एवं सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उग्रतप से साधक का मनोबल, क्षमता, सहनशक्ति बढ़ जाती है।

उग्रतपस्वी में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह दुर्जेय विषय-कषायादि पर सहज ही विजय पा लेता है और इसी लोक में क्षमा, शान्ति, कष्टसहिष्णुता आदि विशिष्ट गुणों को प्राप्त कर लेता है। बड़ी कठिनता से जीते जा सकने वाले क्रोधादि कषायों और पंचेन्द्रिय-विषयरूपी उद्भट चोर उग्रतप रूपी सुभट के द्वारा बलपूर्वक प्रताड़ित होकर नष्ट हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उग्रतपःशक्ति का अचूक प्रभाव

उग्रतपस्वी की तप-शक्ति का प्रभाव अदृश्य प्रकृति पर भी पड़ता है। प्रकृति के तत्त्व भी उसकी अव्यक्त रूप से सहायता करते हैं, उसके अनुकूल हो जाते हैं।

एक दिन उदयपुर के राजपथ पर एक अभिग्रहधारी उग्रतपस्वी साधु हाथ में झोली लिए जा रहे थे। प्रतिदिन वे इसी तरह झोली में पात्र डालकर नियत समय पर चल पड़ते थे और घूम-फिरकर उसी हालत में वापस अपने स्थान पर लौट आते थे। इस तरह निराहार रहते हुए उन्हें ४४ दिन हो गये थे। आज ४५वाँ दिन था। यह महान उग्रतपस्वी जीवन की बाजी लगाये कर्मों से युद्ध कर रहे थे। आज भी मुनि सदा की भाँति शान्तमुद्रा से बढ़ते हुए मुख्य राजपथ पर आ गये थे। इसी समय महाराणा का एक हाथी बिगड़ उठा और वह बन्धन तोड़कर महलों से बाहर निकल भागा। राज्य के सिपाही चिल्लाते हुए दौड़ रहे थे कि सावधान! मतवाला हाथी आ रहा है। हाथी चिंघाड़ता हुआ उसी मार्ग पर दौड़ा चला आ रहा था, जिस मार्ग पर सामने से उग्रतपस्वी मुनि आ रहे थे। देखते ही देखते दोनों आमने-सामने हो गये। लोग अपने-अपने घरों की छतों से यह भयानक दृश्य देख रहे थे। उन्होंने हाथी के सामने मुनि को देखकर समझा—'अब इनका जीवन बचना कठिन है, हाथी अभी इन्हें पैरों तले कुचल देगा।' परन्तु हुआ कुछ और ही, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वह मदोन्मत्त हाथी मुनि को सामने देख बिलकुल धीमा और शान्त हो गया। वह इधर-उधर नजर डालते हुए आगे बढ़ता रहा, उसका नशा गायब हो चुका था।

हाथी एक हलवाई की दुकान के आगे खड़ा हो गया। बेचारा हलवाई तो भय के मारे अन्दर घुस गया। मुनिराज भी तब तक हलवाई की दुकान के पास आ गये थे। हाथी ने अपनी सूंड़ से हलवाई की दूकान से लड्डुओं से भरी टोकरी उठाई और मुनिजी के सामने रख दी। मुनि ने अपना अभिग्रह पूर्ण होता देख झोली में से पात्र निकालकर हाथी के सामने कर दिया। हाथी ने कुछ लड्डू उनके पात्र में डाल दिये। मुनिजी ने अपनी झोली उठाई और हाथी की ओर एक हाथ ऊपर उठाकर धर्मलाभसूचक मुद्रा करके अपने स्थान की ओर लौट चले। हाथी कुछ देर तक मुनि को देखता रहा फिर वह भी महलों की ओर लौट गया। वह मुनि थे—उग्रतपस्वी स्वामी श्री रोड़ीदासजी महाराज, जिन्होंने जीवन की बाजी लगाकर एक दिन यह अभिग्रह (दृढ़ संकल्प) कर लिया था कि **'महाराणा का हाथी अपनी सूंड से मुझे आहार देगा, तभी मैं आहार ग्रहण करूँगा।** अन्यथा, ६० दिनों तक निराहार ही रहूँगा।" उनका यह अभिग्रह रूप उग्रतप ४५वें दिन पूर्ण हुआ।

बन्धुओ! यह है उग्रतप की शक्ति और उसका प्रत्यक्ष प्रभाव! उग्रतप से क्या नहीं प्राप्त हो सकता **'तपः सर्वार्थसाधनम्'** (तप समस्त अर्थों का साधक है) कहकर आचार्यों ने उग्रतप की महान शक्ति और गरिमा को ध्वनित कर दिया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उग्रतप के साथ क्षान्ति से ही आत्मिक महाशक्ति की प्राप्ति

उग्रतप से महाशक्ति प्राप्त हो जाने के बावजूद भी अगर तपस्वी के जीवन में क्षान्ति न होगी तो वह शक्ति विपरीत रूप में परिणत हो जायगी, उससे महान् अनर्थ पैदा होगा, वह शक्ति आध्यात्मिक महाशक्ति रूप में परिणत न होगी। आत्मिक महाशक्ति का मतलब है—आत्मा में उच्च से उच्च महाशक्ति का प्रकट होना और उससे उच्च से उच्च घोर तप कर सकना, दृढ़तापूर्वक चारित्र पालन कर सकना, उपसर्गों एवं परीषहों, संकटों और आफतों के आ पड़ने पर शुद्ध धर्ममार्ग से जरा भी विचलित न होना, मरणान्त कष्ट को भी समभावपूर्वक सह लेना। उग्रतप से इस प्रकार की आध्यात्मिक महाशक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब उग्रतप के साथ क्षान्ति हो। अगर उग्रतप के साथ उग्रक्रोध होगा, बात-बात में झुंझलाहट होगी, किसी के जरा से कुछ कहने पर वह झल्ला उठेगा, अपमान या निन्दा करने वाले के प्रति हिंसक प्रतिक्रिया पैदा होगी, शाप दे देगा या कोप कर बैठेगा, अथवा अहंकार-ग्रस्त होकर दूसरों की उन्नति या प्रगति देखकर उनके प्रति मन में द्वेष, आक्रोश, ईर्ष्या, घृणा एवं नीचा दिखाने की वृत्ति पैदा होगी या किसी प्रकार के कष्ट, परीषह, संकट, उपसर्ग आदि आने पर समभाव से उन्हें सहन नहीं करेगा, तप से प्राप्त सिद्धियों या लब्धियों को पचाने की क्षमता नहीं होगी, जगह-जगह उनका प्रदर्शन, आडम्बर एवं प्रयोग करके प्रसिद्धि या सत्कार-पूजा पाने की लालसा होगी, निन्दा, गाली, अपमान, भर्त्सना, ताड़ना आदि समभावपूर्वक सहने की वृत्ति न होगी, फलाकांक्षा अथवा फलप्राप्ति की उतावली होगी, धीरतापूर्वक तटस्थभाव से अपना जीवन निराडम्बरपूर्ण ढंग से बिताने की वृत्ति न होगी, या तपस्या से सिद्धि प्राप्त होने पर मारण, मोहन, उच्चाटन आदि प्रयोग करने की बलवती लालसा होगी और क्षमा और नम्रता न होगी तो वह उग्रतप आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाना तो दूर रहा, आत्मगुणों का सर्वनाश कर बैठेगा, आत्मा का बड़ा भारी अहित कर बैठेगा।

अतः उग्रतप के साथ क्षान्ति का होना अत्यावश्यक है। क्षान्ति उग्रतप की लगाम है। क्षान्तिरूपी लगाम न होगी तो उग्रतप का घोड़ा उद्दण्ड होकर सवार (तपस्वी) को ही पतन के खड्डे में गिरा देगा अथवा उत्पथ पर ले जाकर उसे संसार की भयंकर अटवी में भटका देगा।

उग्रतप के साथ अगर क्षान्ति नहीं होगी तो जिस पवित्र उद्देश्य से उग्रतप किया जाता है, वह उद्देश्य पूर्ण न होगा, जिस आध्यात्मिक लक्ष्य—मोक्ष-प्राप्ति या कर्मों से मुक्ति के लिए उग्रतप किया जाता है वह लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा और वही कहावत चरितार्थ होगी—"**आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास।**"

क्षान्ति : उग्रतप की शोभा

इसीलिए महर्षि गौतम ने संकेत किया है कि उग्रतप के साथ क्षान्ति हो तभी उसकी शोभा है। अन्यथा, उग्रतप के साथ असहिष्णुता, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रूरता, प्रसिद्धि-लालसा, यशोलिप्सा, सम्मान-कामना, शाप, आक्रोश, मारण, मोहन-उच्चाटन आदि निन्द्य प्रयोग, फलाकांक्षा की उतावली, प्राप्त सिद्धियों या लब्धियों का दुरुपयोग आदि अनिष्ट जीवन में घुस जाय तो उग्रतप बिगड़ जायगा, उसकी सारी शोभा मटियामेट हो जायगी, इतना सब किया-कराया गुड़-गोबर हो जायगा, सारा ही काता-पींजा कपास हो जायगा। जिसका तप बिगड़ा, जो तपोभ्रष्ट हुआ, उसका जीवन बिगड़ते या भ्रष्ट होते देर नहीं लगती।

जिस उग्रतप के साथ सहनशीलता, क्षमा, नम्रता, निरभिमानता, क्षान्ति आदि न होंगे, वह केवल शारीरिक कष्टदायक ताप बन जायेगा, उससे आत्मिक शक्ति प्राप्त न हो सकेगी। भले ही उससे कुछ भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त हो जायें, पर वे प्रायः उसके पतन का ही कारण बनेंगी।

क्षान्ति के सात अंग : उग्रतपस्वी के आभूषण

क्षान्ति के विभिन्न अर्थों के सम्बन्ध में मैं **'बुधजन होते क्षान्तिपरायण'** नामक तीसरे जीवनसूत्र पर प्रवचन करते समय कह गया हूँ। संक्षेप में, क्षान्ति के ये सात अर्थ यहाँ प्रतिफलित होते हैं, जो उग्रतप के साथ संगत हैं—

(१) **क्षमा**—क्रोधादि कषायों का न होना।

(२) **सहिष्णुता**—परीषह, उपसर्ग, कष्ट, विपत्ति, संकट आदि सहना।

(३) **सहनशीलता**—निन्दा, गाली, अपमान, ताड़न-तर्जन, प्रहार आदि सहन करना।

(४) **क्षमता**—सिद्धियों, लब्धियों आदि की पचाने की सामर्थ्य।

(५) **तितिक्षा**—प्रतिकूलता, परिस्थिति की विपरीतता, विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होने पर समभाव से सहना।

(६) **समाधि**—मन, वचन और काया के योगों—व्यापारों का सन्तुलन न खोना, मस्ती में रहना।

(७) **धीरता**—फलाकांक्षा, सुखभोगाकांक्षारूप निदान, फल-प्राप्ति की उतावली न करना।

उग्रतप के साथ क्षान्ति के क्षमा आदि सातों अंगों का तपस्वी जीवन में होना आवश्यक है। ये सातों अंग उग्र तपस्वी के आभूषण हैं। जब उग्रतप के साथ क्षमा आदि गुण नहीं होते तो वह उग्रतप केवल कायक्लेश रह जाता है, उससे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त नहीं होती।

एक उदाहरण द्वारा मैं इसे समझाने का प्रयत्न करूँगा—

एक जैन साधु ने आमरण अनशन (संथारा) ग्रहण किया। भक्तों ने जब यह सुना तो वे उनका सम्मान बढ़ाने के लिए दौड़े आये। दर्शनार्थियों का जमघट लग गया। लोगों की भीड़ और उस साधु की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा देखकर एक अन्य साधु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने भी अपने गुरुदेव से प्रार्थना की—"गुरुदेव ! मुझे भी आमरण अनशन (संथारा) करने की आज्ञा दीजिए।"

गुरु ने स्नेहपूर्वक कहा—"वत्स ! अभी तुम इसके योग्य नहीं हो।"

शिष्य—"तो गुरुदेव ! मैं कब इसके योग्य हो जाऊँगा ?"

गुरु ने उत्तर दिया—"पहले बारह वर्ष तक तप करके साधना करो, अपनी आत्मा को वश में करो, तब तुम इसके योग्य बन जाओगे।"

'बहुत अच्छा, गुरुदेव !' कहकर उस साधु ने लम्बे-लम्बे उपवास करने शुरू कर दिये। इस प्रकार बारह वर्ष तक उग्रतप करने से उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया। शरीर केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया। उठते-बैठते समय हड्डियाँ कट-कट आवाज करने लगी। शिष्य ने उचित अवसर देखकर गुरुजी के पास आकर सविनय निवेदन किया—"गुरुदेव ! मैंने आपके निर्देशानुसार १२ वर्ष तक उग्रतप की साधना कर ली है। अब तो मैं संथारा करने के योग्य हो गया हूँ, अतः अब मुझे उसकी आज्ञा दीजिए।"

गुरु ने कहा—"तुमने १२ वर्ष उग्रतप तो किया, परन्तु अभी संलेखना संथारे के योग्य होने में कसर है।"

"अब क्या कसर रह गई है, गुरुवर !" यों कहते हुए उस साधु ने चट से उँगली मोड़कर तोड़ डाली।

गुरु ने उसे प्रेम से समझाते हुए कहा—"वत्स ! तूने उग्रतप से अपने शरीर को तो खूब सुखा डाला। वह तो सिर्फ अस्थिपंजर मात्र रह गया है। पर अभी तक (शरीर में बैठे हुए) राग-द्वेष, विषय-वासना, कषाय, आदि जो विकार कर्मशत्रुओं के जनक हैं, उन्हें तू नहीं सुखा पाया। और संलेखना संथारे में उन्हें सर्वप्रथम सुखा डालना पड़ता है। इसीलिए मैंने कहा कि तू अभी संथारे के योग्य नहीं बना।"

तात्पर्य यह कि संथारे के उम्मीदवार उस साधु ने उग्रतप तो बहुत किया। किन्तु उसके साथ क्षान्ति जीवन में न आई। क्रोध और रोष उसके जीवन में था, ईर्ष्या और देखा-देखी विद्यमान थी, योग्यता न होते हुए भी संथारा करके फल-प्राप्ति की उतावली उसमें थी, वह अपनी तपःशक्ति को पचा नहीं पाया था, इसी कारण उसके गुरु उसे अभी संथारे के अयोग्य समझते थे। उग्रतप की शोभा शरीर को केवल सुखा देने में नहीं है, शरीरस्थ उपद्रवों, राग-द्वेषादि विकारों को तपाकर क्षान्ति से जीवन को सुसज्जित करने में है।

अन्त में वह शिष्य भी समझ गया कि उग्रतप की शोभा क्षान्ति में है, अतः वह पुनः विषय-कषायों को कृश करने की साधना में जुट गया।

उग्रतप के साथ क्रोधादि हों तो

उग्रतप के साथ क्षान्ति के बदले क्रोध, अहंकार, असहिष्णुता, असमाधि, अधीरता आदि का होना तप का अजीर्ण है। उग्रतप के साथ क्रोध होने से वर्षों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तप क्षणभर में नष्ट हो जाता है। उग्रतप के साथ क्रोध करना घाटे का सौदा है, अहंकार भी कीर्तिनाशक है। विष्णुपुराण में ठीक ही कहा है—

संचितस्यापि महतो वत्स ! क्लेशेन मानवैः।
यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः॥

"वत्स ! क्रोध वर्षों से बड़ी कठिनता से संचित यश और तप का नाश कर देता है।"

क्रोध और अहंकार तथा असहिष्णुता आदि दुर्गुणों से युक्त उग्र तपस्वी अपनी थोड़ी-सी असावधानी से सारी जिंदगी भर की उग्रतप की कमाई को खो देता है। वह उग्रतप से जो भी शक्ति अर्जित करता है, वह अहंकार, क्रोध आदि के कारण अशुद्ध बन जाती है, आध्यात्मिक शक्ति नहीं रहती, भौतिक शक्ति हो जाती है, वह भी विनाशकारी।

महर्षि कण्व के आश्रम से कौशिकसुता शकुन्तला के प्रणय में मग्न महाराज दुष्यन्त विदा हो रहे थे। आश्रमवासी उन्हें दूर तक विदा करके वापस लौट रहे थे, किन्तु शकुन्तला अपने हृदयेश्वर को एक सघन लता की ओट में खड़ी अपलक निहार रही थी। तभी महर्षि दुर्वासा उधर से निकले, शकुन्तला को कुछ पता न चला, इस लिए वह उन्हें प्रणाम न कर सकी। बस, तपस्वी दुर्वासा के क्रोध का ठिकाना न रहा।

उन्होंने झल्लाकर कहा—"कामार्त्त नारी ! जिसकी स्मृति में तू इस तरह आत्मविस्मृत हो रही है, जा, मेरा शाप है कि वह तुझे भूल जायेगा, पास जाने पर भी वह तुझे पहचानने से इन्कार कर देगा।"

अब शकुन्तला को अपनी भूल का पता चला। उसने क्षमा भी माँगी, परन्तु तपस्वी दुर्वासा तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ गये।

और सचमुच ही एक दिन विरहिणी शकुन्तला जब महाराज दुष्यन्त के सम्मुख उपस्थित हुई तो उन्होंने पूर्व परिचित होने तक से इन्कार कर दिया। बेचारी शकुन्तला को असीम कष्ट झेलने पड़े।

दुर्वासा उग्रतपस्वी थे। उग्रतप के कारण उन्हें कुछ भौतिक शक्तियाँ उपलब्ध हो गईं। उन शक्तियों के स्वामी बनने का इतना अधिक अहंकार बढ़ गया कि वे चाहे जिसको शाप दे बैठते। अहंकार ज्यों-ज्यों विजयी होता है, त्यों-त्यों वह दुर्धर्ष और अविवेकी होता जाता है। अहंकार और क्रोध उग्रतप की साधना में सबसे अधिक बाधक है, इस बात को मदान्ध दुर्वासा भूल गये। उनका अहंकार और क्रोध, दोनों घटे नहीं, बढ़ते ही गये।

एक दिन सरयूतट पर उनकी भेंट महाभाग सम्राट् अम्बरीष से हो गई। महाराज एकादशी का पारणा करने को तैयार हो रहे थे। नदीतट से जाने की तैयारी थी, तभी दुर्वासा आ पहुँचे। उन्होंने अम्बरीष नृप को रोकते हुए कहा—"राजन् !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हीं एकादशी का पारणा नहीं करते, मैं भी करता हूँ। तुम क्षत्रिय हो, मैं ब्राह्मण। जब तक मैं पारणा नहीं कर लेता, तब तक तुम्हें उसका अधिकार नहीं। अतः अभी यहीं ठहरो।"

अम्बरीष नृप ने विनम्रभाव से वर्जना स्वीकारी और वहीं तट पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगे। किन्तु यह क्या, काफी समय बीत गया, मगर दुर्वासा गये तो फिर मानो लौटना ही भूल गये। काफी समय बीत जाने पर उन्होंने कुछ विद्वान ब्राह्मणों से निर्णय माँगा तो उन्होंने कहा—"महाराज! आप बिना प्रतीक्षा किये पारणा करें। तप का महत्व क्रुद्ध होकर शाप देने तथा अहंकर प्रदर्शित करने में नहीं, जगत का कल्याण करने में है। प्रतिवाद न करने से अवांछनीयता बढ़ती है। आप धर्मज्ञ हैं। अनैतिक आचरण का विरोध भी धर्म का अंग है। अतः आप निःसंकोच होकर पारणा करिये।"

महाराज ने विद्वान विप्रों की बात मानकर पारणा प्रारम्भ कर दिया। यह देखते ही दुर्वासा का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने अम्बरीष पर कृत्याघात किया। कृत्या अभी तक महाराज तक पहुँची ही थी कि महाराज के शरीर से धर्म, न्याय, सदाचार, चरित्र और विनय—ये पाँच देव निकले और कवच की तरह उनके चारों ओर विराजमान हो गये। कृत्या को आघात का अवसर न मिला तो वह प्रहारक दुर्वासा को ही विनष्ट करने को तुल गई। दुर्वासा हाहाकार कर उठे। यह देखकर अम्बरीष नृप की करुणा उमड़ी, उन्होंने नेत्रों की शीतल अमृत धारा से कृत्या को शान्त किया।

दुर्वासा पराजित हुए खड़े थे। उन्होंने अनुभव कर लिया कि उग्रतप से अर्जित शक्ति की शोभा विनम्रता और क्षमा में है, अहंकार और क्रोध में नहीं।

उग्रतप के साथ क्रोधादि क्यों लग जाते हैं ?

प्रश्न होता है कि इतना उग्रतप करने वाले के साथ क्रोध, अहंकार, असहिष्णुता, अधीरता आदि दुर्गुण क्यों लग जाते हैं और क्यों उस पवित्र तप को दूषित कर देते हैं। कुछ लोगों ने तो मानो उग्रतप के साथ क्रोध और अहंकार का ठेका ही ले रखा है। वे कहते हैं—उग्रतप करने वालों में तामसिक वृत्ति आ जाती है, इसलिए क्रोध आना स्वाभाविक है। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। उग्रतप के साथ क्रोध और अहंकार आदि का कोई गठबन्धन नहीं है, उलटे क्रोध करने से असंख्य वर्षों की तपस्या मिट्टी में मिल जाती है; तपस्या का वास्तविक सुफल समाप्त हो जाता है।

उग्रतप के साथ जब क्रोधादि दूषण आ जाते हैं, तो तप का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। तप का वास्तविक उद्देश्य सिद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त करना नहीं है, किन्तु कषाय एवं विषय-वासनाओं, राग-द्वेष-मोह आदि के कारण बँधे हुए शुभाशुभ कर्मों का क्षय करना है, उन्हें मिटाकर आत्मा को शुद्ध करना है, आत्मा का अपना असली स्वरूप प्रगट करना है, वीतरागता की प्राप्ति करना है। लेकिन उग्रतप के साथ जब क्रोध, अहंकार, द्वेष, मोह, ईर्ष्या आदि असहिष्णुता के भाव आ जाते हैं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहनशीलता, धीरता, क्षमा, नम्रता आदि सद्गुण नष्ट हो जाते हैं, तब उग्रतप का जो उद्देश्य था, वह पूर्ण होना तो दूर रहा, उलटे रागद्वेष-कषाय आदि के कारण नाना प्रकार के अशुभ कर्मों का और बन्ध हो जाता है।

अर्थात्—उग्रतप से कर्म नष्ट होने के बजाय, और नये कर्म बँध जाते हैं, जिनका कटुफल भोगना पड़ता है। पुराने कर्म तो ज्यों के त्यों पड़े रहें, तथा नये कर्मों के बन्ध का संचय होता रहे, उससे बढ़कर घाटे का सौदा क्या हो सकता है? उग्रतप करने वाला जितना पुरुषार्थ तप करने में करता है, उससे थोड़ा-सा और पुरुषार्थ तप के साथ क्रोधादि दूषणों के प्रविष्ट न होने की सावधानी में करे तो वह उग्रतप खरे सोने की तरह चमकने लगता है। पर ऐसा करे कौन? वही कर सकता है, जिसकी आत्मा में खटका हो, बाकी बहुत से नामधारी उग्रतपस्वी तो क्रोध के पुंज और अभिमान के पुतले ही बने नजर आते हैं। क्यों? इसके लिए आइए कारणों की छानबीन में उतरें—

उग्रतप के साथ क्रोध और अहंकार आदि का मूल कारण है—अहंकार पर चोट। जब कोई उग्रतपस्वी को कुछ कह देता है, या उसकी गलती की ओर ध्यान खींचता है, तो वह अपनी गलती स्वीकार करने या सुधारने के बदले अहंकार पर चोट पड़ने के कारण क्रोध से आग-बबूला हो जाता है। और जब क्रोध आता है तो साधारण नहीं, उग्र आता है, वह अपने दल-बल के साथ आता है। क्रोध के साथी हैं—द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, कलह, ईर्ष्या, बात-बात में झल्लाना, झुंझलाना, मार-पीट, प्रहार, भर्त्सना, गाली, निन्दा-चुगली, अपशब्द, शाप, आक्रोश, डांट फटकार, नीचा दिखाने की वृत्ति आदि। ये सब असहिष्णु स्वभाव के लक्षण हैं। उग्रतपस्वी जब किसी की बात को सहन नहीं कर पाता, तब अपने आपे से बाहर हो जाता है, उसे भान ही नहीं रहता है कि मैं किससे, क्या और क्यों कह रहा हूँ? इसका क्या परिणाम आएगा। वह इस प्रकार क्रोधादि आवेश में क्षान्ति को विदा कर देता है और अशान्ति को उसके आसन पर बिठा देता है।

उग्रतप के साथ अहंकार और तज्जनित क्रोधादि का एक कारण यह भी है कि उग्रतप से मनुष्य को कुछ भौतिक सिद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, कुछ विशिष्ट भौतिक शक्तियाँ भी। वह उन सिद्धियों आदि के मद में स्वयं को भूलकर जरा-सा किसी के द्वारा प्रतिकूल वचन कहते, प्रतिकूल व्यवहार करते या अपमान करते ही सर्प की तरह क्रुद्ध होकर शाप दे देता है, अथवा द्वेष, ईर्ष्या आदि के आवेश में आकर उसका सर्वनाश करने पर उतारू हो जाता है। उग्रतपस्वी को ये सिद्धियाँ मिली तो थीं, पुण्य के फलस्वरूप, पर वह उनका उपयोग पापकार्यों में करके अपने उग्रतप को मिट्टी में मिला देता है। सिद्धिप्राप्त उग्रतपा को शाप बरसाते या सर्वनाश करते समय जरा भी विचार नहीं आता, वह सिद्धियों के नशे में चूर रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कई बार सिद्धिमदान्ध उग्रतपस्वी गाली, निन्दा, ताड़ना-तर्जना आदि करके अपनी असहनशीलता का परिचय देता है। वह भी अपने तप से भ्रष्ट हो जाता है।

कई बार उग्रतपस्वी आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान न होने के कारण जरा-सी विपत्ति, परीषह, कष्ट या संकट आते ही क्षुब्ध हो जाता है, घबरा उठता है, अपने पथ से विचलित हो जाता है और असहिष्णु बनकर उनसे हार खा जाता है, फलतः देहासक्ति, प्राणमोह, अंगोपांगों का मोह, अपनी मानी हुई वस्तु के प्रति मूर्च्छा-ममता आदि विकार उसे घेर लेते हैं, जो उसकी तपस्या को दूषित कर देते हैं, वे किया-कराया सब चौपट कर देते हैं, तप के उद्देश्य को ही समाप्त कर देते हैं। उस उग्रतपस्वी का चित्त असमाधि में पड़ जाता है। जिससे आत्मसमाधि के अभाव में वह शरीर को तो अत्यन्त ताप-संताप देता रहता है, इन्द्रियों और मन को भी मारता रहता है, पर आत्मशान्ति उससे कोसों दूर भाग जाती है।

जिस उग्रतपस्वी के समक्ष तपस्या का ध्येय स्पष्ट न हो, जिसे तपस्या के महत्त्व और विधि का ज्ञान न हो, तपस्वी के दायित्वों और कर्त्तव्यों का बोध न हो वह सदा फलाकांक्षी होकर सांसारिक सुखभोग के रूप में विविध फलों की कामना करता रहता है, फल-प्राप्ति के बारे में उतावला हो उठता है, उसकी तपस्या का ध्येय मोक्षप्राप्ति न होकर स्वर्गादि सुख या इहलौकिक सुख-साधनों की प्राप्ति रहता है। ऐसे अधीर उग्रतपस्वी के तप की शोभा समाप्त हो जाती है।

इसी प्रकार जिस उग्रतपस्वी में सिद्धियों और लब्धियों को पचाने की क्षमता नहीं है, उनका वह दुरुपयोग करता है, उसका उग्रतप भी शोभास्पद नहीं होता।

जिस उग्रतपस्वी में सर्दी-गर्मी, प्राकृतिक प्रकोप या मान-अपमान, यश-अपयश सहने की तितिक्षा शक्ति नहीं है, वह भी अपने उग्रतप को आत्मोन्नतिकारक नहीं बना पाता।

क्षमा में उग्रतप की शोभा सन्निहित है

जिस उग्रतपस्वी में क्षमा की वृत्ति हो, जो अपना अपकार करने वाले के प्रति भी क्षमाशील रहता हो, जिसके जीवन में अपने पर प्रहार करने, गाली-गलौज करने, अपशब्द कहने या व्यंग्य कसने वाले के प्रति मन में किसी भी प्रकार का रोष, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, वैरभाव या हिंसक (मारण-उच्चाटन आदि) प्रतिकार का भाव न हो, वही अपने उग्रतप में चार चाँद लगा देता है। उसका ही उग्रतप लोकश्रद्धेय बनता है, लोककल्याणकारी होता है। उसकी क्षमा के आगे सभी नतमस्तक हो जाते हैं, उसकी सहिष्णुता लोकवन्द्य बनती है। वह उग्रतपस्वी अपने जीवन में किसी का अपकार करना नहीं चाहता, न करता है, मन-वचन काया से। ऐसे क्षमाशील उग्र-तपस्वी के हृदय के सम्बन्ध में पाश्चात्य साहित्यकार इमर्सन (Emerson) कहता है—

His heart was as great as the world, but there was no room in it to hold the memory of a wrong.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'उस क्षमाशील का हृदय विश्व के जितना विशाल है, किन्तु उसमें किसी गलत बात को स्मृति में धारण किये रखने को कोई अवकाश नहीं है।'

तात्पर्य यह है कि क्षमाशील उग्रतपस्वी किसी के दुर्गुण, अपराध, दोष या अपकार की ओर नहीं देखता, वह सदा प्रकाश का पहलू देखता है। इसीलिए उसके दिल-दिमाग में किसी के अन्धकारमय पहलू को कोई स्थान नहीं रहता। वह किसी के द्वारा गाली दिये जाने पर भी उसे वरदान के रूप में मानता है, शान्त होकर उसके वास्तविक अर्थ पर विचार करता है। जैसे किसी ने कहा—'तेरा सत्यानाश हो' तो वह यही सोचता है कि तेरे सत्य का कभी नाश नहीं होगा। सत्य का अनाश ही तो सत्यानाश (सत्य + अनाश) है। यही तो मंगलकारी आशीर्वाद है। गाली देने पर मैं अपने मन में मलिनता लाऊँ तो मेरा ही नुकसान है, मेरी ही आत्मा पर अशुभ कर्म के आवरण चढ़ेंगे; और प्रसन्न रहकर समभाव से सहूँगा तो लाभ है, मेरे अशुभ कर्मों का क्षय होगा। बदला लेने की या प्रतिहिंसा की शक्ति न होने से अनिच्छापूर्वक किसी के अपकारों को सह लेना सच्ची सहिष्णुता नहीं है। वास्तव में वह सहिष्णुता नहीं, बल्कि निर्बलता या कायरता होगी। किन्तु प्रतिकार की शक्ति होते हुए भी किसी के अपकार को उसे दयापात्र, अशान्त या रुग्ण समझकर उस पर क्षमाभाव दर्शाना ही सच्ची सहिष्णुता है।

अयोध्यानरेश कीर्तिधर ने प्रव्रजित होने की जब मन्त्रियों के समक्ष इच्छा प्रगट की तो उन्होंने पुत्र होने तक रुक जाने की प्रार्थना की। उन्होंने बताया कि शासकविहीन राज्य पर शत्रु किसी भी समय आक्रमण करके प्रजा को पीड़ित करते रहेंगे, अराजकता छा जायेगी। राजा ने इस पर मनन करके उत्तराधिकारी होने तक गृहवास में रहना स्वीकार किया। कुछ दिन बाद रानी सहदेवी गर्भवती हुई। रानी अपने पति के प्रव्रज्या लेने के दृढ़ संकल्प को जान चुकी थी, इसलिए पुत्र उत्पन्न होने पर भी बालक को छिपाये रखा। आखिर अन्तरंग दासियों द्वारा राजा कीर्तिधर को अपने पुत्र होने का पता लग गया। धूमधाम के साथ पुत्रोत्सव करके राजकुमार का नाम सुकोशल रखा। इस उत्सव के साथ ही राजा ने सुकोशल को सिंहासन पर बिठा दिया। स्वयं दीक्षा ग्रहण करने की तैयारी करने लगा।

इस घटना से सहदेवी दुःख से भर गई। उसे राजा के प्रति अत्यन्त प्रीति थी। उसने राजा की बहुत खुशामद की, बार-बार चरणों में सिर रखकर प्रार्थना की। आँसू बहाते हुए कहा—"प्राणनाथ! आपके वियोग की कल्पना से ही मेरा हृदय फटा जा रहा है। आप गृहस्थ जीवन में ही रहकर धर्माराधना कीजिए, मैं आपके धर्माराधन में कभी बाधक न बनूंगी। आप ही मेरे जीवनधन हैं। मैं तो केवल आपके दर्शनों से ही तृप्त हो जाऊँगी।"

रानी की करुण प्रार्थना का राजा के दृढ़ संकल्पमय हृदय पर कोई प्रभाव न पड़ा। वह अपने निश्चय पर अटल रहे और एक दिन उन्होंने सबको छोड़कर मुनि-दीक्षा ले ली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रानी अपनी आग्रहभरी प्रार्थना ठुकराये जाने से दुःखित होकर मन ही मन पति के प्रति आकृष्ट हो उठी, उसकी मनोभूमि में घृणा, द्वेष और बैर-भाव के अंकुर फूट पड़े, मुनि कीर्तिधर के प्रति। वह क्रोधातिरेक से मन में झुलसती रहती। उनका नाम लेना भी उसे न सुहाता।

मुनि कीर्तिधर दीक्षा के बाद अपने आचार्य विजयसेन के साथ देश-देशान्तर में विचरण करने लगे। वे कठोर अभिग्रह और कठिन परीषह में भी अटल रहते, निरतिचार संयम पालन करते थे। उनकी उत्कृष्ट साधना से सन्तुष्ट होकर गुरु ने उन्हें एकल बिहार की अनुमति दे दी।

अब मुनि कीर्तिधर मास-मास का उपवास करते, शुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए, ग्राम-नगरों में विचरण करते-करते अयोध्या में आये। मासोपवास के पारणे हेतु वे नगरी में पधारे। मुनि ईर्यासमितिपूर्वक निर्दोष आहार के लिए नगरी में घूम रहे थे, तभी अचानक महल के गवाक्ष में बैठी हुई रानी सहदेवी की दृष्टि उन पर पड़ी, वह तुरन्त उन्हें पहचान गई। उसका क्रोध भड़क उठा। इसके मस्तिष्क में कुशंका और कुविचारों का अंधड़ चलने लगा—'अब यदि उनके सम्पर्क से मेरे पुत्र ने भी दीक्षा ले ली तो मैं सर्वथा अरक्षित और असहाय हो जाऊँगी।' रानी भान भूल गई। उसकी कुबुद्धि में पुत्र-वियोग की शंका ही मुनि का अपराध बन गई। निरपराध मुनि उसकी दृष्टि में अपराध की खानि बन गये। उसने तुरन्त अपने अनुचरों द्वारा मुनि कीर्तिधर को नगर से बाहर निकलवा दिया।

मुनि तो क्षमामूर्ति थे, वे इस अन्याय को परीषह समझकर समभाव से सह गए, लेकिन राजा सुकोशल की धायमाता को यह सहन न हो सका, उसने रोते-रोते राजा सुकोशल को सारी दुःखद घटना सुनाई। सुकोशल भी उन्हीं क्षमावीर कीर्तिधर का पुत्र था। उसने माता पर जरा भी क्रोध न किया वरन् उसे संसार से विरक्ति हो गई। उसने मुनि के पास पहुँच कर दीक्षा की प्रार्थना की। मन्त्रियों को पता चला तो उन्होंने उत्तराधिकारी होने तक रुक जाने की प्रार्थना की, मगर सुकोशल ने यह कहकर उनकी प्रार्थना ठुकरा दी कि 'रानी चित्रमाला गर्भवती है, उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दीजिएगा।' मन्त्री निरुत्तर हो गए। सुकोशल ने मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। अब मुनि कीर्तिधर और मुनि सुकोशल दोनों उग्रतप करते हुए विचरण करने लगे। रानी सहदेवी को ज्यों ही पुत्र के दीक्षा लेने के समाचार मिले, वह क्रोध से बेभान उठी। क्रोधाविष्ट होकर वह महल की छत पर से कूद पड़ी। पति-पुत्र के प्रति बदले की दुर्भावना लिए घोर पीड़ापूर्वक उसने शरीर त्यागा और मरकर वहीं गिरिगुफा में वाघिन बनी।

मुनि कीर्तिधर और मुनि सुकोशल ने एक गिरिगुफा में चातुर्मास किया। वर्षावास की अवधि पूरी होने पर दोनों उग्रतपस्वी, क्षमाशील मुनि पारणा लेने हेतु नगर की ओर चले। कुछ ही कदम चले होंगे कि सामने से वाघिन आती दिखाई दी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुनि अपनी गजगति से आगे बढ़ रहे थे। पीछे-पीछे चले आते मुनि सुकोशल (जो पुत्र थे) एकदम आगे हो गये, और बोले—"गुरुदेव ! मैं क्षत्रिय-पुत्र हूँ, संकट के समय आगे रहना मेरा सहज धर्म है, अतः आप पीछे रहें, मुझे आगे चलने दीजिए।" मुनि कीर्तिधर ने भी बहुत रोका, पर वीर-पुत्र सुकोशल मुनि स्वयं आगे हो गए। बाघिन उनके निकट आकर खड़ी रही और टकटकी लगाकर देखती रही। पूर्वजन्म का वैर जागृत हो गया। उसकी आँखों में खून उतर आया। गुस्से से आगबबूला हो गई। दोनों मुनि बाघिन की क्रूर चेष्टाओं से जान गये कि यह हमला करेगी, प्राणान्तक उपसर्ग आया जानकर क्षमाशील महासत्त्व मुनियों के रोम में कम्पन भी न हुआ। आत्मार्थी मुनि आत्मसमाधिपूर्वक आत्मभावों में रमण करने लगे।

बाघिन भयंकर गर्जना के साथ सुकोशल पर झपट पड़ी। उसने फौलादी पंजों से मुनि को घर दबोचा। उनका शरीर क्रूरतापूर्वक फाड़ डाला। रक्तपान करके अजीब सुखानुभव हुआ बाघिन को। क्षमाशील उग्रतपस्वी सुकोशल मुनि इस मरणांतक कष्ट को समभावपूर्वक सहन करने के कारण समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति में जा विराजे।

इसके बाद बाघिन ने मुनि कीर्तिधर पर झपटकर अपने पैने नखों और दाँतों से उनके शरीर को भी चीर दिया। क्षमाशील, भेदविज्ञानी, उग्रतपी मुनि कीर्तिधर भी आत्मसमाधिपूर्वक उपसर्ग सहने के कारण मोक्ष में पहुँच गए।

अब दोनों की लाश को बाघिन चीर-फाड़कर खाने लगी। ज्योंही वह सुकोशल मुनि का जबड़ा चबाने लगी, उसे उसका स्वाद कुछ परिचित-सा लगा। उसकी अनुभूति गहरी हुई। मन में पूर्वजन्म की स्मृतियों का प्रवाह झलकने लगा—'अयोध्या के राजमहल में एक नारी अपने शिशु को स्तनपान करा रही है। बालक चुकर-चुकर दूध पी रहा है। नन्हा-सा सुकुमार है उसका जबड़ा !' एकाएक बाघिन को पूर्वजन्म की स्मृति साकार हो आई—"अरे ! वह नारी मैं ही तो हूँ। यही तो मेरा प्रियपुत्र है ! मैं ही पूर्वजन्म में अयोध्या की रानी थी। हाय ! मैंने क्या कर डाला ? जिस जबड़े के माध्यम से मैंने अपना दूध पिलाकर शक्तिशाली बनाया, उसी को खा गई ! जिन हाथों से पुत्र को प्यार से सहलाया, उन्हीं से उसे चीर डाला। ये ही तो हैं मेरे पूर्वजन्म के पति ! मुझे जिन हाथों से पति की सेवा करनी चाहिए, उन्हीं हाथों से उनको मार डाला ! बड़ी पापिन हूँ। क्रोधाविष्ट होकर रानी से बाघिन बनी, और अब तक बदले की आग में झुलस रही हूँ।"

बाघिन के मन में पश्चात्ताप का झरना फूट पड़ा, जिसमें अपने दुष्कृत्यों को धोकर, अनेक पापकर्मों को हलका किया। उसी समय आमरण अनशन ग्रहण कर लिया और प्राणत्याग कर सद्गति में पहुँची।

बन्धुओ ! इस प्रकार उग्रतपस्वी, क्षमाशील तथा क्षान्ति के सभी अंगों के पालक मुनिवरों ने उग्रतप की शोभा बढ़ाई, जिसका जबर्दस्त प्रभाव बाघिन बनी हुई रानी पर भी पड़ा। उसका हृदय भी पश्चात्ताप से शुद्ध हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार, १. क्षमा, २. सहिष्णुता, ३. सहनशीलता, ४. क्षमता, ५. तितिक्षा, ६. समाधि, और ७. धीरता—क्षान्ति के इन सातों अंगों का प्रवेश उग्र-तपस्वी के जीवन में होता है तो उसका जीवन आत्मविशुद्धि से चमक उठता है, प्रकाश स्तम्भ की तरह उसका क्षान्तिमय जीवन स्वयं तो ज्ञानालोक से जगमगाता रहता ही है, दूर-दूर तक लोगों को उसके जीवन का प्रकाश मिलता रहता है। आप भी उग्रतप के साथ क्षान्ति सरोवर में डुबकी लगाइए और अपनी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाइए।

तप की शोभा बढ़ानी हो तो क्षान्ति अपनाइए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४६

प्रशम की शोभा : समाधियोग—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में आपके समक्ष चर्चा करूँगा। आध्यात्मिक जीवन से आप चौंकिए नहीं, इस जीवन को केवल साधु-साध्वियों की बपौती मत मानिये, यह साधुवर्ग एवं गृहस्थवर्ग, सभी वर्गों के लिए सुरक्षित है। जैसा कि एक मनीषी ने कहा है—

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिस्तथा।
सर्वे तेऽथ शमेनैव प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥

ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या साधु हो, ये सभी शम से ही परमगति पाते हैं।

जो भी इस जीवन को अपनाना चाहे, उसके लिए इस जीवन की साधना अपना राजमार्ग बनाये हुए है। वह जीवन है—प्रशान्त या प्रशमयुक्त जीवन।

महर्षि गौतम से जब किसी ने पूछा—प्रशमयुक्त जीवन की शोभा किसमें है ? तब उन्होंने अपनी अनुभवी वाणी से उत्तर दिया—समाधियोग में।

गौतमकुलक का यह चालीसवाँ जीवनसूत्र इस प्रकार है—

'समाहिजोगो पसमस्स सोहा'

प्रशम की शोभा है—समाधियोग।

प्रशम की उपयोगिता और महत्ता

प्रशम मानव-जीवन का अमृत है। क्रोधादि कषायों के दावानल से जलते हुए मानव समूह को प्रशम की अमृतधारा शान्त कर देती है। मानव-जाति के पारस्परिक वैषम्य, मनोमालिन्य, दुःख-दैन्य, सहयोगाभाव, कषाय-कालुष्य, अहंकारविष, रोष, द्वेष, दुर्भाव और वैर-विरोध को प्रशम ही मिटा सकता है।

आपको अनुभव होगा कि भीष्म ग्रीष्म-ऋतु में जब दिन में सूर्य आग उगलता है, तो धरती तवे की तरह तप जाती है, मनुष्यों के कपड़े, शरीर और अंगोपांग गर्म हो जाते हैं, पसीने से तरबतर हो जाते हैं, ऐसे दिनों में रातें बड़ी सुहावनी और सुखद लगती हैं। मनुष्य तारों से भरा आकाश देखता है तो उसके चित्त में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आह्लाद उत्पन्न होता है, मन में स्फूर्ति आ जाती है। इसी तरह प्रशम भी विषय-कषायों से जनित त्रिविध ताप से तपे हुए मनुष्य की आत्मा के लिए तारों भरी रात के समान शीतल एवं शान्तिदायक है, स्फूर्तिदायक है, आह्लादोत्पादक है।

पाश्चात्य विचारक कोल्टन (Colton) के शब्दों में कहूँ तो—

"Peace is the evening star of the soul, as virtue is its sun, and the two are never far apart.

—शान्ति (प्रशम) आत्मा का सान्ध्यकालीन तारा है, जबकि सद्गुण इसका सूर्य है, और यह दोनों कभी एक दूसरे-से पृथक नहीं होते।

जैसे सूर्य के चारों ओर ग्रहमण्डल, तारे और नक्षत्र घूमते रहते हैं, सूर्य इन सबका केन्द्र होता है, वैसे ही प्रशम एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सान्ध्यकालीन नक्षत्र है, जो सद्गुणसूर्य के चारों ओर घूमता है। तात्पर्य यह है, कि प्रशम सभी सद्गुणों में उत्तम और उपयोगी गुण है। इसके बिना मानव-जीवन का व्यवहार एक दिन भी नहीं चल सकता।

तत्त्वामृत में स्पष्ट कहा है—

शमो हि न भवेद्येषां ते नरः पशुसन्निभाः।
समृद्धा अपि सच्छास्त्रे कामार्थरतिसंगिनः॥

—जिन मनुष्यों के जीवन में शम नहीं है, वे सुशास्त्रों के ज्ञान से समृद्ध होने पर भी स्वार्थ (अर्थ) और काम में प्रीति और आसक्ति रखने वाले पशुओं के सदृश हैं।

तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्र-बिन्दु प्रशम है। प्रशम (शान्ति) को लक्ष्य में रखकर मानव समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ करता है, फिर भले ही वे प्रवृत्तियाँ उसकी निकृष्ट वृत्ति के कारण आगे चलकर विपरीत दिशा में चली जाती हों। लोग दूध को गर्म करते हैं, जमाते हैं, बिलोना करते हैं। यह सब किसलिए करते हैं? मक्खन के लिए। वैसे ही जीवन का सारा प्रयत्न, सारी दौड़-धूप प्रशम के लिए है। जहाँ प्रशम नहीं है, वहाँ शान्ति नहीं होती और जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

गीता में कहा है—

'अशान्तस्य कुतः सुखम्'

—जो अशान्त है, उसे सुख कहाँ से हो सकता है?

एक आचार्य का अभिमत है—

शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः।
स एव सर्वशास्त्रज्ञः, यस्य शान्तं सदा मनः॥

—मनीषियों ने जितने भी शास्त्र रचे हैं, वे सब प्रशम की उपलब्धि के लिए ही। जिसका मन सदा प्रशान्त रहता है, वही (मेरी दृष्टि में) सर्वशास्त्रज्ञ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणसंस्कृति अथवा श्रमणत्व में पद-पद पर प्रशम को महत्त्व दिया गया है। आप कोई महत्त्वपूर्ण भगीरथ कार्य करने जा रहे हैं, परन्तु उस कार्य में सहयोगियों के साथ आपकी ठन गई, घरवालों के साथ आपका मनमुटाव एवं मनोभेद, मतभेद तथा मनोमालिन्य हो जाता है तो वहाँ सारा ही काम गुड़गोबर हो जाता है। उस कार्य में बरकत नहीं होती। प्रशम के होने पर ही सब कार्य ठीक होते हैं। मनोभेद, मतभेद या मनमुटाव होने पर जितनी जल्दी आपस में क्षमा-याचना करके उसे शान्त कर लिया जाता है, उतनी ही जल्दी सभी कार्य सुधर जाते हैं।

किसी के घर में तीन प्राणी हैं, और रोटी सिर्फ दो हैं। ऐसे समय में तीनों व्यक्ति आपस में तू-तू मैं-मैं करने लगें और एक दूसरे से छीना-झपटी करें तो अशान्त होकर सभी दुःखी हो जायेंगे। अतः वहाँ सबको प्रशम धारण करने की आवश्यकता होती है। प्रशम के कारण सभी के हिस्से में थोड़ी-थोड़ी रोटी आ जायगी, भले ही भरपेट न मिले, पर शरीर का आधार तो हो ही जाएगा। इसी प्रकार किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को ४ आदमियों ने मिलकर किया, परन्तु उनमें से कोई एक अपने अहं को महत्त्व देकर स्वयं अकेला ही उस कार्य का श्रेय लेने लगे तो सभी अपने-अपने अहं को महत्त्व देने लगेंगे और अन्त में अशान्त होकर परस्पर सिर फुटौव्वल ही मचाएँगे।

जैसे कि महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह में स्वयं अपने श्रेय को पाने के लिए विवाद खड़ा हो गया था और उस विवाद ने इतना अधिक तूल पकड़ लिया कि दोनों एक-दूसरे को मारने के लिए अपनी-अपनी तलवार खींचकर प्रहार करने पर उतारू हो गये थे। अगर वहाँ पुरोहित ने अपना बलिदान देकर उन दोनों के अहं का नशा न उतारा होता और शान्ति (प्रशम) के लिए ऐसा स्वयं प्राणोत्सर्ग का प्रयास न किया होता तो कितना बड़ा अनर्थ हो जाता।

निष्कर्ष यह है कि अहंकार को मिटाने के लिए प्रशम के प्रयत्न की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

घर में किसी की मृत्यु हो गई, एक प्रिय पात्र चल बसा। उसके जाने से हानि भी हुई, धक्का भी लगा और शोक के कारण रुलाई भी आई। पर यदि लगातार रोते ही रहा जाय तो परिणाम एक ही सम्भव है कि रहे-सहे स्वास्थ्य का नाश और उस गड़बड़ी में साधारण कार्यक्रमों के नष्ट होने से दुगुने संकट का प्रादुर्भाव! दिल की धड़कन बढ़ना, ब्लडप्रैसर, अनिद्रा, मूर्च्छा, उन्माद, अपच, वमन, सिरदर्द, आँखों की रोशनी घटना आदि अनेकों रोग उठ खड़े होते हैं।

दूसरे लोग उस शोक-सन्तप्त परिवार को समझाने-बुझाने, थोथी सहानुभूति बताने, कोरा आश्वासन देने में लगे रहते हैं, जिससे साधारण व्यवस्था भी बिगड़ जाती है तो दूसरी ओर से भी बिना देख-भाल के अनेक काम बिगड़ जाते हैं। खेती या व्यापार बिना देख-भाल के चौपट हो जाते हैं। बच्चों के स्कूल न जाने से अध्ययन नहीं हो पाता है। दुधारु पशुओं को समय पर न दुहे जाने या उन्हें चारा-पानी ठीक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार से न मिलने से वे दूध देना बन्द कर देते हैं। दुश्मनों को हँसी उड़ाने का मौका मिलता है। मृत्यु के कारण उसके बदले में नया उत्तरदायित्व निभाने के लिए जो आवश्यक परिवर्तन करने पड़ते हैं, वे नहीं हो पाते।

फलतः अज्ञान के कारण यह मृत्युशोक नई विपदाएँ और अशान्तियाँ उत्पन्न कर देता है। ऐसे समय में विवेक-बुद्धि और दूरदर्शिता के साथ यह सोच लिया जाता कि घटित घटना वापिस लौट नहीं सकती, गया व्यक्ति आ नहीं सकता, अन्त में शोक को समाप्त करके साधारण क्रम अपनाना ही होगा, तो बिना अधिक समय गँवाये और अधिक क्षति उठाये ही कार्य हो जाता। परन्तु होता यह सब प्रशम की प्रक्रिया को अपनाने पर ही। अज्ञानवश आवश्यक रूप में उत्पन्न की जाने वाली अशान्ति और विपत्ति से बचने का सर्वोत्तम उपाय है—ज्ञानपूर्वक प्रशम प्रक्रिया अपनाना।

इसी प्रकार प्रत्येक विपत्तिजनक, हानिकारक एवं अशान्ति-उत्पादक कार्य को पहले से ही सुधारने के लिए विवेकपूर्वक प्रशम को अपनाना आवश्यक है।

प्रशम की आवश्यकता गृहस्थों से भी बढ़कर साधुओं को है। कल्पसूत्र में बताया गया है कि कदाचित् दो साधुओं में परस्पर किसी बात पर उग्र विवाद, कलह (अधिकरण) या मनमुटाव हो गया तो हथेली की भीगी रेखाएँ न सूखें, इतने से समय में ही यानी शीघ्र से शीघ्र आपस में क्षमायाचना करके उस कलह को उपशान्त कर देना चाहिए और फिर उस प्रशान्त हुए कलह को फिर कुरेदकर उखाड़ना या भड़काना नहीं चाहिए।

मान लो, एक साधु जो दीक्षा में बड़ा है, कलह शान्त करने के लिए क्षमा-याचना करना चाहता है, मगर दूसरा (छोटा साधु) क्षमायाचना करना तो दूर रहा, आँख भी उठाकर नहीं देखता, न ही उसे आदर देता है, ऐसी स्थिति में क्या किया जाय? शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसी स्थिति में, जो साधु कलह शान्त करना चाहता है, वह चाहे दीक्षा में ज्येष्ठ ही हो, उसे **चलाकर** उस साधु से क्षमायाचना कर लेनी चाहिए, वह आदर दे या न दे, उसकी बात सुने या न सुने। क्योंकि '**उवसमसारं खु सामण्णं**' श्रमणत्व का सार उपशम-प्रशम है।

श्रमणधर्म या श्रमणसंस्कृति प्रशम और शम को लेकर ही संसार में प्रस्तुत हुई है। सारे संसार में प्रशम का झण्डा लेकर चलने वाली श्रमणसंस्कृति के साधु-श्रावक प्रशम को छोड़कर अप्रशम को महत्त्व दें, यह तो दिया तले अंधेरा वाली कहावत चरितार्थ करना है।

इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि प्रशम की कितनी उपयोगिता है, मानव-जीवन में?

मेवाड़ के एक गाँव में एक सेठ और ढेढ़ (हरिजन) का मधुर सम्बन्ध था। एक बार किसी कारणवश उनका सम्बन्ध टूट गया। परस्पर वैमनस्य इतना बढ़ गया कि आपस में लेन-देन एवं बोलचाल भी बन्द हो गई। सेठ ढेढ़ को देखता तो जल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उठता, मुंह फिरा लेता और ढेढ़ सेठ को देखकर। दस वर्ष बीत गये लेकिन उनका मनमुटाव समाप्त न हुआ। संयोगवश गाँव में एक बार एक संत का पदार्पण हुआ। सर्वप्रथम ढेढ़ की नजर में वे आये। वह पक्का श्रद्धालु था। सोचा—'अगर मैं गाँव में किसी को सूचित न करूँगा तो लोग सन्तों के सम्मुख स्वागत के लिए कैसे जायेंगे? किन्तु उस सेठ को·····मैं देखना-सुनना भी नहीं चाहता, कैसे सूचना दूंगा? कुछ क्षण तक मन में अन्तर्द्वन्द्व चला। सेठ को सूचना दिये बिना कार्य होना कठिन सा लगता है किन्तु·····।' सहसा उसके हृदय में प्रशम का प्रकाश हुआ जिससे अन्तःकरण का सारा अंधकार समाप्त हो गया। सोचा—'सेठ से साथ मेरा संघर्ष सांसारिक झंझटों को लेकर है, धर्म को लेकर नहीं। हम दोनों का धर्म एक है, गुरु एक हैं, देव एक हैं। धार्मिक कर्तव्य के नाते मुझे सेठ को अवश्य सूचना देनी चाहिए।' विवेक, उदारता और प्रशम का महाप्रकाश लिए वह दौड़ा-दौड़ा सेठ के मकान पर पहुँचा और उच्च स्वर से आवाज लगाई बाहर से ही। सेठ ढेढ़ को अपना नाम पुकारते देख आश्चर्यचकित हुआ। पूछा—"क्यों भाई! क्या कहते हो?"

ढेढ़ बोला—"गाँव में सन्त आ रहे हैं।"

सेठ—"किधर से?"

ढेढ़—"उधर से।" इतना कहकर वह सन्त की अगवानी के लिए उनके सम्मुख जा पहुँचा।

इधर सेठ भी कई लोगों को इकट्ठे करके सन्तों के सम्मुख पहुँच गया। सन्तों का धर्मस्थान में प्रवेश हुआ, व्याख्यान हुआ। सेठ के मन में प्रशम का दीप जलने से आज उथल-पुथल मची हुई थी। प्रशमभाव ने आज उसकी हृदयतन्त्री को झकझोर डाला था। अतः सेठ ने सोचा—यह ढेढ़ कितना उदार है कि वैमनस्य होते हुए भी सूचना देने मेरे घर पर आया।

व्याख्यान समाप्त होते ही, सेठ गद्गद स्वर में अपनी आत्मनिन्दा करते हुए परिषद् में खड़े होकर बोला—"श्रद्धेय मुनिवर और भाइयो! मैं आज अपने दिल की बात आपके समक्ष रख रहा हूँ। देखिये वह जो ढेढ़ बैठा है, उसके साथ वर्षों से मेरा वैमनस्य चला आ रहा था। मैं समझता हूँ, आज वह मुनिवरों के शुभागमन के निमित्त से समाप्त हो रहा है। मैं स्पष्ट शब्दों में कहूँगा कि यह ढेढ़ उदारचेता होने से सेठ है, और मैं सेठ होते हुए भी ढेढ़ हूँ। मैं संकीर्णहृदय हूँ। अगर मुझे सन्तों के आगमन का पता होता मैं इसे हरिजन कहने न जाता। ऐसी उदारता करके इसने मेरी कुण्ठित हृदयतन्त्री के तारों को झंकृत कर दिया है। वास्तव में गुण, लक्षण और विवेक से यही सेठ है, मैं ढेढ़ हूँ। मैं अपने अकरणीय कृत्य से लज्जित एवं नतमस्तक हूँ। मैं हाथ जोड़कर इससे क्षमायाचना करता हूँ, वह मेरी क्षमा स्वीकारे और मुझे अपनी ओर से क्षमा प्रदान करे।"

ढेढ़ ने भी तुरन्त खड़े होकर सबके सामने सेठ को क्षमा प्रदान कर मैत्रीपूर्ण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वातावरण में सेठ से क्षमायाचना की। दर्शकों पर इसका अशातीत प्रभाव पड़ा, उनके मुँह से भी दोनों के लिए बरबस धन्य-धन्य शब्द निकल पड़े।

यह है प्रशम का चमत्कार, जिसने विनम्रता, उदारता और क्षमा की त्रिपुटी के माध्यम से महाजन और हरिजन दोनों का हृदय परिवर्तन कर दिया। यदि प्रशम का अवलम्बन न लिया जाता तो वर्षों ही क्या, जिन्दगीभर तक दोनों का आपसी वैमनस्य चलता रहता।

प्रशमयुक्त जीवन क्या करता है ?

जिसके अन्तःकरण में प्रशम विराजमान हो गया, वहाँ प्रसन्नता, क्षमा, शान्ति और आत्म-गौरव के अनुरूप आत्मरमणता आदि गुण-धर्म व्यक्तरूप में आ ही जाते हैं। वह इन भावों के अनुरूप व्यवहार भी करता है और दूसरों को भी अपने व्यवहार से प्रभावित एवं लाभान्वित करता है। वह प्रशान्तात्मा अग्नि को भी नीर में परिवर्तित कर देता है। बाह्य जगत की हलचल या प्रचण्ड आग उसके अन्तर्मन में प्रविष्ट नहीं हो सकती। ऐसा प्रशान्तात्मा आग में बैठकर भी आग से अछूता रहता है। उसके आसपास बाह्यजगत में भी विपरीत परिस्थिति अधिक समय तक रह नहीं सकती। या तो यह विपरीत स्थिति से परे हो जाता है, या वह स्थिति ही बदल जाती है। प्रशान्तात्मा के प्रभाव से शूली का सिंहासन, पुष्पमाला का सर्प और अग्निकुण्ड का पद्मसरोवर बन जाता है। इसके विपरीत जिसके हृदय में प्रशम नहीं है, प्रसन्नता और धैर्य नहीं है, उसके लिए सुखशय्या भी कण्टकशय्या बन जाती है। वह जल को भी अनल बना देता है। अशान्त जीवन नन्दनवन को भी मरुस्थल बना देता है। यश की चाह प्रशमरहित जीव को संतप्त और अतृप्त बना देती है। उसके लिए शान्ति के हेतु भी अशान्ति के हेतु बन जाते हैं। जिस व्यक्ति का हृदय प्रशमधन से सम्पन्न है, अन्तरंग वैभव से गौरवशाली है, उसके इस आत्मवैभव को छीनने की किसी भी दुर्गुण में ताकत नहीं है। उसके लिए सदैव सर्वत्र आनन्द-मंगल है।

यूनानी दार्शनिक सुकरात अपनी पूर्ववय में बड़ा ही क्रोधी और अशान्त था। अपनी इच्छा के विपरीत कुछ भी होता देखता तो वह आग-बबूला हो उठता था। इच्छाओं से लिप्त अभिमानी व्यक्ति का पारा क्षण-क्षण में क्रोधादि आवेश से चढ़ जाता है। सुकरात को अपनी यह स्थिति खटकी। उसने प्रशम का माहात्म्य समझकर उसकी विशिष्ट साधना की, जिसके फलस्वरूप अपने आप पर उसने आधिपत्य जमा लिया। सुकरात के प्रशम की परीक्षा के लिए सर्वप्रथम उसकी कर्कशा पत्नी ही निमित्त बनी। वह क्रोधी स्वभाव की थी। एक दिन सुकरात घर के बाहर बैठा अपने एक मित्र से वार्तालाप कर रहा था। उसकी पत्नी किसी कारणवश नाराज होकर भली-बुरी गालियाँ दे रही थी। सुकरात ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न दिया, इससे उसकी स्त्री के क्रोध में तीव्रता आ गई। उसने झूठन का कुण्डा उठाकर सुकरात के मस्तक पर उंडेल दिया। किन्तु सुकरात इस प्रकार शान्त बैठा रहा मानो कुछ हुआ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं। उसके समीप बैठा हुआ व्यक्ति आश्चर्य के उसकी ओर ताकता रह गया। तब सुकरात ने इस प्रसंग पर कहा—"बादल गरजते हैं और बरसते नहीं है तो शान्ति नहीं होती। गर्जन के बाद वृष्टि होती ही है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।"

यह है, प्रशमयुक्त मनःस्थिति का ज्वलन्त उदाहरण !

जैसे माता अपने बालक की सब प्रकार से रक्षा करती है, धायमाता उसे दूध पिलाकर तथा खिलाकर उसे स्वस्थ एवं सशक्त रखती है, वैसे ही प्रशम भी माता की तरह आत्मा का रक्षक और धायमाता की तरह स्वस्थ एवं सशक्त रखने वाला है। पाश्चात्य साहित्यकार शेक्सपियर ने यही बात कही है—

"**Peace dear nurse of arts, plenties and joyful birth.**"

'शान्ति (प्रशम) कलाओं की, प्रचुरताओं की और आनन्ददायक जन्म की प्रिय नर्स (धाय माता) है।'

वास्तव में, मानवजन्म को आनन्ददायक बनाने वाला, जीने की विभिन्न कलाओं में सफलता दिलाने वाला और मनुष्य के हृदय को प्रचुरताओं से—गुणों की बहुलताओं से आनन्दमय बनाने वाला प्रशम ही है। प्रशम के बिना मानव-जन्म हँसी-खुशी से व्यतीत करना कठिन है, मनुष्य को विभिन्न कलाओं में सफलता पाना आसान नहीं होता और प्रचुर साधनों के होते हुए भी प्राचुर्य का आनन्द प्राप्त करना दुष्कर होता है। इस पर से जाना जा सकता है कि 'प्रशम' की मानव-जीवन में कितनी महत्ता और उपयोगिता है।

इसीलिए एक विचारक ने शम की महत्ता बताते हुए कहा है—

शम एव परं तीर्थं, शम एव परं तपः।
शम एव परं ज्ञानं, शमो योगः परस्तथा॥

'शम ही परम तीर्थ है, शम ही उत्कृष्ट तप है, शम ही पवित्र ज्ञान है, शम ही उत्तम योग है।'

प्रशम क्या है, क्या नहीं ?

प्रश्न यह होता है कि जीवन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रशम क्या है ? प्रशम किसे कहें और किसे नहीं ? क्योंकि प्रशम या शम के अनेक लक्षण विभिन्न धर्मग्रन्थों में पाये जाते हैं, और उन लक्षणों में कहीं-कहीं कोई तारतम्यता, एकरूपता या क्रमबद्धता नहीं पाई जाती, इसलिए साधारण बुद्धि का मानव चक्कर में पड़ जाता है कि प्रशम का वास्तव में क्या स्वरूप है ?

शम का प्रथम लक्षण—स्वभाव-रमण

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में शम का लक्षण धर्म का प्रधान अंग बताते हुए इस प्रकार किया गया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वात्मभावना[1] से उत्पन्न सुखामृतरूपी शीतलजल से जो काम, क्रोध आदि रूप अग्नि से जनित संसार-दुःखरूप दाह को उपशान्त करता है, वह शम है। वही धर्म है।

संसार में मनुष्य क्रोध, काम, लोभ, मोह, तृष्णा, मत्सर आदि विकारों से दुःख पाता है। इन विकारों के कारण मनुष्य खिन्न, अशान्त तथा दुःख-दैन्य से युक्त रहता है। इष्टवियोग और अनिष्ट के संयोग के समय साधारण मानव-मन क्षुब्ध या आतंकित हो जाता है। अपने अहं को चोट पहुँचने के कारण मनुष्य अशान्त हो जाता है, दूसरों की तरक्की देखकर कुढ़ता है, असन्तुष्ट होकर अशान्त हो जाता है। किसी कार्य का फल तुरन्त या मनचाहा न मिलने पर साधारण मनुष्य का मन अशान्त हो जाता है, असहायता की अनुभूति में संघर्ष, संदेह, भय, ईर्ष्या, क्रोध, निराशा और क्रूरता आदि ये सब असंतुलन पैदा करते हैं। असंतुलित मन में अशान्ति पैदा होती है। इसलिए प्रशम का लक्षण बताया गया है कि जब मनुष्य आत्मभाव में रमण करता है, तब उसे ये जितने भी विकार हैं, वे सब परभाव प्रतीत होते हैं, स्वभाव तो आत्मा या उसके निजी ज्ञानादि गुण हैं। अपने आत्मभाव में रमण करने से उसकी ये सब अशान्ति उत्पन्न करने वाली विकार-वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। मन में भी ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि के विचार या विकल्प लाता ही नहीं। वह अपने स्वाभाविक स्वरूप पर ध्यान देता है, उसी का विचार करता है, बाहर से काम, क्रोधादि के हमले होने पर उनका उस पर फिर असर नहीं होता। जैसे वाटरप्रूफ या फायरप्रूफ कपड़े पर पानी या आग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही स्वभाव में रमण करने वाले शम-साधक पर आत्मा से बाहर के किसी भी परभाव का प्रभाव नहीं पड़ता।

शम—ज्ञान का परिपाक

इसीलिए उपाध्याय यशोविजयजी ज्ञानसार-अष्टक में शम का स्पष्ट लक्षण बताते हैं—

विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावावलम्बनं सदा।
ज्ञानस्य परिपाको यः स शमः परिकीर्तितः॥

'जो व्यक्ति रागद्वेषादि विकल्पों और पंचेन्द्रिय-विषयों को पार करके सदा स्वभाव का अवलम्बन लिये रहता है, उसकी स्वरूप-रमणता का ज्ञान जब परिपक्व हो जाता है, उसका स्वभाव-ज्ञान पक्का हो जाता है, उसे वह पच जाता है, वही स्थिति शम कही गई है।'

यह लक्षण पहले के लक्षण से कुछ विशद है। प्रशम-जीवन में काम, क्रोधादि विकृति या विषयलालसा की वृत्ति प्रथम तो उठती ही नहीं, क्योंकि वह सतत स्व-स्वरूप

---

१. स एव धर्मः स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतलजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शमः। —प्रवचनसार ता० वृत्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में रमण करता है, कदाचित् व्युत्थानावस्था में वह उठ भी जाए, व्यवहार के समय कदाचित उत्पन्न भी हो जाय तो वह शीघ्र ही उपशान्त हो जाती है, ऐसी अवस्था 'शम' या प्रशम है। इसी बात का एक आचार्य ने समर्थन किया है—

पयइए कम्माणं नाऊणं विवागमसुहंति।
अवरद्धे वि न कुप्पइ, उवसमओ सव्वकाले पि॥

जब व्यक्ति आत्मनिरीक्षण करता है तो उसे यह प्रतीत हो जाता है कि कषाय-परिणति आत्मा का स्वभाव (प्रकृति) नहीं है तथा पूर्वकृत कषायादिजनित अशुभकर्मों का ही यह फल है कि मुझे शान्ति का वातावरण नहीं मिला है, और पूर्वकृत अशुभकर्मों के फलस्वरूप मेरे प्रति लोग क्रोध-रोष, द्वेषादि के रूप में अपराध करते हैं। अतः इस पदार्थपाठ से वह सदा सतत अपराधी के प्रति कुपित नहीं होता, कामादि विकारों को जरा भी स्थान नहीं देता, सदा सतत उपशान्त रहता है। इसी कारण एक आचार्य ने शम का लक्षण किया है—

क्रोधकषायकण्डूविषयतृष्णोपशमः शम इत्याहुः।

क्रोधकषायरूप खुजली और विषयतृष्णा की उपशान्ति ही शम कहलाती है।

यद्यपि कषायों का सर्वथा उपशम तो ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर होता है, परन्तु प्रशम तो चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए प्रशम की परिभाषा इस प्रकार की गई—

"शमः प्रशमः अनन्तानुबन्धिनां कषायाणामनुदयात्।"

कषाय की जो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन, ये चार कोटियाँ बताई गई हैं, उनमें से अत्यन्त निकृष्ट अनन्तानुबन्धी कोटि के कषायों का अनुदय होना—उपशान्त हो जाना प्रशम कहलाता है। मतलब यह है कि जैसे मैट्रिक से लेकर एम. ए. तक का विद्याध्ययन करने वाला विद्यार्थी ही कहलाता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्तमोहनी यगुणस्थान (चौथे से ग्यारहवें तक) वाले सभी जीव प्रशमयुक्त कहलाते हैं। उनमें विभिन्न कक्षाओं या भूमिकाओं का अन्तर है। ध्येय तो सबका एक ही है।

शम—शुद्ध आत्मनिष्ठा

श्रीमद्भागवत (११।१९।३६) में शम का लक्षण यों किया गया है—

'शमो मन्निष्ठताबुद्धिः.....।'

'परमात्मा (शुद्ध आत्मा) में निष्ठारूप बुद्धि होना शम है।'

शम का लक्षण पहले जो स्वात्मभावना में रमण करना बतलाया था, उसमें और इस लक्षण में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है।

एक वैदिक आचार्य ने शम का लक्षण बताया है—

'सर्वत्र वासनात्यागः शमोऽयमिति स्मृतः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'सदैव वासनाओं का त्याग ही शम कहा गया है। वृत्तियों को शान्त रखना भी शम है।'

इस प्रकार सभी लक्षणों का सारांश है—"आत्मभाव में निष्ठापूर्वक रमण करते हुए विषय-कषायादि वृत्तियों का उपशान्त रहना शम है।"

यह एक माना हुआ तथ्य है कि जब साधक आत्म-भावों में रमण करता है, उन्हीं में तल्लीन हो जाता है तब विषय-कषायादि का प्रादुर्भाव नहीं होता, बाहर से विषय-कषायों का निमित्त मिलने पर भी उसके मन में जागृत नहीं होता। जैसे प्रकाश होते ही कितना ही घना अन्धकार हो, भाग जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप का प्रकाश परिपक्व हो जाने पर विषय-कषायादि रूप अन्धकार भाग जाता है, टिक नहीं पाता।

श्मशान में जो शान्ति होती है, उसे प्रशम नहीं कहा जाता। श्मशान की शान्ति का कोई अर्थ नहीं है। मृतक की शान्ति को भी प्रशम कदापि नहीं कहा जा सकता और न ही उस शान्ति का कोई उपयोग है। प्रशम समाज में, मनुष्य के हृदय में तथा मन-मस्तिष्क में हो, तभी उसका मूल्य है। वह निर्भर है—लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध और पारस्परिक व्यवहार पर। अतः ऐसे समय में ही जो प्रशम होता है, वही प्रशम मानव-जाति के लिए उपयोगी और मूल्यवान है।

संसार में अधिकांश लोग शान्ति चाहते हैं, वे सदा से शान्ति के पक्ष में हैं, अशान्ति नहीं चाहते। अशान्ति पैदा करने वाले थोड़े-से लोग होते हैं, जो प्रायः सत्ताधीश होते हैं, उनकी भावनाएँ विस्तारवादी होती हैं। वे दुनिया में मार काट मचाकर शान्ति स्थापित करना चाहते हैं। अमेरिका, रूस आदि कुछ महाशक्तियों के हाथ में हाईड्रोजन बम, अणुबम या नाइट्रोजन बम हैं। इन बमों की शक्ति का स्वामित्व भी कुछेक लोगों के हाथ में है, जिन्हें निःशस्त्रीकरण या युद्धरहित शान्ति की बात नहीं सुहाती। वियतनाम में युद्ध के प्रयोग को भी शान्ति के लिए किया बताया गया है। शक्ति सन्तुलन के बिना शान्ति नहीं हो सकती, ऐसा उन महाशक्तियों का दृढ़ विश्वास हो गया है। किन्तु युद्ध के द्वारा, अणुबम आदि फैंककर की जाने वाली शक्ति तो अशान्ति का बीज है। वह कदापि प्रशम नहीं हो सकता। प्रशम के लिए मानसिक, वाचिक, कायिक शान्ति अपेक्षित है, जो मन-वचन-काया के सन्तुलन से हो सकती है।

जो प्रशम के साधक होते हैं, वे मानसिक-वाचिक-कायिक शान्ति स्वयं के जीवन में चाहते हैं और विश्व-राष्ट्रों के जीवन में भी। वे अणु अस्त्रों तथा युद्धों द्वारा होने वाली कृत्रिम एवं क्षणिक शान्ति का विरोध करते हैं।

मास्को में जिस दिन रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने एटमी विस्फोट समाप्त करने की सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, उस दिन सारे संसार ने सन्तोष और शान्ति की साँस ली थी। यह समझौता एक महान् प्रशम साधक शान्ति के पुजारी के भगीरथ प्रयत्नों से सम्पन्न हुआ। उस शान्ति के पुजारी का नाम था डॉ. लाइनस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाउलिंग। उन्हें दो बार विश्व-शान्ति के प्रयास के लिए नोबल पुरस्कार दिया गया था। उन्होंने दोनों पुरस्कारों का प्रयोग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं करके विश्व-शान्ति के प्रयत्नों के लिए किया।

प्रशान्त महासागर के तट पर 'लास एंजिल्स' शहर के निकटवर्ती 'पासादेना' नामक स्थान पर इनकी अपनी प्रयोगशाला है, जिसमें उन्होंने अणुविद्या पर वैज्ञानिक अन्वेषण करके अनेक नई जानकारियाँ दी हैं। बालकों के-से सरल इस महान् वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम पं० जवाहरलाल नेहरू की आणविक विस्फोट समाप्त करने की अपील का समर्थन किया था। इन्होंने बताया कि आणविक शक्ति को मानव-कल्याण, चिकित्सा, उद्योग, उत्पादन और रसायन-निर्माण के कार्यों में लगाकर उसका सदुपयोग विश्व-शान्ति के लिए किया जाना चाहिए, अशान्ति फैलाने के लिए नहीं। एटमी धमाकों से जो जहरीली गैस पैदा होती है, इससे सारे संसार के बच्चे निर्बल होंगे, कई रोग और नई बीमारियाँ फैलेंगी, अकाल और अनावृष्टि के भीषण दृश्य उपस्थित होंगे। उन्होंने विश्व-शान्ति के इस भगीरथ प्रयत्न के दौरान कई बार अकेले ही वाशिंगटन में ह्वाइट हाउस के सामने राष्ट्रपति के घर पर धरना दिया। राष्ट्रपति ने इस अकेले विद्वान और विश्व-शान्तिप्रयासक को यथायोग्य उपाय करने का आश्वासन भी दिया।

अणु-आयुधों के प्रसार को रोकने के लिए भी डा. पाउलिंग ने उन सब शक्तियों को जुटाया, सारे संसार का दौरा किया, ११ हजार प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों, साहित्यिकों और शिक्षाशास्त्रियों के हस्ताक्षरों की एक संयुक्त अपील की। उन्हें इस महान् शान्ति-कार्य में पर्याप्त सफलता भी मिली। डा. पाउलिंग और उनकी धर्म-पत्नी ने अपनी निजी सुख-सुविधाएँ छोड़कर सादा रहन-सहन स्वीकार किया और सारा जीवन विश्व-शान्ति के प्रयासों में खपा दिया।

उनके इस प्रयत्न को हम प्रशम-साधना का अंग मान सकते हैं। यद्यपि प्रशम-साधना आन्तरिक वस्तु है, तथापि ऐसे विश्व-शान्तिप्रयासकों के आन्तरिक जीवन में निहित प्रशम ने ही उन्हें विश्व-शान्ति के प्रयास के लिए प्रेरित किया।

'शम' के लिए अवस्था की मर्यादा नहीं

कई लोगों का यह कहना है कि अभी जवानी या प्रौढ़ावस्था में प्रशम का विचार करने की क्या आवश्यकता है? जब बुढ़ापा आएगा, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाएँगी, शक्तियाँ कुण्ठित हो जाएँगी, तब अपने आप ही क्रोध, काम आदि मिट जाएँगे और जीवन प्रशान्त हो जाएगा। परन्तु उसे कोई भी प्रशम नहीं कहेगा, उस शक्ति-क्षीण व्यक्ति को कौन प्रशान्त कहने को तैयार होगा? क्योंकि प्रशम रत्नत्रय की साधना से प्राप्त होता है, अनायास ही नहीं। एक नीतिकार ने वृद्धावस्था में प्रशान्त हुए व्यक्ति पर कटाक्ष करते हुए कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वे वयसि यः शान्तः, स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु, शमः कस्य न जायते ?

'वृद्धावस्था से पूर्व वय में जो शान्त होता है, वही मेरे मत में शान्त (प्रशम-युक्त) है, धातुएँ क्षीण हो जाने पर किसके जीवन में प्रशम नहीं आ जाता ?'

यद्यपि यह कथन अवस्था को लेकर किया गया है, किन्तु वृद्धावस्था आने पर भी, धातु क्षीण हो जाने के बावजूद भी जिनकी प्रकृति उग्र रही है, जिनकी वृत्तियाँ क्लिष्ट रही हैं, उनके जीवन में प्रशम नहीं आ पाता। बाहर से इन्द्रियाँ भले ही शान्त दिखाई देती हों, अशक्त होने के कारण भले ही वे चुपचाप पड़े रहते हों, परन्तु अन्दर क्रोध, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ, रोष, द्वेष की आग भड़क रही हो तो उन्हें प्रशान्त नहीं कह सकते, न उनकी इन्द्रियों और वाणी की शान्ति को प्रशम कह सकते हैं। अगर इन्द्रियों के निश्चेष्ट हो जाने और वाणी से मौन हो जाने को ही प्रशम कहा जाएगा, तो अशक्त, अपंग या मूक और पागल मनुष्यों के चुपचाप पड़े रहने या आत्मस्वरूप में रमणता से एवं आत्मज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की भी अंगनिःस्पंदता तथा वाणी की निश्चलता को भी प्रशम कहना होगा किन्तु वहाँ प्रशम का अभिनय हो सकता है, आन्तरिक प्रशम नहीं। द्रव्य प्रशम का कोई मूल्य नहीं है जब तक अन्तर् से प्रशम स्पृष्ट न हो। अन्यथा, सुषुप्त चेतनाशील एकेन्द्रिय जीवों की निश्चेष्टतायुक्त शान्ति को भी प्रशम कहना पड़ेगा, जिसे कोई भी धर्मशास्त्र तथा समझदार मनुष्य कहने को तैयार नहीं है।

प्रशम—शरीर से या मन से ?

इसी प्रकार किसी क्रोधी व्यक्ति का घर में लड़ाई-झगड़ा हो जाने पर या गुमसुम होकर चुपचाप बैठ जाना प्रशम नहीं है। अन्तर् से क्रोधादि कषायों या विषय-लालसा की समझ-बूझकर उपशान्ति न हो जाए, तब तक बाहर से, किसी के दबाव से, सरकारी दण्ड से, या किसी के मारने-पीटने से या आवेश में आकर मौन होकर इन्द्रियों को निश्चेष्ट करके बैठ जाने से प्रशम नहीं आ जाता; क्योंकि ऐसे व्यक्ति के अन्तर् में रोष, द्वेष, ईर्ष्या, वैर-विरोधवश प्रतिक्रिया चलती रहती है, मन ही मन वह घुटता और दुश्चिन्तन करता रहता है, जिसे हम अर्न्तध्यान और रौद्रध्यान कहते हैं। ऐसे व्यक्ति के शान्ति के अभिनय को हम प्रशम नहीं कहते। परन्तु आज के कृत्रिमता के युग में जैसे कल्चर मोती, नकली सोना-चाँदी, नकली केसर, कस्तूरी आदि चल पड़े हैं, वैसे नकली प्रशम भी चल पड़ा है, जिसमें ध्यान, मौन और अंगोपांगों की निःस्पन्दता आदि सभी प्रक्रियाएँ प्रशम (शान्ति) की अपनाई जाती हैं, परन्तु उन नकली प्रशम-साधकों के अन्तर् में काम, क्रोध, मोह, द्वेष, लोभ आदि अशान्ति-उत्पादक वासना की आग जलती रहती है।

कई लोग नकली प्रशम का प्रदर्शन करने के लिए साधु का स्वांग भी धारण कर लेते हैं। साधु वेष में ही वे प्रशम का दिखावा करके दुनिया को चकमे में डाल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं। मुझे एक साधु का पता है, वह बहुत क्रोधी था, बात-बात में उसे क्रोध आ जाता और क्रोध में भान भूलकर पात्र फोड़ देता, इधर-उधर भागने लगता, लड़ने-झगड़ने और वाक्कलह करने लगता था। उसके गुरु एवं गुरुभ्राता सभी उसके कारण परेशान थे। गुरु ने एक दिन उस क्रोधी साधु से कहा—"वत्स ! तू बहुत क्रोध करता है, साधु को इस प्रकार का क्रोध करना शोभा नहीं देता। फिर तू तपस्या भी करता है, उसके साथ इतना उग्र क्रोध शोभा नहीं देता।"

उसने कहा—"गुरुजी ! मैं क्या करूँ ? जब क्रोध आता है तो मेरे बस की बात नहीं रहती। आप ही कोई उपाय बताइए, जिससे मुझे क्रोध न आए।"

उसके गुरु शान्त प्रकृति के विद्वान् साधु थे, उन्होंने सोचा—'इसे शास्त्रीय ज्ञान या आत्मज्ञान तो कुछ है नहीं, और न ही इसमें इसकी रुचि है, स्थूल बुद्धि का है, इसलिए बाह्यरूप से भी इसका क्रोध शान्त हो जाय ऐसा स्थूल उपाय बताना ही फिलहाल उचित होगा।'

अतः उन्होंने उसे स्नेहपूर्वक कहा—"देख ! मेरा कहना मानेगा ? आज से एक वर्ष तक मौन रख। कोई खास बात हो तो लिखकर या इशारे से बता सकता है। इससे तेरा क्रोध मन ही मन रहेगा, उग्ररूप धारण न कर सकेगा।" उसने गुरुजी से एक वर्ष तक का मौन ले लिया। एक वर्ष पूरा होने के बाद फिर मौन एक या दो वर्ष तक का ले लिया। यों वह साधु जिन्दा रहा वहाँ तक उसने मौन ही रखा। उसने उग्र तपस्याएँ की, मौन रहा और मौन में ही उसका निधन हुआ। आन्तरिक क्रोध तो उसका गया नहीं, परन्तु बाहर से तीव्र क्रोध और उस दौरान जो आवेशपूर्ण चेष्टाएँ होती थीं, वे बन्द हो गईं।

परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ, इस तपस्वी और क्रोधी साधु के द्वारा मौन लिये जाने पर बाहर से तो क्रोध का शमन हो गया, किन्तु अन्तर में क्रोध के कारण घुटन होता रहा, क्या उसे आप प्रशम कहेंगे ? मैं किसी पर आक्षेप की दृष्टि से यह नहीं कह रहा हूँ, परन्तु वस्तुस्थिति की दृष्टि से प्रशम के वास्तविक रूप का विश्लेषण कर रहा हूँ।

अंगच्छेदन—प्रशम का मार्ग नहीं

अब आइए, एक दूसरे पहलू से प्रशम पर विचार कर लें। कई व्यक्ति अपराधी अंगों को मार-पीटकर या तोड़-फोड़कर शान्त करते हैं। उनका विचार है कि जिस अंग ने गलती की उसे मारो-पीटो, सजा दो, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दो, फिर वह अपने आप शान्त होकर बैठ जायेगा। हाथ ने कोई अपराध किया तो हाथ को काट डालो या पीटकर सीधा कर दो, आँखों ने गलती की तो आँखें फोड़ डालो, पैरों ने कोई भूल की तो उन्हें काट डालो या मार-पीटकर दण्डित कर दो। जीभ ने गलती की तो होठ सी लो, या जीभ खींच लो। कान ने गलत शब्द सुने तो उसे काट डालो या बहरा कर दो। ये सब अतिहठ के प्रयोग हैं। अंगोपांगों को दण्ड

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देने से वे बाहर से तो उस काम को नहीं करते हुए दिखाई देंगे, परन्तु उन इन्द्रियों या अंगों का संचालक मन है, उसे तो उन्होंने दण्ड नहीं दिया ? उसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषयलोलुपता, राग-द्वेष आदि का विचार या मनन किया ही क्यों ? वह गलत विचार न करता तो इन्द्रियाँ या अंग उसके द्वारा गलत कार्यों के करने के लिए प्रेरित न होते। अपराध है मन का और दण्ड देते हैं—इन्द्रियों तथा अंगों को। अतः जब तक मन को ठीक न करोगे, मन से विषयों और कषायों आदि से विरत या विरक्त न होगे, तब तक इन्द्रियों और अंगों को निश्चेष्ट कर देने से प्रशम का नाटक होता रहेगा, असली प्रशम जीवन में नहीं आ पायेगा। असली प्रशम तो मन से ही समझ-बूझकर विषय-वासनाओं एवं कषायों का त्याग एवं शमन करने से ही आयेगा। अतः अंगों या इन्द्रियों को निश्चेष्ट या निःस्पन्द कर देने या कार्यविरोध कर देने से उनका बाह्यरूप से शान्त होना प्रशम नहीं कहला सकता। प्रशम तो वही कहलायेगा, जहाँ मन से प्रशम की साधना की जायगी।

प्राचीनकाल में भारत के कई साधक इस भ्रान्ति के शिकार हो गये थे। महाभारत में शंख और लिखित दो भाइयों का वर्णन आता है।

एक दिन लिखित शंख ऋषि के आश्रम में गया और वहाँ मनोहर फल देखकर क्षुधा पूर्ति के लिए उन्हें तोड़कर खाने लगा। शंख के शिष्यों ने देखा तो उन्होने लिखित को उस चोरी के अपराध का प्रायश्चित्त लेने को कहा। राजा के पास लिखित दण्ड लेने को गया तो उसने दण्ड के बदले माफी देने को कहा। परन्तु लिखित ने आग्रह किया कि मुझे पूरा दण्ड दो, मेरे हाथ काट डालो, जिन्होंने यह अपराध किया है। इस पर उसने राजा से हाथ कटवा डाले।

बिल्वमंगल ने एक रूपवती युवती पर कुदृष्टि की। उसके कारण स्वयं तपाई हुई लोहशलाकाएँ आँखों में भोंककर आँखें फोड़ डालीं और सूरदास (अंधे) बन गये। इस प्रकार आँखों की गलती का दण्ड उन्हें दे दिया।

महात्मा गांधी के आश्रम में एक प्रोफेसर थे, उन्होंने जीभ को असंयम के अपराध से रोकने के लिए अपने ओठ लोहे के तारों से सीं लिये थे।

एक साधु ने कामविकार के कारण जननेन्द्रिय उत्तेजित हो जाने से उसे ही काटकर फैंक दिया था।

क्या इस प्रकार अंग-भंग करने से उन-उन विषयों के बाह्य निरोध हो जाने मात्र को प्रशम कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। अगर इसे ही प्रशम कहा जाए तो संततिनिरोध के लिए वीर्यवाहिनी नस को कटवा लेने को भी काम-प्रशम कहना पड़ेगा। पर यह प्रशम का वास्तविक उपाय नहीं है, और न ही इस तरीके से अंग-भंग से होने वाले बाह्य विकार-रोध को प्रशम कहा जा सकता है। प्रशम का सम्बन्ध अन्तरंग से है, बाह्य अंगोपांगों के रोकने या चेष्टाओं के विरोध से नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक व्यक्ति साधक कहलाता है, घण्टों मौन रखता है, ध्यान भी करता है, कुछ नियम भी लेता है, परन्तु दूसरों के दोष देखता है, मन ही मन दूसरों से कुढ़ता है, द्वेषवश दूसरों के विषय में बुरा चिन्तन करता है तो बाहर से शान्त और निश्चेष्ट दिखाई देने पर भी उसे प्रशमयुक्त नहीं कहा जा सकता। उसका वह ध्यान मौन आदि प्रशम का नाटक मात्र है।

नशे की मस्ती : कितनी सस्ती

कुछ लोग शान्ति के लिए भांग, गांजा, अफीम, चरस, मद्य आदि मादक वस्तुओं का सेवन करते हैं और उनके नशे में चूर होकर एक जगह पड़े रहते हैं, ज्यादा हलन-चलन नहीं करते। कई लोग मादक वस्तुओं का सेवन प्रभु को पाने के लिए अनिवार्य समझते हैं। क्या मादक वस्तुओं से अंगों में दिखाई देने वाली चेष्टा शान्ति को आप प्रशम कह सकते हैं? अगर इस नशीली मस्ती को ही शान्ति कहेंगे तो यह शान्ति बड़ी ही सस्ती और सुलभ हो जायेगी। हर कोई ऐसी शान्ति पाने की चेष्टा करेगा, किन्तु यह शान्ति नहीं है। क्योंकि मादकता से व्यक्ति की संवेदना-शक्ति मूर्च्छित हो जाती है। क्लोरोफार्म सुंघा देने पर जैसे रोगी की संवेदना शक्ति मूर्च्छित हो जाती है, वैसी ही स्थिति नशीली चीजों के सेवन से होती है। इस प्रकार शान्ति में सुषुप्त चेतना की स्थिति है, चैतन्य के पुरुषार्थ की शान्ति नहीं, इसलिए इसे भी प्रशम कहना अनुचित है। अगर नशेबाजों की इस स्थिति को प्रशम कहा जायेगा तो दुनिया में जितने भी नशेबाज हैं, वे सब प्रशमभाव वाले कहलाने लगेंगे, परन्तु यह बात सिद्धान्तसम्मत नहीं है।

हिप्पी लोग चरस, गांजे का दम लगाते हैं, रम की बोतल पीकर नशे में चूर हो जाते हैं। क्या उनकी इस प्रक्रिया को भी प्रशम-साधना कहा जायगा? कदापि नहीं।

निष्कर्ष यह है कि जब तक अन्तर् से विषय-वासनाओं एवं कषायों का शमन नहीं किया जाएगा, तब तक ये बाह्य स्थूल प्रयास केवल बालचापल्य हैं। इनके अपनाने से प्रशम जीवन में नहीं आ पाएगा, प्रशमरस तभी आएगा, जब अन्तर् से कषाय-विषयों के रस का उच्छेद होगा।

प्रशम कहाँ और किसमें ?

कई लोग भ्रमवश यह मानते हैं, कि सुख शान्ति पदार्थों में है। अमुक-अमुक इष्ट पदार्थों के मिल जाने पर मनुष्य की तृप्ति हो जाएगी, तभी शान्ति हो जाएगी और शान्ति ही प्रशम का मूल कारण है। परन्तु यह निरा भ्रम है। पदार्थों में प्रशम का निवास नहीं है। उन्हें प्रशम का आधार कहना अज्ञानता है। क्या धन-सम्पत्ति, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुखकारी साधन आदि प्राप्त हो जाने से सुख-शान्ति आ जायेगी। ये चीजें होने पर भी क्रोधी या कामी स्वभाव न बदला, दुर्व्यसनों में पड़ गया, या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई दुर्घटना हो गई तो सुख-शान्ति धरी रह जायगी, उसके बदले अशान्ति की घुड़-दौड़ मन में शुरू हो जायगी। और फिर इन चीजों के होने, न होने पर ही शान्ति-अशान्ति नहीं होती। एक आदमी इन चीजों के अभाव में भी शान्ति से रहता है, दूसरा इन वस्तुओं की प्रचुरता होने पर भी दूसरों के पास अधिक प्रचुरता देखकर ईर्ष्या से जलता है, दूसरों को देने में लोभवृत्तिवश कतराता है, भाइयों के साथ बेईमानी करके मुकदमेबाजी ठानता है, ये और इस प्रकार की अशान्ति से ग्रस्त रहता है।

इसी प्रकार सुन्दर भवन मिलने, न मिलने पर सुख-शान्ति और दुःख-अशान्ति का दौर चलता है, वह भी स्थायी नहीं होता। ममता के कारण भवन होने पर भी जरा-सा बिगड़ने, नष्ट होने या बिक जाने पर अशान्ति का अनुभव करता है, जबकि दूसरा व्यक्ति भवन न होने पर भी छोटी-सी झौंपड़ी में मस्ती और शान्ति से जीवन-यापन करता है।

इसलिए सुख-शान्ति और उससे होने वाले प्रशम का मूल आधार पदार्थ और साधन नहीं, आत्मा है। प्रशम का निर्झर अपने अन्दर से फूटता है। न किसी अभीष्ट, प्रिय, मनोज्ञ व्यक्ति—सुन्दर स्त्री, बच्चे या अन्य प्राणी में—प्रशम का निवास है। अपनी सुन्दर स्त्री को देखकर उसका पति हृदय से उसे प्यार करता है, उसका जरा-सा वियोग या विरह उसके लिए असह्य हो उठता है, लेकिन मान लीजिए उस स्त्री का स्वभाव क्रोधी हो गया है, बात-बात में वह झगड़ा कर बैठती है, अपनी प्रिय वस्तु पाने के लिए जिद करती है, तो क्या अब भी उसके पति का उसके प्रति सुख-शान्ति या आकर्षणजनित आनन्द बना रहेगा। उस पत्नी का रूप-रंग सभी पूर्ववत् बना रहने पर भी अब उसे देखकर पति अवश्य ही नफरत करेगा, आकर्षण नहीं रहेगा, उसके प्रति आकर्षणजनित सुख-शान्ति या आनन्द का भाव नहीं रहेगा।

इसलिए प्रशम को किसी वस्तु या व्यक्ति की प्राप्ति में खोजना मूर्खता है। वह वहाँ मिलता नहीं क्योंकि उसका निवास वहाँ है ही नहीं, वह तो आत्मा में है।

इसी प्रकार कई लोग कहते हैं कि सांसारिक भोग-विलासों और विषय-वासनाओं की तृप्ति हो जाय तो बस हमें सुख-शान्ति मिल जायगी। पर यह भी निरा भ्रम है। भोग-विलासों या विषय-वासनाओं की तृप्ति उनके अधिकाधिक उपभोग से कदापि नहीं हो सकती, वह और अधिक भड़कती है। प्रशम के बदले ये तो अशान्ति और दुःख की ओर ले जाते हैं। विषय-भोगों से क्षणिक तृप्ति भले ही हो जाय, परन्तु उनके संयोग और वियोग दोनों में दुःख और अशान्ति है। भोग-विलासों या विषय-वासनाओं की तृप्ति में प्रशम को खोजना न केवल अपने समय को बर्बाद करना है, बल्कि अपनी शक्तियों को भी नष्ट करना है।

अतः वास्तव में प्रशम का सम्बन्ध विषयों एवं पदार्थों से ऊपर उठकर आत्म-सन्तोष से है, आध्यात्मिक जीवन अपनाने से है। स्वेच्छा से विषयों से विरक्त होने से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, स्वेच्छा से त्याग करने से है। इसी प्रकार कई लोग यह सोचते हैं कि अपना मनचाहा हो जाए इतने से ही सुख-शान्ति प्राप्त हो जाएगी, पर क्या मनमाना करने से संघर्ष, क्लेश, द्वेष, ईर्ष्या और दुर्भावना नहीं बढ़ेगी ? और मनमानी करने से मन विकृत होगा, विकृत-मन अशान्ति के पथ पर ले जाता ही है। इसलिए प्रशम न तो पदार्थों पर आधारित है, न व्यक्तियों पर और न मनचाहा या मनमाना हो जाने में है, वह आन्तरिक शुभ-भावनाओं में है, आत्मा में है।

भक्त तुकाराम के जीवन की एक घटना है—जब उनकी धर्मपत्नी चल बसी, उन पर काफी कर्जदारी हो गई, अर्थ-संकट भी आ पड़ा और कुछ लोग उनको शत्रु भी मानने लगे, विरोधी हो गये। फिर भी प्रशमरसनिमग्न भक्त तुकाराम अपनी आत्म-शान्ति से जरा भी विचलित, विक्षुब्ध न हुए, बल्कि उन्होंने भगवान का आभार माना कि संसार की मोहमाया से हटाकर वे अपनी भक्ति में लगाकर मुझे प्रशम राज्य में ले जाना चाहते हैं। सहज ही यह जंजाल मिट गया, यह बहुत अच्छा हुआ।

सुख-साधनों के अभाव में भी उनमें प्रशमभाव टिका रहा, इसका कारण यह है कि उनका प्रशमभाव आन्तरिक था, बाह्य नहीं।

जो भीतर से प्रशान्त, स्वच्छ और सन्तुष्ट है, वह बाहर से अशान्त, अस्वच्छ और असन्तुष्ट नहीं हो सकता। जो जिसके मन में होगा, वही उसके कार्यों, शब्दों और व्यवहारों से प्रकट होगा। भीतरी प्रवृत्तियाँ ही सदा नाना रूप धारण करके व्यक्ति के व्यवहारों से सुस्पष्ट होती रहती हैं।

प्रशम जैसे बाह्य पदार्थों और व्यक्तियों में नहीं मिलता, वैसे ही वह बाह्य स्थानों में भी प्राप्त नहीं होता। कई लोग प्रशम (शान्ति) के लिए जंगलों, पहाड़ों, गुफाओं, तीर्थों और मन्दिरों तथा धर्मस्थानों में जाते हैं, पर अन्तर् में प्रशम हो तो वहाँ प्रशम मिल सकता है, अन्तर् में ही अशान्ति हो तो किसी स्थान-विशेष में जाने से प्रशम कैसे मिल सकता है ? अन्तर् में प्रशम जागृत करने के लिए कई लोग शान्तिपाठ करते हैं। वैदिक शान्तिपाठ इस प्रकार है—

'ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।'

सारांश यह है कि ब्रह्माण्ड में सर्वत्र शान्ति की भावना प्रकट की गई है, साथ ही अपने अन्दर भी शान्तिवृद्धि की कामना की गई है।

इसी प्रकार जैनधर्म के आचार्यों ने भी बृहच्छान्तिपाठ और लघु शान्तिपाठ बताया है, उसमें भी धर्मसंघ से लेकर राज्य, राष्ट्र, पौरजन, राज्याधिप, जनपद, गौष्ठिक, ब्रह्मलोक आदि के लिए शान्ति की भावना की गई है।

तत्त्वामृत में बताया गया है—

'विशुद्धपरिणामेन शान्तिर्भवति सर्वतः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—विशुद्ध परिणामों (भावों) के सर्वत्र शान्ति होती है।

परन्तु एक बात निश्चित है कि जब तक शान्ति के लिए अपने भीतर से पुरुषार्थ न हो, और राग-द्वेष, काम-क्रोधादि तथा विषयासक्ति आदि मन से निकल नहीं जाएँगे, तब तक केवल शान्ति-मंत्र का उच्चारण करना उफनते दूध को थोड़ी देर के लिए शान्त करने के लिए छींटे देने के समान होगा।

प्रशम आन्तरिक वस्तु है, शरीर को निश्चेष्ट बनाने, वाणी को रोक देने या ध्यान धरकर बैठ जाने मात्र से वह नहीं आ जाता। प्रशम एक दिव्य मनःस्थिति है, उसका सम्बन्ध मन में निहित विवेक-भावना से है। यही कारण है कि अन्यायी, द्रोही, कामी, क्रोधी, आवेशग्रस्त एवं अविवेकी लोग, चाहे कितना ही शान्तिपाठ कर लें; वे प्रशम को तब तक प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक प्रशम के लिए आन्तरिक पुरुषार्थ न कर लें।

ऐसा प्रशम, जो कि आत्मनिष्ठ है, वह किसी देवता द्वारा, किसी अवतार तीर्थंकर या पैगम्बर द्वारा ही प्राप्त नहीं होता, और न ही भाग्य के द्वारा प्राप्त होता है, वह अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ के द्वारा ही प्राप्त होता है। कोई भी भगवान किसी को प्रशमनिष्ठ नहीं बना सकता, किसी के जीवन में कोई भी ऊपर से प्रशम नहीं उड़ेल सकता, वह तो अपने अन्तर् के पुरुषार्थ से निष्पन्न होता है। पाश्चात्य दार्शनिक रस्किन (Ruskin) के शब्दों में प्रशम-प्राप्ति का सन्देश सुनिए—

'No peace was ever won from fate by subterfuge or agreement; no peace is ever in store for any of us, but that which we shall win by victory over shame or sin, victory over the sin that oppresses, as well as over that which corrupts."

"कोई भी प्रशम (शान्ति) करार या प्रतिनिधित्व के द्वारा भाग्य से कदापि नहीं जीता जाता, और न कोई प्रशम हममें से किसी के लिए कहीं किसी भण्डार में जमा कर रखा है, किन्तु प्रशम वह है, जिसे हम लज्जाजनक कार्यों या पापों पर विजय पाकर अधिकृत करेंगे। वह पाप जो कि हमें दबाता है, उस पर और जो हमें भ्रष्ट करता है, उस पर हम विजय पाकर ही प्रशम प्राप्त कर सकेंगे।"

बन्धुओ! प्रशम क्या है, क्या नहीं है? तथा प्रशम कहाँ और किसमें है? इस सम्बन्ध में विविध पहलुओं से आपके समक्ष विचार रखे हैं, ताकि आप प्रशम के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम कर सकें। प्रशम के स्वरूप को समझ लेने के पश्चात उसकी शोभा किसमें है? इसे समझना आसान होगा। महर्षि गौतम ने समाधियोग को प्रशम की शोभा क्यों बताया? उसके पीछे क्या रहस्य है? प्रशम को प्राप्त करने में क्या-क्या बाधाएँ हैं? प्रशमयुक्त व्यक्ति के क्या-क्या लक्षण हैं? इन सब बातों पर अगले प्रवचन में हम गहराई से विचार करेंगे। आशा है, आप प्रशम का स्वरूप समझकर उसके प्रशस्त पथ पर चलने का पुरुषार्थ करेंगे।

□ □

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५०

प्रशम की शोभा : समाधियोग—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने प्रशम की उपयोगिता, महत्ता, उसके स्वरूप और उसकी प्राप्ति के स्थलों के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से प्रकाश डाला था, आज भी मैं इसी जीवन-सूत्र के सम्बन्ध में जो अवशिष्ट महत्त्वपूर्ण विचार व बातें हैं, उन पर अपने विचार प्रस्तुत करूँगा ।

प्रशम-प्राप्ति का त्रयात्मक पथ

प्रशम का मानव-जीवन में जब महत्त्वपूर्ण स्थान है तो उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक मानव लालायित हो उठता है, परन्तु जैसा कि मैंने कल कहा था कि आन्तरिक पुरुषार्थ के बिना प्रशम प्राप्त होना दुष्कर है, वैसे ही प्रशम-प्राप्ति के कौन-कौन-से स्रोत हैं, उन्हें जाने बिना, साथ ही उन पर श्रद्धा और आचरण किये बिना प्रशम के सर्वांगीण दर्शन कठिन हैं ।

किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने के लिए व्यक्ति को त्रयात्मक पथ अपनाना पड़ता है । जैसे किसी व्यक्ति को अध्यापक बनना है तो पहले उसे लक्ष्यबिन्दु निर्धारित करना आवश्यक है, इसी के अन्तर्गत उसे लक्ष्यबिन्दु पर दृढ़ श्रद्धा एवं रुचि करना आवश्यक है । यानी 'मेरे लिए अध्यापक बनना ही हितकर है, अन्य कुछ नहीं,' इस प्रकार का लक्ष्यबिन्दु निश्चित करने के साथ ही उस पर दृढ़ श्रद्धा व रुचि रखना अनिवार्य है । तत्पश्चात् शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, शिक्षा के लिए निर्धारित विषयों का ज्ञान तथा उसके बाद जिन विद्यार्थियों को पढ़ाना है, शिक्षा देनी है, उनके प्रति विद्या या शिक्षा का प्रयोग करना है, उन्हें प्रतिदिन अभ्यास भी कराना है ।

जो व्यक्ति अध्यापक बनने के लक्ष्यबिन्दु पर रुचि या श्रद्धा तो रखता हो, लेकिन उसे तत्सम्बन्धी ज्ञान न हो तो मन मसोसकर ही रह जाएगा, कुछ भी कर न सकेगा । मान लो, एक अध्यापक को अपने पाठ्यविषय का ज्ञान भी हो, लेकिन अपने लक्ष्यबिन्दु के प्रति रुचि व श्रद्धा न हो, तो भी वह ज्ञान कृतकार्य नहीं हो सकेगा । अपने लक्ष्यबिन्दु के प्रति श्रद्धा रुचि भी हो पाठ्यविषय का ज्ञान भी हो, लेकिन पढ़ाये नहीं, विद्यालय में जाए ही नहीं, घर बैठे-बैठे ही मनसूबे बाँधा करे तो क्या वह अध्यापक अपने कार्य में सफल हो सकेगा ? कदापि नहीं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार क्या डाक्टरी, क्या वकालत, क्या व्यापार, क्या कृषि आदि तमाम प्रवृत्तियाँ त्रयात्मक हैं। इसी प्रकार प्रशमपथ पर चलकर उसे पाने की प्रवृत्ति भी त्रयात्मक है। प्रशम को ही लक्ष्यबिन्दु मानकर अन्तर् से इसके प्रति श्रद्धा व रुचि होनी सर्वप्रथम आवश्यक है। तत्पश्चात प्रशम-प्राप्ति सम्बन्धी ज्ञान, जो विभिन्न पहलुओं से हो, और उसके बाद प्रशम का आचरण, तत्सम्बन्धी क्रिया होनी चाहिए।

सर्वप्रथम प्रशम-प्राप्ति का लक्ष्यबिन्दु रखने वाले की श्रद्धा व निष्ठा पक्की होनी चाहिए। प्रशम-प्राप्ति के प्रति उसकी अनन्य भक्ति एवं अनन्य रुचि होनी चाहिए। एक व्यक्ति चाहता तो है प्रशम-प्राप्ति, किन्तु उसकी अन्तर् से रुचि है—प्रशमबाधक बातों में। क्लेश, कलह, युद्ध, मार-काट, शक्ति-सन्तुलन आदि प्रशम-बाधक अशान्तिवर्द्धक उपायों में भी उसकी रुचि व श्रद्धा है, और वह ज्यादा गहरी है तो समझ लेना चाहिए कि अभी उसकी श्रद्धा प्रशम-प्राप्ति के विषय में कच्ची है झूठी है, सच्ची नहीं है, दिखाऊ है।

इसलिए प्रशम-प्राप्ति के अभिलाषी व्यक्ति को अपने निर्धारित लक्ष्यबिन्दु के प्रति अपनी श्रद्धा, रुचि, भक्ति, निष्ठा, लगन, जिज्ञासा एवं तीव्रता की परीक्षा एवं जाँच-पड़ताल कर लेनी चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि लक्ष्यबिन्दु तो हो धन कमाने, सत्ता प्राप्त करने या अधिकाधिक सांसारिक विषयों के उपभोग का और सीखने, सुनने या जानने लगे प्रशम-प्राप्ति सम्बन्धी बातें! यदि ऐसा होगा तो सब कुछ सुना-सुनाया जाना-माना हुआ बेकार हो जाएगा। इसलिए अगर लक्ष्यबिन्दु गलत बना लिया है तो सर्वप्रथम दिल कड़ा करके अपना लक्ष्यबिन्दु बदलना होगा—प्रशम-प्राप्ति का ही बनाना होगा। जाना चाहे बम्बई और बैठ जाए दिल्ली की गाड़ी में, या दिल्ली जाने का टिकट ले तो वह यात्री बम्बई कैसे पहुँच सकेगा? इसलिए प्रशम-प्राप्ति के साधक को भी अपनी श्रद्धा, रुचि एवं लगन उसी लक्ष्यबिन्दु की बनानी होगी।

प्रशम-प्राप्ति का लक्ष्यबिन्दु स्थिर किये बिना अगर यों ही चलता जाएगा अंधाधुंध तो प्रशम-प्राप्ति के बदले प्रशम-बाधक लुभावने मायाजाल में फँस जाएगा। लक्ष्यविहीन यात्री इधर-उधर वनों या बीहड़ों में भटक जाता है वैसे ही लक्ष्यविहीन साधक भी अपने प्राप्तव्य से भटक जाएगा। अतः प्रशम-प्राप्ति के साधक को पद-पद पर, उसी लक्ष्यबिन्दु को स्मरण करते हुए अपने लक्ष्यबिन्दु को हृदयंगम करते हुए, उसे एक क्षण भी विस्मृत न करते हुए उसके प्रति अनन्य श्रद्धा के साथ चलना होगा। साँस-साँस में प्रशम-प्राप्ति की ध्वनि, या बस, वही चाहिए की आवाज उठनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अगर कोई तीन लोक की सम्पत्ति, सत्ता या तीन लोक के सुन्दर पदार्थ भी देने लगे या कोई भी प्रलोभन देने लगे तो उसे तुरन्त ठुकरा देने की दृढ़ता उसमें होनी चाहिए।

किसी भी कार्य में सफलता-असफलता का निर्णय करने की या किसी कार्य-क्रम की सत्यता-असत्यता को जाँचने की शक्ति लक्ष्यबिन्दु से ही मिलती है। इसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार प्रशम-प्राप्ति के कार्य की या कार्यक्रम की सफलता और सत्यता का पता भी लक्ष्यबिन्दु से चल जाएगा। भले ही प्रशम-प्राप्ति का साधक अभी दो ही कदम चला हो, लेकिन प्रशम-प्राप्ति के लक्ष्यबिन्दु को अटल निष्ठा के साथ धारण करके और प्रशम-प्राप्ति में बाधक तत्त्वों को दृढ़ता से छोड़कर चला है तो वह शीघ्र ही प्रशम के निकट पहुँच सकेगा। सच्चे लक्ष्यबिन्दु की पहचान यह है कि जो अंतरंग से रुचि एवं श्रद्धापूर्वक उसी दिशा में चलने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करे, अन्य दिशा में चलने से रोके।

एक दृष्टान्त द्वारा मैं अपने विषय को स्पष्ट कर देता हूँ—

एक सेठ थे। वे अपने आपको भगवान का बड़ा भक्त मानते थे। धर्मस्थान में जाकर घण्टों भगवान की स्तुति करते, अपने पाप-दोषों के लिए समुच्चय रूप से दीन बनकर प्रार्थना भी करते और कई घण्टे माला लेकर जप भी करते थे। उनकी पुकार यही थी—"भगवन्! किसी भी प्रकार से मुझे आप मिल जाएँ।"

एक दिन उनकी प्रभु-भक्ति की परीक्षा का मौका आया। एक देव आकर बोला—"आपकी भक्ति से भगवान अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं, और मुझे आपकी इच्छापूर्ति के लिए भेजा है।" सुनते ही सेठजी की प्रसन्नता का पार न रहा, क्योंकि उनकी प्रार्थना के अनुसार आज उन्हें परमात्मा की प्राप्ति होने वाली थी, वीतराग प्रभु उन्हें आज मिलने वाले थे। लेकिन देव ने कहा—"आपकी मनोवांछित प्राप्ति के पूर्व आपके जो दस पुत्र हैं, उनमें से प्रतिदिन एक पुत्र मरता जाएगा, तथा आपके जो दस कारखाने हैं, उनमें से प्रतिदिन एक कारखाना फेल होता जाएगा। इस प्रकार दस दिन में आपके दसों पुत्र मर जाएँगे और आपके दसों कारखाने फेल हो जाएँगे, और तब ग्यारहवें दिन मैं आपको प्रभु से मिलाने ले जाऊँगा।"

यह बात सुनते ही सेठ के होश गुम हो गये। उनकी आँखों में अँधेरा छा गया। पुत्रों की मृत्यु तो कदाचित् सह ली जाती, परन्तु कारखानों का फेल होना, बिलकुल कंगाल होकर रहना, यह तो असह्य होगा। यह तो बिलकुल गले नहीं उतरता। सेठ ने प्रभु के इस सन्देशवाहक देव से कहा—"भैया! आपने मेरे लिए बड़ा कष्ट किया है, लेकिन एक कष्ट और करें, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ, वह यह कि प्रभु से जाकर मेरी ओर से नमस्कार करके प्रार्थना करना कि भगवत्प्राप्ति किसी और क्वालिटी की हो, जिसमें इतना कठोर त्याग न करना पड़े तो मुझे वह प्रदान करने की कृपा करें, मगर इस क्वालिटी की प्रभु-प्राप्ति मेरे लिए असह्य और दुष्पाच्य होगी।"

क्या वीतरागता या वीतराग प्रभु की प्राप्ति सेठजी को इतना उत्कृष्ट त्याग या मोहत्याग किये बिना ही हो जाती? यह कदापि सम्भव न था, परन्तु सेठ तो सस्ती वीतराग प्रभु-प्राप्ति चाहते थे, जिसमें "हींग लगे न फिटकरी, रंग चोखो हो जाय।" क्या आप भी ऐसी ही सस्ती प्रशम-प्राप्ति चाहते हैं, जिसके साथ धन, परि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वार एवं सांसारिक विषय-भोगों की प्राप्ति होती रहे और प्रशम-रस का स्वाद भी चखते रहें ? यानी विष को भी पीते रहें और अमृत का आस्वादन भी करते रहें।

यह कदापि सम्भव नहीं होगा। ऐसा लक्ष्यबिन्दु झूठा है। प्रशम-प्राप्ति के सच्चे लक्ष्यबिन्दु के साथ उसके साधक कारणों के सिवाय और कोई बात नहीं होती। सारी लौकिक बाधाएँ आ पड़ने पर भी उस लक्ष्यबिन्दु से एक इंच भी इधर-उधर आपका मन-वचन-काय न होने पाये, तभी समझना कि वह सच्चा है।

किसी भी विषय की सच्ची श्रद्धा एवं निष्ठा तभी होती है, जब उस विषय की सत्यता का अनुभव हो जाये। पोथियों से या धर्मग्रन्थों से भले ही आप उस विषय में बहुत-सी जानकारी प्राप्त कर लें, परन्तु वह जानकारी अनुभव की या अनुभवियों की कसौटी पर कसी न जाये, तब तक कच्ची है, सन्देहास्पद है, अनिश्चयात्मक है, कभी मिथ्या भी हो सकती है। अतः लक्ष्यबिन्दु के प्रति अनन्य श्रद्धा के बाद उसका अनुभवात्मक या परीक्षणात्मक सम्यग्ज्ञान होना अपेक्षित है। प्रशम-प्राप्ति का अनुभवात्मक सम्यग्ज्ञान—परिपक्व ज्ञान होगा, तभी गाड़ी आगे चलेगी, वरना प्रशम-प्राप्ति के मार्गों या उपायों का सम्यग्ज्ञान न होने से आप वाचालों और ठगों के चंगुल में फँस जाएँगे और प्रशम-प्राप्ति के बदले अशान्ति के चक्कर में फँसकर जीवन का पतन कर लेंगे।

तात्पर्य यह है कि प्रशम-प्राप्ति के लक्ष्यबिन्दु के प्रति सच्ची श्रद्धा हो, सम्यग्ज्ञान हो, परन्तु आगे चलने की हिम्मत न हो, आचरण के लिए पुरुषार्थ न करे तो वह श्रद्धा एवं ज्ञान दोनों बन्ध्य हो जायेंगे। इसलिए प्रशम-प्राप्ति में बाधक कारणों से दूर रहते हुए साधक उपायों पर चलना चाहिए, तभी लक्ष्य-प्राप्ति हो सकेगी। प्रशम-प्राप्ति के त्रयात्मक मार्ग पर विश्वास और अनुभव के साथ गति-प्रगति करने से ही साधक लक्ष्य तक पहुँच सकेगा।

प्रशम-प्राप्ति में बाधक तत्त्व

अब प्रश्न यह होता है कि प्रशम-प्राप्ति में क्या-क्या बाधाएँ हैं ? कौन-कौन से तत्त्व प्रशम को नष्ट कर देते हैं ? प्रशम-साधक को किन-किन तत्त्वों से बचकर सावधान रहना चाहिए ? आइए, इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार कर लें।

प्रशम के लक्षणों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मत्सर आदि अशान्ति-वर्द्धक दुःखाग्नि बताये गये हैं, जब तक ये रहेंगे, इतना ही नहीं, इनके मूल बने रहेंगे, तब तक प्रशम जीवन में आ नहीं सकेगा। इसलिए सर्वप्रथम प्रशम-बाधक इन तत्त्वों से साधक को बचना आवश्यक है।

मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाली असहिष्णुता, अहंकारजनित असहन-शीलता भी प्रशम-प्राप्ति में बाधक होती है। संसार में जनसंख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है, उसके साथ-साथ नये विचार, नई भावनाएँ, नई इच्छाएँ, नये अरमान,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नई-नई सभ्यताएँ आदि भी बढ़ते जा रहे हैं। विभिन्न प्रकार के रहन-सहन, वेष-भूषा, भाषा, प्रान्त, वर्ग, धर्म-सम्प्रदाय, आहार-विहार, संस्कार आदि विकसित होकर संसार में फैल गये हैं। साधारण मनुष्य का मन इन विभिन्नताओं देखकर परेशान एवं क्षुब्ध हो उठता है। तर्क से एक विचार को दूसरा विचार काट देता है। ऐसी स्थिति में मानव के दिमाग में घुसा हुआ अहं का भूत नाचने लगता है। वह अपने विचार, भावना, संस्कार आदि पर 'मेरापन' चिपका लेता है। इस कारण अपने विचार संस्कार आदि से विपरीत जब किसी दूसरे विचार, संस्कार आदि को सुनता है तो असहिष्णु होकर उनका विरोध, खण्डन, निन्दा एवं उपेक्षा करने लगता है। इस प्रकार एक के प्रति राग, मोह, आसक्ति और मेरापन तथा दूसरे के प्रति द्वेष, घृणा, अरुचि और परायापन मनुष्य के मन में जागता है, वही असहिष्णुता अशान्ति का कारण यानी प्रशम का बाधक कारण बन जाता है।

जब इस प्रकार की असहिष्णुता मानवमन में पैदा होती है तो वह अपने और अपनों से या अपने माने हुए से भिन्न के प्रति द्वेष, दुर्भाव और रोष से प्रेरित उसे अपदस्थ करने का प्रयास करता है। इसी में से ईर्ष्या, द्रोह, छल-कपट, स्वार्थ और संघर्ष आदि जन्म लेते हैं। इन्हीं कारणों से अनपढ़-पढ़ेलिखे, धनवान-निर्धन, मालिक-मजदूर, स्त्री-पुरुष और बच्चे-बूढ़े सभी परेशान और अशान्त होते रहते हैं।

दृष्टिकोण की यह संकीर्णता या क्षुद्रता भयानक कारागार है, जिसमें बन्दी बना हुआ मनुष्य अनेकान्तदृष्टि की उपेक्षा के कारण एकाकीपन और सूनेपन से घिरकर तड़पता-कलपता रहता है। इस प्रकार के संकीर्ण दृष्टिकोण वाला अपनी मान्यता, विचारधारा या दृष्टि के विरुद्ध कुछ भी सुनना पसन्द नहीं करता, इसलिए वह दूसरी मान्यता, विचारधारा आदि की कटु आलोचना एवं निन्दा करने पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार वह अपनी मान्यता, विचारधारा या दृष्टि से भिन्न मान्यता, विचारधारा आदि को कतई सहन नहीं कर पाता, किसी दूसरी सभ्यता और संस्कृति को फूटी आँखों से फलते-फूलते नहीं देख पाता। पूर्वाग्रह के कारण वह यही मानता है कि जो उससे सम्बन्धित है, वही सत्य, शिव और सुन्दर है अन्य सब कुछ असत्य, अमंगल एवं अशुभ है। भला विविधताओं और विभिन्नताओं से भरे इस संसार में ऐसे संकुचित और तुच्छ दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कैसे प्रशमयुक्त—शान्त और सुखी रह सकता है? जब तक दृष्टिकोण में व्यापकता, उदारता, सहिष्णुता और दूसरों को समझने की गम्भीर दृष्टि नहीं आयेगी, तब तक प्रशम उससे कोसों दूर रहेगा।

प्रशम का एक बाधक कारण है—वस्तुओं और विषयों का संसार में बाहुल्य हो जाने के कारण मनुष्य की आवश्यकताओं और इच्छाओं में वृद्धि। संसार में जीने के साधन कम हैं और जनसंख्या में अपरिमित वृद्धि होती जा रही है। इस कारण साधारण मानव स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, काम आदि दूषणों से घिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गये हैं। मनुष्यों में स्वार्थभावना पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। एक के पास साधन अधिक हैं, दूसरा साधनों के अभाव में जी रहा है। इस प्रकार एक व्यक्ति स्वार्थी, निष्ठुर, नीरस और आस्थाहीन बन गया है जबकि दूसरा अभावों से, सहयोग के अभाव में, पीड़ित, पददलित, उत्साहहीन, नीरस एवं सत्त्वहीन बन गया है। इस प्रकार की विषमता में मानवमन प्रशान्त नहीं रह पाता। वह प्रशान्त रह सकता है—समता और सन्तुलन से, इच्छाओं और आवश्यकताओं की सीमा करके अनासक्तभावपूर्वक चलने से, अभावपीड़ितों के लिए त्याग एवं ममत्व-विसर्जन करके।

संसार में जहाँ इच्छाएँ, कामनाएँ एवं आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, वहाँ दुःख, शोक, संघर्ष और अशान्ति का होना अवश्यम्भावी है। क्योंकि जहाँ कामनाएँ होंगी, वहाँ अतृप्ति और अभाव खटकेगा, फलतः मन में अशान्ति होगी। मन अशान्त रहने पर तरह-तरह की बाधाओं एवं व्यामोहों का जन्म होगा, चिन्ताएँ बढ़ेंगी, फलतः अशान्ति का विष-चक्र चलता रहेगा। प्रशम का किनारा नहीं मिलेगा।

पश्चिम के मानसशास्त्रियों का कथन है कि मनुष्य की कुछ इच्छाएँ, तमन्नाएँ कामनाएँ या अभिलाषाएँ होती हैं, उनकी पूर्ति के लिए वह लालायित रहता है। अगर उन आवश्यकताओं, लालसाओं या अभावों की पूर्ति होती रहे तो उसके मन के दुःखी और अशान्त होने का कोई कारण ही न रहे। परन्तु भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने इस विचारधारा को ठीक नहीं माना। उनका कहना है—इच्छाओं और लालसाओं की कोई सीमा नहीं है। एक इच्छा पूरी होते ही दस नयी इच्छाएँ जन्म लेती हैं। इसका मतलब है—इच्छाओं या लालसाओं की पूर्ति करने में जो जिस हद तक सफल होगा, वह उस सीमा तक सन्तुष्ट एवं शान्तियुक्त रहेगा, जितनी सीमा तक असफल होगा, वह उस सीमा तक दुःखी एवं अशान्त रहेगा। उसे सुखी और सन्तुष्ट करने का कोई उपाय पाश्चात्य तत्त्वविदों के पास नहीं है।

फिर इस सिद्धान्त के अनुसार चलने से तो जो अधिक साधनसम्पन्न, शक्तिशाली और चतुर है, वह अपनी इच्छाओं को येन-केन-प्रकारेण पूरी करके सन्तुष्ट और शान्तिमय रहेगा और जो अभाव-पीड़ित हैं, जिनके पास शक्ति, साधन एवं चातुर्य की कमी है, वे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में पड़े-पड़े रोते-कलपते रहेंगे। इसी दृष्टिकोण ने किसी हद तक संसार में स्वार्थ, संघर्ष, शोषण और साम्राज्यवाद को जन्म दिया है, बढ़ावा दिया है। संसार में फैले अन्याय, अत्याचार एवं स्वार्थ के लिए यही दूषित दृष्टिकोण जिम्मेदार है।

अतः भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि मन की इच्छाओं और लालसाओं की पूर्ति करते रहने या मनमानी करने से सच्ची सुख-शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती, वह तो कामनाओं और लालसाओं में कमी करने से हो सकती है। लालसाओं की पूर्ति ज्यों-ज्यों की जाती है, त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ती जाती है, जिसका परिणाम असन्तोष एवं अशान्ति के सिवाय और कुछ नहीं होता। यह चंचल मन अनन्त-असीम इच्छाओं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का कर्त्ता है, ऐसी दशा में उसे संतुष्ट कैसे किया जा सकेगा ? अतः ऐसी निरंकुश इच्छाएँ, अभिलाषाएँ, आवश्यकताएँ या लालसाएं प्रशम में बाधक कारण हैं। प्रशम-साधक को इनसे छुटकारा पाना अत्यावश्यक है।

सिकन्दर ने अपनी इच्छाओं एवं लालसाओं की पूर्ति के लिए जिन्दगी भर भरसक प्रयत्न किया फिर भी क्या उसकी वे सब इच्छाएँ और लालसाएँ पूर्ण हो गईं ? उनकी पूर्ति के बाद भी उसके मन में घोर अशान्ति मरते दम तक बनी रही, वह शान्ति नहीं पा सका।

शान्त और सुखी रहने का एक ही उपाय है कि अपनी वर्तमान स्थिति में सामंजस्य रखते हुए सन्तुष्ट रहा जाए, उपलब्ध साधनों का सदुपयोग किया जाए और अभिलाषाओं, इच्छाओं तथा मनःकल्पित आवश्यकताओं के इशारे पर न नाचा जाए।

प्रतिकूल-अप्रिय परिस्थितियाँ भी बाधक

प्रशम में बाधक कारण प्रतिकूल अप्रिय परिस्थितियाँ भी होती हैं। ऐसा कभी किसी के लिए सम्भव ही नहीं होता कि जीवन में सदैव अनुकूल परिस्थितियाँ ही रहें, अप्रिय परिस्थितियाँ आयें ही नहीं। कई बार दुर्जन लोगों की ओर से सीधे और सरल व्यक्तियों को सताया जाता है, आतंकित किया जाता है, डराया जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का प्रशम में टिक पाना दुष्कर होता है। कई बार परिस्थितियाँ मनुष्य को स्थान परिवर्तन के लिए विवश कर देती हैं। नौकरी-पेशा वालों का तबादला होता रहता है। व्यापार, शिक्षा या अन्य कारणों से पति-पत्नी को अलग-अलग रहना पड़ता है। कई बार आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ता है। दैवी प्रकोप से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड, चोरी, डकैती, भावों की तेजी-मन्दी, विश्वासघात, ठगी, प्रतिस्पर्धा, कमाऊ व्यक्ति की मृत्यु आदि कितनी ही आकस्मिक दुःखद परिस्थितियाँ मनुष्य के सामने आती हैं, जिनमें भारी हानि उठानी पड़ती है। सुनहरे सपने परिस्थितियों के थपेड़े खाकर चूर-चूर हो जाते हैं। परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया, नौकरी से बर्खास्त हो गया, अथवा बेकार बैठे रहना पड़ा, नौकरी न मिली या स्वयं अथवा परिवार के किसी सदस्य को कोई ऐसी पाजी बीमारी लग गई, जिसके इलाज में हजारों रुपये स्वाहा हो गये। ये सब अप्रिय परिस्थितियाँ प्रशम की कसौटी करती हैं।

प्रशम-साधक व्यक्ति इन प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराता नहीं। वह धैर्य और दूरदर्शिता से काम लेता है, जिसका निवारण हो सकता है, निवारण करता है, जिसका निवारण नहीं हो सकता, जिसके सहे बिना कोई चारा नहीं है, प्रशम-साधक व्यक्ति रोते-बिलखते नहीं सहेगा, हँसते-हँसते सहेगा। ठण्डे मस्तिष्क से विचार करके मनुष्य समागत विपत्ति को टाल सकता है तो टालने का प्रयत्न करता है। असफलता के समय दिल छोटा करने और निराश होने की क्या बात है ? सदैव सफल होना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए, यह कोई जरूरी नहीं। प्रयत्नशील व्यक्ति दो-तिहाई असफलता और एक-तिहाई सफलता का अनुमान लगाकर काम करते हैं, उसी में सन्तोष करते हैं, उतना ही पर्याप्त समझते हैं। नौकरी न मिली, तरक्की न हुई, नियुक्ति अमुक जगह पर न हुई तो इसमें हतोत्साह होने की क्या बात है? उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए, पर जो भी परिणाम आए, उसे सन्तोष और धैर्यपूर्वक मुस्कराते हुए शिरोधार्य करना चाहिए।

आर्थिक घाटा लग जाने पर हैरान होने से कोई समस्या नहीं सुलझती। यदि व्यक्ति के पास क्षमता, प्रतिभा, साहस, पुरुषार्थ और कौशल मौजूद है तो, एक न एक दिन आवश्यक साधन फिर जुट सकते हैं। न भी जुटे तो कम खर्च में भी सुन्दर ढंग से जीवनयापन कर सकता है। स्वेच्छा से अपनी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं पर संयम करना धर्माचरण का अंग बन जाएगा। खर्चों में कटौती करके जो स्वैच्छिक गरीबी धारण की जाती है, वह अखरती नहीं। समय के अनुरूप अपने स्तर को घटा लेने का साहस जिसमें मौजूद है, जिसे हल्की माने जाने वाली मजदूरी में अपना गौरव नष्ट होता नहीं दीखता, उसके लिए किसी भी स्थिति में परेशानी का कोई कारण नहीं। अपने आपको परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लेने का जिसमें सिफ्त है, उसके लिए निर्धनता और अभाव में भी प्रसन्न रहने का कारण मौजूद है। जिसकी नसों में पुरुषार्थ का माद्दा है, वह नीतिपूर्ण आजीविका का कोई न कोई रास्ता खोज ही लेता है।

भविष्य की दुश्चिन्ता : प्रशम बाधक

भविष्य की आशंकाओं और दुष्परिस्थितियों की सम्भावनाओं से प्रशमप्रिय व्यक्ति को चिन्तित और आतंकित होने की जरूरत नहीं। परिस्थितियाँ सदा एक-सी नहीं रहतीं, वे भी समय आने पर बदलती है, इसलिए निराश और पस्तहिम्मत होकर बैठना भी अच्छा नहीं। साहसी, निर्भीक और आशावादी होकर ही प्रशमप्रिय व्यक्ति जीता है, प्रसन्नता और हँसी-खुशी के साथ।

प्रतिकूल परिस्थितियों में क्रुद्ध, रुष्ट, असन्तुष्ट और क्षुब्ध रहने से व्यक्ति के मस्तिष्क में नई-नई विकृतियाँ पैदा होंगी और वे बढ़ती चली जाएँगी। जहाँ असन्तोष, विक्षोभ एवं तनाव रहेगा, वहाँ सारा मानसिक ढाँचा ही लड़खड़ाने लगेगा। ऐसा व्यक्ति अपने ही दुर्गुणों से अपने आपको जलाता-गलाता रहता है, और अनेक शारीरिक, मानसिक आधि-व्याधियों से ग्रस्त होकर घोर अशान्ति का जीवन जीता है।

प्रशमप्रिय लोग उदात्त और सन्तुलित दृष्टिकोण के होते हैं। वे जानते हैं कि मानव-जीवन सुविधाओं-असुविधाओं और अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं के ताने-बाने से बुना हुआ है। संसार में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जिसे केवल सुविधाएँ या अनुकूलताएँ ही मिली हों, कठिनाइयों का सामना न करना पड़ा हो। जो व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों से जकड़ा हुआ है, उसे जितनी अनुकूलताएँ मिली हैं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन पर विचार करने लगे, अपनी तुलना पिछड़े, अभावग्रस्त, निर्धन एवं साधनहीन लोगों से करने लगे तो उसे लगेगा कि हम उन करोड़ों लोगों से अच्छे हैं, हमारे पास जो है, उसके लिए भी लाखों-करोड़ों लोग तरसते हैं। इस तथ्य को जो समझ लेगा, वह अपने आपको सौभाग्यशाली समझकर सन्तोष का बड़ा आधार प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सन्तुष्ट और शान्त रह सकेगा।

असन्तोष भी प्रशम में मुख्य बाधक कारण है। मानव-जीवन में व्यक्त-अव्यक्त बहुत-से ऐसे कारण होते हैं जो असन्तोष पैदा कर देते हैं।

असन्तोष उत्पन्न होने के कुछ कारण ये हैं—

(१) मनुष्य की द्विविधामय स्थिति,

(२) यथार्थ से आँखें मूँदकर कल्पना-लोक में विचरण करना,

(३) जीवन जीने का अस्वाभाविक मार्ग अपनाना,

(४) तृष्णा, लालसा और वासना में रमना,

(५) अपने आपके प्रति अनजान रहना,

(६) मन को असंतुलित रखना,

(७) निरुद्देश्य जीवन जीना।

जब मनुष्य का आन्तरिक मन कुछ और चाहता है और बाह्य मन कुछ और सोचता है, आन्तरिक और बाह्य मन में एकरूपता नहीं होती, तब वह दुविधा की स्थिति में पड़ा रहता है, इस कारण उसके जीवन में अशान्ति और असन्तोष पैदा होता है। वह प्रशम में बाधक होता है। अतः प्रशम-प्राप्ति के लिए अन्तर्बाह्यमन में सामंजस्य और एकरूपत्व प्राप्त करना आवश्यक है।

कई बार मनुष्य अपनी यथार्थ स्थिति को भूलकर, वास्तविकता से आँखें मूँदकर किसी के कहे-सुने या कल्पित स्वरूप में अपने आपको समझने-देखने की भूल कर बैठता है, इससे जीवन भर असन्तोष एवं अशान्ति का शिकार बनना पड़ता है।

महत्त्वाकांक्षा : प्रशम में बाधक

अपनी सीमा से अधिक महत्त्वाकांक्षाएँ रखने वाले लोगों को भी अशान्ति का सामना करना पड़ता है। महत्त्वाकांक्षाओं के साथ अपनी स्थिति, योग्यता, परिस्थिति, क्षमता आदि का ताल-मेल बिठाकर चलने वालों को अशान्ति का सामना नहीं करना पड़ता। परन्तु जो महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे दीवाना होकर अंधाधुन्ध चलता है, उसके पल्ले असन्तोष और अशान्ति ही पड़ती है।

अपनी रुचि, प्रकृति, परिस्थिति, क्षमता, भूमिका आदि को जाने-समझे बिना ही किसी बड़े आदमी के कहने पर एकदम उनके जैसा बनने की या उनकी नकल करने की कोशिश न करें, उनके उपदेशों पर विचार करें, यथाशक्ति जीवन में उतारें,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन वास्तविकता को भुलाकर अन्धानुकरण करने लगेंगे तो अशान्ति एवं असन्तोष का सामना करना पड़ेगा।

संघर्ष, युद्ध और क्षोभ प्रशम-प्राप्ति में सबसे बड़े बाधक शत्रु हैं। इनसे अशान्ति का जन्म होता है। अशान्ति मानव की सृजन-शक्ति को नष्ट कर डालती है। क्षुब्धचित्त मनुष्य का अशान्त मन किसी भी काम में नहीं लगता है, हठपूर्वक लगाता भी है तो उखड़ जाता है। संघर्ष और युद्ध तो अशान्ति के जनक हैं ही।

यों तो प्रशम में बाधक अशान्ति-उत्पादक अनेक कारण-कलाप हैं परन्तु मूल-कारण चार हैं—अज्ञान, अहंता, असहयोग एवं अभाव।

अज्ञान तो अशान्ति का जीता-जागता रूप है। जिस प्रकार अँधेरे में भटकता हुआ मानव बेचैन रहा करता है, उसी प्रकार अज्ञान दशा में भी वह अशान्त, बेचैन और पद-पद पर भ्रान्त-सा रहता है। किसी भी काम को वह सफलतापूर्वक नहीं कर पाता। अज्ञानी व्यक्ति जीवन की सुव्यवस्था से शून्य रहकर अपने लिए अशान्ति के बीज बोता रहता है।

विवेकमूढ़ मनुष्य को सत्यासत्य, हिताहित या कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं होता, फलतः उसके व्यवहार में असत्य एवं मिथ्याप्रदर्शन का समावेश हो जाता है। आडम्बर-प्रदर्शन, कृत्रिमता, रूढ़िवाद, मूढ़वाद एवं अन्धविश्वास आदि अज्ञान के ही अभिशाप हैं, जिनमें फँसकर मनुष्य अशान्ति को न्यौता देता है। कर्जदारी, पतन, धर्म-मर्यादा के विपरीत प्रवृत्ति, मिथ्यात्व आदि भी अज्ञानजनित हैं। जीवन के लक्ष्य से अनभिज्ञ अज्ञानी सुपथ से भटककर कंटकाकीर्ण परिस्थितियों में उलझ जाता है, जिससे उसे हानि, क्षति और असफलता का सामना करना पड़ता है। अनिश्चय के कारण अज्ञानी व्यक्ति भय, सन्देह, अविश्वास एवं आशंका से पद-पद पर आक्रान्त एवं अशान्त रहता है। अज्ञान के कारण आत्मविश्वासहीन मानव परावलम्बी और पराधीन बना रहता है। परभाग्योपजीविता या परावलम्बिता की स्थिति में कौन शान्त रह सकता है? दुर्वृत्तियों और दुराचार को जन्म देकर अज्ञानी मनुष्य अपनी शान्ति तो नष्ट करता ही है, समाज की शान्ति भी भंग कर देता है।

अहंता भी प्रशम में बाधक कारण है। मनुष्य के पास जर, जन, जमीन सब कुछ हैं, जीवनयापन के पर्याप्त साधन हैं, रोटी, कपड़ा, घर, जमीन सबकी सुविधा है, हर वस्तु आवश्यकताभर है, बल्कि कई वस्तुएँ अधिक भी हैं, फिर भी अहंकार की दुर्बलता के कारण मनुष्य अशान्त रहता है। अहं का दोष मनुष्य को ईर्ष्यालु भी बना देता है, दूसरे की उन्नति उसे फूटी आँखों नहीं सुहाती। अपनी मनोऽनुकूलता में जरा-सा विघ्न पड़ते ही अहंप्रधान व्यक्ति उत्तेजित, क्रुद्ध और क्षुब्ध हो उठता है, जिससे उसका चित्त अशान्ति से भर जाता है। अहंकार की नीच प्रकृति के कारण ईर्ष्या, द्वेष, कलह, संघर्ष एवं स्वार्थ का जन्म होता है, मेरेपन की दुर्बुद्धि जोर पकड़ती है, इस प्रकार की दुर्गुणाक्रान्त स्थिति में अहंकारी प्रशम के निकट कैसे हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता है ? किसी की उन्नति देखने पर या किसी की प्रगति रोकने में असफल होने पर अहंकारी व्यक्ति में डाह एवं आत्मग्लानि होगी, तब शान्ति का रहना असम्भव है। किसी के पथ में अवरोध बनने से बदनामी एवं निन्दा का लक्ष्य बनना पड़ेगा, जिससे शान्ति भंग होगी ही। अतः अहंकारी व्यक्ति अपने स्वभाव दोष के कारण कभी शान्ति नहीं पा सकता।

अभाव की स्थिति प्रशम में बाधक कैसे हो जाती है ? इस विषय में मैं पहले बता चुका हूँ।

असहयोगी भावना : अशान्ति का निमित्त

प्रशम-बाधक चौथा मूलभूत कारण है असहयोग। जब मनुष्य दूसरों से सहयोग पाना चाहता है तो उसे दूसरों को भी सहयोग देना चाहिए। किन्तु स्वार्थी मनुष्य दूसरों को सहयोग नहीं देता, न जरूरतमन्द की मदद करता है, दया और सहानुभूति का वास उसके हृदय में नहीं होता। इस प्रकार अतिस्वार्थी मनुष्य भी अशान्ति को जान-बूझकर बुलाता है। उसे जब दूसरों से सहायता, सहानुभूति एवं सहयोग की अपेक्षा होती है तो सहसा कोई व्यक्ति करने को तैयार नहीं होता। फलतः वह मन ही मन खीजता, कुढ़ता और बेचैन रहता हैं। अतः समाज के साथ असहयोग भी प्रशम में बाधक कारण है।

वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य का अज्ञान एवं अहंजनित अपना स्वभाव-दोष ही प्रशम में बाधक कारण बन जाता है। मानव-मानव के बीच संघर्ष, लड़ाई और युद्ध का कारण गरीबी, अभाव आदि नहीं, वरन् 'तेरे-मेरे' का प्रश्न है। अपना लाभ, अपनी समृद्धि, अपनी और अपनों की सार-सँभाल अज्ञ एवं अहंग्रस्त मानव को प्रिय लगती है, दूसरे के प्रति वह भाव नहीं, उसकी हानि, अपमान, मृत्यु तक में भी कोई दिलचस्पी नहीं; उलटा, दूसरे से अपना जितना लाभ हो सके, उतना उठा लेने को वह प्रयत्नशील रहता है। मानव-जाति में फैली हुई 'तेरे-मेरेपन' की बीमारी ही समस्त संघर्षों, लड़ाइयों, युद्धों और रक्तपात की जड़ है।

इस वैषम्य के कारण ही अशान्ति की आग पैदा होती है, जो व्यक्ति से लेकर समाज और राष्ट्र तक को भस्म कर देती है। अतः अशान्ति का कारण मनुष्य का स्वभावजनित दोष है, वह आन्तरिक है, बाह्य कारण तो उसी आन्तरिक कारण में से पैदा होते हैं। आसक्ति, लोभ, मोह, दूसरों से अधिक अपेक्षा रखना, आदि जो अशान्ति के कारण हैं, वे सब इसी एक आन्तरिक कारण से सम्बन्धित हैं। प्रशम में बाधक इन कारणों को मनुष्य समझदारी से, धैर्य, शान्ति, गम्भीरता और विवेक से दूर कर सकता है।

ऐसी कोई दुष्कर बात नहीं है, जो न की जा सके। अगर मनुष्य 'जीओ और जीने दो' का मन्त्र लेकर सारी मानव-जाति के साथ व्यवहार करना सीख ले तो प्रशम में बाधक कारणों को अविलम्ब दूर किया जा सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रशम-प्राप्ति में साधक उपाय

प्रशम-प्राप्ति के लिए पहले बताये हुए इन बाधक तत्त्वों से तो दूर रहने की जरूरत है ही, साथ ही इच्छाओं, लालसाओं, कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं पर भी विवेकपूर्ण संयम करना अपेक्षित है। मनुष्य जितने थोड़े साधनों से सन्तुष्ट रहना सीखेगा, उतना ही वह प्रशम के निकट होगा। प्रशम-प्राप्ति के लिए पंचेन्द्रिय-विषयों का रस—आस्वाद लेने की वृत्ति का त्याग करना अनिवार्य है। विषय अपने आप में अच्छे-बुरे नहीं, उन पर राग-द्वेष, मोह-घृणा, आसक्ति-नफरत आदि करना बुरा है। ये ही अशान्ति के जन्मदाता हैं, इन्हें दूर करने के लिए इन्द्रियों को मारना, पीटना या निश्चेष्ट करना नहीं है, किन्तु मन को विषयों से असंपृक्त रखना है। मन को ज्यों ही विषयों के साथ जोड़ते हैं त्यों ही वह अच्छे-बुरे मनोज्ञ-अमनोज्ञ की कल्पना करने लगता है, और मनुष्य को बेचैन बना देता है। अतः मन का लगाव विषयों से न होने दें।

दूसरा कार्य प्रशम-साधक को यह करना है कि वह राग-द्वेष और कषायों के परिणाम जानकर तथा उनसे हानि-लाभ का विचार करके उनसे दूर रहने का अभ्यास करे, कषायों को अपने में प्रादुर्भूत न होने दें। आप कहेंगे, यह कैसे हो सकता है?

ज्ञानसार अष्टक में दो उपाय बताये हैं :

प्रथम उपाय है—विकल्पों को मन में कतई न आने दे। विकल्प नहीं उठेंगे तो किसी भी देश, काल, परिस्थिति, व्यक्ति आदि का सम्पर्क अच्छे-बुरे, तेरे-मेरे, राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों को उत्पन्न नहीं करेगा। फलतः इनके कारण होने वाली अशान्ति से मनुष्य बच सकेगा और प्रशम की साधना कर सकेगा।

दूसरा उपाय है—स्वात्मभाव में ही रमण करना। जब मनुष्य निजात्मभाव स्व-स्वरूप में, आत्म-गुणों में रमण करेगा, उन्हीं में तल्लीन हो जाएगा, तो दूसरी ओर के राग-द्वेष कषाय आदि के तथा विषयतृष्णा के विचार या विकल्प उठेंगे ही नहीं, इससे स्वतः ही अशान्ति का बीज समाप्त हो जायेगा।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रिय-विषयों का रस-विच्छेद एवं कषायवृत्ति-विच्छेद का अभ्यास करना आवश्यक है, जो कि प्रशम का साधक है। इसके अतिरिक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक तीनों प्रकार के प्रशम के लिए यह आवश्यक है कि तीनों पर संयम रखा जाय, तीनों के प्रयोग के समय सावधानी बरती जाये और सहिष्णुता भी रखी जाये। सहिष्णुता के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं का विकास किया जाये। मानव-मानव में विभिन्नताओं को लेकर जो विषमता पैदा होती है और उससे अपने-पराये की तथा तज्जनित राग-द्वेष आदि की वृत्ति पैदा होती है जो दूसरों के हित, लाभ एवं कल्याण के चिन्तन की ओर प्रेरित नहीं होने देती, मैत्रीभावना उस विषमता और तज्जनित दोषों को रोकती है। गुणी के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणों या प्रगति को देखकर जो ईर्ष्या, मत्सर, वैर-विरोध की दुर्भावना पैदा होती है, उसे प्रमोद भावना रोकती है, दूसरों को दुःखी, पीड़ित एवं विपन्न देखकर भी जो स्वार्थी के मानस में सहानुभूति, दया, मानवता एवं सहयोग की भावना नहीं उमड़ती, करुणा भावना इस प्रकार की दुर्वृत्ति को रोकती है और विरोधी, विपरीत, विचारधारा वाले एवं दुष्ट-दुर्जन आदि के प्रति सहसा जो द्वेष, वैर, विरोध, संघर्ष कलह आदि की दुर्वृत्ति पैदा होती है, उसे माध्यस्थ्य भावना रोकती है। इस प्रकार मानसिक प्रशम जीवन में आयेगा।

वाचिक प्रशम के लिए मौन का अवलम्बन लेना या वाणी पर संयम रखना आवश्यक है। एक अरबी कहावत है—

'मौन के वृक्ष पर शान्ति का फल लगता है।'

वास्तव में, मौन करने से बहुत-से झगड़ों-झंझटों से मनुष्य छुटकारा पा लेता है, अथवा वाणी पर संयम रखकर उतना ही बोले, जितना आवश्यक है।

कायिक प्रशम के लिए शरीर से जो भी प्रवृत्ति की जाये, या चेष्टाएँ की जाएँ, उनसे किसी प्राणी का अहित, नुकसान या अकल्याण न हो; ऐसे ही कार्य किये जाएँ, जिनसे किसी का बुरा न हो, दूसरे का शोषण, दलन या जबरन दमन न हो। अन्यथा जिन कायिक प्रवृत्तियों से दूसरों का अहित, शोषण, जबरन दमन या दलन होगा, वहाँ विपरीत प्रतिक्रियावश अशान्ति पदा होती ही है।

वैसे देखा जाए तो प्रशम (शान्ति) का मूल त्याग में है। गीता में भी बताया गया है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'

"त्याग करने के तुरन्त पश्चात् ही शान्ति (प्रशमता) प्राप्त होती है।"

परन्तु प्रश्न होता है—त्याग किसका किया जाए? समस्त सांसारिक विषय-सुखों का, कामनाओं का, धनादि भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति या मोह का त्याग ही मुख्यतया करणीय है।

एक कुरर पक्षी मांस का टुकड़ा लेकर उड़ा तो कौए, चील आदि उसका पीछा करने लगे। परेशान होकर उसने वह टुकड़ा डाल दिया और शान्ति से एक पेड़ की डाली पर जा बैठा।

दत्तात्रेयजी यह दृश्य देख रहे थे। उन्होंने कुरर को अपना गुरु माना। कुरर की क्रिया से उन्होंने यह प्रेरणा ली कि मांस-त्याग की तरह सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति या धनादि के प्रति मोह का त्याग नहीं किया जाएगा, तब तक शान्ति (प्रशमता) प्राप्त नहीं ही सकेगी, अशान्ति बनी रहेगी।

पाश्चात्य विचारक **'यंग'** ने ठीक ही कहा है—

"शान्ति (प्रशमता) ठीक वहीं से शुरू होती है, जहाँ से महत्त्वाकांक्षा का अन्त होता है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक पदार्थों या भौतिक सुखों से विमुख हुए बिना कोई भी व्यक्ति प्रशम प्राप्त नहीं कर सकता। जो व्यक्ति एक ओर से प्रशम प्राप्त करना चाहता है, और दूसरी ओर से भौतिक पदार्थों या सुख-सुविधाओं की वासना में लिपटा रहे, वह प्रशम प्राप्त करने के बदले अप्रशम-पथ पर ही अपनी रफ्तार बढ़ाता है।

एक व्यक्ति ने एक त्याग-वैराग्यसम्पन्न महात्मा से शान्ति (प्रशम) का मार्ग पूछा। महात्मा ने अपना मुंह फेर लिया। आगन्तुक उधर जा खड़ा हुआ, तब महात्मा ने फिर मुंह फेर लिया। इस बात पर आगन्तुक समझ गया कि महात्मा के ऐसा करने का तात्पर्य है—भौतिक सुखों से मन को विमुख करने पर ही शान्ति मिल सकती है।

भगवद्गीता में प्रशम (शान्ति) की प्राप्ति का यही उपाय बताया है—

विहायकामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।

"जो पुरुष समस्त काम-भोगों (कामनाओं, वासनाओं) का त्याग करके निःस्पृह, निर्ममत्व एवं निरहंकार होकर विचरण करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है।"

इसके अतिरिक्त प्रशम-साधक को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि असन्तुलित मन में अशान्ति उत्पन्न होती है, प्रशम नष्ट हो जाता है और मन में असन्तुलन पैदा करने वाले हैं—अनुकूलता का वियोग, प्रतिकूलता का संयोग, असहायता की अनुभूति, संघर्ष, सन्देह, भय, द्वेष, ईर्ष्या, क्रूरता, क्रोध और निराशा आदि। इनसे प्रशम-साधक को बचना चाहिए।

वास्तव में अशान्ति के हेतुभूत संस्कारों का विलयन किये बिना कोई भी प्रशम-साधक प्रशम (शान्ति) का स्पर्श नहीं कर सकता। परिस्थिति कभी अनुकूल होती है, कभी प्रतिकूल। अनुकूलता में जिसे तीव्र हर्ष होगा, प्रतिकूलता में उसे तीव्र शोक हुए बिना नहीं रहता। परन्तु अपने आत्मभाव में रमण करने वाला प्रशम पुरुषार्थी साधक परिस्थिति से आहत नहीं होता। यथार्थ वस्तुस्थिति को जानकर प्रशम-साधक परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता।

एक बात और—प्रशम साधक को उन बातों को स्मृति में से निकाल देनी चाहिए, जो अप्रिय हों, किसी ने उसके साथ अप्रिय, अनुचित या अरुचिकर बात की हो, या कष्ट और दुःख देने वाली की हो। क्योंकि उन बातों को याद करते ही मन में अत्यधिक क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

जो व्यक्ति अपने दिमाग से अप्रिय और निरर्थक बातें भुला नहीं देता, वह कभी शान्तिपूर्ण जीवनयापन नहीं कर सकता।

किसी से अज्ञानतावश कोई भूल हो गई हो, प्रमादवश आवेश में आकर कोई अपराध कर दिया हो, आप उसे जानते हैं या आपको विश्वस्त व्यक्ति समझकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसने बतला दिया, पर आपको उसे भूल जाना चाहिए। अगर आप गढ़े मुर्दों को बार-बार उखाड़ते रहेंगे तो आपका मन गन्दा होगा, उसमें विक्षोभ, द्वेष, घृणा आदि के कीटाणु घुसकर आपको अशान्त कर देंगे। यदि कभी किसी ने आपके साथ कोई अनुचित व्यवहार किया हो तो आप उसे स्मरण क्यों रखें? ऐसी बातों को विस्मृत करके उसके साथ घृणा के बदले प्रेम करने लगेंगे, हानि पहुँचाने के स्थान पर सहृदयता देने लगेंगे तो वह व्यक्ति आपके प्रति स्वतः उदार हो जाएगा। इन सब साधक उपायों से प्रशम बद्धमूल होगा।

प्रशमयुक्त व्यक्ति के लक्षण

प्रशम जिसके अन्तःकरण में सुदृढ़ हो जाता है, वह साधक प्रशम को भंग करने के बाह्य निमित्त मिलने पर भी, तथा वैसे अप्रशम के वातावरण में रहने पर भी प्रशम से विचलित नहीं होता। वह विषम से विषम परिस्थिति में भी क्रुद्ध नहीं होता, कामग्रस्त नहीं होता, अपने प्रशम-पथ पर अविचल रहता है।

तिरुवल्लुवर दक्षिण भारत के एक महान् प्रशम-साधक सन्त थे। वे जुलाहा थे। साड़ियाँ बनाकर बेचा करते थे। एक दिन युवकों की एक टोली उधर से निकली। तिरुवल्लुवर को देखते ही युवकों ने कहा—"यह जुलाहा सधा हुआ शान्ति-प्रिय सन्त है, इसे क्रोध नहीं आता।" टोली में स्वभाव से उद्दण्ड एक धनिकपुत्र युवक था। उसने कहा—"मैं देखता हूँ, इसे क्रोध कैसे नहीं आता!" टोली तिरुवल्लुवर के सामने आ खड़ी हुई। उद्दण्ड ने एक साड़ी उठाई और पूछा—"इसका क्या मूल्य है?"

तिरुवल्लुवर ने कहा—"दो रुपये।" युवक ने साड़ी को फाड़कर दो टुकड़े कर दिये और एक टुकड़ा हाथ में लेकर पूछा—"इसका क्या मूल्य है?"

तिरुवल्लुवर ने उसी शान्तभाव से कहा—"एक रुपया।"

युवक इस तरह टुकड़े करता ही गया और पूछता गया—"इसका क्या मूल्य है?" यों उसने साड़ी का एक-एक तार अलग कर डाला, लेकिन इस छिछोरपन पर भी तिरुवल्लुवर के चेहरे पर न कोई अशान्ति थी और न कोई व्यग्रता ही थी। युवक अपने आपको पराजित-सा अनुभव करने लगा। उसने दो रुपये निकाले और यह कहते हुए तिरुवल्लुवर के सामने रख दिये कि "आपका मैंने बहुत नुकसान कर दिया, लीजिये, ये दो रुपये।"

तिरुवल्लुवर ने कहा—"बेटा! ये दो रुपये अपने पास रखो। तुम्हारा पिता कहेगा—घर में माल तो लाया नहीं, दो रुपये कहाँ खोये?"

युवक का हृदय गद्गद हो गया। वह सन्त के चरणों में गिरकर अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करने लगा।

प्रशमयुक्त व्यक्ति के जीवन का यह अनूठा उदाहरण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रशमनिष्ठ साधक गृहस्थ भी हो सकता है, साधु भी। उसकी सबसे पहली पहचान यह है कि इष्टवियोग या अनिष्टसंयोग में क्षुब्ध नहीं होगा, धैर्य से वास्तविकता पर विचार करेगा और शान्ति से कोई न कोई समाधान ढूंढ़ेगा। वह अपने मन का भी समाधान कर लेगा और दूसरों के मन का भी।

एक महिला अत्यन्त शान्त स्वभावी, चतुर एवं धर्मिष्ठ थी। वह धर्मतत्त्व को भली-भाँति जानती थी, इसलिए दुःख के मौके पर भी शान्ति रख सकती थी। उसका पति बड़े उग्र, क्रोधी, मोहग्रस्त, हठी और उतावले स्वभाव का था। वह जरा-जरा सी बात पर मन में क्षुब्ध हो जाता था। हृदय में जला करता था। यह महिला उसे सुधारने का बहुत प्रयत्न करती थी, लेकिन वर्षों का पड़ा हुआ स्वभाव बदलना दुष्कर था।

एक दिन महिला का पति कहीं बाहर गया हुआ था। उसका इकलौता पुत्र अचानक बीमार पड़ा और हठात् चल बसा। महिला ने बहुत उपचार किये उसे बचाने के, मगर वह बच न सका। महिला ने अपने धर्मतत्त्वज्ञान के बल से किसी तरह शोक को दबाया, शान्तिपूर्वक सहन किया। किन्तु उसने सोचा—पतिदेव शाम को आएँगे और पुत्र को न देखकर बहुत विलाप करेंगे, अत्यन्त शोकग्रस्त हो जाएँगे। अतः पति को किसी युक्ति से शोकमुक्त करना चाहिए। उसे एक युक्ति सूझी, लड़के के शव पर कपड़ा ढक दिया, मानो वह निद्रा में सोया हो। शाम को जब उसका पति घर पर आया तो उसने कहा—"आज तो पड़ौसिन के साथ मेरा बहुत भारी झगड़ा हो गया।"

पति—"किस बात पर ?"

पत्नी—"पड़ौसिन से मैंने एक कीमती गहना उधार लिया था, आज वह उसे वापस लेने आई थी। मैंने कहा कि—मैं अभी नहीं दे सकती।"

इस पर पड़ौसिन बोली—"मैं तो अभी ही लूंगी, गहना लिये बिना न जाऊँगी इस बात पर भारी झगड़ा हो गया।"

पति ने कहा—पगली हो गई हो क्या ? जिसका गहना लाई हो, उसे वापस लौटा देना चाहिए। इसके लिए झगड़ा करना तुम्हारी मूर्खता है।"

पत्नी—"गहना वापस दे देना चाहिए, यह बात सही है, लेकिन गहना बहुत सुन्दर है, वापस देने की इच्छा नहीं होती, फिर आपसे पूछे बिना मैं कैसे दे सकती थी।"

पति ने कहा—"वाह ! इसमें मुझे क्या पूछना था ? तुम्हें या मुझे कोई चीज बहुत पसन्द हो, लेकिन पराई चीज क्या जबर्दस्ती रखी जा सकती है ? ऐसी समझदार और गुणवती पत्नी होकर भी तुम इतना भी नहीं समझती। भारी गलती की है तुमने। व्यर्थ कलह किया। किसी की चीज जबर्दस्ती रखने का हमारा अधिकार ही नहीं है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तब महिला ने कहा—"जिसकी चीज हो, उसे वापस सौंप देनी चाहिए, इसमें तुम्हें तो किसी प्रकार का मन में रंज नहीं होगा न ? अपनी बात पर पक्के रहोगे न ! फिर मन में किसी प्रकार का दुःख तो नहीं करोगे ?

पति ने कहा—"इसमें रंज-गम की क्या बात है ? आज तुम कुछ विचित्र-सी बातें कहती हो, एक छोटा-सा बच्चा भी समझ जाए, उसे तुम समझ नहीं पा रही हो।"

इस पर महिला ने कहा—"देखना, अपने बचन पर दृढ़ रहना। प्रभु ने हमें धरोहर सौंपी थी, वह आज वापस ले ली है। वह एक कीमती गहने के समान ही बहुमूल्य था।" यों कहते हुए उसने लड़के के शव पर से कपड़ा हटाकर अपने पति को बताया। पति को यह अनहोना दृश्य देखकर रंज तो हुआ, परन्तु उसकी धर्मपत्नी ने पहले से ही उसे वचनबद्ध कर लिया था, इसलिए अपने मन को समझाकर शान्त किया।

इसी प्रकार किसी भी इष्ट वस्तु का वियोग या अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर प्रशमनिष्ठ व्यक्ति शोक-सन्ताप नहीं करता, वह मन को शान्ति से समझाकर समाधिस्थ कर लेता है।

कई लोग जरा-सी प्रतिकूल परिस्थिति या प्रतिकूल व्यक्ति के पाते ही, अमनोज्ञ शब्दों को सुनकर एकदम खीज उठते हैं और उससे लड़ने-झगड़ने को तैयार हो जाते हैं, परन्तु प्रशमनिष्ठ साधक प्रतिकूल परिस्थिति में भी शान्त रहता है, वह दूसरे का दोष न देखकर अपनी आत्मा का ही अपराध देखता है।

भक्त तुकाराम का कीर्तन सुनने तो एक व्यक्ति प्रतिदिन आता था, पर उनसे बहुत द्वेष रखता था, उन्हें नीचा दिखाने की फिराक में रहता था। एक दिन तुकाराम की भैंस उसके बाग के कुछ पौधे चर आई। इस पर वह लगा उन्हें गालियाँ सुनाने। गालियों से जब भक्त तुकाराम उत्तेजित न हुए तो उसे और भी गुस्सा आया। अतः कांटेदार छड़ी लेकर उन्हें पीटने लगा। तुकाराम के शरीर से रक्त बहने लगा, फिर भी न उन्हें न क्रोध आया, न उन्होंने कोई प्रतिरोध ही किया।

सन्ध्या समय वह व्यक्ति नित्य की भाँति कीर्तन में नहीं आया तो प्रशमनिष्ठ तुकाराम स्वयं उसके घर गये और स्नेहपूर्वक भैंस की गलती की क्षमा माँगते हुए उसे कीर्तन में ले आये। उसने आते ही प्रशमनिष्ठ तुकाराम के चरणों में गिरकर क्षमा माँगी। तब से वह उसका परम भक्त बन गया।

प्रशमनिष्ठ व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति में भी शान्त रहता है। उसके चेहरे पर हर हाल में मस्ती रहती है, वह गरीबी में भी सन्तुष्ट रहता है, किसी से उसे किसी बात की शिकायत नहीं रहती, न वह किसी की उन्नति देखकर ईर्ष्या से जलता है। उसके चित्त में प्रसन्नता रहती है। वह प्रत्येक व्यक्ति, यहाँ तक कि विरोधी के साथ भी शान्तिपूर्ण व्यवहार करता है। वह अपने न्यायोचित, नैतिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थ के बाद जो कुछ मिल जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहता है। किसी भी सत्कार्य में उसका उत्साह सदा एक-सा बना रहता है, वह फलाकांक्षा के लिए उतावला नहीं होता, बल्कि फलासक्ति से वह दूर रहता है। वह प्रत्येक सत्कार्य अनासक्तिपूर्वक करता है, क्योंकि वह जानता है कि आसक्ति, ममत्व, मूर्च्छा या लालसा ही अशान्ति के हेतु हैं, ये प्रशम में विघ्नकारक है।

संसार में बहुत-से साधन-सम्पन्न लोग, जो आधुनिकतम सुख-सामग्री से सजे भवन में रहते हैं, चमचमाती मोटरगाड़ियों में चलते हैं, सुधास्वादु व्यंजनों से पूर्ण थाली उनके सम्मुख परोसी रहती है, फिर भी वे अपने अन्दर शान्ति का अनुभव नहीं करते। वे अपने अन्दर एक अभाव, एक रिक्तता, कसक और उद्विग्नता महसूस करते हैं। रहने को वे इन्द्र की तरह रहते हैं, खाने को बहुमूल्य पदार्थों का भोग लगाते हैं, पहनने को रेशम और स्वर्ण पहनते हैं, लेकिन अन्दर से एक निरीह दुखिया की तरह, सजे हुए निर्जीव शरीर की तरह अनुभव करते हैं, जबकि प्रशमनिष्ठ व्यक्ति अल्पतम साधनों, सीधे-सादे भोजन और रहन-सहन में सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं, वे कभी क्षुब्ध या उद्विग्न नहीं होते। परन्तु व्यक्ति में जब परोपकार के, दान-पुण्य के अनेक कार्य करने पर भी प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा की लालसा रहती है, तब वह हर समय इसी ताक में रहता है कि कोई व्यक्ति मेरे से आगे बाजी न मार जाय, किसी दूसरे की अधिक प्रशंसा या प्रसिद्धि न हो जाय। इस कारण वह ईर्ष्यालु भी बन जाता है, अहंकार तो उसके मानस में छाया ही रहता है। इस प्रकार के दुर्गुण उसे सदैव अशान्त बनाये रखते हैं, वह प्रशम प्राप्त नहीं कर पाता।

एक उदाहरण द्वारा मैं दोनों तरह के चित्र स्पष्ट कर देता हूँ—

महावृष देश के अधिपति जनश्रुति राजा बड़े ही दानी, त्यागी, सत्यवादी, प्रजावत्सल, धीर-वीर थे। उनका यह नित्य नियम था कि कई सौ दुधारु पशु, प्रचुर अन्न, वस्त्र, स्वर्णमुद्राएँ आदि दान करके ही वे भोजन ग्रहण करते थे। दानशीलता में उस युग में उनकी जोड़ का कोई राजा नहीं था।

यह सब कुछ था, पर राजा के चित्त में प्रशमभाव नहीं था, बड़े से बड़ा दान देकर भी उन्हें आत्मसन्तुष्टि एवं शान्ति नहीं मिल पाती थी। वे यही सोचते रहते—'मैं असंख्य नर-नारियों को प्रतिदिन अतुल दान दिया करता हूँ, मेरे समान कोई अन्य दयालु, उदार तथा दानशील शासक नहीं।' और यही भावना उस समय चिन्ता का कारण बन जाती, जब उन्हें यह भावना होने लगती कि कहीं कोई अन्य व्यक्ति मुझसे अधिक दानशील या दयालु तो नहीं है? उनका अहं यहाँ तक ही सीमित न रहता, वह ईर्ष्या का रूप धारण कर लेता था। इससे वे बेचैन रहते थे, सदा मानसिक शान्ति से वंचित रहते।

एक दिन जनश्रुतिनृप अपनी प्रजा की वास्तविक स्थिति का परिचय पाने हेतु राज्य में वेश बदलकर भ्रमण कर रहे थे, तभी उनके पास से दो व्यक्ति यों बात करते हुए निकले।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक कह रहा था—"राजा जनश्रुति के राज्य में हम कितने सुखी हैं ! किसी प्रकार की चिन्ता या अभाव हमें नहीं। योग्य शासक के रूप में तीनों लोकों में उनकी ख्याति फैल रही है। उनकी दानशीलता का कोई पार नहीं है।"

तभी दूसरा व्यक्ति बोला—"हाँ भाई ! बात तो तुम्हारी ठीक है, पर सहस्रों व्यक्तियों को सुख समृद्धि देने वाला यह नररत्न स्वयं आत्मिक शान्ति से वंचित है, जो संसार की सबसे बड़ी उपलब्धि है। उससे तो वह अकिंचन गाड़ी वाला रैक्व कहीं श्रेष्ठ है, जिसने लौकिक एवं लोकोत्तर शान्ति भी प्राप्त कर ली है। उसका पुण्य जनश्रुति से कहीं अधिक है।"

जनश्रुति ने जब यह सुना तो उसका अहं उसी क्षण बर्फ की भाँति गलने लगा, विवेक झकझोरने लगा, हृदय में अपने प्रति हीन-भावना समा गई और आत्मा तड़प उठी उस अकिंचन गाड़ी वाले रैक्व से मिलने के लिए।

राजा में अहंभाव तथा आत्म-प्रशंसा की दुर्बलता होते हुए भी ज्ञानपिपासा प्रबल थी। भृत्यों को आदेश दिया—"उस रैक्व गाड़ी वाले महात्मा का पता लगाकर आओ।" रैक्व की तलाश की गई। भृत्यों ने उसे ढूँढ़ लिया। राजा को सूचित कर दिया। वह ६०० दुधारु गायें, सैकड़ों अश्वों सहित रथ, असंख्य स्वर्णमुद्राएँ तथा प्रचुर मात्रा में अन्य बहुमूल्य सामग्री लेकर रैक्व के निवास स्थान पर पहुँचे। राजा ने जब रैक्व को प्रणाम किया तो उन्होंने शुभाशीर्वादपूर्ण मंगल वचन कहे। पर राजा ने जब यह कहा कि यह तुच्छ भेंट आपके लिए लाया हूँ, इसे स्वीकार करके कृतार्थ करें; तब रैक्व ने मन्दहास्य के साथ कहा—"राजन् ! आप आध्यात्मिक ज्ञान-पिपासा शान्त करने हेतु यहाँ आये हैं, तब इन सब वस्तुओं की क्या आवश्यकता थी? मैं क्या करूँगा इन्हें लेकर ? मेरी कुटिया तो बहुत छोटी है। ये सब चीजें तो महलों में ही शोभा देती हैं। आपका आना भर पर्याप्त होता। जब इन वस्तुओं की सार-हीनता का बोध हो जाय, तब चले आना। जो कुछ भी मेरे पास है, वह सब आप जैसे जिज्ञासुओं के लिए है।"

जनश्रुति हतप्रभ होकर लौट आये। आज आँखों में नींद नहीं थी। रैक्व ने वे सब वस्तुएँ स्वीकार न कीं, इससे उनके प्रति राजा की श्रद्धा गाढ़ हो चुकी थी। चौथे पहर में थोड़ी-सी नींद आई। बन्दीजन जब प्रातः जागरणगान करने आये तब राजा भौतिक जगत् से दूर आत्मभवन में रम रहे थे। उनके हृदय में महात्मा रैक्व से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा थी, इसलिए बिना कुछ खाये-पिये ही वे महात्मा रैक्व के पास पहुँचे। आज साथ में न दल-बल था, न भेंट-चढ़ावा। आज थी मुखमुद्रा पर गम्भीरता, हृदय में ज्ञानपिपासा और नयनों में दर्शन-लालसा। रैक्व तो राजा को देखते ही प्रसन्न हो उठे। सादर बिठाकर कहा—"राजन् ! आज आपने आत्मिक शान्ति का राजमार्ग पा लिया है।"

राजा कुछ क्षण मौन रहकर बोले—"अभी कहाँ पाया है, भगवन् ! आपके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुग्रह के बिना कैसे प्राप्त होगा ? अभी तक का जीवन निरर्थक गया। अब आपकी कृपा हो जाय तो इस तप्त मानस पर शीतलता के कुछ छींटे पड़ें।"

रैक्व—"निरर्थक तो नहीं गया है, राजन् ! पर अभी तक आपने जो भी दान, पुण्य, प्रजा की सेवा या कार्य किये, वे सब प्रशंसा की भावना से किये और आपको उन परोपकार के कार्यों से यश, प्रशंसा एवं आदर मिला भी है।"

जनश्रुतिनृप की जिज्ञासा अब तीव्र हो उठी, कि मामूली-सा गाड़ी वाला महात्मा रैक्व, इतना बड़ा ज्ञानी एवं दार्शनिक है। अतः प्रश्न किया—"इतना सब कुछ करके भी आत्मा को शान्ति अभी तक नहीं मिली। मुझे आत्म-शान्ति, तृप्ति और सन्तुष्टि चाहिए, उसके लिए मैं राज्य-भोग, सुख-सुविधाएँ आदि सब कुछ छोड़ने को तैयार हूँ।"

मन्द-मन्द मुस्कराते हुए रैक्व ने कहा—"अधीर न हों, नृपवर ! आपको राज्य या सुख के साधन आदि कुछ भी छोड़ने की आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है, इन सबके प्रति जो आसक्ति का भाव है, उसे छोड़ने की। राज्य करिये—पर अपने आपको सेवक समझकर, सुख-साधनों का उपभोग करिये, पर यह सोचते हुए कि ये मेरे शरीर की सुरक्षा के लिए हैं, जिस पर सम्पूर्ण देश की सुरक्षा का भार है; दान भी खूब करिये—यह सोचकर कि ये सब वस्तुएँ आपको मिली हैं, दीन-दुःखी, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों तक पहुँचाने के लिए, जो उनके सच्चे अधिकारी हैं। अपने आपको कर्ता न मानकर केवल माध्यम मान लें। आत्म-शान्ति और कहीं नहीं, आत्मा में ही छिपी होती है, राजन् ! उसे जागृतभर करने की देर है। बस, जो इस तथ्य को जान-देख लेता है, वही द्रष्टा है। आत्मा अनन्त शक्तियों का असीम भण्डार है।"

जनश्रुति इस ज्ञानामृत का चातक की तरह पान कर गये। फिर प्रणाम करके अपने निवास स्थान को लौटे। आज उन्हें ऐसा लग रहा था कि मानो सिर पर रखा हुआ बोझ हट गया है। तत्त्वज्ञानी रैक्व का एक-एक शब्द स्मृतिपटल पर शिलालेख की भाँति उत्कीर्ण हो गया था। अन्धकार में भटकते राजा को एक साधनहीन महान् तत्त्वज्ञ रैक्व से प्रकाश मिल गया था। जनश्रुति के जीवन में उस दिन से जो परिवर्तन आया, उसे लोगों ने खुली आँखों से देखा। अब वे अहर्निश अभेद्य शान्ति एवं प्रशम-रस का पान करने लगे।

वास्तव में आत्मशान्तिनिष्ठ प्रशम-साधक का जीवन जनश्रुति की तरह आत्मतृप्त हो जाता है, वह दान, पुण्य, परोपकार आदि के जो भी कार्य करता है, फलनिरपेक्ष होकर कर्तव्य-भावना से करता है।

उच्चकोटि का प्रशमनिष्ठ साधक

इससे भी आगे बढ़कर, प्रशमनिष्ठ साधक आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना को लेकर चलता है। जैसा कि उच्च कोटि के प्रशमनिष्ठ का लक्षण **ज्ञानसार अष्टक** में बताया गया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं ब्रह्मांशेन समं जगत् ।
आत्माऽभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षंगमी शमी ॥२॥

अर्थात्—प्रशमनिष्ठ साधक जगत के जीवों की कर्मवैषम्य के कारण जो विषमता या भिन्नता है, उसे नहीं चाहता, इसी कारण वह चैतन्य की दृष्टि से विश्व की समस्त आत्माओं को अभेदभाव से देखता है। इसलिए वह प्रशमनिष्ठ साधक मोक्षगामी होता है।

अरुरुक्षुर्मुनिर्योगं श्रयन् बाह्यक्रियामपि ।
योगारूढः शमादेव, शुद्ध्यत्यन्तर्गतक्रियः ॥३॥

योगारोहण करने का इच्छुक मुनि बाह्य-क्रिया करता हुआ तथा अन्तर्गत क्रिया करता हुआ योगारूढ़ मुनि प्रशम (विषय-कषाय का शमन) से ही शुद्ध (पवित्रात्मा) हो जाता है।

ज्ञानध्यानतपःशीलसम्यक्त्वसहितोऽप्यहो ।
तं नाप्नोति गुणं साधुर्यमाप्नोति शमान्वितः ॥५॥

अहो, ज्ञान, ध्यान, तप, शील, सम्यग्दर्शन से युक्त साधु भी उस गुण को नहीं प्राप्त कर पाता, जिसे एक प्रशमयुक्त व्यक्ति प्रशम से प्राप्त कर लेता है।

शमसूक्तसुधासिक्तं येषां नक्तंदिनं मनः ।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते रागोरगविषोर्मिभिः ॥७॥

जिनका मन शमसूक्तरूपी अमृत से रात-दिन सींचा रहता है, वे कदापि राग-द्वेष रूपी सर्प के विष की ऊर्मियों से नहीं जलते।

वास्तव में प्रशमनिष्ठ साधक की शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे प्रशम के समक्ष सारे संसार का राज्य भी तुच्छ प्रतीत होता है। उसके सामने चाहे जितने प्रलोभन हों, भय हों, आकर्षण हों, वह अपने प्रशम-पथ से कदापि च्युत नहीं होगा।

प्रशमनिष्ठ की परीक्षा : समाधियोग से

प्रशमनिष्ठ व्यक्ति की परीक्षा भी कई बार होती है। प्रशमनिष्ठ की उत्तीर्णता का मापदण्ड समाधियोग है। अगर प्रशमनिष्ठ व्यक्ति समाधियोग में टिका रहता है, समाधियोग से विचलित नहीं होता, तो समझना चाहिए कि वह अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण है।

प्रशम-साधक व्यक्ति का मन जब शुद्धोपयोग या शुभोपयोग में एकाग्र एवं एकरूप हो जाता है, तब समझना चाहिए कि वह समाधियोग में स्थित हो गया है। समाधियोग का अर्थ स्याद्वादमंजरी में बहुत ही उचित किया गया है—

स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणं समाधिः,
बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"स्व-स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है, और बाह्य तथा आभ्यन्तर जल्प (वचनोच्चारण) के त्याग-स्वरूप योग है।"

समाधियोग में स्थित प्रशम-साधक बाहर से वाणी का प्रयोग बन्द कर देता है, वैसे ही अन्दर से चिन्तन बन्द कर देता है, और एकमात्र स्व-स्वरूप में, शुद्धोपयोग में या उत्तम परिणामों में चित्त को स्थिर कर देता है, उस अवस्था में ध्येय और ध्याता दोनों का एकीकरणरूप समरसीभाव (तादाम्य) हो जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा वीतरागभाव से वह चिन्तन करता है।

प्रशम-साधक जब अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है तभी उसका प्रशम शोभायमान होता है। महर्षि गौतम ने इसी उद्देश्य से इस जीवनसूत्र में बताया है कि प्रशम की शोभा, उसकी चमक-दमक समाधियोग में है। जब समाधियोग प्रशम-साधक के जीवन में आ जाता है तो उसका प्रशम सोलह कलाओं से खिल उठता है।

समाधियोग आ जाने पर प्रशम-साधक अपने प्रशम में इतना अचल-अटल हो जाता है, कि चाहे मरणान्तक उपसर्ग (कष्ट) आ जाए, जीवन की बाजी लगानी पड़े, ऐसा विकट संकट आ जाए, तब भी वह अपने प्रशम से नहीं डिगता। एक प्राचीन उदाहरण लीजिए।

सुव्रत ने ज्योंही यौवनवय में पदार्पण किया, उसके जीवन ने नया मोड़ लिया। एक त्याग-वैराग्यसम्पन्न प्रशममूर्ति मुनिवर का उपदेश सुना और उसे अशान्ति के सागर में डूबे हुए संसार से विरक्ति हो गई। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह अपने माता-पिता से अनुमति प्राप्त करके प्रशमरस-सिन्धु में अवगाहन कराने वाली भागवती दीक्षा अंगीकार करेगा।

वह सुदर्शनपुर निवासी सुभाग गृहपति का पुत्र था। उसकी माता का नाम सुजसा था। दोनों निष्ठावान श्रावकव्रतधारी थे। इसलिए बचपन से ही सुव्रत को माता-पिता से धार्मिक संस्कार मिले थे। अब साधु बन जाने के बाद थोड़े ही वर्षों में उसकी प्रशम-साधना चमक उठी। वह गीतार्थ तो हो ही गया था। समतावान् भी इतना हो गया कि वह प्रत्येक प्रवृत्ति समत्व की दिशा में ही करता था। उसके गुरुदेव ने उसके धैर्य, गाम्भीर्य, समत्व एवं प्रशम की उत्कट साधना देखकर उसे एकल विहार प्रतिमा अंगीकार करने की अनुमति दे दी। उसकी समाधियोगयुक्त प्रशमनिष्ठा देखकर देवताओं की परिषद में सौधर्मेन्द्र ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की कि "सुव्रत मुनि को कोई भी समाधियोग से विचलित नहीं कर सकता।"

यह सुनकर दो देवों ने इस बात पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने सुव्रत मुनि की परीक्षा लेने की ठानी। उन्होंने पहले तो अनुकूल उपसर्ग किये।

एक देव विप्र वेष में उनके पास आकर बोला—"धन्य है सुव्रत अनगार आपको! अपने कौमार्यवय में ब्रह्मचर्यपूर्वक दीक्षा अंगीकार की, विवाह न किया।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा देव कहने लगा—"अरे ! इसकी तुम प्रशंसा करते हो, यह प्रशंसनीय नहीं है। इसने तो सन्तान-परम्परा बन्द करके कुल का उच्छेद कर दिया। अतः मेरी दृष्टि में अधन्य है यह !"

यह सुनकर भी मुनि अपनी मनःसमाधि से जरा भी विचलित न हुए, समाधि योग में स्थिर रहे।

फिर देवता ने सुव्रत मुनि के माता-पिता को विषयासक्त होकर कामक्रीड़ा करते हुए दिखाया, फिर भी मुनि समाधियोग में अटल रहे। फिर देवता उनके माता-पिता को मारने-पीटने लगे, माता-पिता करुण स्वर से रुदन करने लगे, तब भी मुनि सुव्रत समाधि में अटल रहे। तत्पश्चात् उन देवों ने वैक्रियशक्ति से एक देवांगना उनके सामने प्रस्तुत की, जो हावभाव करती और अंग मटकाती हुई उनको काम-विकार की दृष्टि से देखने लगी, दीर्घनिःश्वास फेंककर मुनि का आलिंगन करने लगी, इतने पर भी मुनि का एक रोम भी काम-विकारवश न हुआ, वे अपने समाधियोग में अविचल रहे। यों समाधि में अचल-अटल रहने से मुनि सुव्रत को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उनकी अविचलता देखकर दोनों देव प्रसन्न होकर उनकी स्तुति और नमस्कार करके चले गये। सुव्रत मुनि क्रमशः मोक्ष में जा पहुँचे।

समाधियोग का महत्त्व और उसके अर्थ

यह है समाधियोग द्वारा प्रशमनिष्ठा की परीक्षा और उसमें सुव्रत मुनि की उत्तीर्णता का चमत्कार ! वास्तव में समाधियोग में स्थिरता से ही प्रशमनिष्ठा की परीक्षा होती है और साधक का प्रशम खरे सोने के समान चमक उठता है। इससे एक बात यह भी फलित होती है कि प्रशम जब उत्कृष्ट दशा में पहुँच जाता है, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये रत्नत्रय पूर्ण निर्मल हो जाते हैं। वह वीतरागता के निकट जा पहुँचता है। इसीलिए एक आचार्य ने समाधि का अर्थ किया है—

सम्यग् मोक्षमार्गावस्थानं समाधिः।

—मोक्षमार्ग में सम्यक् प्रकार से टिके रहना समाधि है।

वस्तुतः देखा जाये तो संकल्प-विकल्पों पर विजय पाये बिना स्वस्थता नहीं होती और स्वस्थता के बिना प्रशम (शान्ति) नहीं आ सकता। इसलिए चित्त के स्वास्थ्य को, अनाकुलता को, उपसर्गों की विभीषिका के दौरान अव्याकुलता को कुछ आचार्यों ने समाधि कहा है।

संस्कृत काव्य में भी समाधि का विवेचन इस प्रकार मिलता है—

"जहाँ जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य होकर समस्त द्वन्द्वों (विकल्पों) का क्षय हो जाता है, पानी और नमक की भाँति जहाँ आत्मा और शुद्ध मन की एक-रूपता हो जाती है, दोनों में समरूपता हो जाती है, वही समाधि कहलाती है।"

इस प्रकार जब मन, वचन और काया तीनों की प्रवृत्तियाँ आत्मा में अन्तर्लीन हो जाती हैं, तभी समाधियोग कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्धुओ ! समाधियोग का इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि इसके कारण प्रशम-साधक के मन में उठने वाले सभी प्रश्न स्वयमेव समाहित हो जाते हैं, आत्मा निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प एवं निर्विकार हो जाती है। परन्तु समाधियोग की यह उत्कृष्ट दशा है। सम्यग्दर्शन के गुणस्थान से प्रारम्भ होकर यह प्रशमनिष्ठा ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर परिपक्व होती है।

आप भी प्रशम-साधना प्रारम्भ कीजिये और समाधियोग के द्वारा अपना आत्मविकास उत्तरोत्तर बढ़ाइये और इस पद को प्रतिपल स्मरण कीजिए—

'समाहिजोगो पसमस्स सोहा'

समाधियोग ही प्रशम की शोभा है, यही उत्तुंग प्रशम मन्दिर का स्वर्ण कलश है।

□□

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५१

चारित्र की शोभा : ज्ञान और सुध्यान—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको ऐसे जीवन से परिचित कराना चाहता हूँ, जो आत्मा को मोक्षगति में ले जाने वाला है, परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कराने वाला है, वह जीवन है—ज्ञान-ध्यान से सुशोभित चारित्रमय जीवन ।

महर्षि गौतम चारित्रमय जीवन को तभी उत्कृष्ट, उपादेय और यशस्वी मानते हैं, जब उसके साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ध्यान हो । वरना कोरा चारित्रमय जीवन उतना अच्छा और कर्मों से मुक्त कराने वाला नहीं हो सकता । क्यों और कैसे ? इसका रहस्य मैं आपके समक्ष खोलने का प्रयत्न करूँगा । महर्षि गौतम ने गौतम-कुलक में इकतालीसवाँ जीवनसूत्र संक्षेप में इस प्रकार बता दिया है—

'नाणं सुझाणं चरणस्स सोहा ।'

'चारित्र की शोभा ज्ञान और सुध्यान है ।'

चारित्र और उसका महत्त्व

चारित्र मानव-जीवन के निर्माण एवं मोक्ष-प्राप्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है । इसके बिना कोरा ज्ञान वन्ध्य है, वह कुछ भी नहीं कर सकता । इसीलिए इसे मोक्षमार्ग का प्रधान अंग माना गया है ।

शुद्ध और व्यापक धर्म के अंगों—अहिंसा आदि के स्वरूप का अच्छी तरह ज्ञान होने और उन पर विश्वास कर लेने मात्र से ही काम नहीं चलता । समाज और जगत् की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति तब तक धार्मिक, धर्मात्मा और विश्वासपात्र नहीं कहला सकता, जब तक उसके जीवन में धर्म के तत्त्वों का सम्यक् प्रकार से आचरण—सम्यक्चारित्र का पालन न हो । स्पष्ट शब्दों में यों कहा जा सकता है कि सम्यक्-चारित्र शुद्ध धर्म (अहिंसादि) को समाज और जगत् के समक्ष व्यक्तरूप में प्रकट करने, धर्माचरण के प्रति लोकश्रद्धा जमाने और धर्मपालन में आने वाली कठिनाइयों और समस्याओं को हल करते हुए व्यवहार में सुदृढ़तापूर्वक धर्म को आचरित करके बताने हेतु अनिवार्य है ।

सम्यक्चारित्र के बिना धर्म की शक्ति की प्रतीति जनता को नहीं होती । उसके बिना धर्म जनजीवन में और स्वजीवन में उतरता नहीं । इसलिए सम्यक्-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र को अपनाये बिना धर्म पंगु है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा है—'चारित्तं खु धम्मो' धर्म वास्तव में चारित्र ही है।

यद्यपि शास्त्र में श्रुतधर्म और चारित्रधर्म, ये दो भेद बताकर श्रुतधर्म को भी धर्म का प्रकार माना है। परन्तु श्रुतधर्म में शास्त्रों द्वारा या श्रुतज्ञान द्वारा धर्म का ज्ञान प्राप्त करना और उस पर श्रद्धा करना होता है। अतः वह सब मानसिक है, अव्यक्त है, धर्म का व्यक्त रूप नहीं। व्यक्त रूप तो चारित्र ही है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि कोई व्यक्ति शास्त्रों का बहुत ही स्वाध्याय करता हो, जिन-वचनों और वीतरागप्ररूपित तत्त्वों पर श्रद्धा रखता हो, लेकिन उनके बताये हुए धर्म को आचरण में न लाता हो, यहाँ तक कि धर्म के विपरीत आचरण करता हो, दुर्व्यसनों में लिपटा हो तो उसका ज्ञान और दर्शन किस काम का? उसका श्रुत-धर्म भी आचरण में लाये बिना—चारित्र-पालन के बिना—निष्फल है। आखिर धर्म को जीवन में उतारे बिना सम्यक्चारित्र के माध्यम से उसका पालन किये बिना व्यक्ति धर्मपालन का सुफल भी कैसे प्राप्त कर सकता है?

अग्नि को जान लेने पर कि यह रोटी सेक देती है, ठण्ड मिटा देती है, इस प्रकार का विश्वास कर लेने मात्र से वह अपना फल नहीं दे देती है। अर्थात्—वह आग रोटी नहीं सेक देती और न ही ठण्ड मिटा देती है। अग्नि का सक्रिय उपयोग करने वाला व्यक्ति ही अग्नि से इस प्रकार का फल प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार धर्म का या साधना का सुफल भी साधक तभी प्राप्त कर सकता है, जब उस धर्म का आचरण करे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का पालन करे। धर्म का सम्यक् प्रकार से आचरण करना ही सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र को स्वीकार करने पर ही धर्मसाधना का श्रीगणेश होता है। शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो सम्यक्दृष्टि का गुणस्थान चौथा है, जबकि सम्यक्-दर्शन के साथ स्थूल देशचारित्र का ग्रहण करने पर देशविरति नामक पंचम गुणस्थान प्राप्त होता है। भले ही वह पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ साधक चारित्राचारित्री हो, किन्तु यह तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि सम्यग्दृष्टि के गुणस्थान से सम्यक्-चारित्री का गुणस्थान ऊँचा है। अतः साधना—आत्मविकास की साधना की दृष्टि से चारित्र का अपनाना आवश्यक है। सम्यक्चारित्र को अपनाये बिना कोई भी साधक उच्च गुणस्थान पर आरूढ़ नहीं हो सकता। जितने भी वीतराग या केवलज्ञानी हुए हैं, वे सम्यक्चारित्र को अपनाने पर ही हुए हैं। मरुदेवी माता या भरत चक्रवर्ती आदि, जिन्होंने व्यवहारचारित्र के बाह्य अंगों का भले ही स्वीकार न किया हो, स्वरूपरमणरूप निश्चयचारित्र तो इनमें अनिवार्य रूप से आ ही गया था। इसलिए वीतरागता या कर्मक्षय के लिए सम्यक्चारित्र स्वीकार करना जरूरी है।

एक यात्री है, उसे मार्ग की जानकारी है और यह विश्वास भी है कि यही मार्ग अहमदनगर को जाता है, किन्तु क्या इतने मात्र से वह यात्री अहमदनगर पहुँच

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता है ? कदापि नहीं। जब तक वह यात्री अहमदनगर जाने के लिए कदम नहीं उठाएगा, गति नहीं करेगा या गतिशील रेल-मोटर में बैठेगा नहीं, तब तक वह अहमदनगर नहीं पहुँच सकेगा। ठीक इसी प्रकार मोक्ष का यात्री मोक्षमार्ग की जानकारी प्राप्त कर ले, मोक्षमार्ग के प्रति श्रद्धा भी कर ले, लेकिन मोक्षपुर पहुँचने के लिए सम्यक्चारित्र—धर्माचरण या धर्मक्रिया में गति न करे—आचरण न करे, तब तक वह मोक्षपुर कैसे पहुँच सकेगा ? यही बात एक आचार्य ने कही है—

क्रियाविरहितं हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकम्।
गतिं विना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम्॥

—हा ! क्रिया (चारित्र) से रहित कोरा ज्ञान निरर्थक है। मार्ग का जानकार होने पर भी जब तक वह पैरों से गमन नहीं करता, तब तक अभीष्ट नगर को नहीं पहुँच सकता।

चारित्र ज्ञानरूपी भोजन के लिए विटामिन (पोषकतत्त्व) है। ज्ञानरूपी भोजन में चारित्ररूपी विटामिन न हो तो वह ज्ञान न तो शरीर को पुष्ट करेगा और न ही पचेगा। बल्कि ज्ञान के अहंकार के रूप में ज्ञान का अजीर्ण हो जाएगा। किसी व्यक्ति को षट्द्रव्यों, नौ तत्त्वों या आत्मा का गहन ज्ञान है, वह भगवती सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र के गूढ़ रहस्यों को खोल सकता है, समयसार का पुर्जा-पुर्जा खोलकर उसकी व्याख्या कर सकता है, लेकिन उसने जीवन में अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का स्वीकार नहीं किया है, वह असत्य बोलता है, व्यापार-धन्धे में बेईमानी करता है, ब्याज और गिरवी के धन्धे में मानवों का शोषण करता है, तो उसका वह ज्ञान विटामिनरहित भोजन जैसा या औंधे घड़े पर गिरे हुए पानी जैसा है, वह उसे क्या लाभ पहुँचा सकता है ? ज्ञान का लाभ तो उसे तभी मिल सकता है, जब वह सम्यक्चारित्र को अपनाकर सत्य-अहिंसादि धर्म का पालन करे। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

सुबहुं पि अहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स।

सम्यक्चारित्र से विहीन व्यक्ति को अनेक शास्त्रों का किया हुआ अध्ययन क्या लाभ पहुँचा सकता है ? उसकी आत्मा की वह सुरक्षा नहीं कर सकता और न ही कर्मक्षय कर सकता है। बल्कि आचरणहीन कोरा शास्त्रों का ज्ञान गधे की पीठ पर लदे हुए चन्दन के गट्ठर के समान केवल भारवहन मात्र है। वह शास्त्र-ज्ञान केवल उसके मस्तिष्क में बोझ रूप है।

इसलिए सम्यक्चारित्र की महत्ता से कथमपि इन्कार नहीं किया जा सकता। चारित्र सम्यक् तभी होता है, जब उसके साथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो, तथापि सम्यक्चारित्र को अपनाये बिना मोक्षसाधक के लिए कोई चारा नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र क्या है ?

इसी प्रसंग में चारित्र का अर्थ भी समझ लेना जरूरी है। चारित्र के अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो रूप हैं—निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र। साधक के जीवन में दोनों का होना आवश्यक है। निश्चयचारित्र का लक्षण है—

'स्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावाद्धर्मः।'

'स्वरूप में—यानी अपने में, ज्ञानादि स्वभाव में निरन्तर चरण—रमण करना चारित्र है। इसका अर्थ है—स्वसमय में प्रवृत्ति करना। यही वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होने से धर्म है।

व्यवहारचारित्र का लक्षण रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रकार किया गया है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥

'हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच महापापों की प्रणालियों से विरत होना चारित्र है।

एक आचार्य ने व्यवहारचारित्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

"असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।"

'अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र समझो।' अथवा

'चरति याति तेनो हितप्राप्तिम् अहितनिवारणं चेति चारित्रम्।'

'जिससे साधक हित को प्राप्त करता है और अहित का निवारण करता है, उसे भी चारित्र कहते हैं।

एक परिभाषा के अनुसार चारित्र उसे भी कहते हैं—जो आठ कर्मों को चरता है, भक्षण कर जाता है। या कर्मों का चय (संचय) जिससे रिक्त (खाली) हो जाता है, उसे भी चारित्र कहते हैं।

जो भी हो, चारित्र के इन लक्षणों पर विचार करने से एक बात तो अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि धन, सत्ता, स्वास्थ्य आदि सबकी अपेक्षा चारित्र का उच्च स्थान है। भारतीय जनजीवन में धन और सत्ता की परवाह न करके चारित्र की रक्षा की जाती थी। राजा-महाराजा या बड़े से बड़े सम्राट, धनकुबेर या चक्रवर्ती भी चारित्रवान् के चरणों में मस्तक झुकाते और उनसे जीवन की प्रेरणा लेते थे।

सेठ सुदर्शन ने भय और प्रलोभनों में न फँसकर अपने चारित्र को सुरक्षित रखा था, क्योंकि वे चारित्र को जीवन का अमूल्य धन समझते थे। धन चला जाय, स्वास्थ्य चला जाय अथवा और कोई साधन चला जाय तो कालान्तर में फिर भी आ सकता है, लेकिन चारित्र नष्ट हो जाय तो फिर पाना कठिन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नमि राजर्षि दीक्षा लेने की और उच्च चारित्र अंगीकार करने की तैयारी कर रहे थे, उसी दौरान इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर उनकी परीक्षा लेने हेतु आता है। वह उन्हें राजसत्ता, धन तथा सुख-सामग्री आदि के अनेक प्रलोभन देता है, लेकिन नमिराजर्षि अपने उच्च चारित्र ग्रहण करने के संकल्प पर दृढ़ रहे, इन्द्र को उन्होंने अकाट्य युक्तियों और तर्कों द्वारा अपनी बात समझाकर निरुत्तर कर दिया।

वास्तव में भारतीय संस्कृति में चारित्र के कारण ही व्यक्ति पूजनीय, वन्दनीय माना जाता था। जहाँ चारित्र नहीं होता, वहाँ बड़े से बड़े सत्ताधारी या शास्त्रज्ञानी को भारतीयों ने पूज्य नहीं माना। कोरा ज्ञान या कोरा दर्शन तार नहीं सकता, चारित्र ही तार सकता है। सम्यक्चारित्र ही मानव-जीवन की अमूल्य सम्पत्ति है, जिसे पाकर वह जन्म-जन्मान्तर के कर्मावरणों को नष्ट करके आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, निरंजन बना सकता है। आइए, अब हम विचार करें कि ऐसे महत्वपूर्ण चारित्र की शोभा किसमें है ?

चारित्र की शोभा : कब, क्यों और किसमें ?

आप मारवाड़ी सद्गृहस्थ हैं। मैं आपसे एक प्रश्न पूछ लूं—यदि कोई व्यक्ति सिर पर तो पगड़ी बाँध ले, किन्तु धोती और कमीज न पहने तो क्या, उसके सिर पर बाँधी हुई कोरी पगड़ी शोभा देगी ? आप कहेंगे नहीं। क्योंकि आप जानते हैं कि जिसके शरीर पर धोती और कमीज न हो और केवल पगड़ी बाँध लेगा तो सभ्य समाज में वह हँसी का पात्र समझा जायेगा, लोग उसे मूर्ख और पागल समझेंगे। ठीक इसी प्रकार चारित्र के नाम पर कुछ धर्मक्रियाएँ तो अपना ले, जो पगड़ी के समान हैं, किन्तु उसके साथ ज्ञानरूपी धोती या अधोवस्त्र न हो, और न ही ध्यानरूपी कमीज हो तो क्या उसकी कोरी चारित्ररूपी पगड़ी शोभा देगी ? क्या वह हास्यास्पद नहीं माना जाएगा ?

परन्तु आज धार्मिक जगत में यह धांधली बहुत चल रही है। लोग क्रिया-काण्डों को तो बहुत महत्त्व देने लगे हैं, परन्तु उनके साथ ज्ञान और सुध्यान की जरूरत नहीं समझते। वे यह नहीं समझते कि अमुक धर्मक्रिया क्यों की जाती है ? वह चारित्र की रक्षा के लिए आवश्यक है या नहीं ? अथवा रूढ़ि के तौर पर ही उसका पालन किया जाता है ? चारित्र का आचरण किस प्रकार करना चाहिए ? इस प्रकार के ज्ञान और उस ज्ञान को सुदृढ़ करने और आचरण में प्रेरित करने के लिए सुध्यान की वे कोई जरूरत नहीं समझते। फल यह होता है कि वे चारित्र के नाम पर बिना समझे-बूझे क्रियाओं की अंधी दौड़ लगाते रहते हैं, पर अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर पाते। चारित्र का जो वास्तविक फल—मोक्ष-प्राप्ति या कर्मक्षय है, उससे वे वंचित रह जाते हैं। वर्षों तक क्रियाकाण्ड करने पर भी वे जब कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाते और साधना के नाम पर कुछ भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि अमृत के सागर में गये अवश्य लेकिन वहाँ से मोतियों के बदले कंकर ही उठा लाए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक घटना है। लाहौर छोड़ने के पश्चात वे एक दिन मस्ती की दशा में हृषीकेश से आगे गंगा के किनारे घूम रहे थे। उस समय एक योगी उन्हें मिला। स्वामीजी ने उससे पूछा—"बाबा! आप कितने वर्ष से संन्यासी हैं?"

योगी ने कहा—"कोई चालीस वर्ष हो गये।"

स्वामी रामतीर्थ ने पूछा—"इतने वर्षों में आपने क्या कुछ प्राप्त किया?"

योगी ने बड़े गर्व से कहा—"इस गंगा को देखते हो? मैं चाहूँ तो इसके पानी पर उसी प्रकार चलकर दूसरे पार जा सकता हूँ, जिस प्रकार कोई शुष्क भूमि पर चलता है।"

स्वामी राम ने कहा—"उस पार से वापस भी आ सकते हैं, आप?"

योगी बोला—"हाँ, वापस भी आ सकता हूँ।"

स्वामी राम—"इसके अतिरिक्त कुछ और?"

योगी ने कहा—"यह सिद्धि भी कोई कम है?"

स्वामी राम ने मुस्कराते हुए कहा—"यह तो बहुत छोटी-सी बात है, बाबा! चालीस वर्ष आपने इसके पाने में खो दिये। नदी पर नौका भी चलती है। दो आने इधर से उस पार जाने के और दो आने उस पार से इस पार आने के लगते हैं। चालीस वर्ष में आपने वह प्राप्त किया, जो किसी को चार आने खर्च करके प्राप्त हो सकता है। आप अमृत सिन्धु समान चारित्र (धर्माचरण) में गये अवश्य, लेकिन मुक्ताफल लाने के बदले लाये कंकर ही बटोर कर।"

ज्ञान और सुध्यान के अभाव में चारित्र की दशा

ज्ञान और सुध्यान के बिना चारित्र के नाम पर भौतिक उपलब्धियों की आकांक्षा से कुछ कामनामूलक क्रियाएँ करने वालों की यह बोलती हुई कहानी है। अगर उस योगी में अपने संन्यासी जीवन के धर्माचरण (चारित्र) के साथ सम्यग्ज्ञान और सुध्यान होता तो वह भौतिक सिद्धियों के चक्कर में न पड़कर मोक्षाभिमुखी साधना करता। किन्तु अज्ञान और कुध्यान चारित्र की निर्मल (कामनारहित) साधना से हटाकर भौतिक चमत्कारों के लिए किये गये क्रियाकाण्डों की ओर ही प्रेरित करते हैं। सम्यग्ज्ञान और सुध्यान का अभाव चारित्र को सुशोभित करने के बदले दूषित कर देता है।

जिन साधकों के जीवन में ज्ञान और सुध्यान नहीं होता, वे प्रायः दूसरों का अन्धानुकरण करके बिना सोचे-समझे अमुक वेश, अमुक क्रियाओं, तथा अमुक व्यवहारों को ही शुद्ध चारित्र मानकर चलते हैं, वे तब तक अपने इस पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ते, जब तक वे किसी उलझन में नहीं पड़ते और कोई सम्यग्ज्ञान-ध्यानपूर्वक सच्चारित्र का पालक अनुभवी साधक उन्हें सच्चा मार्ग बताकर उनकी उलझन को सुलझा नहीं देता। मुझे एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मद्रास के एक धनाढ्य पति-पत्नी तीर्थयात्रा करने के लिए पंढरपुर पहुँचे। वे वहाँ एक धर्मशाला में ठहरे। उनके पास के कमरे में ही एक महाराष्ट्रीयन परिवार ठहरा हुआ था। एक दिन एकादशी के पारणे के अवसर पर मराठी परिवार ने भोजन में पूरणपोली बनायी। मद्रासी परिवार को भी उन्होंने भोजन के लिए आमन्त्रित किया। उन्हें महाराष्ट्र की पूरणपोली बहुत अच्छी लगी। अतः मद्रासी बहन ने महाराष्ट्रीयन बाई से पूरणपोली बनाना सीख लिया। पंढरपुर से अन्य कई तीर्थस्थानों में भ्रमण करते हुए वे मद्रास पहुँचे।

कुछ दिनों बाद मद्रासी सेठ की पत्नी ने एक दिन अपने पति से कहा—

"स्वामिन ! कल लगभग अपने सौ इष्टमित्रों को भोजन के लिए आमन्त्रित कर लीजिए। मैं उन सबको महाराष्ट्रीयन पूरणपोली बनाकर खिलाऊँगी।"

पति ने कहा—"तुम पहले पूरणपोली बनाने की दो-चार बार प्रेक्टिस कर लो, ताकि मेहमानों के आने पर कोई गड़बड़ न हो।"

पत्नी बोली—"इसमें गड़बड़ क्या होगी ? पूरणपोली बनाना तो मैं सीख ही आई हूँ।"

पति महोदय ने पत्नी की बात पर विश्वास करके दूसरे दिन लगभग १०० मित्रों को भोजन का आमन्त्रण दे दिया। पत्नी ने पूरण तैयार किया आटा भी गूँथ कर उसका पिंड बना लिया। पूरणपोली तो गर्म-गर्म परोसी जाती है। अतः मेहमानों के लिए थालियाँ और बाजोट लगा दिये गये। परन्तु पूरणपोली बनाने के प्रारम्भ में ही मद्रासी बाई विचार में पड़ गई—'आटे में पूरण डालूँ या पूरण में आटा ?' काफी देर तक वह इसी पशोपेश में पड़ी रही। फिर उसे याद आया कि 'पूरणपोली बनाते समय महाराष्ट्रीयन बाई तो सफेद साड़ी पहने हुई थी, मैं तो लाल साड़ी पहने हूँ।' अतः चट् से उसने सफेद साड़ी सहन ली, फिर भी पूरणपोली नहीं बनी; तब उसे याद आया कि 'अरे ! उस बाई ने तो गहने नहीं पहने हुए थे, मैं तो गहने पहने हूँ।' इस पर उसने सब गहने उतार डाले। मगर पूरणपोली अब भी नहीं बनी। कुछ देर बाद उसे स्मरण हो आया कि 'उस बाई के सिर पर तो केश नहीं थे, मेरे सिर पर तो घने केश हैं।' उसे यह पता नहीं था कि महाराष्ट्र की महिलाएँ विधवा होने के बाद सिर मुड़वा लेती हैं। इस प्रथा से अनभिज्ञ मद्रासी बाई ने पति को बुलाकर कहा—"मेरे केश कटवा दीजिए, ताकि पूरणपोली बन जाय।"

पति महोदय चिन्ता में पड़ गये कि अब क्या किया जाय ? केश कटाने का पूरणपोली बनाने से क्या ताल्लुक है ?, केश कटवाने पर भी वह न बनी तो क्या होगा ? सहसा उसे याद आया कि पड़ौस में ही एक मराठी बाई रहती है, उसे क्यों न बुला लिया जाय। महाराष्ट्रीयन बहन आई और उसने पूछा—"क्या बात है ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मद्रासी बहन ने कहा—"इतना सब कर लेने पर भी पूरणपोली नहीं बन रही है, इसलिए तुम्हें याद किया गया है।" उसने मुस्कराते हुए कहा—"वाह ! तुम भी खूब हो। पूरणपोली बनाने के लिए न तो अमुक पोशाक पहनने की जरूरत है, और न ही गहने व कपड़े उतारने की। इसके लिए तो सर्वप्रथम बनाने की विधि के ज्ञान की, फिर अमुक साधनों को जुटाकर उन्हें क्रियान्वित करने की जरूरत है। लाओ, मैं इन सब मेहमानों के लिए पूरणपोली बना देती हूँ।" उसने मद्रासी दम्पति के देखते ही देखते झटपट पूरणपोली बना दी। अब तो मद्रासी दम्पति को समझ में आ गया कि पूरणपोली बनाने के लिए अज्ञान और गलत समझ के कारण कितने उलटे-सुलटे उपाय अजमा लिये गये थे।

बन्धुओ ! इससे आप समझ गये होंगे कि चारित्र को सुशोभित एवं उज्ज्वल करने के लिए न तो अमुक वेशभूषा की जरूरत है, और न ही अटपटे क्रियाकाण्डों की, अपितु सुज्ञान और सुध्यान की आवश्यकता है, जिससे साधक यह जान सके कि यह क्रिया क्यों और किस लिए है ? मुक्ति-प्राप्ति में यह क्रिया कहाँ तक सहायक है ? चारित्र के कौन-कौन से अंग हैं ? उन्हें जीवन में कैसे उतारा जा सकता है ? चारित्र के साथ दोष (अतिचार) कैसे प्रविष्ट हो जाते हैं, उनके निवारणोपाय कौन-कौन-से हैं ? साथ ही चारित्र के साथ सतत् यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि चारित्र-पालन में कहीं कोई गलती तो नहीं हो रही है ? शक्ति होते हुए भी चारित्र के अमुक अंग का पालन करने में मैं देरी या टालमटूल क्यों कर रहा हूँ ? इस लापरवाही से मैं ध्येय से कितना दूर जा पड़ूंगा ? ध्येय-प्राप्ति के लिए इसी एक ही में सारा चिन्तन और सारी शक्ति लगाकर प्राणप्रण से क्यों नहीं जुट जाता ? निष्कर्ष यह है कि चारित्र तभी चमकता है, तभी ध्येय की ओर द्रुतगति के प्रयाण करता है, जब उसके साथ ज्ञान का प्रकाश हो, और सुध्यान की सतत प्रेरणा और सावधानी हो।

साधनामय जीवन के लिए ज्ञान-ध्यान और चारित्र आवश्यक

बड़े-बड़े यन्त्रों को ठीक ढंग से चलाने और उत्पादन बढ़ाने के लिए इंजीनियर को उसके चलाने का तथा उसके साधनों का ज्ञान तथा सावधानी एवं चलाने की अन्तःप्रेरणा नितान्त आवश्यक होती है। अन्यथा, कोई अनाड़ी व्यक्ति, जिसे उसके कल-पुर्जों का कोई ज्ञान नहीं है, तथा उसके कलपुर्जों को भलीभाँति स्मूदली (smoothly) चलने के लिए किन-किन चीजों को देना चाहिए ? इसकी जानकारी नहीं है, अगर वह मशीन को अंधाधुन्ध चलाता ही जायगा, कौन-सा पुर्जा बिगड़ गया है ? कौन-सा पुर्जा नया डालना है ? इत्यादि सावधानी या ध्यान नहीं रखेगा। तो ऐसी स्थिति में मशीन के चलाने का क्या नतीजा आएगा ? वह शीघ्र ही टूट जायगी, बिगड़ जायगी, और चलती-चलती ठप्प हो जायगी।

यही हाल साधनामय जिन्दगी में चारित्ररूप मशीन का है, उसमें अंधाधुन्ध क्रियाएँ की जाएँगी, उसकी क्रिया की विधि या उपयोगिता का बिलकुल ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होगा, न उससे जीवन बन रहा है या बिगड़ रहा है? आत्मा का विकास या हित हो रहा है या नहीं? इसका ध्यान नहीं रखा जायगा तो साधनामय जिन्दगी की चारित्ररूपी मशीन भी ठप्प हो जाएगी, अभीष्ट फल न दे सकेगी। इसलिए साधनामय जिन्दगी में चारित्ररूपी मशीन को बिगड़ने या ठप्प होने से बचाने के लिए ज्ञान और सुध्यान का होना अत्यावश्यक है।

साधना-सुन्दरी की चारित्ररूपी माँग सुहागसिंदूर से तभी सुशोभित हो सकती है, जब ज्ञानरूपी सुहाग के कंगन हों और ध्यानरूपी सुहागबिंदी हो।

जीवन का स्वस्थ और सुन्दर ढंग से निर्माण के लिए केवल शरीर ही काफी नहीं होता। ठीक है, मनुष्य शरीर से विविध क्रियाएँ करता है, परन्तु उसमें शरीर का संचालन ठीक ढंग से करने का ज्ञान न हो, तथा उसके बनने-बिगड़ने का ध्यान न हो तो स्वस्थ जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए भी शरीर के साथ बुद्धि और हृदय की जरूरत है। शरीर चारित्र है, बुद्धि ज्ञान है और हृदय ध्यान है। शरीर द्वारा साध्य चारित्र है, बुद्धि द्वारा साध्य ज्ञान है और हृदय द्वारा साध्य ध्यान है। शरीर के द्वारा होने वाली क्रियाओं के साथ सुबुद्धि-साध्य सम्यग्ज्ञान न हो, तथा शुद्ध हृदय-साध्य सम्यग्ध्यान न हो तो शरीर-साध्य चारित्र सुचारित्र नहीं रहता, वह साधक को मोक्षपथ की ओर ले जाने के बजाय अज्ञान और लापरवाही के कारण उत्पथ की ओर ले जाता है और सांसारिक सिद्धियों की भूलभुलैया में या अन्धविश्वास के गर्त में डाल देता हैं। अतः आध्यात्मिक जीवन तभी मोक्ष प्रासाद पर आरूढ़ होता है, जब ज्ञान एवं सुध्यान को साथ लेकर चारित्र गति-प्रगति करता है।

ज्ञान और सुध्यान के बिना साधक चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है

स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के धर्म बताये गये हैं, जो परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं—

तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते तं जहा—सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए।
जया सुअहिज्जियं भवइ, तया सुज्झाइयं भवइ।
जया सुज्झाइयं भवइ, तया सुतवस्सियं भवइ।
से सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए सुयक्खाएणं भगवया धम्मे पण्णत्ते।

भगवान ने तीन प्रकार का धर्म प्ररूपित किया है, जैसे कि—सु-अधीत (सम्यग्ज्ञात) सु-ध्यात एवं सुतपस्यित (सम्यक् आचरित)।

जब धर्म भलीभाँति अध्ययन (ज्ञात) कर लिया जाता है, तब वह सुध्यात (सम्यक्रूप से उसका ध्यान) कर लिया जाता है।

जब वह सम्यक् ध्यात हो जाता है, तब वह सुतपस्यित (भलीभाँति आचरित) होता है।

इस प्रकार सु-अधीत, सुध्यात और सु-तुपस्यित धर्म की भगवान ने प्ररूपणा की है, यही स्वाख्यात धर्म है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष है कि चारित्रधर्म पूर्ण तभी होता है, जब अध्ययन द्वारा उसका सम्यग् ज्ञान होता है, फिर उसका ध्यान (चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षण) होता है। बिना ज्ञान और ध्यान के चारित्रधर्म सुदृढ़, पूर्ण, सफल, बद्धमूल संस्कारबद्ध एवं कृतकार्य नहीं होता।

कामविजेता मुनि स्थूलभद्र कोशा वेश्या के यहाँ शृंगारपूर्ण कामोत्तेजक वातावरण में रहकर भी अपने चारित्र (ब्रह्मचर्य) में दृढ़ रह सके, जरा भी न चूके, उसका क्या कारण था? यही था कि उनके चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान (ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य के वस्तुतत्त्व का ज्ञान) एवं सम्यग्ध्यान (उस पर चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षण एवं उत्साहपूर्वक अभ्यास के लिए प्रेरणा) था। यदि सुज्ञान और सुध्यान न होते तो चारित्र लिये हुए स्थूलभद्र मुनि कभी के फिसल गये होते। उनकी स्खलना को रोकने में न उसका वेष काम आता और न ही क्रियाकाण्ड? इसका स्पष्ट प्रमाण है—मुनि स्थूलभद्र के गुरुभ्राता मुनि (जो कि ईर्ष्यावश कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास बिताने आये थे) का चारित्र से स्खलित होना। वे भी स्थूलभद्र मुनि की तरह चारित्र अंगीकार किये हुए थे, वेशभूषा भी साधु की थी और साधु के क्रियाकाण्ड भी वे करते थे। किन्तु उनके चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान और परिपक्व ध्यान नहीं थे। परिपक्व ज्ञान और सुध्यान के अभाव में वे चारित्र को पचा नहीं सके थे। उन्हें अपने चारित्र का—अपने ब्रह्मचर्य-साधना का गर्व था किन्तु कोशा वेश्या के यहाँ आते ही जब उसके यहाँ शृंगार एवं भोग-विलासपूर्ण कामोत्तेजक वातावरण देखा तो अपने चारित्र से एकदम विचलित हो गये, ब्रह्मचर्य-साधना से फिसल गये और रूपराशि कोशा से प्रणय-याचना करने लगे। कोशा अब वेश्या नहीं थी, वह कामविजेता स्थूलभद्र मुनि के सदुपदेश से तथा उनके त्याग-वैराग्यपूर्ण आचरण से प्रभावित होकर श्राविका बन गई थी। अतः उसने चारित्र-स्खलित मुनि को चारित्र में स्थिर करने हेतु कहा—"मेरे लिए नेपाल से रत्नकम्बल ले आएँ, तभी मैं आपकी अनुचरी बन सकती हूँ।" मुनि अपने साधु-वेष का तथा साधुमर्यादाओं का परित्याग करके नेपाल गए। वहाँ के राजा से याचना करके रत्नकम्बल लाये। परन्तु रास्ते में ही लुटेरों ने लूट ली वह कम्बल। अब क्या करें? पुनः वे नेपाल जाकर बाँस की नली में डालकर रत्नकम्बल लाये, और आते ही कोशा को भेंट दे दी।

कोशा ने उक्त मुनि के सामने ही कीचड़ से भरे पैर उस रत्नकम्बल से पोंछकर डाल दी।

मुनि ने कहा—"कोशा! यह क्या किया? अत्यन्त मुसीबतें सहकर तो मैं रत्नकम्बल लाया, और तूने इससे कीचड़ पोंछकर फेंक दी।"

कोशा ने बोध का उचित अवसर जानकर कहा—"आप भी अत्यन्त कष्ट सहकर वर्षों से उपार्जित चारित्ररूपी बहुमूल्य वस्त्र को विषय-वासना के कीचड़ में फेंकने जा रहे हैं। कुछ तो आपने फेंक दिया, रहा-सहा भी प्रणय-बन्धन में बँधकर फेंकने जा रहे हैं। आप सोचिए तो सही कि आप मेरे यहाँ किस उद्देश्य से चातुर्मास बिताने आये थे? वह उद्देश्य एवं साधुमर्यादाएँ सब आपने ताक में रख दीं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रभ्रष्ट मुनि कोशा की मर्मस्पर्शी वाणी सुनकर एकदम उद्‌बुद्ध हो गये। उन्हें अपने अयुक्त आचरण तथा चारित्रभ्रष्टता से ग्लानि और पश्चात्ताप होने लगा। कोशा से क्षमा माँगकर तथा अपनी भूल स्वीकार करके वे सीधे चल पड़े अपने गुरुदेव के पास प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने। स्थूलभद्र मुनि से भी ईर्ष्या के लिए क्षमा माँगी।

एक चारित्रवान् मुनि थोड़ा-सा निमित्त मिलते ही सहसा चारित्र से भ्रष्ट क्यों हो गया? क्यों हो जाता है? उसका कारण है—चारित्र के साथ परिपक्व सद्‌ज्ञान और सद्‌ध्यान नहीं थे। अगर उनके चारित्र के साथ ज्ञान और सुध्यान ओत-प्रोत होते तो वे कदापि अपने चारित्र से विचलित न होते, चाहे उनके सामने स्वर्ग की अप्सरा ही क्यों न खड़ी हो जाती।

चारित्र का पौधा बढ़ता है, ज्ञानजल एवं सुध्यानरूपी खाद से

कोई भी पौधा तब बढ़ता है या फलता-फूलता है, जब उसे पानी और खाद उचित मात्रा में मिलें। यदि ऐसी जमीन में बीज बोया जाए, जिसमें उर्वरा शक्ति न हो और खाद का अंश न मिला हो तो अच्छा बीज होते हुए भी वह उगेगा नहीं, इसी प्रकार जमीन में खाद आवश्यक मात्रा में डाला जाने पर भी उगे हुए पौधे को पानी न मिले तो भी वह संवर्धित नहीं हो सकेगा, मुरझाकर सूख जाएगा। इसी प्रकार चारित्र का पौधा ज्ञानरूपी पानी और सुध्यानरूपी खाद पाकर बढ़ता है। यदि दोनों में से एक की भी कमी रह जाये तो चारित्ररूपी पौधा अन्तरात्मा में संस्कारबद्ध, बद्धमूल और विकसित नहीं हो सकेगा। चारित्ररूपी पौधे को बद्धमूल और विकसित होने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी जल से बार-बार सींचना पड़ेगा, और सुध्यानरूपी खाद देना होगा, उसे शीघ्र संवर्धित एवं विकसित होने के लिए। जो ऐसा न करके केवल चारित्ररूपी पौधे को बढ़ाना चाहता है, उसका वह पौधा अन्तरात्मा के संस्कारों में बद्धमूल नहीं होता, फलतः बाह्य निमित्त (वैषयिक प्रलोभनों, या अहंता-ममता के कुसंस्कारों का) मिलते ही उसके चारित्र का वह पौधा शीघ्र ही कुम्हलाकर सूख जाता है, चारित्र का वह पौधा धराशायी हो जाता है।

ज्ञानरूपी जल और सुध्यानरूपी खाद के साथ चारित्ररूपी पौधा कैसे वृद्धिगत, सुदृढ़, संस्कारों में ओतप्रोत एवं बद्धमूल हो जाता है? इसके लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

युगप्रभावक जगद्‌गुरु श्री हीरविजयसूरिजी के बाद सम्राट अकबर को धर्मोपदेश सुनाने वालों में उपाध्याय श्री भानुचन्द्रजी और उनके शिष्य श्री सिद्धिचन्द्रजी (ये श्रमणयुगल) थे, जिन्होंने कविवर बाणभट्टरचित कादम्बरी (गद्यमय महाकथा) पर प्राञ्जल टीका लिखी थी। उपाध्याय श्री भानुचन्द्रजी को अकबर बादशाह को धर्मोपदेश देने बार-बार राजदरबार में जाना पड़ता था। उनके धर्मोपदेश से प्रभावित होकर बादशाह ने जीवदया एवं धर्म के अनेक कार्य किये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धिचन्द्र अभी बालकमुनि थे। उनका जैसा आकर्षक रूप था, वैसी ही उनकी तेजस्वी प्रखर बुद्धि थी। उनको अपने गुरुदेव के बार-बार बादशाह के पास जाने का कुतूहल होता था। बालसुलभ जिज्ञासा से वह कई बार अपने गुरुदेव से पूछा करते थे कि बादशाह कैसे हैं? वह कैसे-कैसे प्रश्न पूछते हैं? आप क्या उत्तर देते हैं? आदि। गुरुदेव से बादशाह के साथ हुई धर्मचर्चा सुन-सुनकर बालकमुनि सिद्धिचन्द्र की भी उनके साथ जाने की इच्छा होती थी। परन्तु उपाध्यायश्री सोचते थे कि अभी इसकी कच्ची उम्र है, इसके चारित्र का पौधा अभी बहुत ही छोटा और कोमल है, वह ज्ञान और ध्यान से परिपक्व न हो जाय, तब तक इसे राजदरबार में न ले जाना उचित है। वे इस खतरे से भली-भाँति परिचित थे कि राजदरबार की मोहिनी का जादू इसके अपरिपक्व मस्तिष्क में लग गया तो चारित्र (योग) साधना अधूरी रह जाएगी, भोगों में मन विह्वल हो जाएगा।

एक-दो वर्ष तक शास्त्रों एवं सिद्धान्तों का, तथा जैनदर्शन का गम्भीर अध्ययन कर लेने, साथ ही धर्मध्यान की साधना में प्रगति कर लेने के बाद एक दिन उपाध्यायश्री भानुचन्द्रजी अपने बालक शिष्य श्री सिद्धिचन्द्रजी को अपने साथ अकबर के राजमहल में ले गये। सम्राट अकबर तो चकित था, सौन्दर्य के अवतार इस बालकमुनि को त्यागमार्ग के उपासक तथा वैराग्यपथ के यात्री के रूप में देखकर! सम्राट बालकमुनि को टकटकी लगाकर देखता रहा, सोचने लगा—'वाह! कैसा गजब का रूप है। ऐसा रूप का अवतार तो राजदरबार में ही शोभा दे सकता है।' बादशाह ने अवसर देखकर सिद्धिचन्द्रजी से बात की तो काया की तरह उनकी तेजस्वी बुद्धि से प्रादुर्भूत वाणी से भी सौन्दर्य और माधुर्य का झरना बहने लगा। अकबर उनसे अत्यन्त प्रभावित, आकर्षित एवं मुग्ध हो उठा। गुरु-शिष्य जब राजमहल से विदा होने लगे तो सम्राट अकबर ने भानुचन्द्रजी से कहा—"महाराजश्री! अपने बालक-शिष्य को खूब पढ़ाना, यह महान विद्वान् बनेगा और अपना एवं गुरु का नाम रोशन करेगा। इन्हें जो भी अध्ययन कराना हो, उसका प्रबन्ध शाही दरबार से हो जाएगा। और आप मेरी बात मानें तो मेरे राजकुमार उस्तादों से पढ़ते हैं, उनके साथ ही आपके शिष्य पढ़ लें।"

गुरु ने बादशाह की बात मान ली। मुनि सिद्धिचन्द्रजी को मनचाहा अवसर मिल गया अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने का। राजकुमार सलीम आदि के साथ उन्होंने फारसी भाषा का प्रचुर ज्ञान अर्जित कर लिया। राजकुमार सलीम आदि का परिचय भी प्रगाढ़ हो गया। यद्यपि मुनि सिद्धिचन्द्रजी का सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का ज्ञान अब परिपक्व हो गया था, धर्म-ध्यान की साधना के दौरान वे अपनी प्रखर बुद्धि से उन पर चिन्तन, मनन और अनुप्रेक्षण भी करते थे, फिर भी उनकी अवस्था युवा थी, शारीरिक सौन्दर्य भी आकर्षक था, इसलिए गुरुदेव को चिन्ता थी कि त्यागमार्ग का पथिक शिष्य कहीं राजसम्पर्क से भोगमार्ग का राही न बन जाय। परन्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोती जैसा चमकीला था, वैसा ही आबदार निकला। राजपरिवार का परिचय सिद्धिचन्द्रमुनि के चारित्ररूपी पौधे को कुछ भी क्षति न पहुँचा सका। इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के कारण गुरु भानुचन्द्रजी हृदय से सन्तुष्ट थे।

सम्राट् अकबर के देहान्त के बाद सलीम 'जहाँगीर' नाम धारण करके सम्राट बना। उसके साथ सिद्धिचन्द्र का अकबर की अपेक्षा भी गाढ़ सम्पर्क था। ज्यों-ज्यों यौवन खिलता गया, त्यों-त्यों सौन्दर्य और पाण्डित्य भी विकसित होता गया। वेश वैरागी का, काया कामदेव की, वय यौवन की एवं आचरण साधु का था। जहाँगीर और नूरजहाँ दोनों इस युवक साधु को देखकर प्रसन्न होते और आश्चर्य में डूब जाते थे। पहचान वर्षों पुरानी होने पर भी विलासभोगी सम्राट उनके दिल को पहचान न सका। सौन्दर्यरसिक सम्राट का दिल किसी भी तरह न मानता था कि इस उम्र में भी कोई त्यागी, वैरागी और चारित्रधारक हो सकता है। उसकी आँखों में चारों ओर भोगवासना का ही प्रतिबिम्ब नजर आता था। परन्तु इस बालयोगी को न तो अपने सौन्दर्य का गर्व था, न सौन्दर्यभूषित देह का मोह था। वह देहासक्ति से ऊपर उठकर आत्मा को ज्ञानादि गुणों से विभूषित कर रहा था।

एक ओर था सौन्दर्योपासक सम्राट तो दूसरी ओर था चारित्रोपासक योगी। दोनों की दो राहें थीं, दोनों के स्थान भी पृथक्-पृथक् थे, एक का स्थान सिंहासन पर था, तो दूसरे का था सर्वाधार भूमि पर! पर दोनों की बाल-मैत्री थी। मगर आखिर तो सम्राट् भोगपरायण था, अतः अपनी दृष्टि से ही योगीराज का मूल्यांकन करता था। वह कभी-कभी अपनी बेगम नूरजहाँ से कहता—"देखो, इस योगी के रंग, न जाने इसे क्या सूझा? इतनी मनोहर सुकुमार काया को कष्ट की भट्टी में झोंक रहा है! ऐसी उम्र में और ऐसी सुन्दर काया में संयम, मुझे तो असम्भव लगता है। किसी भी उपाय से इसे देहदमन की राह से मोड़ना चाहिए। मेरा मन इसे देखकर बेचैन हो उठता है।"

दिन पर दिन बीतते जा रहे थे। सम्राट् योगी को जिस दिन नहीं देखता, उस दिन उदास हो उठता था। परन्तु यह योगी जब धर्मकथा सुनाकर विदा होता, उसके बाद सम्राट के हृदय में रह-रह कर ऐसे विचार उठा करते, उसके मन को उद्वेलित कर देते थे।

सम्राट् जहाँगीर जहाँ न्यायप्रिय था, वहाँ हठी और उतावला भी था। अपनी बात न मानने पर वह नाराज भी बहुत जल्दी हो जाता था। परन्तु सिद्धिचन्द्र मुनि के विषय में जो विचार उठते थे, सम्राट ने वे चिरकाल तक मन में ही संचित रखे।

एक दिन चिरसंचित विचार सम्राट के मन में उफन उठे। उस दिन के धर्मोपदेश से सम्राट् और बेगम दोनों ही खुश थे। जब वे जाने को तैयार हुए तो बादशाह ने सोचा—आज तो इन्हें मन की बात कह देनी चाहिए। अतः वे बोले—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"आज तो आपने कमाल ही कर दिया। पर जाने की इतनी उतावल क्यों है ? बात का ऐसा रंग तो कभी-कभी जमता है। कुछ देर और रुक जाइए।"

युवामुनि ने कहा—"बादशाह ! जिस समय जो कार्य करना है, उसे उसी समय कर लेना चाहिए। हमें अपने धर्मकार्य का हिसाब अपने मन के मालिक को देना होता है। प्रमाद करेंगे तो फर्ज चूक जाएंगे। उसमें भी हमारा मार्ग संयमी साधुजीवन का है। उसके लिए तो सदा जागृत रहना चाहिए; अन्यथा इसमें दोष प्रविष्ट होते देर नहीं लगती। आपसे फिर मिलेंगे ही, तो बात करेंगे। आज तो समय हो गया है।"

बादशाह खुश होकर रुकने की प्रार्थना करे और उसे इस प्रकार का रूखा उत्तर देकर ठुकरा दे, यह उसके लिए नया ही अनुभव था। मुनि के उत्तर से बादशाह को आघात-सा महसूस हुआ, मगर उसे आज अपनी बात कहे बिना चैन नहीं पड़ रही थी। और आक्रोशवश बात करने में आनन्द नहीं होता। अतः जरा चुप रहकर बादशाह ने मुनि से कहा—"आज आप से कुछ बात करने की इच्छा थी आपको कुछ देर भले होती हो, रुक जाएँ तो अच्छा रहेगा।"

मुनि बादशाह के दिल को नहीं समझे, फिर भी रुक गये। बादशाह ने बहुत संकोच के साथ पूछा—"भला आपकी उम्र कितनी होगी ?"

मुनि बोले—"पच्चीस वर्ष की।" उन्हें बादशाह के प्रश्न का रहस्य समझ में न आया।

बादशाह—"इस जवानी में ऐसे कठोर त्याग और संयम (चारित्र) को स्वीकार करने की आपको क्यों जरूरत पड़ी ? ये सब तो बुढ़ापे में शोभा देते हैं। यह समय तो भोग-विलास और मौज-शौक का है ! कुदरत ने आपको ऐसे सौन्दर्य और यौवन की देन दी है। इसका आनन्द लूट लें। जवानी जाने के बाद फिर लौट कर नहीं आएगी।"

मुनि को बादशाह की अजीबोगरीब बातें सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"शाहंशाह ! यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। किसी को भोग अच्छा लगता है, किसी को योग। अंततः सब कुछ मन की इच्छा पर निर्भर है। अच्छा मन मनुष्य को अच्छा बनाता है, खराब मन खराब ! हमने अपने उत्तम जीवन निर्माण के लिए यह चारित्र का पथ अपनाया है, फिर इसमें छोटी उम्र क्या और बड़ी उम्र क्या ? जब से जागे, तभी से सबेरा है।"

बादशाह ने मुनि की सारी बातों को काटते हुए संक्षेप में कहा—"हमें तो आपकी ये बातें बाहियात लगती हैं। जवानी को यों कुचल देने और काया को कुम्हला देने का क्या अर्थ है ? समय पर ही सब काम अच्छे होते हैं। भोगों की उम्र में आपका कष्टकर योग स्वीकार करना अकाल में आम पकाने की मुराद-सा लगता है। अतः यह सब छोड़-छाड़कर आप कुछ दिन जिन्दगी की मौज लूट लें। हमारी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इच्छा है कि आप अपना योग छोड़कर सदा के लिए हमारे साथ रहें। हम आपको वचन देते हैं कि बहिश्त की परी-सी सुन्दर स्त्री और मनचाही दौलत हम आपको देंगे। आपको किसी तरह की तकलीफ नहीं होने देंगे। जिंदगी की मौज लूटने में अभी कोई देर नहीं हुई है।"

युवक मुनि विचारने लगे—बादशाह को आज न मालूम आज क्या सूझी है। ऐसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं। मुनि ने मुस्कराते हुए कहा—"इस चारित्र-साधना में तकलीफ की तो कोई बात ही नहीं है। इस साधना में हमें तकलीफ महसूस होती तो इस योग को छोड़कर संसार के सुख-भोग में पड़ने से हमें कौन रोकता था? किसी ने जबरदस्ती हमें इस योग को लेने के लिए बाध्य नहीं किया। फिर क्या कष्ट है हमें? हमें तो इसमें आनन्द ही आनन्द है। फिर इस योग का त्याग करके दोनों ओर से भ्रष्ट होने की क्या जरूरत?"

मित्रो! बादशाह को जो कठिन लगता था, वह इस युवक मुनि को सरल और सहज लगता था। क्योंकि ज्ञान और सुध्यान के संयोग से चारित्र उनके रोम-रोम में रम गया था। परन्तु पकड़ी हुई बात को छोड़ने की आदत जहाँगीर में थी नहीं, इसलिए आदेश की भाषा में रौब से उसने कहा—"आपकी बात हमारी समझ में नहीं आती। आपको हमारी बात माननी ही पड़ेगी।"

सिद्धिचन्द्र मुनि अपनी बात पर दृढ़ थे। चारित्र के बद्धमूल संस्कारों को छोड़ना उनके लिए कतई सम्भव न था। अतः उन्होंने उतना ही कहा—"आपकी बात मानी जा सकने योग्य नहीं है। अगर आपको इस समय कोई योगी बनने को कहे तो क्या आप बन सकेंगे? वही बात मेरे लिए है कि मैं भोगी नहीं बन सकता।"

बादशाह के अहं को गहरी चोट पहुँची। सोचा—मेरी बात का ऐसा करारा जवाब? फिर भी वह गम खाकर रह गया। कहा—"अच्छा-अच्छा! आप हमारी बात पर ठण्डे दिल से विचार करना। इसका फैसला हम कल करेंगे।"

मुनि विदा हुए, मानो उनका मन कह रहा था—कल की बात कल! न जाने कल तक कितने परिवर्तन हो जाएँगे। योगी अपनी दृष्टि से सोच रहे थे, भोगी सम्राट् अपनी दृष्टि से। दोनों ही अपने मन की बात कल सच्ची सिद्ध करने के लिए अपने को तैयार कर रहे थे। दूसरे दिन जब मुनि मिले, तब बादशाह ने पूछा—"कहिए योगिराज! कल वाली मेरी बात पर आपने क्या सोचा?" बादशाह के सत्ता के नशे को चूर करते हुए मुनि ने कहा—"मेरा तो एक ही जवाब है, वही जो मैंने कल दिया था। अच्छा होगा, आप अपनी बात वापिस ले लें।"

बादशाह उत्तेजित होकर बोला—"आप एक बादशाह की बात मानने से इन्कार करते हैं।"

मुनि ने शान्ति से कहा—"इसमें आपकी बात से इन्कार का सवाल नहीं, सवाल तो अपने मन की बात के स्वीकार का है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बादशाह ने असहिष्णु होकर कहा—"आप अपनी बात रहने दें। आपको हमारी बात माननी ही पड़ेगी। हम राजा हैं। राजा प्रजा के हित की बात कहता है, वह प्रजा के हर-एक व्यक्ति को माननी ही पड़ती है।"

नूरजहाँ ने देखा कि बात हठ पर चढ़ गई है। अतः उसने मुनि को नम्रता से समझाते हुए कहा—"योगिराज ! इस समय आप बादशाह सलामत की बात मान लें। भोग की उम्र में योग में जिंदगी की बर्बादि न करें। समय पक जाने दें। फिर आपको योग के मार्ग पर जाने से कोई नहीं रोक सकेगा।"

मुनि बोले—"इस जिंदगी का क्या भरोसा ? क्या आप खुद नहीं जानतीं कि बल्ख के राजा ने जवानी में ही संयम मार्ग अंगीकार किया, फकीरी धारण कर ली थी। उम्र छोटी हो या बड़ी, इसका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व की बात है—मन की तैयारी। और ऐसी तैयारी तो छोटी उम्र में ही अच्छी हो सकती है। इसी उम्र में तैयारी करने से भोग-विलास में समय व शक्ति बर्बाद होने से रुक सकती है। आप अपनी बात छोड़ दें, मुझे अपने चारित्रपालन के मार्ग पर जाने दें। आपसे तो मुझे अपनी योग-साधना में मदद मिलनी चाहिए थी, जिसके बजाय आप मुझे रोक रहे हैं।"

बादशाह और बेगम दोनों समझ गये कि यह अपने विचारों में पक्के हैं। फिर भी बादशाह अपना हठ छोड़ने को तैयार न था। उसने गुस्से में आकर कहा—"हमारे हुक्म का अनादर करने का नतीजा तो आप जानते हैं न ?" युवक-मुनि ने दृढ़ता से उत्तर दिया—"मैं तो इतना ही जानता हूँ कि अपनी आत्मा की आज्ञा का उल्लंघन करने में जो नुकसान है, उसकी अपेक्षा आपके हुक्म को न मानने में कम नुकसान है।"

बादशाह ने तिरस्कारपूर्वक कहा—"आपका दुःखद भविष्य आपको भान भुला रहा मालूम होता है।"

मुनि ने शान्तभाव से कहा—"राजन् ! मुझे इसमें अपनी चारित्र (संयम) साधना की अग्निपरीक्षा होती लगती है। मेरे देव-गुरु मुझे इस परीक्षा से पार उतारें ! बाकी तो आपको मैं कैसे रोक सकता हूँ। पर इतना अवश्य याद रखें—आपकी आज्ञा के पालन से न तो मेरा ही भला है, न आपका और न दुनिया का।"

एक ओर चारित्रवान् साधु थे तो दूसरी ओर बादशाह। दोनों ही अपनी बात पर दृढ़ थे। राजहठ और योगीहठ को टक्कर थी। इसमें से चिनगारी निकलने की देर थी।

"बस, ठीक है, आप अपनी इस जिद का परिणाम भोगने के लिए तैयार रहें।" यों कहकर सम्राट् जहाँगीर ने अपने राजहस्ती को तुरन्त लाने का हुक्म दिया।

मौत का अवतार-सा मतवाला राजहस्ती सामने खड़ा है, उसे शराब पिला कर मदोन्मत्त बना दिया गया है, उसके ठीक सामने ही निर्भीक, शान्त व स्वस्थ युवक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुनि खड़े हैं। इन्हें न मृत्यु का भय है, न जीने का मोह है। योग आज सफल होता दिखता है इन्हें। वे अपने इष्टदेव के रटन में तल्लीन हैं। अन्तर् से नाद गूंज रहा है—

"चत्तारि सरणं पवज्जामि.....।"

पहाड़-सा हाथी चिंघाड़ रहा था। राजाज्ञा होने की देर थी, पलभर में योगी की मनोहर काया को चूर-चूर कर देता। योगी को चट्टान की तरह अडिग देख बादशाह ने सोचा—मेरी धमकी का अस्त्र व्यर्थ गया। मन में इन्सानियत जागी, जिसने मित्रसम योगी की हत्या से उसे उबार लिया। सम्राट् ने उच्च स्वर से कहा—"हाथी को वापस ले जाओ। और सुन लो, योगिराज ! हमारे राज्य से आपको देश-निकाला दिया जाता है, साथ ही आपके गुरु के सिवाय आपके धर्म के सभी साधु-मुमुक्षुओं को भी देशनिकाला दिया जाता है।"

मुनि सिद्धिचन्द्र जो चारित्र-साधना की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का सन्तोष अनुभव कर रहे थे, बोले—"मंजूर है।" और उन्होंने बादशाह जहाँगीर का राज्य छोड़कर मालपुर चौमासा किया। गृहत्यागी के लिए तो सारा संसार ही घर है। फिर चिन्ता किस बात की, सिर्फ एक ही खटक थी, जीवननिर्माता गुरु के वियोग की। गुरु भानुचन्द्रजी भी उत्तम साधक थे, निर्दोष शिष्य को स्वजनसम सम्राट् द्वारा दण्ड दिये जाने से वियोग का असह्य दुःख तो उन्हें भी था, पर वे संयम के ढक्कन से उसे ढके हुए थे। जहाँगीर को नियमित धर्मोपदेश सुनाते रहे। बादशाह को अपनी गलती पर पश्चात्ताप हुआ। एक दिन उन्होंने स्वतःस्फुरणा से मुनि सिद्धिचन्द्रजी को स-सम्मान अपने राज्य में पत्र देकर बुला लाने के लिए सेवक भेजे। गुरु-शिष्य पुनः मिले। राजा और योगी भी पुनः एक दूसरे के धर्म-मित्र बन गये।

बन्धुओ ! सिद्धिचन्द्र मुनि का चारित्ररूपी पौधा अगर ज्ञानरूपी जल से न सींचा जाता और ध्यानरूपी खाद से संवर्धित एवं पुष्ट न किया जाता तो वह उनके संस्कारों में बद्धमूल एवं सुदृढ़ न होता, और वे बादशाह के द्वारा ली गई चारित्र की अग्निपरीक्षा में कभी न टिक सकते थे, वे शीघ्र ही चारित्र से भ्रष्ट हो जाते, वर्षों से पालित-पोषित चारित्र को छोड़कर भोगमार्ग को अपना लेते।

यह उनके ज्ञान और सुध्यान का ही प्रभाव था कि आग में डाले जाने पर भी उनका चारित्र भस्म न हुआ, बल्कि कुन्दन की तरह चमक उठा।

मोक्षफल पाने के लिए चारित्र के साथ ज्ञान और सुध्यान का सहयोग आवश्यक

मोक्षफल प्राप्त करने के लिए चारित्र के साथ ज्ञान और सुध्यान दोनों आवश्यक हैं। शास्त्र में अन्धे और पंगु का एक उदाहरण आता है—राजा ने बगीचे की रखवाली के एक अन्धे और एक पंगु को रख दिया था। और उन्हें कह दिया था,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब तुम्हारी इच्छा हो, तब पके फल तोड़कर खा लेना। राजा ने सोचा कि अन्धा देख नहीं सकेगा और पंगु पेड़ पर चढ़ नहीं सकेगा, इसलिए दोनों ही फल न खा सकेंगे। जब बगीचे में फल पकने लगे, तो उनकी इच्छा हुई—फल खाने की। पर खायें कैसे? पंगु फल को देखता तो था, पर तोड़े कैसे? अन्धा फल तक पहुँच तो सकता था, पर फल कहाँ हैं, यह पता कैसे लगे? दोनों ही पशोपेश में थे, तभी एक प्रखरबुद्धि-वाला चिन्तनशील व्यक्ति आया। उन दोनों ने उसके सामने अपनी समस्या रखी। उसने लंगड़े से कहा—"तू चढ़ जा अन्धे के कंधों पर और अन्धा तेरे कहे अनुसार पके फल तक चल लेगा, बस तभी तू फल तोड़ लेना।"

इस चिन्तनशील व्यक्ति के द्वारा बताई गई युक्ति से दोनों ने काम लिया। मधुर फल तोड़े और खाये।

यह एक रूपक है। ज्ञानविहीन चारित्र अन्धा है, वह चल तो सकता है, पर मोक्ष-फल कैसे और कहाँ मिलेंगे, यह पता नहीं। चारित्र-विहीन ज्ञान पंगु है, वह मोक्षफल को जान देख सकता है, पर तोड़ कर प्राप्त नहीं कर सकता। ध्यान विहीन ज्ञान और चारित्र दोनों मोक्षफल पाने की युक्ति का चिन्तन नहीं कर पाते, न उत्साहित होते। अतः ध्यान जब ज्ञान और चारित्र को उपाय सुझाता है, उत्साहित और प्रेरित करता है, तभी ये दोनों कृतकार्य हो पाते हैं और मोक्षफल को पाने में सक्षम हो सकते हैं।

त्रिविध तापनाश के लिए तीनों आवश्यक

आप सब त्रिविधताप (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) से छुटकारा पाकर सुख-शान्ति एवं समाधि चाहते हैं। समाधि के लिए केवल चारित्र (क्रिया) से काम नहीं चलता, उसके साथ ज्ञान और सुध्यान दोनों का होना अनिवार्य है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यक्चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान और सुध्यानरूपी त्रिवेणी में स्नान कर लेने पर मनुष्य को शान्ति, पुष्टि और सन्तुष्टि हो सकती है।

भवरोग निवारणार्थ चारित्र के साथ ज्ञान एवं सुध्यान आवश्यक

मनुष्य बीमार होता है, तब वह अपनी मर्जी से कोई भी दवा ले ले तो उसका क्या परिणाम आता है? वह रोगी खतरे में पड़ जायेगा, कभी-कभी तो एक रोग की दवा दूसरे रोग के निवारणार्थ ले लेने से रोगी मृत्यु के मुख में पहुँच जाता है। इस लिए रोग का निवारण करने से पहले रोगी अगर स्वयं नहीं जानता तो चिकित्सक से पहले शरीर की जाँच करवाकर रोग का निदान कराया जाता है, तत्पश्चात् रोगी को दवा देने के साथ पथ्य, परहेज आदि सावधानी रखने तथा इस दवा से रोग बढ़ता है या घटता है, इसका ध्यान रखने की हिदायत तथा दवा नियमित लेने से रोग शीघ्र ही मिट जायेगा, इस प्रकार की उत्साहप्रद प्रेरणा दी जाती है। तभी उसका दवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेना और इलाज कराना सार्थक होता है और इतनी बातों का ध्यान देने से उसका रोग भी मिट जाता है। यही हाल भवभ्रमणरूप रोग का है।

संसार परिभ्रमण का रोगी बिना समझे-बूझे प्रत्येक क्रिया को चारित्र समझ कर करता जाये तो रोग का अन्त नहीं आयेगा। इसलिए वह स्वयं या गुरु आदि के उपदेश से स्वयं निदान करता है कि मेरे भवभ्रमण का रोग किन-किन कारणों से है? यह रोग क्यों है? कैसे उपायों के करने से मिटेगा? कौन-सी क्रियाएँ या व्रत, नियम, तप आदि इस रोग को मिटाने में आवश्यक हैं। इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर वह भवरोग निवारण की दवा लेने के साथ इस बात की सावधानी रखता है कि मुझे किन अतिचारों, दोषों, प्रमाद आदि से राग-द्वेष, कषाय, पापस्थान, विषय-वासना, आसक्ति आदि से बचना आवश्यक है। किनसे सावधान रहना चाहिए, तथा किस पथ्य का पालन करना चाहिए? इस प्रकार भव रोग एवं चिकित्सा के विषय के ज्ञान, पथ्य, हित आदि के ध्यान के साथ जब भवरोगी चारित्र का उत्साहपूर्वक पालन करता है, या धर्मक्रिया करता है तो वह भवभ्रमण रोग को अवश्य ही मिटायेगा।

आत्मा को प्रकाशमान करने के लिए

जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए सिर्फ अग्नि से उसे प्रज्वलित करने से काम नहीं चलता, उसके साथ दीपक में तेल और बत्ती भी आवश्यक होती है वैसे ही आत्मा को शुद्ध रूप में प्रकाशित करने के लिए सिर्फ चारित्र-दीप जलाने से काम नहीं चलता, उसके साथ ज्ञानरूपी तेल और ध्यानरूपी बत्ती की जरूरत है। तभी उस चारित्र से आत्मा सोलह कलाओं से प्रकाशित हो उठेगी। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—

'नाणं सुज्झाणं चरणस्स सोहा।'

ज्ञान और सुध्यान चारित्र के साथ क्या-क्या काम करते हैं? इनका क्या महत्त्व है? इनके क्या-क्या लक्षण हैं? आदि सब बातों पर मैं अगले प्रवचन में प्रकाश डालूंगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५२

चारित्र की शोभा : ज्ञान और सुध्यान—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने आपके समक्ष इकतालीसवें जीवनसूत्र पर प्रकाश डाला था और बताया था—चारित्र क्या है, उसका महत्त्व क्या है, ज्ञान और सुध्यान से उसकी शोभा क्यों है ? यह युगल न हो तो चारित्र क्यों अशोभनीय बन जाता है ? आदि। आज भी मैं इसी जीवनसूत्र के अवशिष्ट पहलुओं पर विश्लेषण करूँगा, ताकि चारित्रमय जीवन को आप सांगोपांग समझ सकें। वैसे तो यह विषय काफी गहन है, इसके विषय में पूर्ण-रूप से विवेचन करने के लिए कई दिन चाहिए, परन्तु समय की सीमा में रहकर ही मैं इस जीवनसूत्र के सभी पहलुओं की झाँकी आपको करा देना चाहता हूँ।

चारित्ररूपी नौका के नाविक में ज्ञान और सुध्यान न हो तो....

पिछले प्रवचन में मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि चारित्र की शोभा के लिए उसके साथ ज्ञान और सुध्यान दोनों क्यों आवश्यक हैं ? ज्ञान और सुध्यान के अभाव में अकेला चारित्र सुन्दर गति नहीं कर सकता, मोक्षमार्ग की ओर द्रुतगति से नहीं चल सकता। भवसागर को पार करने के लिए चारित्ररूपी नौका के साथ नौका चलाने का ज्ञान एवं उत्साही एवं बाहोश नाविक भी चाहिए। इसके बिना अकेली चारित्र नौका तैराने के बजाय भवसागर में डुबाने वाली बन जाती है। एक व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा इसे समझने का प्रयत्न करें—

एक भोले-भाले मनुष्य ने कई बार गुरुजनों के मुख से सुन रखा था कि नौका तैराती है, समुद्र पार करा देती है। उसे आज जलमार्ग से उस पार एक महानगर में व्यापारार्थ जाना था। अतः वह समुद्रतट पर आया। वहाँ एक विशाल नौका पड़ी थी। अतः नौका पड़ी देखकर वह उसमें बैठने लगा। आसपास खड़े समझदार लोगों ने कहा—"क्या आप नौका चलाना जानते हैं ? आपमें नौका चलाते समय आने वाले खतरों से सावधान रहने और उनको निवारण करने की शक्ति, एवं पुरुषार्थ का उत्साह है या नहीं ?"

उसने कहा—"मुझे क्या आवश्यकता है, दूसरी चीजों की ? नौका पड़ी है, जीवन भर तो सुनते आये हैं, नौका से समुद्र पार किया जा सकता है, नौका तैराने वाली है।" उसने किसी की न मानी और अकेले ही उसमें बैठकर नौका को खोल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिया। नौका चली। समुद्र में तूफान आया, पानी का बहाव तेज हो गया। नौका डगमगाने लगी। पर वह तो बिल्कुल अनभिज्ञ और असावधान नाविक था। कुछ दूर जाकर नौका उलट गई और अकुशल यात्री जल में डूब गया।

क्या आप बता सकते हैं, जो नौका तैराने वाली थी, वह डुबाने वाली कैसे बन गई? दो कारण मुख्य थे—एक तो नाविक को नौका चलाने का ज्ञान बिलकुल न था; दूसरा, खतरों से सावधान रहने एवं उनका निवारण करने की शक्ति, एवं उत्साह तथा चिन्तनयुक्त पुरुषार्थ करने की तमन्ना न थी।

यही बात भवसागर को पार करने वाली चारित्ररूपी नौका के सम्बन्ध में समझ लीजिए। आपने सुन रखा है, चारित्ररूपी नौका भवसागर से पार उतार देती है। वह तैराने वाली है। परन्तु यदि आप कुशल नाविक नहीं हैं, आप में नौका चलाने का ज्ञान नहीं है, और न ही खतरों से सावधान रहकर उनका निवारण करने की क्षमता है, न ही उत्साहपूर्वक चिन्तनयुक्त पुरुषार्थ करने की तमन्ना है तो वह चारित्र-नौका चलेगी अवश्य, किन्तु भवसागर में डुबाने वाली होगी। ज्ञान और सुध्यान के अभाव में उस नौका से आप संसार सागर से पार नहीं उतर सकते। यदि चारित्ररूपी नौका को संसार-समुद्र में डूबने से बचाना है तो उसके साथ सम्यग्-ज्ञान और सुध्यान का होना आवश्यक है।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने सदाचरण से पूर्व ज्ञान और सुध्यान को प्राप्त किया था। सदाचरण के साथ ज्ञान और सुध्यान न होता तो वे कदापि अपने मिशन में सफल न होते। केवल कुछ धार्मिक क्रियाओं के या रूढ़िगत आचरणों के होने से ही वे अपनी आत्मिक उत्क्रान्ति नहीं कर पाये; अपितु ज्ञान और सुध्यानपूर्वक विशुद्ध धर्माचरण से ही उनकी आत्मिक प्रगति हुई।

इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद साहब को इस्लाम धर्म के अनुसार विशुद्ध धर्माचरण करने से पहले दो तरह से ज्ञान मिला था—(१) इल्मेसफीना और (२) इल्मेसीना। अर्थात्—एक तो 'किताबी ज्ञान' और दूसरा 'हार्दिक ज्ञान'। पहला ज्ञान उन्होंने कुरानेशरीफ के रूप में पाया, जबकि दूसरा ज्ञान—ध्यान के रूप में। ज्ञान को सक्रिय आचरण में लाने के लिए आत्मिक शक्ति तथा गुणों के चिन्तन-मननरूप में हार्दिक ज्ञान प्राप्त हुआ। इस प्रकार ज्ञान के साथ सुध्यान (हार्दिक ज्ञान) होने से उनका शुद्ध धर्माचरण जीवन में सक्रिय हुआ, दूसरों को भी उनके धर्माचरण से लाभ हुआ।

मतलब यह है कि साधारण बुद्धि के ज्ञान से आगे की ओर जाने के लिए परमार्थ ज्ञान की आवश्यकता होती है, जो किताबों से या ग्रन्थों से नहीं मिलता, उसके लिए सुध्यान की आवश्यकता होती है। उसी से श्रेष्ठ तत्त्व की उपलब्धि होगी, हृदय स्वतः आलोकित हो उठेगा, आत्मा अपने 'स्व' के प्रकाश से प्रकाशित हो उठेगी, तब जो चारित्ररूप में धर्माचरण होगा, वह भौतिक जगत् से ऊपर उठकर सहज

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाव से स्वतः प्रेरित होगा। इसलिए सच्चारित्र में प्रगति के लिए सद्ज्ञान एवं परमार्थ ज्ञानरूप सुध्यान का होना आवश्यक है।

ज्ञान के साथ सुध्यान न हो तो....

कोई कह सकता है—माना कि चारित्र के साथ ज्ञान का होना आवश्यक है, परन्तु सुध्यान की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर मैं आपको एक व्यावहारिक दृष्टान्त देकर समझाता हूँ—

काशी में बारह वर्ष तक एक गुरुकुल में पढ़कर एक विद्वान शास्त्रज्ञ एवं सदाचारी पण्डित अपने गाँव की ओर रवाना हुआ। एक घोड़े पर अपनी पढ़ी हुई सारी पुस्तकें लादकर वह चल पड़ा। काफी लम्बा रास्ता पार करना था। अपने गाँव से थोड़ी ही दूरी पर एक छोटे-से गाँव में कुँए के पास धर्मशाला में विश्राम के लिए ठहरा। इस तिलकधारी नव-पठित पण्डित को देख ग्रामीण लोग बड़ी संख्या में इकट्ठे हो गये। पूछा—"कहाँ से आये हो? क्या पढ़े हो? शास्त्रार्थ भी कर सकते हो या नहीं?"

आगन्तुक पण्डित ने कहा—"मैं काशी में १२ वर्ष पढ़कर आया हूँ। शास्त्रज्ञ हूँ, शास्त्रार्थ भी कर सकता हूँ।"

ग्रामीण लोग अपने गाँव वाले पण्डित को बुला लाये। जड़ प्रकृति का ग्राम्य पण्डित जब सामने आया तो नवागन्तुक पण्डित ने उसे कुछ पूछने के लिए कहा। ग्राम्य पण्डित ने मध्यस्थ निर्णायक के लिए कहा तो ग्रामीण लोगों ने हाँ भर ली। शर्त यह हुई कि जो जीतेगा, वह हारने वाले की सब अच्छी चीजें ले लेगा।

सर्वप्रथम ग्रामीण पण्डित ने मूँछों पर ताव देकर प्रश्न किया—"तुम्बक तुम्बक तुम्बा है जी, तुम्बक तुम्बक तुम्बा है; कहिए इसका क्या तात्पर्य है?"

बेचारा नवपठित पण्डित पढ़ा तो बहुत था, लेकिन गुना नहीं था, चिन्तन-मनन करके व्यावहारिक अभ्यास नहीं किया था। तात्पर्य यह है कि ज्ञान तो था, पर ध्यान नहीं था इसलिए ग्रामीण पण्डित के प्रश्न को न समझ सका। चुप हो गया। जब काफी देर तक चुप रहा, तो ग्रामीण लोगों ने उसकी हार और अपने गाँव के पण्डित की जीत का फैसला कर दिया। पुस्तकों सहित उसका घोड़ा छीन लिया और अपमानित करके गाँव से निकाल दिया। जब वह अपने गाँव पहुँचा तो ग्रामवासी तथा पारिवारिक जन उसे ससम्मान अपने घर लाये, पर वह बिल्कुल हताश एवं उदास था। पिता के पूछने पर उसने सारी आप-बीती कह सुनाई।

उसके पिता ने कहा—"तू ज्ञान तो प्राप्त कर आया, सदाचारी भी बना, परन्तु ध्यान नहीं सीखा। देख, मैं जाता हूँ तेरी सब पुस्तकें और घोड़ा वगैरह वापस ले आऊँगा।"

नवपठित पण्डित का पिता बैल की पीठ पर कंडे आदि भरकर तिलक छापे लगाकर मोटी पगड़ी और सफेद धोती पहने उसी गाँव में पहुँचा। शास्त्रार्थ मध्यस्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं शर्त तय हो जाने पर उस गाँव के पण्डित ने वही प्रश्न प्रस्तुत किया—तुम्बक तुम्बक तुम्बा है जी।

आगन्तुक पण्डित ने उसके मुँह पर दो चाँटे जमाकर कहा—"मूर्ख कितने पाठ खा गया? आया है पण्डित बनकर शास्त्रार्थ करने!" ग्रामीण जनों ने आगन्तुक को जोरदार पण्डित समझकर पूछा—"महाराज! कौन-से पाठ भूल गये हमारे पण्डितजी?"

आगन्तुक पण्डित ने कहा—"सुनिये, पहले 'तुम्बक तुम्बक तुम्बा' कहाँ से होगा? पहले 'खेतस-खेतस खेता है जी, खेतस-खेतस खेता है', होगा। फिर 'मेहस-मेहस मेहा है जी, मेहस-मेहस मेहा है', होगा। तब 'बाहत-बाहत बाहा है जी, बाहत-बाहत बाहा है', होगा। इसके बाद 'उगत-उगत उगा है जी उगत-उगत उगा है' होगा। फिर होगा—'नालस-नालस नाला है जी, नालस-नालस नाला है'। इसके बाद होगा—'तुम्बक-तुम्बक तुम्बा है जी, तुम्बक-तुम्बक तुम्बा है।" यों कहते हुए ग्रामीण पण्डित के मुँह पर दो चाँटे जड़ दिये। सभी ग्रामीणों ने नवागन्तुक पण्डित की जय बुला दी। कहने लगे—"अरे! खेत, मेहं, बुवाई आदि के बिना तुम्बा कहाँ से हो जाएगा? सचमुच हमारा पण्डित ये पाठ खा गया।"

ग्रामीण पण्डित के यहाँ से घोड़ी, सारी पुस्तकें और कीमती सामान लेकर नवागन्तुक पण्डित झटपट वहाँ से चल दिया। गाँव पहुँचकर सारी शास्त्रार्थ-लीला अपने विद्वान एवं सदाचारी पुत्र को सुनाई। वह मुस्कराकर कहने लगा—"वास्तव में मेरे ज्ञान के साथ ध्यान नहीं था, इसलिए मैंने शास्त्रार्थ में मुँह की खाई।"

तात्पर्य यह है कि साधक के जीवन में चारित्र के साथ ज्ञान तो हो, पर सुध्यान न हो तो उसके चारित्र में स्फूर्ति और जान नहीं आती, उसका चारित्र तेजस्वी, प्रभावशाली एवं आकर्षक नहीं बनता, उसके चारित्र में ज्ञान के साथ सुध्यान के न होने से सावधानी, जागृति और अप्रमत्तता नहीं रहती, फलतः चारित्र में कई दोष एवं अशुद्धियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं।

ज्ञान के साथ सुध्यान के होने पर ही साधक में आत्मजागृति आ सकती है। चारित्र के किस अंग का कब और कैसे पालन करना है? चारित्र के उस अंग का पालन करने में कौन-कौन से खतरे उपस्थित हो सकते हैं? चारित्र के किस अंग का पालन करने में अभी मुझे जोर लगाना चाहिए? क्या अमुक प्रथा, क्रिया, परम्परा वास्तव में चारित्र-पालन के लिए सहायक है, चारित्र की सुरक्षक है, चारित्र को उज्ज्वल बनाने वाली है या सुशोभित करने वाली है, या केवल रूढ़िगत है, विकास घातक है या हानिकारक है? इत्यादि विशिष्ट बातों का ज्ञान पोथियों या शास्त्रों से नहीं हो सकता, यह तो सम्यक् ध्यान से ही हो सकता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष-पाहुड (गा० २३-१००) में कहा है कि—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"ध्यानाभ्यास के बिना बहुत-से शास्त्रों का पठन (तज्जनित ज्ञान) और नानाविध आचारों का पालन व्यर्थ है।"

ज्ञान से तो सिर्फ पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है। सांसारिक कार्यों के प्रति सुषुप्ति या विरक्ति का अभ्यास सुध्यान से ही हो सकता है, और तब जो धर्माचरण (चारित्र) होगा, वह रूढ़िगत, प्रदर्शन या कोरा व्यावहारिक नहीं होगा; वह होगा—ठोस, सहज एवं आत्म-स्फुरणागत। इसलिए ज्ञान के साथ सुध्यान आत्मजागृति का अंग है।

एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूं—

सुप्रसिद्ध योगी आनन्दघनजी के पास रसकुप्पी की शीशी लिये हुए एक संन्यासी आया और बोला—"इस रस की एक बूंद हजारों-लाखों मन लोहे को सोना बना सकती है। मैं इसे आपको भेंट देने के लिये लाया हूँ। लीजिये इसे।"

आनन्दघनजी ने पूछा—"पहले यह तो बताइये कि इसमें आत्मा है? आत्मा के विकास के लिए यह कितनी उपयोगी है? क्या इसके रस से आत्मा में निहित निज गुण, जिन पर आवरण आये हुए हैं, प्रगट हो जाएँगे?"

संन्यासी ने कहा—"अजी! आत्मा-वात्मा की क्या बात करते हैं आप। इस रसकुप्पिका में वह सिद्धरस है, जिससे सभी मनोकामनाएँ सिद्ध कर सकेंगे आप।"

आनन्दघनजी निःस्पृह अपरिग्रही साधु थे; उनके लिए मिट्टी और सोना बराबर थे। उनका **"समलोष्ठाश्म कांचनः"** का ज्ञान आज सुध्यान के चक्र पर चढ़ा। वे चिन्तन में डूब गये, क्या मतलब है अकिंचन चारित्रवान साधु को इस रस, से सोना बनाने से और जिस परिग्रह को छोड़ दिया है, उस परिग्रह में फंसने से? उन्होंने निःस्पृह संत के लहजे में ही कहा—"जिसमें आत्मा नहीं, आत्मविकास के लिए जो उपयोगी नहीं, जिसमें आत्मा पर आवृत कर्मजाल को हटाकर आत्मा के निज गुण प्रकट करने की शक्ति नहीं, बल्कि जिसके सम्पर्क से आत्मा परिग्रहासक्त बनकर कर्मजाल को और गाढ़ बना सकती है, वह चीज मेरे काम की नहीं।"

संन्यासी ने कहा—"मेरे गुरु बहुत बड़े पहुँचे हुए सिद्धपुरुष हैं। उनके जैसा और कोई योगी वर्तमान में नहीं है। मैंने उनकी सेवा करके आपके प्रति धर्मस्नेहवश आपके लिए ही यह दुर्लभ वस्तु प्राप्त की है। आप इसे लौटाइए मत। आप अपने काम में न लेना, किसी दुःखी भक्त का उद्धार इससे कर देना।"

निःस्पृह आनन्दघनजी ने सोचा—इसे आत्मशक्ति का अभी ज्ञान नहीं है, और ज्ञान है भी तो सिर्फ तोतारटन है, उसका अभ्यासपूर्वक ध्यान नहीं है। इसलिए उत्कृष्ट धर्माचरण के लिए संन्यासी का वेष लेने पर भी इसके चारित्र में दृढ़ता, उज्ज्वलता एवं स्थिरता नहीं हैं। इसी कारण यह इस भौतिक शक्ति को बहुत महत्वपूर्ण मान रहा है। इसे जरा आत्मशक्ति का चमत्कार बताना चाहिए। यह सोचकर उन्होंने रसकुप्पी अपने हाथ में ली और पास ही पड़े एक पत्थर पर पटक दी। कुप्पी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फूट गई। सारा रस बह गया। यह देखकर उस संन्यासी की आँखें क्रोध से लाल हो गयीं। वह कहने लगा—"अलभ्य स्वर्ण-निर्माणकारक रस का यह दुरुपयोग !"

योगी आनन्दघनजी ने मुस्कराते हुए शान्ति से कहा—"मित्र संन्यासी प्रवर ! यह जड़ रस ढुल गया, इसके लिए तुम अपना क्रोध प्रकट कर रहे हो, लेकिन अपना आत्मरस कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे ढुल रहा है ? इसका भी कोई विचार है, आपको ? आत्मरस के आगे इस जड़रस की कीमत कानी कौड़ी की भी नहीं है।"

संन्यासी ने कहा—"क्या आपके पास स्वर्ण-सर्जक सिद्धरस प्राप्त करने की शक्ति है ?"

योगी आनन्दघनजी—"आत्मा में अनन्त शक्ति है, संन्यासीवर ! आपको सिद्धरस चाहिए क्या ?"

संन्यासी के कहने से पहले ही योगी आनन्दघनजी ने पास ही पड़ी हुई एक पत्थर की चट्टान पर पेशाब किया। देखते-देखते ही वह सारी चट्टान सोने की बन गई। अब तो संन्यासी का क्रोध हवा हो गया। वह देख चुका आत्मशक्ति का प्रत्यक्ष चमत्कार ! इतनी महान् शक्ति ! और इतनी सरलता, विनम्रता और शक्ति का न अभिमान, न प्रदर्शन ! संन्यासी प्रभावित होकर आनन्दघनजी के चरणों में गिर पड़ा। कहने लगा—"धन्य है, आपकी आत्मजागृति को ! आपने अपने सद्भाव को सुध्यान के साँचे में ढाल कर पचाया है। इसी से आपका चारित्रबल उज्ज्वल है।"

यह है—ज्ञान के साथ सुध्यान होने पर चारित्र की उज्ज्वलता में वृद्धि का ज्वलन्त उदाहरण ! अगर योगीश्वर आनन्दघनजी के आत्मज्ञान के साथ सुध्यान न होता तो आत्मजागृति न रहती, और वे रसकुप्पी लेकर स्वर्णसिद्धि के मायाजाल में फँस जाते, उनका चारित्र भी दूषित होता और उसका ज्ञान भी केवल तोतारटन ही रहता।

सुध्यान-बल हो, तभी ज्ञान और चारित्र दोनों सक्रिय

प्राचीन काल के साधु और गृहस्थ दोनों रात्रि के नीरव एवं प्रशान्त वातावरण में धर्मजागरण के माध्यम से धर्मध्यान एवं कभी-कभी शुक्लध्यान किया करते थे। उसमें निरन्तर शुभ अथवा शुद्ध आत्मचिन्तन के माध्यम से अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को वे सक्रिय बनाने का प्रयत्न करते थे, अपनी अनावृत आत्मशक्तियों को ध्यानबल से जागृत और अनावृत करने और तदनुसार चारित्र में पराक्रम करने के लिए आत्मा को प्रोत्साहित और प्रेरित किया करते थे, कई दृढ़ संकल्प, शुभ अध्यवसाय इन्हीं क्षणों में होते थे। अगर वे इस प्रकार का सुध्यान न करते तो उनका ज्ञान केवल मस्तिष्क के कोष में बन्द रहता, उनका चारित्र केवल कुछ पारम्परिक क्रियाकाण्डों में सीमित और प्रदर्शन की वस्तु रह जाता। उनकी आत्मा में ध्यान के बिना कोरे ज्ञान से स्वरूपरमणरूप चारित्र का आचरण करने की शक्ति नहीं आती और न ही उनकी आत्मा में अनिर्वचनीय आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुर्बल साधक का मन जरा-सी शारीरिक पीड़ा, मानसिक चिन्ता अथवा इष्ट-वियोग या अनिष्ट संयोग में आकुल-व्याकुल हो जाता है, उस साधक में भी यह सैद्धान्तिक ज्ञान तो होता ही है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। कष्ट और पीड़ा आत्मा में नहीं होती, शरीर में होती है। शरीर नश्वर है, भौतिक है, आत्मा अविनाशी है, ज्ञानादि गुणों का पुंज या अनन्त शक्तिमान है। भौतिक शक्ति उसके आगे कुछ भी नहीं है। परन्तु यह ज्ञान तब तक कृतकार्य नहीं हो पाता, जब तक कि उसके साथ सुध्यान न हो। सुध्यान होने पर आत्मा और शरीर का भेदज्ञान कृतकार्य हो जाता है और चारित्र भी विशुद्ध एवं कर्मक्षय का कारण बनता है।

एक प्रसिद्ध चारित्रात्मा सन्त के द्वारा अनुभूत सुध्यान के चमत्कार की घटना उनके शब्दों में ही सुनिये—

बात नसीराबाद छावनी की है। वहाँ एक दिन शरीर ज्वरग्रस्त होने से निद्रा पलायन कर रही थी। सहसा सीने के एक सिरे में गहरी पीड़ा उठी। मुनि लोग निद्राधीन थे। मैंने उस वेदना को भुला देने हेतु चिन्तन (धर्मध्यान) चालू किया—पीड़ा शरीर को हो रही है। मैं तो शरीर से अलग हूँ। शुद्ध, बुद्ध, निःशोक और नीरोग। मेरे को रोग कहाँ ? मैं तो हड्डी-पसली से परे चेतन रूप आत्मा हूँ। मेरा रोग, शोक और पीड़ा से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं आनन्दमय हूँ।

क्षणभर में ही देखता हूँ कि मेरे तन की पीड़ा न मालूम कहाँ विलीन हो गई। मैंने अपने आपको पूर्ण प्रसन्न, स्वस्थ और पीड़ारहित पाया।

यह थी ध्यान की अद्भुत महिमा जिसके बल पर ज्ञान (भेद-विज्ञान) भी सक्रिय और कृतार्थ हुआ तथा चारित्र भी। पीड़ा में आर्त्तध्यान होने के बदले धर्म-ध्यान हुआ।

सुध्यान के बिना आत्मदर्शन नहीं होते

ज्ञान से वस्तुस्वरूप का बोध अवश्य होता है, लेकिन अकेला ज्ञान चारित्र के साथ हो तो वह तत्त्वबोध प्रयोग के बिना आत्मदर्शन नहीं करा सकता और प्रयोग होता है—सुध्यान के द्वारा। 'णाणसार' में कहा है—

पाहाणम्मि सुवण्णं कट्ठे अग्गी विणा पओगेहिं।
ण जहा दीसंति इमो, झाणेण विणा तहा अप्पा॥

"जैसे पाषाण में सोना और काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग नहीं दीखती, वैसे ही ध्यान के बिना आत्मा के दर्शन नहीं हो पाते।"

वास्तव में, ज्ञान से तो आत्मा का स्वरूप मालूम होता है, लेकिन ध्यान से उसका वास्तविक दर्शन होता है, क्योंकि ध्यान में साधक आत्मा का प्रत्येक पहलू से चिन्तन-मनन, विश्लेषण करता है। इस प्रकार के एकाग्रचित्तपूर्वक विश्लेषण से साधक को आत्मा के स्वरूप के अलावा उसका शरीरादि के साथ सम्बन्ध,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म क्यों और कैसे लगते हैं? कर्मों का आत्मा से संयोग कैसे टूट सकता है? कर्मबन्ध को तोड़ने के क्या-क्या उपाय हैं? आत्मा नित्य है या अनित्य? आत्मा में कौन-कौन-सी शक्तियाँ हैं, उसके निज गुण कौन-कौन से हैं? उन पर आये हुए आवरण कैसे दूर हो सकते हैं? इत्यादि सब बातों का प्रत्यक्षवत् दर्शन सुध्यान में हो जाता है। अगर सिर्फ ज्ञान पर ही आश्रित रहा जाए, सुध्यान न किया जाए तो आत्मदर्शन न होने के कारण साधक स्वरूप-आचरणरूप चारित्र में अन्त तक टिक नहीं सकेगा, मन में आर्त्त-रौद्रध्यान के विकल्प आएँगे, ज्ञान—सिर्फ सैद्धान्तिक ज्ञान उसे न रोक सकेगा। उन्हें रोके बिना कर्मबन्ध न रुकेगा और कर्मबन्ध के रोके या क्षय किये बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिए सुध्यान ही परम्परा से मुख्य कारण है—मुक्ति का। इसीलिए अमितगति श्रावकाचार में स्पष्ट कहा है—

तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्ताम्,
शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो,
न सिद्ध्यति ध्यानमृते तथापि॥

'निश-दिन घोर तपश्चरण भले करो, प्रतिदिन सम्पूर्ण शास्त्रों का चाहे अध्ययन करो, प्रमादरहित होकर भले ही चारित्र धारण करो, तथापि ध्यान (आत्मध्यान) के बिना सिद्धि-मुक्ति नहीं हो सकती।'

तत्त्वसार में भी स्पष्ट कहा है—"ध्यान के बिना जो कार्यक्षय करना चाहता है, वह उस मनुष्य के सदृश है, जो पंगु होने पर भी मेरुशिखर पर चढ़ना चाहता है।"

जिज्ञासु राजकुमार नीरव्रत को महर्षि एलूष ने आशीर्वाद प्रदान किये—"वत्स! आश्रम में रहकर तप करो, एक दिन तुम्हें अवश्य ही ब्रह्मदर्शन (आत्मदर्शन) होगा।" फिर उसकी पीठ पर हाथ फेरा और सामान्य विद्यार्थियों की तरह ब्रह्म-दर्शनार्थी नीरव्रत राजकुमार को छात्रावास के एक सामान्य कक्ष में रहने का प्रबन्ध कर दिया।

राजकुमार नीरव्रत जीवन में पहली बार ऐसे कमरे में ठहरा, जिसमें उसकी दास-दासियाँ भी नहीं रहती थी, सारा सामान उसने अपने हाथों से उठाया, एकदम सादा भोजन भी उसी दिन मिला था, जिसे ग्रहण करना पड़ा। आश्रम-व्यवस्था के अपमान की बात न रही होती तो वह परोसे हुए भोजन की थाली दूर फैंक देता। सायंकाल होने में अभी विलम्ब था, प्रथम दिन ही नीरव्रत के मस्तिष्क में तूफान मच गया। इतना शुष्क जीवन कभी देखा नहीं था, इसलिए उससे अरुचि होना स्वाभाविक था।

शयन से पूर्व नीरव्रत ने एक अन्य स्नातक से पूछा—"तात! आप कहाँ से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आये हैं ? आपके पिता क्या करते हैं ? आश्रम में निवास करते हुए आपको कितने दिन हो गये ? क्या आपने सिद्धि प्राप्त कर ली ? ब्रह्मसाक्षात्कार कर लिया ?"

प्रश्न करने की इस शैली पर स्नातक को हँसी आ गई। उसने कहा—"मित्र ! शेष प्रश्नों का उत्तर बाद में मिलेगा। अभी आप इतना ही समझ लें कि मैं उपकौशल का राजकुमार हूँ। मेरा यह समापन वर्ष है, जबकि आप यहाँ प्रवेश ले रहे हैं।" यों कहकर तरुण स्नातक अपने तेजस्वी ललाट को ऊपर उठाकर ऋषि एलूष के निवास स्थान की ओर चला गया।

नीरव्रत किंकर्त्तव्यविमूढ़ ! राजकुमार से दीखते हुए सभी स्नातक इतने सरल, इतनी सादी वेशभूषा में, मौन और अनुशासनबद्ध ! क्या इनकी सुखाकांक्षाएँ नष्ट हो गई हैं ? ये प्रश्न कुछ देर तक मन में घुलते रहे, फिर तो निद्रा देवी की गोद में विश्राम किया।

प्रातःकाल सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व सब स्नातक जाग पड़े। नीरव्रत की भी नींद टूटी। प्रार्थना हुई। शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर वह सन्ध्या-वन्दनादि नित्य-कृत्य में संलग्न हुआ।

आश्रम जीवन का आज पहला दिन था। ध्यान एकदम तो नहीं जमा, परन्तु चिन्तन से एक बात सामने आई—"जब देह नष्ट हो जाती है, तब भी क्या राजा-रंक, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध का भेद रह जाता है ? नहीं। फिर मेरे राजकुमारत्व को क्या अमर रहना है ? नहीं-नहीं। जीवन के दृश्यभाग नश्वर हैं, क्षणिक हैं, असन्तोष-प्रद हैं। पूर्णता प्राप्त करने हेतु मनुष्य को ऐसी क्षुद्र और भेदभाव की मान्यताएँ दिल-दिमाग से हटा देनी चाहिए। शरीर में जो अव्यक्त आत्मा है, उसे पाने के लिए अहंभाव छोड़ना ही पड़ेगा।"

इस प्रकार के सुध्यान के रूप में चिन्तन करते ही राजकुमार नीरव्रत का कल वाला बोझ हलका हो गया। वह स्फूर्तिमान एवं प्रसन्न होकर उठा और कर्त्तव्याचरण में प्रवृत्त हुआ।

किन्तु यह अहंकार भी कितना बलवान है कि मनुष्य को बार-बार नये-नये रूप में आकर नचाता है। उसके शिकंजे से यदि कोई बचा सकता है तो निरन्तर ध्यान के रूप में उन्नत चिन्तन, भावनाओं और प्रबल निष्ठाओं का प्रवाह ही। जब-जब अहंकार उसका पीछा करता, वह उसी प्रकार का उन्नत चिन्तन करता। फिर भी वह अहंकार नीरव्रत के मस्तिष्क में चढ़ बैठता, वह सह-स्नातकों से झगड़ बैठता, शिक्षकों से दुराग्रह कर बैठता। उस समय उसे लगता कि उसके पक्ष में ही न्याय है। परन्तु जब वह ध्यान के रूप में चिन्तन की तराजू उठाता और विराट् आत्माओं की तुलना में अपनी छोटी-सी इकाई को तोलना तो उसका अहंकार, झूठी मान-मर्यादा, मोह, दम्भ-दुराग्रह, कुतर्क आदि सब कुछ तिरोहित हो जाता। नीरव्रत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने शुद्ध चेतन, अद्वैत—शुद्ध आत्मा का अनुभव और दर्शन करने लगता। सुध्यान के प्रशिक्षण का यह क्रम उसके अन्तर् को परिष्कृत और विकसित करता जा रहा था, उसका दृष्टिकोण और चारित्र भी उदार, विकसित और सक्रिय रूप में परिवर्तित होता जाता था। फिर भी अभी वह साधक ही था, अपरिपक्व स्थिति का!

आश्रम के नियमानुसार भिक्षाटन करना प्रत्येक स्नातक के लिए अनिवार्य था। इससे नीरव्रत का वर्षों का प्रसुप्त अहंभाव पुनः जाग उठा। राजकुमार होकर वह कैसे भिक्षा माँगे। परन्तु फिर उसी अन्तर्ध्यान से उसके मन का समाधान हुआ—'भिक्षाटन से समत्व आए बिना उसे आत्मदर्शन नहीं होंगे।' अतः भिक्षापात्र उठाया। एक ग्राम में प्रविष्ट हुआ भिक्षुक नीरव्रत। किसी के द्वार पर जाकर भिक्षा माँगते उसे लज्जा अनुभव हो रही थी। ग्राम-प्रमुख की कन्या विद्या ने उसके इस संकोच को जानकर एक मुट्ठी भर धान्य लिया और नीरव्रत के आगे भूमि पर गिरा दिया। नीरव्रत ने कहा—"भद्रे! इस तरह अन्न को फैंकना ही था तो लेकर यहाँ आई ही क्यों?"

विद्या ने हँसकर उत्तर दिया—"तात! मैं ही क्यों, सारा संसार ऐसा ही करता है? आपने भी जिस उद्देश्य से यह जीवन अंगीकार किया, उस उद्देश्य को पूरा करने में कितना संकोच या भारीपन लगता है? क्या यह धान्य को बाहर गिराने जैसा अपराध नहीं है।"

नीरव्रत की आंखें खुल गईं। उसमें दृढ़ निश्चय आ गया, जिसमें उसके संकोच, लज्जा और अहंकार सब घुल गए। वह प्रसन्नतापूर्वक भिक्षा लेकर आश्रम में पहुँचा। उसका बोझ अब हल्का हो चुका था, चारित्रमय जीवन अब उसके लिए जटिल, भ्रमपूर्ण एवं असंतोषयुक्त नहीं रहा। नीरव्रत ज्यों ही सन्ध्या करने बैठा सुध्यान में शून्य की तरह वह ऐसे खो गया, मानो उसका बाह्य जगत् से कोई सम्बन्ध भी न रहा हो। उसकी समग्र चेतना अहंभाव की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर अनन्तता की अनुभूति कर रही थी। वह अपने आपको निर्मल, स्वच्छ, शान्त और सन्तुष्ट अनुभव कर रहा था। अब ब्रह्मज्ञान के लिए किया हुआ उसका अध्ययन ध्यान के रूप में परिपक्व होकर समत्व के रूप में चरितार्थ हो जाता था।

आपने देखा—ध्यान के बिना नीरव्रत का शास्त्रीय ज्ञान आचरण में न आ सका। उस ज्ञान पर अहंकार, मद, मोह, मत्सर आदि का पर्दा पड़ जाता। किन्तु सुध्यान ही उस पर्दे को तोड़ता और विराट् शुद्ध आत्मा के दर्शन कराकर तदनुसार आचरण के लिए प्रेरित और उत्साहित करता।

सुध्यान : ज्ञान को आत्मा में स्थिर रखने वाला

मनुष्य का मन बड़ा चंचल और हठीला होता है। शास्त्रीय ज्ञान कर लेने पर भी मन उसमें नहीं लगता, फलतः वह ज्ञान आत्मा से दूर हो जाता है, आचरण में नहीं आता। मन प्रतिपल विषय-कषायों की ओर आकर्षित होता रहता है, परन्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब मन को सुध्यान के द्वारा अन्तर्मुखी बना दिया जाता है तो ज्ञान से परिष्कृत वही मन विषय-कषायों से विमुख होकर अध्यात्म की ओर मुड़ जाता है। साधक का ज्ञान भी आत्मा में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार सुध्यान की निरन्तर साधना से समस्त ग्रन्थियों का भेदन करके शरीर और आत्मा का सक्रिय भेदविज्ञान कर साधक शुद्ध आत्मस्वरूप में विचरण करने लगता है, उसका देहाध्यास बिलकुल छूट जाता है। अन्त में, वह अजर-अमर, शाश्वत, अनन्त मोक्ष-सुख को स्थिति प्राप्त कर लेता है।

सांसारिक सुखभोगों के प्रति तीव्र आसक्ति और शरीर के मोह से गजसुकुमार एकदम विरक्त हो गये। प्रभु अरिष्टनेमि का वैराग्योत्पादक उपदेश सुनकर उन्हें शरीर और आत्मा का भेदज्ञान हृदयंगम हो गया। उन्होंने मन ही मन निश्चय कर लिया—प्रभु अरिष्टनेमि से मुनिदीक्षा ग्रहण करके मुझे इस भेदविज्ञान को जीवन में चरितार्थ करना चाहिए। आचरण (चारित्र) के रूप में क्रियान्वित कर दिखाना चाहिए।

बस मुनि गजसुकुमार ने दीक्षा के पहले ही दिन प्रभु से जिज्ञासापूर्वक सविनय पूछा—"भगवन्! ऐसी कोई साधना बताइये। जिससे शीघ्र ही मेरा श्रेय हो, मैं शुद्ध आत्मा की परिपूर्णता तक पहुँच सकूं।"

भगवान अरिष्टनेमि ने मुनि गजकुमार की योग्यता, क्षमता, पूर्वजन्मों की साधना के संस्कार, एवं शरीरात्म-भेदविज्ञान की दृढ़निष्ठा देखकर उन्हें प्रोत्साहित करते हुए कहा—"वत्स! ऐसा उपाय है—बारहवीं भिक्षुप्रतिमा की निष्ठा एवं श्रद्धापूर्वक साधना करना। एक ही रात्रि की साधना है यह! इसमें रात्रि को श्मशानभूमि में जाकर एकाग्रचित्त से खड़े होकर कायोत्सर्ग (शुक्लध्यान) करना है। जो भी देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत उपसर्ग आएँ, उन्हें समभावपूर्वक सहना है। यदि तुमने इस सुध्यान को निष्ठा और समत्व के साथ कर लिया तो तुम्हारा बेड़ा पार हो जायगा।"

गजसुकुमार मुनि ने अत्यन्त श्रद्धा और भावना के साथ विनयपूर्वक प्रभु से से बारहवीं भिक्षुप्रतिमा की साधना अंगीकार की और उनसे आज्ञा लेकर वे महाकाल श्मशान में पहुँच गये। वहाँ भूमि का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करके वे एकाग्रचित्त से एक पुद्गल पर अपनी दृष्टि टिकाकर कायोत्सर्ग (सुध्यान) में खड़े हो गये। उनके मन में एकमात्र शुद्ध, परिपूर्ण और अनन्त शक्तिमान, ज्ञानादि गुणों के पुंज आत्मा का ही चिन्तन चल रहा था।

कुछ ही देर में उनके इस सुध्यान की कठोर परीक्षा की घड़ी आ पहुँची। परीक्षा की घड़ी अत्यन्त सावधानी और अप्रमाद की घड़ी होती है। परीक्षार्थी जरा भी असावधान हुआ, विचलित हुआ कि परीक्षा में असफल। पर ध्यानस्थ मुनि गजसुकुमार अपने आप में पूर्ण सावधान और विराट् आत्मा की गोद में चले गये थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोमिल ब्राह्मण, जिसकी कन्या के साथ गजसुकुमार के पाणिग्रहण की बात श्रीकृष्णजी ने पक्की कर दी थी। आज उसी श्मशान भूमि में यज्ञ के निमित्त समिधा, पत्र, पुष्प आदि लेने आया हुआ था। सन्ध्या का समय था। सोमिल विप्र ने ज्यों ही ध्यानस्थ गजसुकुमार मुनि को देखा—वह विस्मित और क्रुद्ध होकर उनके प्रति कटु वाणी से आग बरसाने लगा—"दुष्ट, अधम, नीच, कायर ! मेरी कन्या को यों निराधार छोड़कर तूने मुण्डित होकर साधु बनाने का ढोंग रचा है। देख, मैं भी तुझे मजा चखाता हूँ।" इस प्रकार बकझक करता हुआ सोमिल एक खप्पर लेकर जलती हुई चिता में से धधकते अंगारे उसमें भर लाया और आव देखा न ताव, मुनि गजसुकुमार के कोमल मुण्डित मस्तक के चारों ओर गीली मिट्टी की पाल बाँधकर उस पर धधकते अंगारे उंडेल दिये।"

आग की असह्य वेदना थी, राजकुमार का कोमल शरीर था, पहला ही दिन था—ऐसी कठोर साधना का, और भयंकर पीड़ा का। फिर भी मुनि गजसुकुमार अपनी आत्मा में मेरु की भाँति अडोल और स्थिर रहे। उनके मन में सोमिल के प्रति जरा भी रोष, द्वेष या दुर्भाव नहीं आया और न ही अपने शरीर के प्रति मोह, आसक्ति या रक्षा का भाव आया। धैर्य, गाम्भीर्य, क्षमा और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति बनकर वे अविचल भाव से खड़े रहे, आत्मा के परम उज्ज्वल शुक्लध्यान में वे संलग्न रहे। बाह्य जगत् से बिलकुल विमुख होकर एकदम अन्तर्मुखी बन गये थे। कुछ ही देर में उनका भौतिक शरीर नष्ट हो गया, जिसे एक दिन होना ही था और उनकी आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करके परमधाम—मोक्ष में जा पहुँची।

यह था—शरीरात्म-भेदज्ञान की सुध्यान के द्वारा स्वरूपाचरण में सतत परिणति ! वस्तुतः उनका ज्ञान सुध्यान के माध्यम से आत्मा में स्थिर हो गया था। देहाध्यास बिलकुल छूट चुका था। इसलिए उनकी आत्मा सुध्यान साधना द्वारा निश्चयचारित्र की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी, जिससे वे स्वयंसिद्ध, बुद्ध, मुक्त और कृतकृत्य हो गए।

वास्तव में, चारित्र को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए ज्ञान के साथ सुध्यान अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान को व्यापक, उदार और सक्रिय बनाने वाला सुध्यान ही ही है। यदि सुध्यान न हो तो अकेला ज्ञान पस्तहिम्मत हो जाता है, वह आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकता। यदि मुनि गजसुकुमार सुध्यान में एकाग्र न होते तो उनका कोरा आत्मज्ञान समत्व, शान्ति, क्षमा और मैत्री के आचरण के आग्नेय पथ पर टिका नहीं रहता, वे उखड़ जाते और चारित्र से भ्रष्ट हो जाते, आत्मज्ञान तो कभी का विदा हो चुकता।

ज्ञान और सुध्यान में खास अन्तर नहीं

इसलिए हम दावे के साथ कह सकते हैं कि ज्ञान और सुध्यान दोनों बन्धुओं की जोड़ी साथ-साथ रहे तो चारित्र को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकते हैं। वैसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देखा जाय तो सुध्यान और ज्ञान में कथंचित् अभेद भी है। महापुराण का यह श्लोक इस बात का साक्षी है—

यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः।
तथाऽप्येकाग्रसंवष्टो धत्ते बोधादि वाऽन्यताम् ॥

यद्यपि ध्यान, ज्ञान की ही पर्याय है, और यह भी ज्ञेय की तरह ध्येय को विषय करने वाला होता है, तथापि सहवर्ती होने के कारण वह ध्यान ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप व्यवहार को भी धारण कर लेता है।

ध्यान और ज्ञान में मुख्यतया यही अन्तर है कि ज्ञान व्यग्र होता है, ध्यान नहीं, ध्यान तो एकाग्र कहलाता ही है। वस्तुतः किसी एक विषय में ज्ञान का निरन्तर रूप से रहना ध्यान है और वह क्रमरूप होता है।

ज्ञान की धारा अनेक विषयवाहिनी होती है, उसे एक विषयवाहिनी बना देना ही तो ध्यान है। ज्ञान सम्यक् हो तो ध्यान एक शुभ विषयवाही बनता है और ज्ञान असम्यक् (मिथ्या) हो तो वह अशुभ विषयवाही ही बनता है। ज्ञान और ध्यान दोनों में यही अन्तर है। इसलिए ये दोनों अन्योन्याश्रित या एक-दूसरे से परस्पर मिले हुए रहते हैं।

चारित्र का परममित्र सुध्यान : महत्व और लाभ

सभी धर्मों ने ध्यान का महत्त्व एकस्वर से स्वीकार किया है। आत्मा की शक्तियों को एकाग्र करने तथा एकाग्र आत्मशक्तियों के यथायोग्य दायित्व, कर्तव्य या आचरण पर विश्लेषण करने के लिए ध्यान से बढ़कर कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु विश्व में नहीं है। मन, वचन, काया की, आत्मा और इन्द्रियों की बिखरी या भटकी हुई अथवा उत्पथ पर लगी हुई शक्तियों को एकजुट या एकाग्र करने की इससे बढ़कर कोई साधना नहीं है।

पाश्चात्य विचारक सी. सिम्मन्स (C. Simmons) के शब्द में देखिए—

"Meditation is the nurse of thought and thought is the food for meditation."

'ध्यान शुभचिन्तन की धायमाँ है, और शुभचिन्तन ही ध्यान की खुराक है।'

वास्तव में शुभचिन्तन से चित्तशुद्धि होती है और आत्मा विशुद्ध बन जाती है।

ध्यान चित्तशुद्धि की वह प्रक्रिया है, जिससे चित्त में स्थित वासना, कामना, संशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, चिन्ता, अशान्ति, अप्रसन्नता आदि विकार दूर होते हैं और चित्त शान्त, निर्द्वन्द्व, स्वस्थ एवं प्रसन्न होता है। चित्त की पवित्रता से उच्च विचार आते हैं, उनसे संकीर्णताएँ टूटती हैं, उदारता आती है। इस प्रकार ध्यान से जीवन मंगलमय बन जाता है। अतः ध्यान चारित्र का मित्र है। यह चारित्र को सत्पथ पर सुदृढ़ और शुद्ध रखने तथा जीवन के सच्चे माने में आनन्द-पूर्वक जीने की साधना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसा कि पाश्चात्य विद्वान 'इजाक टेलर' कहता है—

"A man of meditation is happy, not for an hour or a day, but quite round the circle of all his years."

ध्यान करने वाला साधक सुखी रहता है, केवल एक घण्टे या एक दिन के लिए नहीं, अपितु अपनी जिंदगी के तमाम वर्षों के चक्र में सुखसम्पन्न रहता है।

ध्यान से मन में उत्साह बढ़ता है, चित्त में साहस का संचार होता है, उत्साह और साहस से सोचा हुआ शुभकार्य पूर्ण होता है, चारित्र का सच्चे माने में पालन होता है। जीवन की सभी साधनाओं का केन्द्रबिन्दु ध्यान ही है। चाहे किसी भी प्रणाली का साधक क्यों न हो उसे ध्यान-बल से उस कार्य में अपनी समग्र मनःशक्ति केन्द्रित करनी पड़ती है। एक पाश्चात्य विचारक फेल्दम (Feltham) ने ध्यान को प्रभु के निकट पहुँचने का उपाय बताया है—

"Meditation is the soul's perspective glass, whereby, in her long removes, the discerneth god, as if he were nearer at hand."

'ध्यान आत्मा को देखने का एक दर्पण है जिसके माध्यम से दीर्घकालिक अभ्यास के बाद वह (आत्मा) परमात्मा को यथार्थ रूप में देखने लगती है, मानो वह अत्यन्त निकटवर्ती हो।'

वास्तव में ध्यान-साधना में साधक ज्यों-ज्यों अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका मनोबल बढ़ता जाता है। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर आदि हटते जाते हैं, राग-द्वेष घटते जाते हैं, पारिवारिक जीवन के मोह सम्बन्ध—मोह-बन्धन करीब-करीब छूटते जाते हैं। ध्यान बल से साधक निःस्पृह और निःस्वार्थी बन जाता है। उसकी राग, मोह, लोभ और आसक्ति आदि की वृत्तियाँ काफूर हो जाती हैं। वहाँ उसे आत्मा की आवाज पुकार-पुकार कर कहती है—दृढ़ बनो, आत्मबल बढ़ाओ, विकल्पों की वृद्धि न करो, इन्द्रिय-विषयों और मनोविकारों के गुलाम न बनो। इस ध्वनि से उसके अन्तर् में एक आलोक का उद्भव होता है, जिसमें वह कलुषात्मक अनिष्ट वृत्ति-प्रवृत्तियों का अवलोकन करके उन्हें हटाने में सक्षम हो जाता है। इसी लिए पश्चिमी विद्वान जेरेमी टेलर (Jeremy Taylor) कहता है—

"Meditation is the tongue of soul and the language of our spirit....."

'ध्यान आत्मा की जबान है और हमारी अन्तरात्मा (चेतना) की भाषा है।'

ध्यानावस्था में साधक का जीवन अहंकार और उन्माद से शून्य हो जाता है, वह अपने आपको असली रूप में देख सकता है। कभी-कभी तो साधक ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता है कि उसे अपने तन का कोई खयाल नहीं होता, शारीरिक-मानसिक पीड़ाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। न भूख-प्यास सताती है, न नींद। न उसे रात का भय रहता है, और न दिन का त्रास। हिंस्र जन्तुओं से भी ध्यानावस्था में साधक को कोई भय नहीं रहता। ध्यान से अन्तर्लीन होकर साधक क्रमशः विराट सत्ता—विशुद्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा में लवलीन हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए ध्यान ही एक मात्र अकसीर उपाय है। द्रव्यसंग्रह (४७) में सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने इसी बात का समर्थन किया है—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणं पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥

मुक्ति का उपाय रत्नत्रय है, और यह रत्नत्रय (मोक्ष हेतु) दो प्रकार का है—निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा से। दोनों प्रकार का यह रत्नत्रय सुध्यान से ही उपलभ्य है। अतः समग्र प्रयत्नपूर्वक दत्तचित्त होकर मुनि को निरन्तर ध्यान का सम्यक् अभ्यास करना चाहिए।

आचार्य रामसेन भी तत्त्वानुशासन में मुमुक्षु को सुध्यान की ही प्रेरणा करते हैं कि "हे योगिन् ! यदि तू संसार-बन्धन से छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को ग्रहण करके बन्ध के कारण मिथ्यादर्शनादि के त्यागपूर्वक सतत् सद्ध्यान का अभ्यास कर। ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह का नाश करने वाला चरमशरीरी साधक (योगी) उसी पर्याय में मुक्ति प्राप्त करता है, और जो चरमशरीरी नहीं हैं, वे उत्तम देवादि पर्याय को प्राप्त करके क्रमशः मुक्ति पाते हैं।"[1]

निःसन्देह ध्यान ऐसा ही उत्तम पदार्थ है, जो इहलोक और परलोक के लिए भी उत्तम पाथेय है; उपयोगी है, सुख, यश और स्वास्थ्य का प्रदाता है, अनेक सिद्धियाँ, लब्धियाँ, उपलब्धियाँ और भौतिक-आध्यात्मिक शक्तियाँ ध्यान से प्राप्त होती हैं। यद्यपि सुध्यान-साधक इहलौकिक भौतिक सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ता, तथापि ये उपलब्धियाँ उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं, भले ही वह अपने लिए इनका प्रयोग न करे।

अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ध्यान के द्वारा साधक मोक्ष को अवश्य प्राप्त कर लेता है, जहाँ अनन्त-सुख-शान्ति है, अनन्त-ज्ञान, दर्शन और वीर्य है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में स्पष्ट बताया है—

मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्य मतं तच्च, तद् ध्यानं हितमात्मनः ॥

'कर्मों के क्षय से ही मोक्ष होता है, कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है और आत्मज्ञान ध्यान से प्राप्त होता है। अतः ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है।'

ध्याता जब ध्यान के द्वारा अपने से भिन्न अन्य पदार्थ का अवलम्बन लेकर उसे अपनी श्रद्धा का विषय बनाता है तब वह व्यवहारमोक्षमार्गी होता है, और जब वह केवल अपनी आत्मा का अवलम्बन लेकर उसे अपनी श्रद्धा का विषय बनाता

---

१ तत्त्वानुशासन २२३-२२४।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, तब वह निश्चयमोक्षमार्गी होता है। अर्थात् ध्यान के द्वारा दोनों प्रकार के मोक्ष-मार्ग सधते हैं।

जैसा कि पंचास्तिकाय में कहा गया है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी॥

"जिसे मोह और राग-द्वेष नहीं है, तथा मन-वचन-कायरूप योगों के प्रति उपेक्षा है, उसके जीवन में शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।"

ध्यान चारित्र का विशिष्ट सहायक और चारित्र को सुशोभित करने वाला है, इसकी प्रतीति ध्यान के हेतुओं पर विचार करने से हो जाती है। तत्त्वानुशासन (७५/२१८) में ध्यान के ८ हेतु बताये हैं—

(१) **संगत्याग**—बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग एवं कुसंग परित्याग करना।
(२) **कषायनिग्रह**—क्रोधादि एवं हास्यादि का परित्याग करना।
(३) **इन्द्रियों पर विजय**—पाँचों इन्द्रियों पर सम्यक् संयमन करना।
(४) **व्रतों की धारणा**—अहिंसादि व्रतों का सम्यक् पालन करना।
(५) **गुरु-उपदेश चिन्तन**—सद्गुरु के उपदेश का चिन्तन जो ध्यानादि के स्वरूप आदि का सम्यक् बोध दे सके।
(६) **श्रद्धान**—प्राप्त उपदेशों पर श्रद्धा रखना।
(७) **अभ्यास**—ज्ञान एवं श्रद्धा के अनुरूप सतत अभ्यास करना।
(८) **स्थिर मन**—मन को चंचलता रहित बनाना।

बृहद द्रव्यसंग्रह में भी ध्यान के ५ हेतु बताये गये हैं—

(१) वैराग्य,
(२) तत्त्वज्ञान,
(३) असंगता,
(४) स्थिरचित्तता या समचित्तता,
(५) परीषह जय।

इन सब ध्यानहेतुओं पर विचार करने से यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि सुध्यान चारित्र का मुख्य सहायक, प्रेरक और शुद्धिवर्द्धक है। वास्तव में, सुध्यान आध्यात्मिक ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। वह व्यावहारिक जीवन को स्वस्थ, संतुलित और ईमानदार बनाता है, सामाजिक जीवन को मर्यादित, प्रगतिशील और मैत्रीपूर्ण बनाता है, और आध्यात्मिक जीवन को संयमी, वीतरागता से ओतप्रोत, तथा शुद्ध-बुद्ध।

प्राच्य ही नहीं, पाश्चात्य मनीषी भी ध्यान को श्रद्धापूर्वक अपनाने लगे हैं, इसके भौतिक, आध्यात्मिक सभी लाभों से परिचितहोकर वे आकृष्ट हुए हैं, भौतिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यन्त्रणाओं से मुक्ति और शान्ति पाने के लिए वे ध्यान को ही उत्तम साधन मानते हैं। इन्द्रियों के विषयभोगों की अति से हुई थकान, मानसिक तनाव और रोजमर्रा के जीवन की आपाधापी से बचने का सर्वोत्कृष्ट उपाय वे ध्यान को मानते हैं।

चीन में एक ध्यान सम्प्रदाय प्रचलित हुआ, जिसकी कई शाखाएँ बाद में विकसित हुईं। ध्यान के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत से अन्वेषण किये। वहाँ से ध्यान का यह तत्त्व जापान में गया। 'येन साइको' नामक एक पुस्तक में ध्यान का वर्णन करते हुए उसे राष्ट्रसुरक्षा और वीरता-प्राप्ति से जोड़ दिया है। मनोबल, अन्तर्निरीक्षण, अनुशासन एवं दायित्व-बोध के लिए वहाँ ध्यानाभ्यास आवश्यक माना जाता है, खासतौर से जापानी सिपाहियों में इसका व्यापक प्रचार है। जापान की स्वावलम्बिता और औद्योगिक प्रगति का श्रेय ध्यानाभ्यास को दिया जाता है। जो भी हो, आज सुध्यान विविधरूपों में देश-विदेश में प्रचलित है। जनता इसकी महत्ता को समझने लगी है।

ध्यान का स्वरूप : विविध लक्षणों में

ध्यान-विज्ञाताओं ने ध्यान की अनेक परिभाषाएँ की हैं। वैसे मूल स्वर सबका एक ही है कि किसी विषय में चित्त को एकाग्र करना ध्यान[1] है। इसी मूल भित्ति पर ध्यान की परिभाषाओं में सर्वत्र परिष्कार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने ध्यान की परिभाषा की है—

"उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।"

"उत्तम संहनन वाले का एकाग्र चिन्तन एवं मन-वचन-काया की प्रवृत्तिरूप योगों का निरोध करना ध्यान है।"

इसी का स्पष्टार्थ सर्वार्थसिद्धि में किया है—

"चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्।"

"चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।"

योगदर्शनकार ने भी इसी परिभाषा का अवलम्बन लिया है।[2]

किसी विषय के प्रति एकतानता—तल्लीनता ध्यान है।

निष्कर्ष यह है कि शान्त एवं एकाग्र स्थिर चित्त होकर आत्मलीनता या एकपदार्थलीनता होना ही ध्यान है।

---

१ **'चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं'**—चित्त की एकाग्रता ध्यान है।

—आवश्यकनिर्युक्ति १४५६

२ **तत्प्रत्येकतानता ध्यानम्।**

—योगदर्शन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनगार धर्मामृत में बताया है—इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल मोहादि का उच्छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है। उस चित्त की स्थिरता से रत्नत्रय रूप ध्यान होता है। उससे समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष होता है, उससे होता है—अनन्त सुख।[1]

ध्यान की पुरानी परिभाषा भी इसी अर्थ को व्यक्त करती है—

"ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती ज्ञानसंततिः ध्यानम्।"

चैतन्य का वह प्रवाह ध्यान है, जो ज्ञानान्तर का स्पर्श न करे। जिसमें निरन्तर स्वद्रव्य का स्पर्श और परद्रव्य का अस्पर्श होता है, उसे ज्ञानसंतति कहते हैं।

शुद्ध आत्मा का चिन्तन लेकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना आत्मज्ञान है।[2] यह पहले क्षण का ज्ञान है। वही क्रमभंग किये बिना दूसरे तीसरे क्षण में होता रहे तो वह ज्ञान-संतति है। दीपशिखा की भाँति चिन्तन प्रवाह का वैसा का वैसा ही होना एकाग्रता है। इसीलिए तत्त्वानुशासन में निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान का स्वरूप बताया गया है—

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत् स्वस्मिन् स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥

"चूंकि आत्मा अपनी आत्मा को, अपनी आत्मा में, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा के लिए, अपने-अपने आत्महेतु में ध्याता है। इस प्रकार षट्कारकरूप परिणत आत्मा ही निश्चयदृष्टि से ध्यानस्वरूप है।"

इसीलिए तत्त्वानुशासन में ध्यान के दो रूप बताये गये हैं—एक निश्चय-दृष्टि से, दूसरा व्यवहारदृष्टि से। प्रथम में स्वरूप का आलम्बन है, दूसरे में परवस्तु का आलम्बन है।

चित्त की एकाग्रता भंग होने से सुध्यान टिकता नहीं

ध्यान-साधक में सर्वप्रथम चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है। एकाग्रता होने में तीन बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं—स्मृति, कल्पना और वर्तमान की घटना। अतीत की जो घटनाएँ घट चुकी हैं, वे निमित्त पाकर उभर उठती हैं। यथा—ग्रीष्म ऋतु आते ही पहले ग्रीष्म की घटना उभर आती है, यह कालिक स्मृति है, और किसी गाँव को

---

१ इष्टानिष्टार्थमूलमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः।
ध्यानं रत्नत्रयं तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम्॥
—अनगार धर्मामृत १/११४

२ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः॥
—पंचाध्यायी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

देखते ही वहाँ की पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाना दैशिक स्मृति है। इसी प्रकार बाह्यवृत्त और व्यक्ति के मिलते ही स्मृति आ जाती है, मन उसमें उलझ जाता है। स्मृति भूतकालीन चिन्ता है तो कल्पना भविष्यकालीन चिन्ता। क्या करना है? कहाँ जाना है? क्या लिखना है? आदि अनेक कल्पना मन संजोता रहता है। भविष्य की कल्पना मन को विचलित करती रहती है। इसी प्रकार वर्तमान घटना भी मन को आन्दोलित कर देती है। ध्यान में बैठे हैं, अचानक सुगन्ध आई, कोई संगीत की स्वर-लहरी कान में पड़ी, या अपशब्द सुनने को मिले, कोई सुन्दर या असुन्दर वस्तु देखी तो मन उसमें उलझ पड़ा। एकाग्रता खत्म हो गई। सुध्यान के लिए इन तीनों से विच्छिन्नता प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि भगवान महावीर के ध्यान-साधक शिष्यों में प्रसिद्ध थे, किन्तु उनका मन अतीत की घटना का स्मरण तथा वर्तमान का अपशब्द सुनकर विचलित एवं व्यग्र हो गया था। कथा तो आपको मालूम ही है कि मगध सम्राट श्रेणिक भगवान महावीर के दर्शनार्थ जिस पथ से जा रहा था, उसी पथ के एक किनारे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान मुद्रा में खड़े थे। राजा श्रेणिक के एक सचिव दुर्मुख ने उन्हें देखकर तीव्र कटाक्ष से व्यंग्य कसा—"अजी! सम्पूर्ण राज्य-भार छोटे-से बच्चे पर डालकर यहाँ ध्यानी साधु का ढोंग रचाये खड़े हो! पता नहीं तुम्हें, शत्रुराजाओं ने तुम्हारे राज्य पर हमला कर दिया है, राजकुमार अभी नादान बच्चा है, वह राज्य की सुरक्षा कैसे करेगा? इसलिए इस साधु वेश का ढोंग छोड़कर एक बार जनता के हित के लिए राज्य सँभालो, बाद में ढलती उम्र में यह साधना कर लेना।"

बस, यह सुनते ही अतीत की स्मृति और वर्तमान की घटना से उनका चित्त डाँवाडोल हो उठा। वे धर्म-शुक्लध्यान छोड़कर आर्त्त-रौद्रध्यान के प्रवाह में बह गए। मन ही मन शत्रुराजाओं से प्रतिशोध लेने को उतारू हो गए, मनःकल्पित शस्त्रास्त्र भी हाथ में ले लिये और मन से ही शत्रु सेना से जूझने लगे।

इसी दौरान श्रेणिक राजा ने जब प्रभु महावीर से उनकी गति के बारे में प्रश्न किया और नरक बताने पर चौंककर रहस्य पूछा—तो प्रभु ने सारा रहस्य खोला।

इधर कुछ ही समय बाद मुनि का चिन्तन-क्रम बदला और वे पश्चात्ताप करके अपने आत्मध्यान में एकाग्र हो गये। शेष कहानी काफी विस्तृत है। यहाँ उससे कोई मतलब नहीं। यहाँ तो इतना ही बताना था कि अतीत की स्मृति और वर्तमान की घटना से प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का चित्त उचट गया और सुध्यान-भंग हो गया, एकाग्रता नष्ट हो गई।

वास्तव में देखा जाए तो मनुष्य का मन इतना चंचल और व्यग्र है कि उसको एक वस्तु में या आत्मा में भी लगाते हैं तो वह अधिक देर तक नहीं टिकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह कुछ ही देर टिककर फिर स्मृति, कल्पना और वर्तमान घटना, इन तीनों में से किसी एक का निमित्त मिलते ही भागने लगता है। निष्कर्ष यह है कि मन सुध्यान या दुर्ध्यान में से किसी न किसी ध्यान में लगा रहता है।

गौतम महर्षि यहाँ सुध्यान को चारित्र की शोभा इसलिए बता रहे हैं कि कि दुर्ध्यान की आँधी आते ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह सारा चारित्र उड़ जाता है, वहाँ न तो चारित्र का पता रहता है, न सम्यग्ज्ञान का। दोनों ही पलायित हो जाते हैं।

सुध्यान और दुर्ध्यान क्या और कहाँ ?

इसी कारण ध्यान के मुख्यतया दो भेद—सुध्यान और दुर्ध्यान अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान बताये गये हैं। अप्रशस्त एवं त्याज्य दुर्ध्यान के दो प्रकार हैं—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। इसी प्रकार प्रशस्त एवं उपादेय सुध्यान के दो प्रकार ये हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान।[1]

आज अधिकांश मानव दुर्ध्यानों के चक्कर में घूम रहे हैं। बाहर से तो स्थिति खुशहाल-सी दीखती है, लेकिन भीतर उनके अशान्ति, हाय-हाय, चिन्ता और बेचैनी तथा परेशानी है। आर्त्तध्यान का पेट केवल इतना ही बड़ा नहीं है, उसकी हजारों-लाखों लहरें हैं। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ऐहिक फल चाहने वालों के होते हैं, उनके असंख्य प्रकार हैं।

ये चार ध्यान बताये हैं, उनमें से दो को छोड़ना तप है, और दो का आराधन तप है। एक बहन या भाई किसी इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग से या किसी अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग से पीड़ित है, अर्थसंकट से ग्रस्त है, हानि से चोट खाकर चिन्तित है, स्वयं रुग्ण है या पारिवारिकजन रुग्ण हैं, उस समय वह ज्ञान बल से चित्त को एकाग्र करके धर्मध्यान में लगाता है, और इस प्रकार के आर्त्तध्यान को छोड़ता है तो तप है। पीड़ा, वेदना या चिन्ता के समय रोना, चिन्ता करना, विलाप करना, छाती-माथा कूटना, किसी को कोसना, पीटना आदि सब आर्त्तध्यान हैं, यह पापकर्मबन्ध का जनक है। ऐसे समय में मन को यों समझा ले कि कृतकर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा, चाहे रो-रोकर भोगो, चाहे प्रसन्नता से। प्रसन्नता और शान्ति से कर्मफल भोगना और चुप रहना निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण है।

किसी के साथ अनबन, टक्कर, लड़ाई-झगड़ा, दंगा-फिसाद हो गया, किसी से किसी स्वार्थभंग के कारण वैर, द्वेष बँध गया। उसे फँसाने, मारने, नीचा

---

१. हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्द्धनम्।
उत्तरं द्वितयं ध्यानम्, उपादेयं तु योगिनाम्॥

—महापुराण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिखाने, जेल की हवा खिलाने, बदनामी करने आदि का विचार करना, तथा मारण, मोहन, उच्चाटन आदि का प्रयोग करना रौद्रध्यान है। यह चार प्रकार का होता है—हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेनानुबन्धी, संरक्षणानुबन्धी (परिग्रहानुबन्धी)। आज नगरजनों का आहार-विहार, संगति, सिनेमा आदि कुदृश्यों से लगाव, वातावरण सब गन्दा हो रहा है। वह भी आर्त्त-रौद्रध्यान को बढ़ाता है। इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख-भोग एवं फल चाहने वालों के ध्यान गलत हैं? सिनेमा आदि विषय-कषायवर्द्धक हैं, उनसे चित्त कभी शान्त नहीं हो सकता। राग-द्वेष आदि बढ़ने से चित्त में कभी स्थिरता नहीं आ सकती।

इसलिए सुध्यान की साधना करने के लिए विषय-कषायों की तीव्रता एकदम कम करनी होगी, कुसंगति से दूर रहना होगा, स्वाध्याय, सत्संग, एकान्त-शान्त स्थान में निवास, तत्त्वचिन्तन, धैर्य, फलाकांक्षा-निवारण आदि साधन अपनाने आवश्यक हैं। तत्पश्चात् तत्त्वानुशासन के अनुसार आठ बातों का ध्यान-साधक को सर्वप्रथम विचार कर लेना चाहिए—

ध्याता, ध्यान-फलं, ध्येयं, यस्य, यत्र, यदा, यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना॥

"ध्याता (इन्द्रिय और मन का निग्रहकर्ता), ध्यान (इष्ट विषय में लीनता), फल (संवर-निर्जरा आदि के रूप में), ध्येय (इष्ट—जिसका ध्यान करना हो, वह पिंड, पद, रूप आदि), यस्य (ध्यान का स्वामी), यत्र (ध्यान करने योग्य क्षेत्र—स्थान), यदा (ध्यान का समय) और यथा (ध्यान की योग्य विधि) ये आठ बातें ध्यान करने के इच्छुक योगी (ध्याता) को समझ लेनी चाहिए।"

उसके बाद धर्मध्यान के ४ भेद, आज्ञाविचय आदि चार आलम्बन तथा पिण्ड, पद या रूप में से किसी का आलम्बन आदि का विचार करना चाहिए। फिर ध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर शुक्लध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए। यह निरालम्ब एव रूपातीत ध्यान है। इसके चार प्रकार हैं—पृथक्त्ववितर्क-सविचारी, एकत्ववितर्क-अविचारी, सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन (क्षमा, निर्लोभता, मृदुता, और ऋजुता) तथा चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।

सुध्यान का विषय काफी विस्तृत है। मैं आपको अभी इतनी गहराई में नहीं ले जाना चाहता। अभी तो मैंने सुध्यान की झाँकी आपको दे दी है।

सुध्यान के साथ ज्ञान न हो तो

कोई कह सकता है कि चारित्र की शोभा के लिए जब सुध्यान से काम चल जाता है तो ज्ञान की क्या जरूरत है? ज्ञान का सब काम क्या सुध्यान नहीं कर सकता? इस सम्बन्ध में गहराई से विचारने पर हमें लगता है कि अकेले सुध्यान से चारित्र की शोभा में कमी रह जाती है। जैसे एक दीवार है, उसे पहले ईंट, चूने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि से जोड़ा नहीं गया, पलस्तर भी नहीं किया गया, पहले ही केवल मिट्टी का ढेर या ईंटें जमाकर उस पर रंग-रोगन से पालिश कर दी जाय तो क्या वह दीवार शोभा देगी ? कभी नहीं। इसी प्रकार यहाँ चारित्ररूपी दीवार पर पहले सम्यक्-ज्ञान रूपी ईंट-चूने आदि से जोड़ने व पलस्तर करने का कार्य नहीं होगा, और सिर्फ सुध्यान रूपी पॉलिश किया जाएगा तो वह भी सुशोभित नहीं होगी। इसीलिए सम्यग्ज्ञान पहले संसार के समस्त वस्तु-तत्त्व का बोध करा देता है, फिर जिस तत्त्व को चारित्र के रूप में उपादेय समझकर अपनाया है, उसी एकमात्र तत्त्व के विषय में सुध्यान गहराई से चिन्तन करता है। तब जाकर चारित्र के रूप में सम्यक् आचरण होता है। इसलिए जब तक विस्तृत वस्तुतत्त्व का ज्ञान न हो तो एक तत्त्व-विषयक चिन्तन कैसे होगा। कुएँ में पानी होता है तो हौज में आवश्यकताभर पानी निकाला जाता है और उससे कृषि-भूमि की सिंचाई की जाती है। इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि सम्यग्ज्ञान की कितनी महत्ता और उपयोगिता है।

मैं यहाँ ज्ञान के सम्बन्ध में विस्तार में न जाकर एक उदाहरण द्वारा इतना ही समझाऊँगा कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में किस प्रकार चारित्रवान पुरुष जीवन को निरर्थक कर देते हैं ?

पुष्यभूति आचार्य बहुश्रुत, ज्ञानी, ध्यानी एवं महागुणी थे। वे एक बार विचरण करते हुए सिन्धुवर्धन नगर पधारे। वहाँ के राजा मुंडविक को प्रतिबोध देकर श्रावकव्रती बनाया। आचार्य का एक बहुश्रुत शिष्य पुष्यमित्र था, पर उसके जीवन में ज्ञान के साथ सुध्यान का अभ्यास न होने से चारित्र में बहुत शिथिल था। वह सुखशील और आरामतलब हो गया था, इस कारण आचार्य से पृथक विचरण करता था। आचार्य के पास और जितने भी शिष्य थे, वे सबके सब अबहुश्रुत एवं ज्ञान और सुध्यान दोनों से रहित, केवल क्रियाकाण्डी थे।

एक दिन पुष्यभूति आचार्य ने विचार किया—मैंने धर्मध्यान की बहुत साधना कर ली, अब तो शुक्लध्यान के अन्तर्गत सूक्ष्मध्यान की साधना करनी है। वह एक प्रकार का निर्विचार ध्यान है, जिसमें चेतना है या नहीं, इसका कोई भान या अभ्यास नहीं रहता। आचार्यश्री को इस महाध्यान के लिए एकान्त, विक्षेपरहित, शान्त स्थान में बैठना आवश्यक था।

इसलिए उन्होंने अपने बहुश्रुत शिष्य पुष्यमित्र को बुलाकर समझाया—"मुझे अब सूक्ष्मध्यान की साधना करनी है, इसलिए तुम मेरी सेवा में रहो तो दर्शनार्थियों को तथा इन अगीतार्थ साधुओं को भी सँभाल सकोगे, मैं शान्ति से अपनी साधना कर लूँगा। बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?" उसने आचार्यश्री का कथन स्वीकार किया।

आचार्यश्री ने एक एकान्त, शान्त, विक्षेपरहित कमरे का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करके अपना आसन जमाया और ध्यान में लीन हो गये। अब जो भी दर्शनार्थी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आता, उसे उनका शिष्य पुष्यमित्र बाहर ही रोककर कहता—"आप लोग यहीं से आचार्यश्री की वन्दनादि कर लें। वे अभी महत्वपूर्ण कार्य में व्यस्त हैं।" वे ऐसा ही करते।

काफी दिन हो जाने पर एक दिन साधु परस्पर कानाफूसी करने लगे—"इतने दिन हो गये! आचार्यश्री अन्दर क्या करते होंगे? चलकर देखना चाहिए।"

एक साधु ने चुपके से अन्दर जाकर देखा तो आचार्यश्री जरा भी हलन-चलन नहीं करते, न बोलते हैं। अतः उस सुध्यान से अनभिज्ञ साधु ने सारी घटना साधुओं से आकर कही।

उन सबने रूठकर पुष्यमित्र मुनि से कहा—"आचार्यश्री का तो देहान्त हो गया है, यह जानते हुए भी आपने हमें क्यों नहीं कहा?" उसने श्रुतज्ञान के आधार से कहा—"आचार्यश्री का देहान्त नहीं हुआ, वे निश्चल होकर सूक्ष्मध्यान-साधना कर रहे हैं। तुम सब जाकर उनके ध्यान में विक्षेप न करो।" परन्तु वे ज्ञान-ध्यान-रहित साधु क्यों मानने लगे? वे पुष्पमित्र मुनि के साथ क्लेश करते हुए कहने लगे—"तुम धूर्त हो, हमें बनाते हो। हम तुम्हारी बातों में नहीं आने वाले हैं, आचार्यश्री तो बहुत गुणवान थे, तुमने बहकाकर उन्हें बैताल साधना कराई है। उसमें उनकी यह दुर्दशा हुई है।" वे अज्ञानी साधु राजा को बुला लाए और कमरे में ले जाकर दिखाया—"देखिये, राजन्! आचार्यश्री के शरीर में अब चेतना नहीं है। हमें साधु-मर्यादानुसार इनके मृत शरीर का परिष्ठापन कर देना चाहिए, पर यह पुष्यमित्र ऐसा नहीं करने देता, आप हमें न्याय दीजिए।"

राजा ने भी अत्यन्त निकट जाकर बारीकी से आचार्य को देखा, और निश्चय किया कि आचार्यश्री दिवंगत हो गये हैं। पुष्यमित्र मुनि की बात न मानकर राजा ने शिविका बनवाई। पुष्यमित्र ने बाजी बिगड़ती देख आचार्यश्री के पूर्व संकेतानुसार उनके अँगूठे का स्पर्श किया। संकेत का स्मरण आते ही आचार्यश्री सहसा जागृत होकर बोले—"मेरे सुध्यान में तुमने विक्षेप क्यों किया?" इस पर पुष्यमित्र ने कहा—"गुरुदेव! मैंने विक्षेप नहीं किया, आपके अनाड़ी शिष्यों ने किया है।" सारी घटना सुनी तो आचार्यश्री ने सबको बुलाकर उपालम्भ दिया कि मेरी सुसाधना में विक्षेप डालकर तुम लोगों ने ठीक नहीं किया। अब मुझे पुनः नये सिरे से इसकी साधना करनी पड़ेगी।

आचार्यश्री को यह अनुभव हो गया कि जो साधक सम्यग्ज्ञानी नहीं होते वे सुध्यान की बात को नहीं समझते और सुध्यान की बात को न समझने के कारण अपने चारित्र को विशुद्ध रूप से पालन करने के लिए पुरुषार्थ नहीं करते। फलतः उनका स्वयं का चारित्र उज्ज्वल नहीं होता, और जो सम्यग्ज्ञान और सुध्यान को साथ लेकर चारित्र में पुरुषार्थ करते हैं, उन्हें वे या तो करने ही नहीं देते या करते हैं तो विक्षेप डालते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्धुओ ! सुध्यान का महत्व तो सर्वविदित है ही, सम्यग्ज्ञान का योगदान भी चारित्र की शोभा में कम नहीं है। सम्यग्ज्ञान एक शक्ति है, एक महागुण है, जिसके द्वारा संसार की समस्त वस्तुओं के यथावस्थित स्वरूप का बोध हो जाता है, जिसके होने पर साधक परम आनन्द का अनुभव करता है। सम्यग्ज्ञान के साथ सुध्यान होने पर तो वह बड़ी से बड़ी यातना, पीड़ा, परीषह, उपसर्ग या वेदना को समभाव से, शान्ति से, समझदारी से सहन करके कृतकर्मों का फल भोगकर उन्हें क्षय कर डालता है। इसीलिए, महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र में बताया है—

नाणं सुझाणं चरणस्स सोहा।

सम्यग्ज्ञान और सुध्यान ये दोनों मिलकर चारित्र की शोभा हैं।

आप भी इन दोनों को जीवन में साथ लेकर अपने चारित्र को उज्ज्वल, सुशोभित और वृद्धिगत कीजिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५३

शिष्य की शोभा : विनय में प्रवृत्ति

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष शिष्य-जीवन की शोभा के सम्बन्ध में चर्चा करना चाहता हूँ। शिष्य का जीवन कैसा होना चाहिए ? कौन-सा शिष्य-जीवन अच्छा है, कौन-सा बुरा ? किस प्रकार के शिष्य-जीवन से व्यक्ति अपना कल्याण एवं विकास कर सकता है एवं किस प्रकार के शिष्य-जीवन से नहीं ? इन सब पहलुओं पर मैं विश्लेषण करने का प्रयत्न करूँगा।

गौतमकुलक का यह बयालीसवाँ जीवनसूत्र है। इस जीवनसूत्र में महर्षि गौतम ने बताया है—

सीसस्स सोहा विणए पवित्ति।

'शिष्य की शोभा विनय-प्रवृत्ति में है।'

शिष्य क्यों और किस उद्देश्य से ?

भारतीय संस्कृति में एक बात पर बहुत जोर दिया गया है कि 'मनुष्य को अपने जीवन में शिष्य अवश्य बनना चाहिए, उसे किसी न किसी को गुरु अवश्य बनाना चाहिए, 'नगुरा' रहना ठीक नहीं है।' किसी न किसी गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करना भारतीय के लिए अनिवार्य था।

भारतवर्ष में मुख्यतया तीन प्रकार के गुरु माने जाते थे—

(१) कुलगुरु,

(२) विद्यागुरु या कलाचार्य, और

(३) धर्मगुरु (धर्माचार्य अथवा सम्प्रदाय का आचार्य अथवा साधु)।

इन तीनों प्रकार के गुरुओं के शिष्य बनने के पीछे आशय यही था कि शिष्य बनने वाला व्यक्ति कुल, विद्या या धर्म की मर्यादाओं का पालन करे, अनुशासन में रहे, उच्छृङ्खल न बने, मर्यादाओं या नीतियों का उल्लंघन करके अनाचारी या दुराचारी न बन जाए, गुरु के नियन्त्रण में रहे, गुरु के प्रति विनय, श्रद्धा, भक्ति आदि रखते हुए उनकी आज्ञाओं का निःसंकोच पालन करे। व्यक्ति विनीत और श्रद्धालु होकर किसी गुरु का शिष्य इसलिए बनता था कि किसी भी समय में कुल, विद्या या धर्म की मर्यादाओं या मौलिक नीति-नियमों का उल्लंघन करने लगूँ तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरु मुझे सावधान करके पथभ्रष्ट होने से बचाएँ, किसी विवादास्पद विषय में कोई उलझन हो तो सुलझाएँ, किसी विषय में मार्ग-दर्शन चाहूँ तो मार्गदर्शन, सुझाव, परामर्श या सलाह दें, कोई विवाद या कलह उपस्थित हो जाए तो न्यायोचित निर्णय दें। निष्पक्ष निर्णय (गुरुप्रदत्त) तुरन्त शिरोधार्य करना और गुरु की आज्ञा का श्रद्धा-भक्ति और विनय के साथ पालन करना शिष्य का प्रधान कर्तव्य था। गुरु शिष्य की उन्नति-अवनति, हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य का पूरा ध्यान रखता था, ताकि कुल, वर्ण और धर्म की मर्यादाओं की सुरक्षा हो।

कहीं शिष्य द्वारा जरा-सी भी मर्यादाओं का उल्लंघन होता तो निष्पक्ष गुरु बिना किसी लिहाज या संकोच के फौरन उसे टोकते, सावधान करते और सुपथ पर लाने का प्रयास करते।

अगर कदाचित् कोई शिष्य गुरुओं के परोक्ष में गुप्तरूप से अनाचार या पाप का सेवन कर लेता तो गुरु उसे नियमानुसार प्रायश्चित्त देकर या स्वयं उसके द्वारा आलोचना दोष स्वीकार करवाकर तथा यथोचित प्रायश्चित्त स्वीकार करवाकर उसकी जीवन-शुद्धि या आत्मशुद्धि करवाते थे। इस प्रकार अपने जीवन का नैतिक-धार्मिक दृष्टि से सर्वांगपूर्ण निर्माण हो, इस विचार से किसी गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करता था। गुरु पर यह जिम्मेवारी रहती थी कि वह शिष्य के जीवन में निहित कुसंस्कारों, कुविचारों, गलत प्रवृत्तियों, गलत आचरणों, खोटी आदतों एवं गन्दी कुटेवों को निकालकर उसे कुल, वर्ण (जाति) और धर्म के अनुशासन में रखकर सुसंस्कारों, सुविचारों, सदाचार के नियमों, शिष्टाचार, अच्छी आदतों आदि से उसके जीवन को सुशोभित करे। इस प्रकार शिष्यत्व स्वीकार करने के पीछे बहुत ही उदात्त भावनाएँ, उच्च आशय एवं जीवन-निर्माण की तमन्ना होती थी।

तुलसी की रामायण के अनुसार श्रीरामचन्द्रजी के कुलगुरु वशिष्ठ थे। महाराजा दशरथ अपने उत्तराधिकारी राजा बनाने की परम्परा में थोड़ा-सा रद्दोबदल करना चाहते थे। कुल-परम्परा यह थी कि राजा के मरने के बाद उसके बड़े पुत्र का राज्याभिषेक करके उसे राजा बनाया जाता था, किन्तु महाराजा दशरथ चाहते थे कि मैं अपने जीते-जी ही अपने बड़े पुत्र श्रीराम को राजगद्दी सौंप कर तप एवं संयम-साधना करते हुए अपना पिछला जीवन बिताऊँ। उनकी भावना उदात्त एवं पवित्र थी। मगर कुल-परम्परा में परिवर्तन कुलगुरु की राय के बिना नहीं हो सकता था। अतः कुलगुरु वशिष्ठ के समक्ष उन्होंने अपनी समस्या रखी। जिसका निर्णय यथोचित विचार-विमर्श के बाद ऋषि वशिष्ठ ने इस प्रकार दिया—

जो पांचहिं मत लागे नीका।
तो रघुवर सन कर हेहु टीका॥

अगर पंचों (चार वर्ण और पाँचवें—ब्राह्मण=गुरु वर्ग) को यह बात अच्छी (ठीक) लगे तो श्रीराम को राजतिलक दे दिया जाये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य बनने का मुख्य उद्देश्य जीवन-निर्माण

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि मनुष्य के शिष्य बनने का मुख्य उद्देश्य गुरु के निमित्त से अपना जीवन निर्माण करना है। गुजराती में जिसे 'घड़तर' कहते हैं, उसे ही हम हिन्दी में 'निर्माण' कहते हैं। निर्माण के बिना मानव-जीवन का ही नहीं, किसी भी पदार्थ का वास्तविक उपयोग नहीं होता। निर्माण या नवरचना का महत्व मैं व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—

आप सब जानते हैं, घड़ा मिट्टी से बनता है, परन्तु मिट्टी इधर-उधर बिखरी हुई पड़ी हो तो क्या उससे घड़े का काम लिया जा सकता है ? कदापि नहीं। कुम्भकार उस बिखरी हुई मिट्टी को अपनी आवश्यकतानुसार पहले इकट्ठी करता है, उसे पानी के साथ मिलाकर सान-गूँदकर एक पिंड बना लेता है, तत्पश्चात् उस मिट्टी के पिंड में से थोड़ी-सी मिट्टी लेकर चाक पर चढ़ाता है, चाक घुमाता है, घड़े का आकार बनाता है। इस प्रकार कच्चा घड़ा तैयार हो जाने पर उसे आँवे में पकाता है। मिट्टी के पिंड बनाने से लेकर आँवे में पकने पर घड़ा बनने तक की सारी प्रक्रिया को निर्माण, घड़तर या नवरचना कहते हैं। इसी प्रकार हीरा खान में पड़ा हो तब तक वह अनघड़ कहलाता है, वही हीरा जब शाण पर चढ़ाया जाता है, और उसके अलग-अलग पहल बनाये जाते हैं, तब उस हीरे का मूल्य अनेकगुना बढ़ जाता है। क्योंकि उस हीरे का नवसर्जन या नव-निर्माण हुआ है।

सरकस में आपने अनेक जानवरों के आश्चर्यजनक करतब देखे होंगे। अगर इन जानवरों को प्रशिक्षित न किया जाता, उन्हें ट्रेनिंग देकर अभ्यास न कराया जाता तो उनका घड़तर या नवसर्जन नहीं हो सकता और वे इतने आश्चर्यजनक पराक्रम नहीं दिखा सकते।

इसी प्रकार शिष्य के रूप में जो उनके सान्निध्य में आता है, गुरु उसका नव-सर्जन या जीवन निर्माण करते हैं। अनघड़, असंस्कारी और प्राकृतिक पशुसम जीवन को वे घड़-घड़कर प्रशिक्षित, सुसंस्कारी, सुगठित, गुणवान एवं पराक्रमी बनाते हैं। इसे ही हम शिष्य के जीवन का नवनिर्माण कह सकते हैं, जो गुरु द्वारा किया जाता है। अनघड़ एवं असंस्कारी मनुष्य का जीवन पशुसम या कभी-कभी पशु से भी गया-बीता होता है। वह उच्छृंखल, उद्दण्ड, स्वच्छन्द, असंयमी, अनुशासनहीन, अहंकारी एवं इन्द्रिय-विषयासक्त होता है, जबकि गुरु के सान्निध्य में शिष्य बनकर आने के बाद वही मनुष्य अनुशासित, प्रशिक्षित, संयमी, विनीत, नम्र, धर्ममर्यादा एवं धर्म के नियमों के नियन्त्रण में चलने वाला तथा इन्द्रियों पर अंकुश रखने वाला बन जाता है।

वाल्मीकि ऋषि का नाम तो आप सबने सुना ही होगा। उनका पूर्वजीवन रत्नाकर लुटेरे के रूप में अनघड़, असंस्कारी, उद्दण्ड एवं निरंकुश था। लूट-मार करने वाले व्यक्ति का जीवन दूसरों के लिए पीड़ादायक होता ही है। उसके जीवन में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हिंसावृत्ति, उद्दण्डता, उच्छृंखलता एवं स्वार्थवृत्ति होती ही है। परन्तु सौभाग्य से जंगल में पवित्रता की मूर्ति नारद मुनि से उसकी भेंट हुई। पहले तो उसने अपनी वृत्ति के अनुसार उद्धतता बताई। किन्तु नारद मुनि द्वारा दिये गये समयोचित युक्ति-संगत उपदेश से रत्नाकर के हृदय की आँखें खुल गईं। उसका हृदय-परिवर्तन हो गया। वह नारद मुनि का शिष्य बन गया और नारद मुनि के सान्निध्य एवं उपदेश के प्रभाव से धीरे-धीरे रत्नाकर का जीवन वाल्मीकि ऋषि के रूप में परिवर्तित हो गया। यह सब प्रताप गुरुवर नारद के शिष्य बनने के बाद वाल्मीकि के जीवन-निर्माण का था।

गुरु शिष्य की काया को तो नहीं, उसके हृदय एवं जीवन की कायापलट कर देता है। शिष्य की काया में भी गुरु के अनुशासन में रहने पर बहुत ही परिवर्तन हो जाता है। उसकी आदतों, रुचियों, वृत्तियों, स्वभाव एवं क्षमता में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है।

उपकारी गुरु के प्रति शिष्य का धर्म : समर्पण

यही कारण है कि गुरु के—विशेषतः धर्मगुरु के असंख्य उपकारों से उपकृत होने वाला सुशिष्य उनको अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखकर विनय और सेवा-सुश्रूषा करके वह उनका हृदय जीत लेता है। फिर तो गुरु अपने आप अपने सद्गुणों को शिष्य के जीवन में उतारता है। जब तक शिष्य गुरु के प्रति श्रद्धाभक्ति एवं विनय के साथ समर्पित नहीं हो जाता, तब तक गुरु के द्वारा वह असंख्य उपकारों से उपकृत, सुसंस्कृत एवं प्रशिक्षित नहीं हो सकता। इसीलिए चन्दन दोहावली में शिष्य पर गुरु के असंख्य उपकारों का वर्णन किया गया है—

गुरुचरणों का जो बना, 'चन्दन' सच्चा दास।
तीन लोक की सम्पदा, बसी उसी के पास॥

गुरुचरणों पर जो हुआ, 'चन्दनमुनि' कुर्बान।
उस नर-सम कोई नहीं, पुण्यवान गुणवान॥

जो जाता हो डूबने, लेते उसे उबार।
'चन्दन' श्रीगुरुदेव का, बहुत बड़ा उपकार॥

जिसकी सेवा-भक्ति पर, सद्गुरु बनें दयाल।
खोटे ग्रह बन जायेंगे, शुभतर 'चन्दनलाल'॥

'चन्दन' गुरु निजशिष्य को, रखते पुत्र-समान।
उन्हें सिखाते खोलकर, अपना ज्ञाननिधान॥

गुरु होते हैं अनुभवी, देते अनुभव-ज्ञान।
'चन्दन' कभी न चूकते, अर्जुन वाले बान॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ स्पष्ट है। वास्तव में गुरु के शिष्य पर इतने उपकार हैं कि उनसे उसका उऋण होना कठिनतर है। इसी बात को भगवान महावीर ने स्थानांग सूत्र में बताया है—

"तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो ! तं जहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स।"

"भगवान ने कहा—आयुष्मान श्रमणो ! तीन पद दुष्प्रतिकार हैं—उनसे उऋण होना दुःशक्य है—

(१) माता-पिता से,

(२) भर्ता (पालन-पोषणकर्ता) से और

(३) धर्माचार्य (धर्म गुरु) से।

शिष्य स्वतः स्फुरणा से गुरु के प्रति विनीत बने

आजकल के कई विवेकमूढ़ शिष्य गुरु के उपकारों को स्मरण नहीं करते, न वे श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से उन्हें देखते हैं। इसलिए आजकल बहुत-से गुरु चिन्तित हैं कि शिष्य हमारी बात नहीं सुनते, हमारे प्रति सम्मान व श्रद्धा-भक्ति उनमें नहीं रहा, आये दिन गुरु उन्हें विनय का पाठ जोर-शोर से पढ़ाते हैं, रटाते हैं, विनय की गाथाएँ कण्ठस्थ करा देते हैं, फिर भी उनमें श्रद्धा, भक्ति या विनय की मात्रा नहीं बढ़ती और वे गुरु के सामने तने के तने रहते हैं। स्कूलों और कालेजों में विद्यागुरुओं की दशा तो और भी खराब है, वहाँ तो लगभग ७०-७५ प्रतिशत विद्यार्थी शिष्य ऐसे निकलेंगे, जो अपने विद्यागुरुओं का आदर नहीं करते, बल्कि उनकी अवज्ञा कर बैठते हैं, उनकी आज्ञाओं पर कोई ध्यान नहीं देते। इसलिए विद्यागुरुओं की भी बहुत बड़ी शिकायत है, छात्रों में अनुशासनहीनता, अविनीतता एवं उद्दण्डता में वृद्धि की।

मैं समझता हूँ इससे बड़ा दुर्भाग्य गुरुओं का क्या होगा ? गुरुओं के लिए रोने के दिन आ गये हैं, कि शिष्य उनकी कद्र नहीं करते। परन्तु इसमें मूल गलती गुरुओं की है, शिष्यों की नहीं। जैसे माता-पिता अतिशय लाड़ लड़ाकर अपनी सन्तान को बिगाड़ देते हैं, खर्चीला, असंयमी और उद्धत बना देते हैं, वैसे ही अयोग्य गुरु शिष्यों पर अतिशय लाड़-प्यार एवं मोह के कारण उन्हें सच्चा ज्ञान नहीं देते। कई गुरु स्वयं अयोग्य होते हैं, स्वयं कई दोषों के शिकार होते हैं, जिन्हें शिष्य जान जाते हैं, फिर उन गुरुओं के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति समाप्त-सी हो जाना स्वाभाविक है। गुरु को स्वयं सद्गुरु बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रारम्भ से ही शिष्य को इतना प्रशिक्षित, अनुशासित और सुसंस्कृत करना चाहिए ताकि शिष्य को विनय, सेवा-शुश्रूषा और श्रद्धा-भक्ति के लिए बार-बार कहना, डाँटना-डपटना, झिड़कना, उसे दूसरों के सामने टोकना, अपशब्द कहना आदि न पड़े,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह स्वतः ही अपनी स्फुरणा से गुरु के उपकार-भार से दबकर उनके प्रति विनय, श्रद्धा-भक्ति और सेवा-सुश्रूषा करने में प्रवृत्त हो जाये। दशवैकालिक सूत्र में विनीत शिष्य की अन्तःप्रेरणा बताई गई है—

जे मे गुरु सययमणुसासयंति।
तेहिं गुरु सययं पूययामि॥

"गुरुदेव मुझे सतत अनुशासित करते हैं, हितशिक्षा देते हैं, (यह मेरे पर बहुत बड़ा उपकार है।) इसी कारण से गुरु की मुझे सतत पूजा-सेवा, सत्कार, भक्ति-शुश्रूषा करनी चाहिए।"

सच्चा गुरु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शिष्य के साथ ऐसा व्यवहार करेगा, या इस प्रकार से उसका जीवन-निर्माण करेगा कि स्वतः उसके हृदय में गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति, विनय-बहुमान की भावना उमड़े। गुरु के कहने की भी जरूरत न पड़े, न समर्पण करने, प्रेरणा देने की आवश्यकता रहे। गुरु के प्रति जिस शिष्य का स्वतः चुम्बकीय आकर्षण होगा, वह गुरु के चरणों में स्वतः सर्वस्व समर्पित कर देगा।

एक गुरु और शिष्य भ्रमण करते हुए एक जंगल में पहुँच गये। शिष्य बहुत चलने से अत्यन्त थक गया था, यह देखकर गुरु उपयुक्त स्थान देखकर विश्राम करने के लिए रुके। शिष्य भी गुरु की प्रिय गोद में मस्तक रखकर निद्राधीन हो गया। शिष्य जब गाढ़ निद्रा में था, तब गुरु जाग रहे थे। इतने में एक काला सर्प सरसराता हुआ शिष्य की ओर आने लगा तो गुरु ने धीरे-से एक ओर खिसककर उसे रास्ता देना चाहा। पर सर्प तो एकदम निकट आ गया।

गुरु उसे हाथ से रोकने लगे तो वह मनुष्यवाणी में बोला—"महात्मन्! मुझे तुम्हारे इस शिष्य को काटना है, इसलिए रोकिए मत।"

गुरु ने सर्प से पूछा—"पर कुछ कारण तो होगा न, इसे काटने का?"

सर्प बोला—"कारण यही है कि इसने मेरा रक्त पिया था, अब मुझे इसका रक्त पीना है। इसने मुझे बहुत सताया है, अतः इससे वैर का बदला लिये बिना नहीं छोड़ूँगा। इसीलिए तो मैंने सर्प का रूप धारण किया है। आप कृपया मुझे रोकें नहीं। रोकेंगे तो मैं और किसी समय आपकी अनुपस्थिति में आकर इसे काटूँगा, छोड़ूँगा नहीं।"

क्रुद्ध सर्प का वचन सुनकर गुरु ने सर्प को समझाया—"भाई! अपना आत्मा ही अपना शत्रु है, दूसरा कोई नहीं। तू इसे काटेगा, तो तेरे प्रति इसके हृदय में वैर जागेगा। यह इस शरीर को छोड़कर नया धारण करेगा, फिर वैर का बदला लेगा, फिर तू भी वैरभाव को लिए हुए मरकर दूसरे जन्म में वैर का बदला देगा, उसके बाद यह लेगा। यों वैर की परम्परा बढ़ेगी, फायदा क्या होगा?

सर्प—"महात्मन्! आपकी बात सच्ची है, पर मैं इतना ज्ञानी नहीं हूँ। आप समर्थ पुरुष हैं, मैं नहीं। माफ कीजिए, मैं वैर का बदला लिए बिना इसे नहीं छोड़ूँगा।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरु—"तो भाई ! तू इसके बदले मुझे काट ले।"

सर्प—आप जैसे पवित्र पुरुष को काटकर मैं घोर नरक में जाऊँगा ? अपराध इसने किया है, आपने नहीं। अतः मैं इसे ही काटूँगा, इसी का खून पीऊँगा।"

अन्त में, जब सर्प बहुत समझाने पर भी न समझा तो गुरुजी ने कहा—"अगर मैं तुम्हें इसी का रक्त निकालकर दे दूँ तो सन्तुष्ट हो जाओ न ?"

सर्प बोला—"भले ऐसा कीजिए, मुझे तो इसी के गले का खून पीना है।"

गुरु ने कहा—"अच्छा वैसा ही करूँगा। फिर तो तुम इसे कभी नहीं काटोगे न ?"

सर्प ने स्वीकार किया।

गुरुजी शिष्य की छाती पर चढ़े और पत्ते का दोना उसके गले के निकट रखकर एक चाकू से गले के पास चीरा लगाया फिर दोने में खून संग्रह करके वे सर्प को पिलाने लगे। अब शिष्य कैसे सो सकता था। उसकी निद्रा उड़ गई। पर उसे जब ज्ञात हुआ कि गुरुजी छाती पर चढ़कर गले से खून निकालकर सर्प को पिला रहे हैं, तब वह तुरन्त आँखें मूँदकर चुपचाप लेटा रहा। रक्त की धारा निकली, पर शिष्य ने कुछ भी चूँ-चाँ न की। सर्प को जब तृप्ति हो गई तो वह वापिस चला गया। गुरु ने सर्जन डाक्टर की तरह उस घाव को बन्द करके उस पर वन्यौषधि लगा दी, और पट्टी बाँध दी। जब गुरुजी छाती पर से नीचे उतर गए, तब शिष्य उठ बैठा।

गुरु ने उपालम्भ की मुद्रा में उससे कहा—"इतनी जबर्दस्त नींद है तेरी ! तुझे कुछ पता चला या नहीं, अब तक क्या हो रहा था ?"

शिष्य सविनय बोला—"जी हाँ, गुरुदेव ! मुझे सब पता है। आप मेरी छाती पर बैठे थे, हाथ में चाकू था, गले के पास चीरा लगाकर रक्त निकाल रहे थे।"

गुरु—"वत्स ! तब तू बोला क्यों नहीं ?"

शिष्य ने विनय-भक्तिपूर्वक उत्तर दिया—"गुरुदेव ! मैंने सोचा, आप जो कुछ करते होंगे, मेरे हित के लिए कर रहे होंगे। मुझे आपके प्रति पूरी श्रद्धा और प्रतीति थी। मैं हृदय से आपके प्रति समर्पित था, इसलिए मुझे कुछ बोलने की गुंजाइश ही नहीं थी गुरुदेव !"

गुरु ने देखा कि शिष्य के हृदय में मेरे प्रति स्वतः स्फुरित विनय बहुमान, श्रद्धा-भक्ति एवं समर्पण भावना है। अतः गुरु के अन्तर् से सहज आशीर्वाद फूट पड़ा—"धन्य हो वत्स ! तेरा कल्याण हो, तेरी आत्मा गुणों से परिपूर्ण होकर विकास के शिखर पर पहुँचे।"

यह है, शिष्य द्वारा परम हितैषी परोपकारी गुरु के प्रति स्वतः समर्पण एवं श्रद्धा-भक्ति की भावना !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन-विद्या कैसे और किससे प्राप्त हो सकती है ?

प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) गुरु के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर विचार प्रस्तुत करता है—

Those who educate children well are more to be honoured than even their parents, for these only give them life, those the art of living well.

वे, जो कि बच्चों को सुशिक्षण देते हैं, उनका अपने माता-पिताओं की अपेक्षा उन बच्चों द्वारा अधिक आदर किया जाना चाहिए, क्योंकि माता-पिता तो केवल जीवन देते हैं, जबकि गुरु सुन्दर ढंग से जीवन जीने की कला सिखाते हैं।

जीवन-विद्या स्कूली शिक्षा या पुस्तकीय ज्ञान नहीं है, वह है जीवन को सार्थक करने वाली, विचित्रताओं से भरे ऊबड़-खाबड़ जीवन-पथ पर आसानी से उत्साह-पूर्वक चलने में सहायक। जीवन-विद्या पारसमणि है, जिसका स्पर्श पाकर डिग्री-डिप्लोमारहित साधारण जीवन भी सार्थक हो जाता है। संसार के अधिकांश महा-पुरुषों का अक्षर-ज्ञान या स्कूली शिक्षण आज के अनेकों उच्च शिक्षा-सम्पन्न डिग्री-धारियों से कम ही था, लेकिन उन्होंने अपने गुरुओं से जो जीवन-विद्या अर्जित की, उसके कारण जीवन के कठोर धरातल पर अनुशासन का कठोर कदम उठाया, अपने को कसा, माँजा और कठोर परीक्षाओं में पास हुए। संसार को उन्होंने अभिनव प्रकाशित मार्ग प्रदान किया। कबीर, रैदास, नानक, तुलसी, सूरदास, मीरां, तुकाराम, सन्त ज्ञानेश्वर आदि ने उच्च डिग्री पाये बिना ही जीवन-विद्या अर्जित करके कई ग्रन्थों या वाणियों की रचना की थी। जीवन-विद्या पाकर मनुष्य अपनी क्षमता एवं स्थिति के अनुसार ही यथार्थता की धरती पर जीवन के भव्य भवन का निर्माण कर सकता है।

बाह्य शिक्षा के साथ आन्तरिक शिक्षण का समन्वय पैदा करने से जीवन-विद्या सफल हो सकती हैं। इस जीवन-विद्या के अभाव में जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता सम्भव नहीं है। अतः लोकव्यवहार से लेकर सेवा, भक्ति, परमार्थ, व्यापार-व्यवसाय, उपदेश-प्रदान आदि सभी क्षेत्रों में जीवन-विद्या की आवश्यकता होती है। जीवन-विद्या के अभाव में परमार्थ की दुहाई देकर रात-दिन श्रम करने वाले स्वार्थी बन जाते हैं, निष्काम सेवा के पथिक लोक संग्रह में—कामनाओं, नामनाओं की पूर्ति में लग जाते हैं, भक्तजन आसक्त और नियमों और क्रियाओं का आचरण करने वाले पाखण्डी एवं नास्तिक बन जाते हैं। जीवन-विद्या से शून्य व्यक्ति धीरे-धीरे शुभ के स्थान पर अशुभ, परमार्थ की जगह स्वार्थ की साधना में तथा दूसरों की सेवा करने के बदले अपना घर भरने लग जाते हैं। वर्तमान समस्याएँ, दुःख, परेशानियाँ, कष्ट, उलझनें, संघर्ष, अशान्ति, शारीरिक-मानसिक पीड़ाओं का मूल कारण जीवन-विद्या का अभाव है। ऐसी जीवन-विद्या किताबों से या रेडियो, टेलीविजन, पत्र-पत्रिकाओं आदि से प्राप्त नहीं होती, न ही आजकल के मोहग्रस्त माता-पिताओं द्वारा ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होती है; वह प्राप्त होती है या तो निसर्ग-प्रकृति की खुली पाठशाला से, या फिर सद्गुरुओं की कृपा से। यही बात तत्त्वार्थसूत्र में कही है—

'तन्निसर्गादधिगमाद् वा।'

"वह सम्यग्दर्शन—सच्ची दृष्टि, आध्यात्मिक ज्ञान निसर्ग से या अधिगम—गुरु आदि के निमित्त से प्राप्त होता है।"

प्रकृति से जीवन-विद्या प्राप्त करने वाले बहुत बिरले हैं। अधिकांश व्यक्तियों को गुरु द्वारा ही वह प्राप्त होती है। बादल, झरने, नदी, समुद्र, पर्वत, सूर्य, चन्द्र आदि विश्व के विद्यालय की पुस्तकें हैं। सारी सृष्टि जीवन-विद्यानिष्ठ के लिए खुली हुई पुस्तक है। परन्तु वह भी प्रायः गुरु द्वारा दिव्य दृष्टि—ज्ञानचक्ष खोलने पर ही आती है।

गुरु शिष्य को ऐसी जीवन-विद्या उसके विनय, नम्रता, जिज्ञासा, श्रद्धाभक्ति, आदि से प्रेरित होकर दिल खोलकर देता है। गुरु के प्रति निष्कपट समर्पण का कई-गुना फल शिष्य को मिलता है।

गुरु का कठोर व्यवहार और विनीत शिष्य

कई बार ऐसा मालूम होता है कि गुरु शिष्य के प्रति अत्यन्त कठोर व्यवहार कर रहे हैं। गुरु के द्वारा किये जाते हुए कठोर व्यवहार को देखकर सुविनीत और समर्पित शिष्य उसे अपने लिए महान् हितकर समझता है, वह उन्हें अपना हितैषी और उपकारी समझता है, लेकिन जिसके हृदय में गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं है, विनय-भक्ति नहीं है, समर्पण भावना नहीं है, वह सोचता है, कि गुरु मेरे पर अत्याचार कर रहे हैं, वे प्यार करने के बदले मुझे डाँट-डपट करते हैं, मेरे किये हुए कार्यों की नुक्ताचीनी करते हैं, मेरे सामने मेरी कभी प्रशंसा नहीं करते, उल्टे आलोचना ही करते हैं, इसलिए वे मेरे प्रति द्वेष और दुर्भाव रखते हैं, वे मेरे शत्रु हैं। इसी विचार को उत्तराध्ययन सूत्र में मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है—

अं मे बुद्धाणुसासंति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभोत्ति पेहाए, पयओ तं पडिसुणे॥
अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णइ पण्णो, वेसं होइ असाहुणो॥

प्रबुद्ध गुरुदेव मुझ पर ठण्डे अथवा मन्द या कठोर अनुशासन का प्रयोग करते हैं, उसमें मेरा ही लाभ है, यह मानकर बुद्धिमान एवं विनीत शिष्य ध्यानपूर्वक उनकी बात सुने और उन्हें आश्वासन दे कि भविष्य में ऐसा नहीं होगा या जैसा आप कहते हैं, वैसा ही होगा। गुरु द्वारा किये जाने वाले कठोर अनुशासन के प्रयोग और दुष्कृत (अकृत्य) के लिए की गई प्रेरणा (वाचिक भर्त्सना) को देखकर प्राज्ञ शिष्य गुरु को अपना हितैषी मानता है, जबकि असाधु (दुर्जन या मूढ़) शिष्य उन्हें द्वेषी समझता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस शिष्यों के हृदय में गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति या विनय-बहुमानता होती है, वह गुरु के द्वारा दिये जाने वाले कठोर दण्ड एवं वचनों को अपने में रहे हुए दोषों, बुराइयों और दुर्वृत्तियों को निकालने और स्वयं को सुधारने का उपाय समझ कर उन्हें महान् उपकारी मानते हैं। वे समझते हैं कि जिस तरह कुंभार घड़ा बनाते समय जब तक वह कच्चा होता है, तब तक ऊपर से लकड़ी के डण्डे से थप-थप मारता है, लेकिन अन्दर वह हाथ भी रखता है, ताकि घड़ा फूट न जाए, उसी तरह गुरु अपने सुविनीत शिष्य को ऊपर से फटकारते हैं, दण्ड भी देते हैं, कठोर वचन भी कह देते हैं लेकिन उनके अन्तर् में शिष्य के प्रति लबालब प्यार होता है।

यही बात सन्त कबीर कहते हैं—

गुरु कुम्हार, शिष्य कुम्भ है, घड़-घड़ काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहारा दे, बाहर बाहै चोट॥

वे यह देखते रहते हैं, कि इसका कोई अंग-भंग या अहित न हो जाए। शिष्य की कमियों और त्रुटियों को दूर करने हेतु ही गुरु ऊपर से वचनादि द्वारा प्रहार भी करते हैं तो अन्दर से प्यार का हाथ भी होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने गुरु के लिए ठीक ही कहा है—

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजंगमपुंगवात्।
अन्तःसाक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः॥

'ऊपर से तलवार की धार के समान तीक्ष्ण आकृति वाले तथा महा-विषधर से भी बढ़कर क्रूर, किन्तु अन्दर से मानो मधुर द्राक्ष को भी प्रत्यक्ष माधुर्य-दीक्षा देने वाले कई गुरुजन संसार में विजयी होते हैं।'

वास्तव में सच्चा गुरु बाहर से चाहे जितना कठोर हो, उसके अन्तर् में शिष्य के प्रति वात्सल्य की मधुर धारा बहती है।

ज्ञानपिपासु पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुरु परिपूर्णानन्दजी से भारतीय विद्याओं का अध्ययन करने आये थे। उन दिनों की बात है—एक दिन वे जब अपने गुरु परिपूर्णानन्दजी के हाथों बुरी तरह पीटे गये तो एक हितैषी ने उन्हें कहा—"क्यों भैया! आपको आपके गुरुदेव इतना मारते और कड़ुआ बोलते हैं, फिर भी आप उनकी सेवा इतनी लगन और तत्परता से करते हैं, जैसे वह आपके माता-पिता हों। इतनी श्रद्धा व्यक्त करने की अपेक्षा तो आप अपने घर चले गये होते और अँग्रेजी पढ़ ली होती तो वह किसी काम आती। कोई अच्छी नौकरी मिल जाती और अपनी इस छोटी-सी मनुष्य की जिन्दगी में मौज करते।"

उस तरुण विद्यार्थी ने गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा से पूर्ण उत्तर दिया—"हाँ, वे मुझे मारते हैं, तो प्यार भी तो बेहद करते हैं। आपका तात्पर्य है कि मैं अपने आर्षज्ञान को तिलांजलि देकर बौद्धिक पराधीनता स्वीकार करूँ। आपकी सलाह और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवेदना के लिए आभार, किन्तु भाईजी ! मुझे पद, प्रतिष्ठा और यश की कामना कम, मनुष्य-जीवन के सदुपयोग और सार्थक करने की चिन्ता अधिक है। मैं अपने जीवन को विलासिता में डालकर बिगाड़ना नहीं चाहता, किन्तु गुरुसान्निध्य में रह कर उसे सुधारना और सुसंस्कृत करना, उसका नवसर्जन करना चाहता हूँ।"

फलतः पण्डित ब्रह्मदत्तजी ने वैदिक युग के गुरुकुलीय विद्यार्थी की तरह अपना जीवनक्रम प्रारम्भ किया और निष्ठापूर्वक विद्याध्ययन भी किया। यही कारण है कि पण्डितजी का जीवन बच्चों की तरह सरल, निश्छल और निरभिमान बना। उनमें पांडित्य का दर्प नहीं था, न अपनी पद-प्रतिष्ठा के लिए भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत सादी वेशभूषा छोड़ने का स्वार्थ था। वे इतने दृढ़व्रती थे कि १५ अगस्त १९६२ को जब उन्हें 'राष्ट्रीय सम्मानित पण्डित' की उपाधि मिली, तब राष्ट्रपति भवन से सम्मान करने की शासकीय सूचना आई कि अमुक तारीख को काला कोट और पायजामा पहन कर राष्ट्रपति भवन में आना चाहिए।

इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"मैं जिस वेशभूषा में रहता हूँ, उसी में आऊँगा। यदि इसमें कुछ आपत्ति हो तो मैं बेशक यह सम्मान छोड़ने के लिए तैयार हूँ।" उसके बाद वे राष्ट्रपति भवन तभी गए, जब उन्हें अपनी ही भारतीय वेशभूषा में आने की स्वीकृति दे दी गई।

पण्डितजी के हृदय में मानव-मानव में कोई भेद-भाव नहीं था। घर में आए हुए साधारण चपरासी की भी वे वैसी ही आवभगत करते थे, जैसी कि एक संभ्रान्त व्यक्ति की। जन्म से कोई भी अछूत हो जाता है, इस भूल भरी मान्यता से पण्डित जी कोसों दूर थे।

पण्डित ब्रह्मदत्तजी में ये सद्गुण, ये सुसंस्कार कहाँ से आए थे ? अपने गुरु के सान्निध्य से, सेवा-सुश्रूषा और श्रद्धाभक्ति से ही।

सच्चा गुरु शिष्य को पथभ्रष्ट होते रोकता है, कब और कैसे ?

सच्चा गुरु अपने सुविनीत और श्रद्धाभक्ति से ओतप्रोत शिष्य को जब सुख-सुविधा, स्वार्थ और वासना की झाड़ियों में फँसते देखता है तो उसका हृदय उसे पथ-भ्रष्ट होने से रोकने के लिए छटपटाता है। वह शीघ्र ही किसी न किसी उपाय से शिष्य की आँखें (ज्ञाननेत्र) खोल देता है, ताकि वह स्वयं उत्पथ और सुपथ का ज्ञान-विवेक कर सके और उत्पथ को छोड़कर सुपथ को ग्रहण कर सके। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धाभक्ति, विनय-बहुमान और सेवा-शुश्रूषा की भावना हो। शिष्य में आई हुई लोभवृत्ति को गुरु किस कौशल से दूर करते हैं, और उसे हेय-उपादेय का ज्ञान प्रत्यक्षवत् करा देते हैं, इसके सम्बन्ध में एक प्राचीन वैदिक युग का उदाहरण लीजिए—

महर्षि उद्दालक के आश्रम में शिखिध्वज उच्च साधना करने आया था। उसकी कुछ योग्यताओं की जाँच करके गुरु उद्दालक ऋषि ने उसे मन्त्रदीक्षा देते हुए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा—"शिखिध्वज ! देखो, अपनी सेवा स्वयं करना, ब्रह्मचर्यव्रत पालन, भूमिशयन, वल्कलवसन तथा उपवास और उपासना से बचे हुए समय में धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय, चिन्तन, मनन साधना की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हैं। आज तुम्हारी मन्त्रदीक्षा सम्पन्न हुई है। अब से तुम पूजन सामग्री, उपयुक्त पात्र तथा कुशासन अपने पास रखना, पंचोपचारसहित मन्त्र जप करना, और शुभ्रज्योतिस्वरूप निराकार भगवती गायत्री का ध्यान करना। जब तुम इस प्रारम्भिक साधना को सफलतापूर्वक पार कर लोगे, तो आगे उच्चस्तरीय साधना के लिए तुम्हें अग्निदीक्षा दी जाएगी।"

यह कहकर महर्षि उठ खड़े हुए। शिखिध्वज में गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा-भक्ति थी। इसीलिए उन्होंने उसे मन्त्रदीक्षा दी थी। श्रद्धा शिष्य की प्रारम्भिक परख है। आत्म-जिज्ञासा होना और बात है, श्रद्धा और जिज्ञासाएँ तो नास्तिकों में भी होती हैं, किन्तु दुर्बल मानवीय स्वभाव के विपरीत ऊर्ध्वगामी जीवन और कष्टपूर्ण साधनाओं में जिस धैर्य की आवश्यकता होती है, वह श्रद्धावान, सुविनीत व्यक्तियों में ही होती है। इसीलिए कहा है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्, श्रद्धया सत्यमाप्यते।

अर्थात् श्रद्धावान ही ज्ञानार्जन करते हैं, श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है।

हाँ तो, श्रद्धा-भक्तिपूर्ण हृदय से शिखिध्वज ने गुरु-चरणों में प्रणिपात किया, महर्षि ने आशीर्वाद दिया और दोनों अपने-अपने पर्णकुटीरों में चले गये।

एक वर्ष में शिखिध्वज ने भली-भाँति अनुभव कर लिया कि संसार जड़-चेतन दोनों प्रकार के परमाणुओं से बना है। जिस प्रकार जड़ परमाणु इधर-उधर घूमते हुए अपना दृश्य जगत बनाते रहते हैं, उसी प्रकार चेतना भी आनन्द प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ विचरण करती रहती है। जब तक मन जड़ परमाणुओं से बने संसार में सुख खोजता है, तब तक वह भूले हुए पथिक की तरह वन और कांटों में विचरण का-सा कष्ट पाता है, जब वह यह जान लेता कि आत्मा की आनन्द-पिपासा विराट्-आत्मा बनने से बुझती है, तो फिर वह जन्म-मरण के चक्र में आत्म-चेतना को भटकाता नहीं, वरन् अपने भौतिक संस्कारों को प्रक्षालन करने और आत्मा को परमात्मा में अन्तर्लीन करके असीम आनन्द प्राप्ति की तैयारी में जुट जाता है।

साधना का यह द्वितीय (अग्नि-दीक्षा का) द्वार सिद्धान्ततः जितना सरल है, व्यवहार में उतना ही कठिन है। जन्म-जन्मान्तरों का अभ्यासी मन लौकिक एवं भौतिक सुखों को झटपट त्यागने के लिए तैयार नहीं होता। बड़ा भारी संग्राम करना पड़ता है, तब कहीं मन की मलिनताएँ, वासनाएँ दूर होती हैं। इस स्थिति तक पहुँचे हुए साधकों को भी उनकी थोड़ी-सी चूक पथभ्रष्ट कर सकती है, पहाड़ जैसी उपलब्धियों से पलभर में नीचे गिरा सकती है। इसीलिए योग्य गुरु या आचार्य शिष्य को अग्निदीक्षा तभी देते थे, जब वह इतनी पात्रता प्राप्त कर लेता था।

मन्त्रदीक्षा की वर्षगाँठ श्रावणी पर्व पर पड़ती थी। शिखिध्वज ने गुरुदेव के चरणों में सविनय प्रार्थना की—"गुरुदेव ! आपकी कृपा से प्रारम्भिक साधना का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम चरण आज पूरा हो रहा है। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मैं अब उच्च-स्तरीय साधनाओं में प्रवेश करके सिद्धियाँ प्राप्त करूँ, पंचकोशों का अनावरण करके आनन्दमय भूमिका में पहुँचूं।"

जीवन के पारखी महर्षि शिष्य की निष्ठा से प्रसन्न तो हुए, मगर भीतरी दृढ़ता को टटोले बिना आगे की साधना की स्वीकृति नहीं दी। अभी उन्हें शिखिध्वज की अग्निदीक्षा के उपयुक्त पात्रता की परीक्षा करनी थी।

अतः महान तपस्वी, अनेक सिद्धियों के भण्डार महर्षि ने गायत्री-प्रदत्त पारस-मणि चुपचाप निकाली और एक अन्य विद्यार्थी को भेजकर थोड़ा-सा लोहा मंगाया। वह कई लौह-शलाकाएं लेकर उपस्थित हुआ। महर्षि ने उन लौहशलाकाओं से ज्यों ही पारसमणि का स्पर्श कराया, त्यों ही वे सब सोने की बन गयीं। शिखिध्वज गुरु का चमत्कार देखकर आश्चर्यचकित हो गया। उसके मन में जड़ द्रव्य के सम्पर्क से सुख-प्राप्ति का दुर्विचार उठा—'अहा! धन से ही तो धर्म होता है, धर्म से पुण्य और पुण्य मुक्ति! मुक्ति-मार्ग मिल गया मुझे। बस, यह पारसमणि मिलते ही मैं मुक्तिपथ पा लूंगा।'

एक वर्ष की साधना के द्वारा निर्मल किया हुआ मन एक ही क्षण में लोभ—पारसमणि के लोभ की कीचड़ में डूब गया। चढ़ने में परिश्रम और समय दोनों लगाने पड़ते हैं, लेकिन फिसलने में कितनी देर लगती है!

महर्षि शिखिध्वज की मनोवृत्ति को भाँप गए, वे सोचने लगे—जो व्यक्ति इतनी कमजोर निष्ठा वाला है, वह अग्निदीक्षा का अधिकारी कैसे हो सकता है? यह तो धन की बात थी, अभी तो सौन्दर्य, यश, स्वर, भौतिक सुख-सुविधा आदि के कितने ही आकर्षण हैं। इस एक (धन) के आकर्षण से ही मुक्त न हो सका, वह ब्रह्म-दीक्षा तक पहुँचने की कठिनाई कैसे झेल सकेगा? सर्वशक्तिमान ब्रह्म और उसका अन्यतम ऐश्वर्य प्राप्त करने की कठिनाइयों और आग्नेय परीक्षाओं का अनुमान ही वह कैसे कर सकता है? आत्म-प्राप्ति का परम पुरुषार्थ तो बहुत चढ़ाई का रास्ता है। उसमें समस्त इच्छाओं, अहंकार आदि वासनाओं को नष्ट करना पड़ता है। किन्तु शिखिध्वज तो पहले ही चरण में ढेर हो गया।

महर्षि उद्दालक कुछ कहें, उससे पहले ही उसने अपना मन्तव्य बतलाते हुए कहा—"गुरुदेव! आप सचमुच भगवान हैं, सर्वसमर्थ हैं। कितना अच्छा हो, आप यह पारसमणि मुझे दे दें। इससे प्राप्त स्वर्ण-राशि का उपयोग मैं समाजहित में, यज्ञ-कार्यों में करूँगा और इस तरह संसार से मुक्त हो जाऊँगा।"

गुरु अपने शिष्य शिखिध्वज के बचकानेपन पर मुस्कराये, कुछ गम्भीर होकर उन्होंने कहा—"वत्स! पारसमणि को लेकर यदि तुम सांसारिक आकर्षणों में फँस कर अपना पतन कर लो, पापपंक में डूबकर धर्म-मर्यादाओं को कलंकित कर डालो, तो क्या पता? इसलिए पहले तुम्हें इस सत्यता को सिद्ध करना होगा कि धर्म और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिकता में, आसक्ति और वैराग्य में कौन श्रेष्ठ है, कौन बड़ा है? चलो, आज हम यहाँ से दूर चलेंगे।"

शिखिध्वज महर्षि उद्दालक के साथ चल दिया। दोनों दिन भर चलकर रात्रि को वहाँ से ५ योजन दूर एक गाँव में पहुँचे। उस गाँव में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का बाहुल्य था। एक कुलीन के गृहस्थ के यहाँ वे टिके।

सन्ध्या-उपासना करके उद्दालक ने गृहस्थ को बुलाकर कहा—"यदि आप अपनी युवा-पुत्री को रातभर के लिए हमारे पास रहने दें तो हम मन्त्र शक्ति से आपके घर में उपलब्ध सारे लोहे को स्वर्ण राशि में बदल सकते हैं।"

पहले तो गृहस्थ इस संन्यासी की धूर्त्तता पर झुँझलाया लेकिन स्वर्ण राशि के लोभ में शिखिध्वज की तरह वह भी फिसल गया। सोने के लोभ में पुत्री देना स्वीकार कर लिया। वैभव-विलास के रंगीन सपनों ने उसकी प्रतिरोध शक्ति नष्ट कर दी। महर्षि ने उस गृहस्थ के घर की लोह राशि स्वर्ण में बदल दी। गृहस्थ ने अपनी पुत्री महर्षि को समर्पित कर दी। महर्षि ने बालिका की पीठ पर स्नेह का हाथ फेरते हुए कहा—"पुत्री! तुम्हारी पितृभक्ति प्रशंसनीय है, पर धन के लोभी पिता की आज्ञा से धार्मिक मर्यादाएँ महान् होती हैं। तुम्हें पिता के अनुचित एवं अविवेकपूर्ण निर्णय को नहीं मानना चाहिए था, आवश्यकता पड़ने पर उनका प्रतिरोध करना चाहिए था।"

शिखिध्वज ने यह सब अपनी आँखों से देखा। इसके बाद महर्षि वहाँ रुके नहीं, रात को ही आगे चल पड़े।

प्रातः होने तक गुरु-शिष्य पारावती नगर पहुँचे। सन्ध्यावन्दन के पश्चात वे एक धनी सेठ के यहाँ अतिथि बने। धनिक ने उनका स्वागत किया। महर्षि ने स्वागत के बदले उससे कहा—"एक घण्टे में आप जितना लोहा ला सकें, ले आइए; हम उसे स्वर्ण में बदल देंगे।" वणिक का मन हर्ष से नाच उठा। उसने सारे घर को लोहा बटोरकर लाने में लगा दिया। आध घण्टे में घर का सारा लोहा इकट्ठा कर लिया। वणिक की इच्छा इतने से तृप्त न हुई। पड़ोस में लुहार का घर था, अपने पुत्रों को भेजकर उसका बहुत-सा लोहा चोरी करवा लिया। दीन लुहार की आजीविका छिन जाने का भी सेठ को ख्याल न रहा। लोहे का अम्बार लग गया।

महर्षि ने हँसकर कहा—"आह! तृष्णे! तू कभी पूर्ण न हुई, मनुष्य तेरे पीछे पागल की तरह कितना दौड़ता फिरा!" और उन्होंने वह लोहा भी सोने में बदल दिया। आगे चल पड़े।

अगली सन्ध्या राजगृह में बिताई। वहाँ का राजा अपने पुत्र के विवाह की तैयारी में था। महर्षि ने उसे बुलाकर कहा—"यदि वह किसी नवजात शिशु को बलिदान के लिए दे सके तो उसके राजभवन की प्रत्येक वस्तु को सोने में बदला जा सकता है।" लोभी राजा ने पड़ोसी महिला के बच्चे को गोद से छिनवा मँगाया और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महर्षि को भेंट कर दिया। महर्षि ने उस बच्चे को तो उसकी माँ के पास पहुँचा दिया; परन्तु शिखिध्वज को इससे यह शिक्षा मिल गई कि लोभी मनुष्य समाज के लिए भी कितना घातक हो सकता है।

वहाँ से आगे बढ़कर अगले दिन दोनों एक विद्वान ब्राह्मण के यहाँ पहुँचे। महर्षि ने कहा—"यदि आप अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ मुझे बेच दें, उनका स्वामी, रचयिता सब मुझे बना दें तो मैं आपके घर में प्राप्त सभी लोहे को सोने में बदल दूंगा।" विद्वान् ने भी सोने के लोभ में स्वाभिमान को ताक में रखकर यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार सांसारिक सुख के लिए मनुष्य अपने आदर्श और सिद्धान्त ही नहीं, ज्ञान और स्वाभिमान तक बेच सकता है। यह अनुभवयुक्त प्रत्यक्ष ज्ञान शिष्य को दिलाकर महर्षि वहाँ से चल पड़े और सन्ध्या होने से पूर्व अपने आश्रम में लौट आये।

सारे आश्रमवासी शिक्षार्थी एक-एक करके महर्षि के चरणों में शीश झुकाते चले जा रहे थे। शिखिध्वज ने देखा कि अनुशासन में कितनी शान्ति, सन्तोष और आनन्द का भाव झलक रहा है। आज उसे अपनी हीनता पर पश्चात्ताप हो रहा था। वह देख चुका था कि तृष्णाएँ मनुष्य से छल, चोरी, हत्या, व्यभिचार और न जाने कितने कुत्सित कर्म करा सकती है। मनुष्य का जीवन मनुष्यता से गिरकर पाशविकता का आचरण करने के लिए नहीं, अपितु अपने ध्येय को समझकर उसे प्राप्त करने के लिए मिला है। इसलिए धर्म बड़ा है, सांसारिकता नहीं, वैराग्य बड़ा है, आसक्ति नहीं।

इसलिए जब महर्षि ने बुलाकर कहा—"लो वत्स! यह पारसमणि! इसे ले जाओ और सांसारिक सुखों का जी भर कर उपयोग करो।"

तब उसने पारसमणि लौटाते हुए कहा—"गुरुदेव! मुझे यथार्थ पारस (अनुभवसिद्ध तत्त्वज्ञान) मिल चुका है, अब मुझे इसकी जरूरत नहीं। यही दुःख रहा कि इस नकली पारस के लोभ में मेरी एक वर्ष की साधना व्यर्थ गई। अब आशीर्वाद दें कि इसी साधना का पुनः अभ्यास करूँ और अग्निदीक्षा की पात्रता प्राप्त करूँ।"

वास्तव में गुरुदेव उद्दालक ऋषि ने अपने लोभाविष्ट शिष्य की आँखें प्रत्यक्ष ज्ञान कराकर खोल दी थीं। इसीलिए 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरणशास्त्रियों ने की है—

'गु' शब्दस्त्वन्धकारस्य, 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते॥

"गुरु शब्द में दो अक्षर हैं—'गु' और 'रु'। 'गु' अक्षर अन्धकार का वाचक है और 'रु' अक्षर निरोध का। शिष्य के अज्ञान-अन्धकार का निरोध करने के कारण वह 'गुरु' कहलाता है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरु के ज्ञान का प्रकाश कौन और कैसे पा सकता है ?

परन्तु यह बात निश्चित है कि गुरु के ज्ञान का प्रकाश वही पा सकता है, जिस शिष्य में गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति, सेवा-शुश्रूषा, विनय और समर्पण भावना होगी। शिष्य में गुरु का ज्ञान ग्रहण करने हेतु कौन-कौन-से गुण होने आवश्यक हैं ? इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १) की टीका में बताया है—

सुस्सूसा पडिपुच्छा सुणणं गहणं च ईहणमवाओ।
धरणं करणं सम्मं, एआइं होंति सीसगुणा॥

सुशिष्य के ये गुण होते हैं—

(१) **शुश्रूषा** (गुरु के वचन सुनने की तीव्र उत्कण्ठा),

(२) **प्रतिपृच्छा** (न समझ में आए उसके सम्बन्ध में विनयपूर्वक पूछना),

(३) **श्रवण** (रुचि एवं श्रद्धापूर्वक सुनना),

(४) **ग्रहण** (सुनकर ठीक से ग्रहण करना),

(५) **ईहन** (अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए अत्यन्त अस्पष्ट ग्रहण को स्पष्ट करने हेतु उपयोग विशेष),

(६) **अपाय** (हेय को छोड़ना, उपादेय को ग्रहण करना),

(७) **धरण** (सम्यक् धारणा—निश्चित अर्थ का ग्रहण करना, जिससे स्मृति बनी रहे),

(८) **सम्यक्करण** (इन्द्रियों और मन आदि करणों का सम्यक् उपयोग करना अथवा गुरु के वचनों को सम्यक् रूप में क्रियान्वित करना)।

जिस शिष्य की गुरु के प्रति समर्पण वृत्ति होती है, उसे गुरु चाहे विधिपूर्वक शास्त्रीय वाचना दें या न दें, उसके मस्तिष्क में गुरु के मन में स्थित अर्थ किसी न किसी तरह उतर जाता है। जो शिष्य गुरु की सेवा-भक्ति श्रद्धापूर्वक करता है, अनपढ़ होने पर भी गुरुप्रदत्त स्पर्शदीक्षा से उसे सब शास्त्रों या धर्मग्रन्थों के अर्थ की स्फुरणा हो जाती है।

रामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य थे, जो पढ़े-लिखे नहीं थे। परन्तु उनमें गुरु की सेवाभक्ति करने की अद्भुत लगन थी। गुरु की आज्ञा होते ही वे हर एक काम के लिए तैयार रहते थे। यहाँ तक कि गुरु-आज्ञा होने पर शीघ्र ही किसी प्रकार के तर्क-वितर्क किये बिना उसे अमल में लाते थे। उनके कहने से पहले ही वे उनकी आवश्यकतानुसार सब चीजें प्रस्तुत कर देते थे, काली-पूजा आदि का सब सामान समय पर उपस्थित कर देते थे। कहते हैं, उनके गुरु रामकृष्ण की उपस्थिति में सीधे-सादे अविद्वान-से लगने वाले वह शिष्य गुरु के स्वर्गवास के बाद उपनिषदों और गीता आदि ग्रन्थों की सुन्दर व्याख्या भी करने लगे। उन पर सुन्दर व्याख्यान भी देने लगे। यह रामकृष्ण परमहंस की कृपा थी कि वे उन्हें स्पर्शदीक्षा दे गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्युक्तिकार भी एक गाथा के द्वारा गुरु के प्रति सुविनीत शिष्य को गुरु से अनायास ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, इस सम्बन्ध में कहते हैं—

विणओणएहिं पंजलिउडेहिं छंदमणुयत्तमाणेहिं ।
आराहिओ गुरुजणो, सुयं बहुविहं लहुं देइ ॥

"वन्दना, बहुमान, श्रद्धाभक्ति आदि से जो नतमस्तक रहते हैं, किसी विषय में प्रश्न पूछते समय भी करबद्ध रहते हैं, तथा गुरु के अभिप्राय को इंगित, आकार आदि से जानकर उस पर श्रद्धा तथा उसका समर्थन करते हैं, और तदनुसार आचरण करते हैं, उन शिष्यों द्वारा आराधित गुरुजन अनेक प्रकार के शास्त्रों, सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का ज्ञान हृदय से शीघ्र प्रदान करते हैं।"

कई बार गुरुदेव शिष्य के इन विनयादि गुणों की कठोर परीक्षा करते हैं। उस कठोर परीक्षा में जब वह उत्तीर्ण हो जाता है, तब गुरु के हृदय से शिष्य के प्रति आशीर्वाद उमड़ पड़ते हैं। उसे गुरु के द्वारा पढ़ाये बिना ही स्वतः आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है।

कुमारजीव प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान कुमारायण के पुत्र थे। कुमारजीव के जन्म के कुछ अर्से बाद ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। पति का प्रचार कार्य पूर्ण करने हेतु उनकी माता 'देवी' बौद्ध भिक्षुणी बन गई। बौद्ध भिक्षुणी बनने के बाद भी कुमारजीव की बुद्धिमती माता यह न भूली कि उसके सम्मुख कुमारजीव है, जिसे हर प्रकार से योग्य बनाकर समाज व संसार की सेवा में समर्पित करना है। फलतः कुमारजीव की शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन-निर्माण के लिए वह उन्हें कश्मीर ले गई, जो उस समय विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था।

वहाँ कुमारजीव की माता ने उन्हें पं० बन्धुदत्त नामक एक महान् चरित्रवान विद्वान की संरक्षता में छोड़ दिया। बन्धुदत्त जितने बड़े विद्वान थे, उतने ही वे शिष्य बनाने में कृपण थे। उन्होंने अपने जीवन में बहुत ही कम शिष्य बनाये किन्तु जो भी बनाये, उन्हें चोटी के विद्वान बना दिया। इसलिए वे शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्ति की कड़ी परीक्षा लेकर पहले परख लिया करते थे कि इसमें बोए हुए विद्या के बीज अंकुरित भी होंगे या नहीं ? निरर्थक, अविनीत एवं उद्दण्ड शिष्यों के साथ सिर खपाने के लिए फिजूल समय उनके पास न था।

निदान, अपने नियमानुसार बालक कुमारजीव को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। उसके चरित्र, विनयादि गुण, स्वभाव, कर्म, संस्कार में जमे बीजांकुरों को उन्होंने कठोरता से जाँचा-परखा। जब बालक गुरु की कसौटी पर खरा उतरा तभी उसे अपना शिष्य बनाया। फिर उसकी शिक्षा-दीक्षा में पूरी तत्परता दिखाने में कोई कसर न छोड़ी।

कठोर गुरु जब शिष्य की सुयोग्यताओं से प्रसन्न होता है तब शिष्य को पढ़ाता क्या, वास्तव में ज्ञानालोक के रूप में स्वयं उसकी आत्मा में बैठ जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पितृहीन बालक कुमारजीव के भाग्य खुल गये। गुरु-कृपा उस पर उतरी। वे संस्कृत भाषा, बौद्ध दर्शन आदि के प्रकाण्ड पण्डित बनने के साथ-साथ चरित्रवान, विनीत एवं अनुशासित तथा संयमी भी बन गये।

अविनीत को विपत्ति और विनीत को सम्पत्ति

वास्तव में जिस शिष्य में विनय का गुण प्रधान रूप से होता है, उसमें अन्य सब गुण—निरहंकारता, नम्रता, मृदुता, ऋजुता, निश्छलता, सेवा-शुश्रूषा, सेवा-भक्ति, समर्पणवृत्ति आदि आ जाते हैं। इसके विपरीत जिस शिष्य में विनय नहीं होता, चाहे वह अन्य सब धार्मिक क्रियाएँ करता हो, स्वयं शास्त्र स्वाध्याय करता हो, ध्यानादि करता हो, वह अपने जीवन में आध्यात्मिक उन्नति तथा ज्ञान—अध्यात्म-ज्ञान का विकास नहीं कर पाता। जब वह आचार्य या गुरु की आज्ञा में नहीं चलता, अपनी मनमानी करता है, तब न तो वह यथार्थ रूप से अध्यात्मज्ञान कर पाता है, न उसके जीवन का गुणों एवं सुसंस्कारों की दृष्टि से निर्माण होता है। कई बार तो ऐसे अविनीत और अहंकारी शिष्य को कोई भी अपने पास रखने को तैयार नहीं होता। तब वह निरंकुश होकर स्वच्छन्द वृत्ति से इधर-उधर भटकता रहता है।

उज्जयिनीनिवासी श्रावक अम्बऋषि विप्र का इकलौता पुत्र निम्बक था। निम्बक की माता श्राविका मालुगा के देहान्त होते ही पिता-पुत्र दोनों को संसार से विरक्ति हो गयी। उन्होंने एक जैनाचार्य से साधुदीक्षा ले ली। परन्तु शिष्य बनने से ही बेड़ा पार नहीं हो जाता। निम्बक का जैसा नाम था, वैसा ही नीम-सा कटु और और दुर्विनीत था। चाहे जिस साधु के साथ, यहाँ तक कि गुरु के साथ भी बात-बात में झगड़ा कर बैठता, अंटसंट बोलने लगता। उसकी दुर्विनीतता से तंग आकर सभी साधुओं ने आचार्य से प्रार्थना की—"या तो आप इस निम्बक को रखिये, या हमें रखिये। इसकी उद्धतता से हम तंग आ गये हैं, अगर आप इसे रखेंगे तो हम सब अन्यत्र चले जायेंगे।" गुरुदेव निम्बक की दुर्विनीतता से परिचित थे ही। अतः उन्होंने अपने संघ से निम्बक को बहिष्कृत कर दिया। निम्बक के मोहवश उसका पिता अम्बऋषि भी उसके साथ ही चला गया। दोनों किसी दूसरे आचार्य के पास जाकर रहे, किन्तु वहाँ भी सड़ी कुतिया की तरह उसके अपलक्षण जानकर उसे निकाल दिया गया। उज्जयिनी में जितने भी संघाटक थे, उन सबके प्रमुख साधुओं के पास ये गये, लेकिन कहीं भी टिक न सके।

एक दिन पिता निम्बक के इस दुर्गुण के कारण बहुत ही दुःखित होकर रुदन करने लगे। उन्हें दुःखित देखकर निम्बक बोला—"आप क्यों रो रहे हैं? क्या बात है?" अम्बऋषि ने कहा—"मैं तेरे अपलक्षणों को देखकर रो रहा हूँ, भटकते-भटकते दुःखित हो गया हूँ, तेरे अविनय के दुर्गुण के कारण हमें कहीं स्थान नहीं मिलता। सर्वत्र हमारा विश्वास उठ गया है।"

निम्बक बोला—"पिताजी! आप एक बार कहीं ऐसा स्थान ढूँढिए, जहाँ हम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शान्ति से रह सकें। मैं आपको वचन देता हूँ कि अब मैं विनीत होकर रहूँगा, मैं किसी को भी हैरान न करूँगा।"

यह सुनकर अम्बऋषि अपने पुत्र निम्बक को लेकर पुनः अपने गुरु आचार्य के पास आये और उनसे करबद्ध होकर सविनय प्रार्थना की—"गुरुदेव ! हमें अपने श्रीचरणों में स्थान दीजिए। अब मेरा पुत्र किसी प्रकार की दुर्विनीतता, कलह, या क्लेश नहीं करेगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।"

किन्तु इतना कहने पर भी अन्य साधुओं को विश्वास नहीं हुआ। इस पर आचार्यश्री ने सबको समझाया—"आर्यो ! एक रास्ता मुझे सूझा है। ये दोनों अभी तो हमारे पास पाहुने के रूप में रहेंगे, कुछ दिन रहने के बाद अगर इनकी प्रकृति में हमने योग्य परिवर्तन देखा तो हम इन्हें रखेंगे, अन्यथा विदा कर देंगे।"

सभी साधुओं को यह बात उचित लगी। दोनों पिता-पुत्र (साधु) रहने लगे। अब निम्बक साधु पहले जैसा कटुनिम्बक नहीं रहा, वह एकदम बदल गया। आचार्य की आज्ञानुसार साधु-जीवन की मौलिक क्रियाओं का पालन करने लगा। आचार्य एवं बड़े साधुओं के प्रति सदा विनीत, सेवाभावी, नम्र, मृदु, मधुरभाषी एवं सरल बन गया। सभी साधुओं ने, यहाँ तक कि उज्जयिनी के सभी संघाटकों के साधुओं ने उसे अमृत के आम-सा मान लिया। वह संघ के लिए महान उपयोगी, सेवाभावी, महा-विनयी बन गया। उसने दशवैकालिक सूत्र की इस गाथा को जीवन में चरितार्थ कर लिया—

जेण कित्ति सुयं सिग्घं नीसेसं चाभिगच्छइ।

"शिष्य के जीवन में विनय आ जाने पर वह कीर्ति, शास्त्रज्ञान और शीघ्र ही निःश्रेयस को प्राप्त कर लेता है।"

विनीत शिष्य क्या पाता है ?

इसीलिए महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र में बताया कि शिष्य की शोभा विनय की प्रवृत्ति से है। विनय शिष्य के जीवन-प्रासाद की नींव है। उसके जीवन प्रासाद का सारा निर्माण-कार्य विनयरूपी नींव पर स्थित है। अगर उसके जीवन में विनय की नींव पक्की है तो उसमें, सेवा, दया, क्षमा, सहानुभूति, श्रद्धा, भक्ति, नम्रता सरलता आदि सद्गुण स्वतः आ जायेंगे। जैसा कि प्रशमरति में कहा है—**'विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे'** समस्त गुण विनय के अधीन हैं। विनय समस्त गुणों का शृंगार है। धर्मरत्नप्रकरण में भी बताया है—

विणएण णरो''''जणपियत्तं लहइ भुवणे।

"विनय के कारण मनुष्य संसार में लोकप्रिय बन जाता है।" नीतिकार भी कहते हैं—**'विनयाद्याति पात्रताम्'** विनय के कारण शिष्य में पात्रता आती है। विनय का माहात्म्य बताते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तहेव सुविणी अप्पा लोगंसि नरनारीओ ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥

"लोक में जो सुविनीत आत्मा नर-नारी हैं, वे सुख-सम्पन्न, समृद्ध और महा-यशस्वी दिखायी देते हैं।"

गुरुजनों की विनय-भक्ति से उनका आशीर्वाद पाकर कौन शिष्य ऐसा है, जो गुणों से समृद्ध, महायशस्वी एवं सुख-सम्पन्न न हो जाता हो। चाहिए गुरुजनों के प्रति परिपूर्ण श्रद्धाभक्ति, विनय, समर्पणता एवं गुरु-आज्ञा का शीघ्र-पालन। ऐसा शिष्य किसी दुःसाध्य रोग से पीड़ित हो, तो भी गुरु-कृपा से उसका वह रोग मिट जाता है।

एक विनीत, आज्ञाकारी एवं विवेकी तथा सेवाभावी शिष्य को भीषण रोग लग गया, उनसे शरीर में कीड़े पड़ गये। शिष्य के शरीर की क्षीणता देखकर गुरु चिन्तित थे। गहराई से सोचा—यदि कहीं साँप के विष का योग मिल जाए तो रोग समूल नष्ट हो सकता है। पर यह योग मिले कैसे ?

एक दिन उपाश्रय में काला सर्प निकला। गुरु ने शिष्य से कहा—"जाओ, वत्स ! साँप को नाप आओ कि कितना लम्बा है ?"

शिष्य बिना किसी प्रकार का तर्क किये साँप को नापने चला। फण और पूंछ का सिरा ध्यान में लेकर साँप के निकल जाने पर पीछे वाली जमीन को नाप कर गुरु को बता दिया, पर सोचा हुआ काम नहीं बना।

अतः गुरु ने फिर आज्ञा दी—"आयुष्मन् ! साँप के दाँत गिनकर आओ।"

शिष्य तत्काल किसी आनाकानी के बगैर साँप के निकट पहुँचा। एक पैर से साँप की पूंछ दबाई, एक हाथ से फन पकड़ा और दूसरे हाथ की उंगली उसके मुँह में डालकर साँप के दाँत गिनने की चेष्टा की। किन्तु क्रुद्ध साँप ने उसकी उंगली पर डंक मार दिया। गुरुदेव से कहते ही उन्होंने फौरन शिष्य को अपने पास बुला लिया। गुरु ने उसे सुला दिया, एक कम्बल उस पर डाल दी। ज्यों-ज्यों सर्पविष शरीर में फैलने लगा, त्यों-त्यों उसकी गर्मी से भीतर पैदा हुए कीड़े बाहर निकलते गये। सारी कम्बल पर कीड़े ही कीड़े रेंगने लगे। गुरु ने कम्बल को छाया में एक ओर झड़कवा दी, और फिर ओढ़ा दी। इस तरह दो-तीन बार में सारे कीड़े शरीर से निकल गये। शिष्य का शरीर कंचन सा हो गया। वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया।

शिष्य के स्वस्थ होने के बाद गुरु ने उससे पूछा—वत्स ! मैंने साँप के दाँत गिनने की आज्ञा दी, तब तुम्हारे मन में मेरे प्रति क्या भाव आए ?"

शिष्य हाथ जोड़कर सविनय बोला—"गुरुदेव ! मैं तो तन-मन से आपके प्रति समर्पित हूँ। यह मानता हूँ कि गुरु-आज्ञा मेरे लिए कभी अहितकर हो नहीं सकती। **'आज्ञा गुरुणामविचरणीया'** मैं तो यही बात जानता हूँ।"

गुरु ने अन्तर् से आशीर्वाद दिया—"धन्य हो वत्स ! तेरा शीघ्र कल्याण हो।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विनय : शिष्य के लिए बहुमूल्य आभूषण

वास्तव में विनय एक ऐसा आभूषण है, जिससे शिष्य का जीवन, गुण, यश, ज्ञान आदि सब चमक उठते हैं, उसके कारण सभी गुण सुसज्जित और प्रदीप्त हो जाते हैं। विनय के बिना सभी गुण फीके और सौन्दर्यहीन लगते हैं। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

"विणए ठवेज्ज अप्पाणमिच्छंतो हियमप्पणो।"

"जो अपना आत्महित चाहता है, वह अपनी आत्मा को विनय में स्थापित कर दे।"

गुरु के प्रति विनय : कैसे और किस रूप में ?

शिष्य गुरु के प्रति विनय कैसे और किस रूप में करे ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसके लिए दशवैकालिक सूत्र का 'विनयसमाधि' नाम का सारा अध्ययन प्रस्तुत है। इस पूरे अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि विनय धर्म का मूल है। अगर धर्म को जीवन में रमाना चाहते हो और उसके विवेकपूर्वक आचरण से अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर पूर्णता के गुणस्थान शिखर पर पहुँचाना चाहते हो, शास्त्र की भाषा में कहूँ तो—मोक्ष पाना चाहते हो और मोक्ष के लिए अनिवार्य कर्मक्षय करना चाहते हो, तो देव-गुरु-धर्म के प्रति विनय-भक्ति की आराधना-साधना करो। जहाँ जीवन में सच्चे माने में विनय गुण रम जाता है वहाँ आत्मा में शान्ति, समाधि और तृप्ति आ जाती है। सांसारिक विषयों की आसक्ति एवं कषायों के दलदल में वह आत्मा नहीं फँसती।

परन्तु विनयसमाधि को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार दशवैकालिक सूत्र (अ० ९,३,४) में बताए गये हैं—

"चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ। तं जहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ, सम्मं संपडिवज्जइ, वेयमाराहइ, न य भवइ अत्तसंपग्गहिए।"

विनयसमाधि चार प्रकार की होती है, जैसे कि—(१) शिष्य गुरु द्वारा अनुशासित होते समय भी उनकी बात ध्यानपूर्वक सुनता है, (२) सम्यग् प्रकार से स्वीकार करता है, गुरु के वचनानुसार आचरण करता है, (३) उनकी आराधना करता है, (४) अपनी बात को पकड़े हुए नहीं रखता—पूर्वाग्रही नहीं होता। गुरुवचनों को ही प्रमाण मानता है। इस प्रकार गुरुदेव के प्रति विनयाराधना करने से शिष्य के जीवन में चार चाँद लगते हैं, उनका जीवन अन्य सभी आवश्यक गुणों से चन्द्रमा की तरह सोलह कलाओं से खिल उठता है।

इसी कारण महर्षि गौतम ने कहा—

'सीसस्स सोहा विणए पवित्ति'

आप भी अपने गुरु के प्रति सर्वतोभावेन विनय में प्रवृत्त होकर अपने जीवन को चमकाइए। □□

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५४

ब्रह्मचारी विभूषारहित सोहता

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं ब्रह्मचारी-जीवन के सम्बन्ध में आपसे चर्चा करूँगा। भारतीय जन-जीवन में गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त तीनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य था। मानव-जीवन की सुदृढ़ नींव ब्रह्मचर्याश्रम पर टिकाई जाती थी, जिससे शेष जीवन भी ब्रह्मचर्य के संस्कारों से ओतप्रोत रहे। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य की मर्यादा रहे। निष्कर्ष यह है कि भारतवासी के जीवन में अधिक भाग ब्रह्मचारी जीवन का था, बहुत ही कम भाग था—अब्रह्मचर्ययुक्त जीवन का। इसलिए यह सोचना आवश्यक है कि ब्रह्मचारी जीवन की शोभा किसमें है ? ब्रह्मचारी किस से शोभता है, किससे नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि गौतम इस जीवनसूत्र द्वारा दे रहे हैं। गौतमकुलक का यह तेंतालीसवाँ जीवनसूत्र है, जो इस प्रकार है—

'अभूसणो सोहइ बंभयारी।'

"ब्रह्मचारी विभूषा से रहित ही सोहता है।"

इस पर गम्भीरता से विचार करें।

यह सौन्दर्य पूजा : कितनी कृत्रिम, कितनी मँहगी ?

मानव सौन्दर्य का पुजारी है। वह सहसा सुन्दरता की ओर आकृष्ट होता है। परन्तु जब तक उसे वास्तविक सौन्दर्य का ज्ञान न हो, तब तक कृत्रिम और नश्वर सौन्दर्य की ओर झुकना खतरे से खाली नहीं है। साँप सुन्दर और चमकीली चमड़ी से मढ़ा हुआ जहर का पिण्ड है, अगर उसे सुन्दर समझकर पकड़ा जाएगा तो क्या नतीजा होगा ? मृत्यु ! इसी प्रकार किसी स्त्री के बाह्य रूप-रंग या आकर्षक वेश-भूषा को देखकर सौन्दर्यलिप्सावश आकृष्ट हो जाना और कामान्ध होकर उसके साथ बलात्कार करना जीवन को स्वयं आग में झोंकना है। अथवा स्वयं मेक-अप बनाकर चटकीली वेश-भूषा अपनाकर कामिनियों को आकृष्ट करना स्वयं कामाग्नि में कूदकर भस्म होना है।

वास्तव में स्वाभाविक सौन्दर्य और उसके मूल स्रोत को न पहचानने के कारण मनुष्य नकली सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होता है या स्वयं नकली सौन्दर्य अपनाता है। जब मनुष्य में स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं होता तो वह नकली सौन्दर्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनाता है, जिसके पीछे अपने धन, धर्म, स्वास्थ्य, शक्ति और समय को बर्बाद कर देता है। जिसमें स्वाभाविक सौन्दर्य की परख नहीं है, केवल गोरी चमड़ी या अमुक फैशन या वेश-भूषा तथा साज-सज्जा को ही सौन्दर्य मानता है, वह नकली सौन्दर्य का पुजारी होता है।

नकली सौन्दर्य का पुजारी स्वाभाविक सौन्दर्य की उपेक्षा करके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी होंगी, गाल में खड्डे पड़े होंगे, तथा शरीर भी दुबला-पतला हड्डियों का ढाँचा-सा होगा, तो भी उसे सजाने-संवारने का प्रयत्न करेगा, चेहरे पर क्रीम, स्नो या पाउडर पोत लेगा, ओठ पर लिपिस्टिक लगा लेगा। अमुक तरह से बालों को बढ़ाकर संवार लेगा। इन कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों से पुरुष अपना असौन्दर्य ढकने का प्रयास करेगा। वेश-भूषा भी उसकी तड़क-भड़क वाली होगी। पुराने जमाने में लोग सीधी-सादी पोशाक पहनते थे। उन्हें टीप-टाप, फैशन या आडम्बर पसन्द न था। ये सब कृत्रिमताएँ राजा-महाराजाओं या भोगी-विलासी लोगों में ही पाई जाती थीं, परन्तु आज तो प्रायः आम फैशन हो गया है, कृत्रिम ढंग से सुन्दर दिखने के लिए सूती कपड़ों को छोड़कर रेशम को भी मात करने वाले नायलोन, टेरिलिन या टेरीकोट आदि के वस्त्र पहनने का, जिनसे न तो वस्त्र पहनने का प्रयोजन ही सिद्ध होता है और न वे स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हैं। उनमें छिद्र न होने से रोमकूपों को मुश्किल से हवा मिल पाती है।

टोपी या पगड़ी की जगह आज मैदान साफ मिलेगा। उस पर घास की तरह बाल सजाए-संवारे हुए होंगे। धोती की जगह पैंट ने ले ली है। गहने तो इस महँगाई के जमाने में मर्दों के शरीर पर बहुत ही कम मिलेंगे, गहने के बदले कलाई पर घड़ी, जेब में फाउण्टेन पेन, आँखों पर चश्मा, कपड़ों पर सेंट, कान में इत्र का फोहा, आदि मिलेंगे। परन्तु मर्दों की अपेक्षा स्त्रियाँ सौन्दर्य की पूजा में बहुत आगे हैं। आज तो कुलीन घर की बहू-बेटियाँ भी वारांगनाओं या सिनेमा की तारिकाओं से भी कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधन में बाजी मारने लगी हैं। क्रीम, स्नो, पाउडर, लिपिस्टिक, अमुक ढंग से केश विन्यास, जूड़ा बाँधना, आदि महिलाओं में आम फैशन हो गया। कहीं देखा-देखी भी सौन्दर्य प्रदर्शन होता है। गहने और भड़कीले कपड़े, नाइलोन की साड़ियाँ आदि भी अपने आपको सुन्दर बनाने के लिए पहनी जाती हैं।

और देशों की बात जाने दीजिए, ऋषि-मुनियों के देश भारतवर्ष में ही अगर आज हिसाब लगाकर देखा जाए तो इस कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधन और कृत्रिम सौन्दर्य के प्रदर्शन के पीछे प्रतिमास करोड़ों रुपये खर्च होते हैं, साथ ही अपना कीमती समय जो आत्मसाधना, जनसेवा या आजीविकोपार्जन में लगाया जा सकता था, उसे शरीर की साज-सज्जा, वेश-भूषा, शृंगार प्रसाधन और शरीर को कृत्रिम ढंग से सजाने-सँवारने में खर्च किया जाता है। इतनी वैचारिक एवं आचारिक शक्ति, यदि आत्म-चिन्तन, आत्मविकास में लगाई जाती तो कुछ लाभ भी होता, पर वह शक्ति शरीर को सजाने-सँवारने, सुन्दर दिखाने के चिन्तन में और शरीर के कृत्रिम सौन्दर्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रसाधन की चीजें लाने-मंगाने में खर्च की जाती है। आज का मनुष्य शरीर की सफाई और साज-सज्जा पर जितना ध्यान देता है, संभव है, किसी युग में इतना ध्यान इस देश में नहीं दिया गया होगा।

मैं यह सोचकर हैरान हो जाता हूँ कि ऋषि-मुनियों के इस देश में सुन्दरता के प्रदर्शन में कितना समय, शक्ति और धन खर्च किया जाता है? फिर भी सौन्दर्य के दर्शन नहीं हो पा रहे हैं। आमदनी को देखते हुए जिस अनुपात में भारत में फैशन और प्रसाधन पर धन व्यय किया जाता है, उतना शायद ही किसी अन्य देश में किया जाता हो। देश की तरुण पीढ़ी का स्वास्थ्य देखें तो आप हैरान हो जाएँगे, अधिकांश पतली टाँगों और बैठी आँखों वाले युवकों को देखकर! घर में भले ही फाकाकशी की जाती हो, लेकिन बाहर तो अपटुडेट पोशाक पहनकर बन-ठनकर निकलना आवश्यक समझते हैं। ब्रह्मचर्य पालन की उम्र में फैशन के दीवाने ऐसे युवक भी देखने को मिलते हैं, जो अपनी हवस पूरी करने के लिए बहुत-सा पैसा विचित्र पोशाक बनवाने में लगा देते हैं, फिर उसका निर्वाह न कर सकने पर वही फटी-पुरानी बुशशर्ट और पतलून वर्षों तक पहनते हुए अपनी मखौल कराया करते हैं। साधारण-से कपड़े उतने ही पैसे में बनवाते तो वे वर्षों तक भलीभाँति उसे चला सकते थे।

इतनी सब साज-सज्जा करने पर भी कृत्रिम सौन्दर्य का पोषण होता है। किस देश में कितना स्वाभाविक सौन्दर्य है, इसका अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि उस देश में कृत्रिम सौन्दर्य सामग्री की कितनी खपत है। जिस देश में जितनी अधिक सौन्दर्य सामग्री बिकती हो, समझ लेना चाहिए उस देश के लोग उसी अनुपात में स्वाभाविक सुन्दरता से वंचित हैं। इसके विपरीत जिस देश में शृंगार-सामग्री जितनी कम बिकती हो, समझ लो, उस देश के लोग उतने ही स्वाभाविक रूप से सुन्दर हैं।

सौन्दर्य का आगमन अन्दर से होता है, आत्मा को ब्रह्मचर्य, सन्तोष, इन्द्रिय-संयम, शील आदि गुणरत्नों से सजाने से होता है, बाह्य टीप-टाप, फैशनेबल कपड़ों, लिपिस्टिक, हेयर आइल, सेंट, पाउडर, क्रीम, स्नो आदि की लिपाई-पुताई, केश-विन्यास और शृंगार प्रसाधनों द्वारा शरीर को सजाने-सँवारने से नहीं। कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में बताया है—

चिरायुषः सुसंस्थानाः दृढ़संहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥

"ब्रह्मचर्य से मनुष्य शरीर से चिरायु, सुन्दर, सुडौल मजबूत, संहनन (ढाँचे) वाले, तेजस्वी और महाबलवान बनते हैं।"

अतः स्वाभाविक सौन्दर्य का मूल कारण ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-संयम, शील, संतोष आदि हैं; प्रसाधन नहीं। ब्रह्मचारी व्यक्ति स्वाभाविक रूप से सुन्दर, सुडौल और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्थ होता है, वह चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष, कैसे भी फटे-पुराने ही कपड़े क्यों न पहने हुए हो, परिश्रम और पसीने से लथपथ ही क्यों न हो, वह दीखने में सुन्दर ही लगेगा। उसका स्वाभाविक सौन्दर्य छिपा नहीं रहता। उसका भरा हुआ चेहरा, पुष्ट शरीर, चौड़ा दृढ़ वक्षस्थल, विशाल तेजस्वी ललाट, सुडौल अवयव, कपोलों की लाली, माथे की चमक, और तेज-सम्पन्न आँखें; सादी वेश-भूषा पर चढ़कर भी चमकेंगी। इसलिए ब्रह्मचारी को इस कृत्रिम विभूषा की आवश्यकता ही नहीं है, रहे अब्रह्मचारी या असंयमी व्यक्ति जो अस्वस्थ रहते हों, वे भले ही मखमल पहने हुए हों, क्रीम और पाउडर पोते हुए हों, उनके पिचके गाल, उभरी हड्डियाँ, भद्दा शरीर, धँसी आँखें इस बात की गवाही दे देंगी कि यह व्यक्ति असुन्दर है। इतना ही नहीं, शरीर-विभूषा उलटे उसका उपहास ही उड़ाएगी।

ग्रीस का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात चेहरे से कोई सुन्दर नहीं लगता था, परन्तु उसका शरीर स्वस्थ्य और सुडौल था, उसकी आत्मा में सत्य, क्षमा, संयम आदि के गुण थे, उनके कारण उसका आन्तरिक सौन्दर्य बढ़ा-चढ़ा था। उसने एक बार परमात्मा से यही प्रार्थना की थी—

"I pray thee, O God, that I may be beautiful within."

"हे प्रभु ! मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मैं अन्तर् से सुन्दर बनूं।"

यह आन्तरिक सौन्दर्य ही स्वाभाविक सौन्दर्य है। ब्रह्मचारी व्यक्ति चाहे साधु हो, वानप्रस्थ हो, कुमार हो या गृहस्थ; वह स्वाभाविक रूप से सुन्दर होगा। सुन्दरता के लिए उसे किसी कृत्रिम प्रसाधन की क्या आवश्यकता है ? उसका ओज-तेज सुन्दरता बनकर उसके मुखमण्डल पर दमकता रहेगा। फूल-सा खिला हुआ उसका चेहरा स्वाभाविक रूप से दूसरों की दृष्टि आकर्षित कर लेगा। सुन्दरता चमड़ी के काले-गोरे रंग में नहीं है, और न ही बाह्य वेश-भूषा या साज-सज्जा में है। उसका सम्बन्ध अन्तर् से है—आत्मा में निहित ब्रह्मचर्य, संयम आदि गुणों से है। ब्रह्मचारी का सौन्दर्य उसकी आत्मा की स्वाभाविक देन है, वह संयम और प्रकृति की गोद में रहता है, जहाँ स्वास्थ्य और सौन्दर्य का निवास है। ब्रह्मचारी को अकृत्रिम और प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना आवश्यक है, ताकि वह स्वस्थ एवं सुन्दर रहे। असंयमी युवक के बजाय, प्राकृतिक जीवन बितानेवाला वृद्ध भी स्वाभाविक रूप से अधिक सुन्दर और आकर्षक लगता है। उस संयमी वृद्ध के चाँदी से चमकते बाल, भरे हुए अरूणाभ गाल और उभरा हुआ ललाट उन कृत्रिम सौन्दर्यजीवी युवकों के लिए ईर्ष्या का विषय बन जाता है।

यही कारण है कि ब्रह्मचारी को कृत्रिम सौन्दर्य के प्रदर्शन की और उसके लिए कृत्रिम विभूषा या साज-सज्जा की आवश्यकता नहीं रहती। यदि वह कृत्रिम विभूषा करता है तो उसका आकर्षण बढ़ने के बजाय घट जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह बाह्य-सौन्दर्य कितना क्षण-भंगुर है !

जिस बाह्य सौन्दर्य पर वर्तमान युग का युवक-युवतीवर्ग इतराता है, उस सौन्दर्य के मूल स्रोत—ब्रह्मचर्य, संयम आदि को न अपनाकर, स्वास्थ्य और प्राकृतिक जीवन से दूर रहकर वह कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों से सौन्दर्य-प्राप्ति की आशा करता है, वह कितना क्षणभंगुर है। शरीर की अवस्था के ढलने के साथ ही वह ढलने लगता है, रोग के एक थपेड़े से ही वह मुर्झा जाता है, मानसिक चिन्ता के कारण वह फीका पड़ जाता है और बुढ़ापे के साथ ही अस्त होने लगता है, उस बाह्य एवं नश्वर शरीर-सौन्दर्य से ब्रह्मचारी को लगाव क्यों होगा ? वह कृत्रिम, क्षणिक एवं बाह्य शरीर सौन्दर्य उसके लिए उपादेय नहीं होगा। वह उस पर आसक्त होकर अपने बहुमूल्य जीवन का अमूल्य समय, धन, शक्ति तथा धर्म को बर्बाद क्यों करेगा, उस कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन में ? प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्यकार बेकन (Bacon) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

"Beauty is as summer fruits, which are easy to corrupt and cannot last and for the most part it makes a dissolute youth."

'सौन्दर्य (शारीरिक) ग्रीष्म ऋतु के फलों के समान है, जो आसानी से बिगड़ जाते हैं और अधिक टिक नहीं सकते, और अधिकांशतः यह जवानी को चरित्रभ्रष्ट कर देता है।'

वास्तव में सौन्दर्य—शाश्वत सौन्दर्य—आत्मा में है, आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों में है, उसके लिए आत्मशक्ति को (ब्रह्मचर्य आदि से) बढ़ाने की जरूरत है, न कि विनश्वर बाह्य सौन्दर्य के पीछे दीवाना होने की।

मथुरा की प्रसिद्ध नर्तकी वासवदत्ता, अपने बाह्य एवं नश्वर सौन्दर्य पर इठलाती थी, उसे अजर-अमर माने बैठी थी। उसे अपने इस सौन्दर्य पर गर्व था कि वह बड़े से बड़े सत्ताधीश, धनाढ्य या राजकुमार आदि को अपने इशारे पर नचा सकती है। परन्तु एक दिन उसने एक तेजस्वी और ब्रह्मचर्य से देदीप्यमान युवक उपगुप्त भिक्षु को राजपथ से गुजरते हुए देखा। उसके चेहरे पर स्वाभाविक सौन्दर्य अठखेलियाँ कर रहा था। वह सादे काषाय वस्त्रों में कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रयोग के बिना ही अतीव सुन्दर लग रहा था। उसे देखते ही वासवदत्ता मोहित हो गई। भिक्षु को प्रणययाचना पूर्ण करने हेतु आमन्त्रित करने लगी। परन्तु निःस्पृह एवं ब्रह्मचारी भिक्षु ने उसके आमन्त्रण को मानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा—"बहन ! जब उपयुक्त समय आएगा, तब मैं अवश्य तुम्हारी सेवा में आऊँगा।"

कुछ ही अर्से बाद वासवदत्ता को एक भयंकर रोग ने आ घेरा, जिससे उसका सारा शरीर सड़ गया, उससे रक्त और मवाद चूने लगे। भयंकर दुर्गन्ध उठने लगी। वासवदत्ता का सौन्दर्य-गर्व चूर-चूर हो गया। राजा के पास शिकायतें पहुँचीं कि वासवदत्ता को नगर के बाहर फिंकवाया जाए अन्यथा सारे नगर में यह भयंकर रोग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फैल जाएगा, इसकी बदबू असह्य है। निदान, राजा ने सौन्दर्याभिमानिनी वासवदत्ता को नगर के बाहर एक घूरे पर डलवा दिया। वहाँ पड़ी-पड़ी वह रोग की असह्य पीड़ा से कराहती रही।

उपगुप्त भिक्षु को पता लगा। वह रुग्ण वासनदत्ता को सँभालने के लिए पहुँचा। उसे सान्त्वना देते हुए भिक्षु ने कहा—"बहन! घबराओ मत। मैं उपगुप्त भिक्षु अपने वादे के अनुसार आ पहुँचा हूँ तुम्हारी सेवा में।" भिक्षु ने तिरस्कृत और उपेक्षित वासवदत्ता की इतने सुन्दर ढंग से सेवा की कि वह स्वस्थ हो गई। अब उसे शाश्वत और नश्वर सौन्दर्य का अन्तर समझ में आ गया। उपगुप्त भिक्षु ने उसे शाश्वत आत्मिक सौन्दर्य प्रगट करने की प्रेरणा दी। वासवदत्ता अब शाश्वत सौन्दर्य पाने की साधना बौद्ध भिक्षुणी बनकर करने लगी।

स्थायी आकर्षण विभूषा में नहीं, शाश्वत सौन्दर्य में

स्थायी एवं शाश्वत सौन्दर्य का तत्त्व जिसे ज्ञात हो जाता है, उसके मन में बाह्य सौन्दर्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। वह शाश्वत सौन्दर्य की उपासना में लीन रहता है, उसे बाहर की चमक-दमक, टीप-टाप या आडम्बर की लोकमूढ़ता में आस्था नहीं रहती। महात्मा गांधी ने देश सेवा के लिए आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने की प्रतिज्ञा ली। उसी दौरान एक बार ब्रिटिश शासन के वायसराय के आमन्त्रण पर लन्दन में होने वाली गोलमेज परिषद में जाने को तैयार हुए। वेश-भूषा तो उनकी सादी ही थी, खादी की एक छोटी-सी पोतड़ी और सफेद चादर! जब वे वायसराय भवन में इस वेशभूषा में पहुँचे तो पहले वायसराय तथा उनके अन्य अधीनस्थ लोगों ने गांधीजी से मिलने में आनाकानी की। परन्तु जब गांधीजी ने अपनी दृढ़ता बताई कि "मैं गरीब भारत का प्रतिनिधि बनकर आया हूँ। मुझे भड़कीली या तथाकथित सभ्य माने जाने वाले समाज में प्रचलित पोशाक पहनना शोभा नहीं देता, मैं तो इसी पोशाक में आपसे मिल सकता हूँ। अन्यथा, आप न चाहें तो बिना मिले ही वापस लौट जाऊँगा।"

गांधीजी की सादी वेश-भूषा और उनके भव्य आत्मिक गुण युक्त सौन्दर्य को देखकर वायसराय बहुत प्रभावित हुआ।

शाश्वत सौन्दर्य के उपासक को कृत्रिम सौन्दर्य की जरूरत नहीं

ब्रह्मचारी का अर्थ है—ब्रह्म में विचरण करने वाला, अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि सबको ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) की सेवा में लगाने वाला, प्रत्येक प्रवृत्ति या चर्या ब्रह्म (आत्म) हित की दृष्टि से करने वाला। जब ब्रह्मचारी का जीवन ही आत्मा की परिचर्या-उपासना में व्यतीत होगा, तब उसे आत्मिक सौन्दर्य के दर्शन होने स्वाभाविक हैं। जिसे आत्म-सौन्दर्य के दर्शन हो जाते हैं या आत्म-सौन्दर्य की जो झाँकी पा जाता है, उसके लिए बाह्य सौन्दर्य—शारीरिक या कृत्रिम सौन्दर्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की ओर झांकना या उसके सम्बन्ध में चिन्तन करना या सौन्दर्य प्रसाधन की सामग्री जुटाना कथमपि आवश्यक या हितावह नहीं है। इसीलिए ब्रह्मचर्यव्रती गृहस्थ, कुमार, वानप्रस्थी या साधु-संन्यासी, विधवा, साध्वी आदि के लिए शृंगार या सौन्दर्य प्रसाधन की दृष्टि से विभूषा करने का निषेध किया है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १६) की गाथा इस विषय की साक्षी है—

विभूसंपरिवज्जेज्जा सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

'ब्रह्मचर्यरत साधक तथा ब्रह्मचर्यव्रती भिक्षु को शृंगार—कृत्रिम साज-सज्जा के लिए शरीर को सुशोभित करने तथा विभूषा (सजावट) का कोई भी काम नहीं करना चाहिए।'

जैन शास्त्र ही नहीं, वैदिक धर्मग्रन्थ भी इस विषय में पूर्ण सहमत हैं कि ब्रह्मचारी को शृंगार, शरीर-मण्डन, छैल-छबीली वेशभूषा से शरीर को सजाने-सँवारने का काम नहीं करना चाहिए। विद्यासंहिता शिवपुराण में इस सम्बन्ध में कहा गया है—

मलस्नानं सुगन्धाद्यैः स्नानं दन्तविशोधनम्।
न कुर्याद् ब्रह्मचारी च तपस्वी विधवा तथा॥

'मल-मलकर बार-बार स्नान, सुगन्धित पदार्थ लगाकर स्नान, शृंगार दृष्टि से दांतों की शुद्धि, ब्रह्मचारी, तपस्वी तथा विधवा स्त्री को नहीं करना चाहिए।'

महाभारत शान्तिपर्व में भी बताया गया है—

सुखशय्या नवं वस्त्रं, ताम्बूलं स्नानमण्डनम्।
दन्तकाष्ठं सुगन्धं च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम्॥

'कोमल गुदगुदी सुख-शय्या, नये चमकीले-भड़कीले वस्त्रों का परिधान, ताम्बूल चबाना, मल-मलकर स्नान करके शरीर को सजाना-सँवारना, दतौन की लकड़ी से दन्त-शुद्धि करना और सुगन्धित पदार्थों का सेवन, ये ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले हैं।'

हरिकेशबल मुनि जितने बाहर से काले, कुरूप, बेडौल और अनाकर्षक थे, उतने ही अन्तर् से सुन्दर, सद्गुणों से मण्डित, आत्म-सौन्दर्य के उपासक तथा ब्रह्मचर्य एवं तप के कारण तेजस्वी-ओजस्वी थे। उत्तराध्ययन सूत्र में उनके बाह्य रूप का इस प्रकार चित्रण किया गया है—

कयरे आगच्छइ दित्तरूवे,
काले विकराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए,
संकरदूसं परिहरिय कंठे॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यज्ञ पुरोहित ने हरिकेशबल मुनि को यज्ञ मण्डप की ओर आते देखकर कहा—"अरे यहाँ कौन आ रहा है ? देखो तो सही, इसका रूप कितना भयंकर, काला कलूटा और विकराल है ? इसकी नाक चिपटी है, असभ्य के-से जरा-से कपड़े लपेटे है, धूलधूसर है, पिशाच-सा है, गले में शंकर का-सा दूष्य (वस्त्र) पहने हुए किस आशा से यहाँ आ रहा है ?

जो लोग आत्म-सौन्दर्य से अनभिज्ञ थे, केवल लोकमूढ़तावश बाह्य वेशभूषा, टीप-टाप और सुन्दर कपड़ों से सुसज्जित शरीर को ही सौन्दर्य का मूल समझते थे, वे अज्ञानी, धर्मद्वेषी, जातिमद से ग्रस्त, हिंसामय यज्ञपरायण, अब्रह्मचारी, विप्र लोग उन्हें देखते ही उपहास करने लगे ।

परन्तु हरिकेशबल मुनिवर तो तपस्वी थे; क्षमाधारी एवं शान्तिपरायण थे । उन्होंने उन लोगों द्वारा किये गये असभ्य व्यवहार पर जरा भी ध्यान नहीं दिया ।

उनके तप-तेज एवं शान्त-दान्त जीवन से प्रभावित होकर तिन्दुकवृक्षवासी यक्ष उनका भक्त बन गया था । मुनि की ओर से उस यक्ष ने उन विप्रों को सारी बातें समझायीं कि ये मुनि क्यों इस प्रकार भिक्षा के लिए घूमते हैं ? इनको भिक्षा देने से क्या लाभ है ? ब्रह्मचारी एवं तपस्वी होने से शरीर के प्रति इनकी कोई आसक्ति नहीं है; इसलिए ये शरीर को विभूषित करने और कृत्रिम सौन्दर्य लाने में अपना समय, शक्ति और संयम-धन बर्बाद करना नहीं चाहते, भिक्षा से प्राप्त आहार, स्वपर-कल्याण के लिए विहार तथा शरीर निर्वाह के लिए निद्रा, नीहार आदि करते हैं, बाकी सारा समय स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण आदि में व्यतीत करते हैं ।

इतने पर भी अभिमानी ब्राह्मण उनके आत्मिक सौन्दर्य की कठोर परीक्षा करते हैं । उन पर प्रहार करते हैं, मगर उनका भक्त यक्ष उन्हें चमत्कार बताता है, प्रहार करने वाले ब्राह्मण कुमारों को बेहोश कर देता है; उनके मुँह से रक्तवमन हो रहा है । यह देखकर समस्त ब्राह्मण याज्ञिक उनसे क्षमायाचना करते हैं, उन्हें श्रद्धा-पूर्वक भिक्षा देते हैं । फिर उनसे वे अपनी शंकाओं का समाधान करते हैं । अन्त में मुनि के आत्मसौन्दर्य का साक्षात्कार करके वे कहते हैं—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसइ जाइविसेस कोऽवि ।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं,
जस्सेरिसा इड्ढि-महाणुभावा ॥

अहा ! हमें तो इनमें कहीं भी जातिविशेष दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, हम तो इनमें साक्षात् तपविशेष ही देख रहे हैं । वास्तव में इनकी आत्मा तप के सौन्दर्य में ओतप्रोत है । हम तो जातिमद के कारण इनसे घृणा करते थे, इन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाण्डालपुत्र हरिकेशबल ही कहते थे लेकिन आज हमारी भ्रान्ति दूर हो गई। जिनकी इस प्रकार की आत्मिक ऋद्धि है, ऐसा महान् प्रभाव है, वे नीच नहीं हो सकते हैं, वे पूज्य हैं, वन्द्य हैं, महानुभाव हैं।

आत्मिक सौन्दर्य के धनी मुनि ने उन्हें वास्तविक सौन्दर्य का साक्षात्कार अपने व्यवहार से करा दिया।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी—फिर वह चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ, चाहे वह सती-साध्वी हो या विधवा हो, सब अपने आत्मिक सौन्दर्य की उपासना करते हैं उनका ध्यान शरीर-सौन्दर्य या कृत्रिम प्रसाधनों से शरीर को विभूषित करके सौन्दर्य-वृद्धि करने की ओर नहीं होता।

ब्रह्मचारी को प्रदर्शन की क्या आवश्यकता ?

कोई कह सकता है कि ब्रह्मचारी में बाह्य सौन्दर्य नहीं हो तो उसे थोड़ी-सी प्रसाधन सामग्री से शरीर को सुसज्जित करके स्थूलदृष्टि वाले साधारण लोगों को प्रभावित करने के लिए सौन्दर्य-प्रदर्शन करने में क्या हर्ज है ? परन्तु भारतीय संस्कृति का इस सम्बन्ध में मतभेद है। वह यह तो नहीं कहती कि शरीर और वस्त्रादि स्वच्छ न रखो, वस्त्रों को ठीक ढंग से न पहनो, स्थान की सफाई न करो, परन्तु इन सबके पीछे उसका एक दृष्टिकोण स्पष्ट है कि यह सब शृंगार की दृष्टि से, विभूषा की दृष्टि से मत करो। शरीर को स्वस्थ, धर्मपालन में सशक्त और कार्य-सक्षम रखने की दृष्टि से न करो, संयम और यतना के साथ करो, जिससे तुम्हारी भी विकारी दृष्टि न बने। प्रदर्शन के कारण तुम्हारे मन में अहंकार और दर्प जागता है, दूसरों के मन में भी कामविकार पैदा होता है। इसलिए शरीर की विभूषा द्वारा बाह्य सौन्दर्य के प्रदर्शन का ब्रह्मचारी के लिए सख्त निषेध है।

दूसरी बात यह है कि सौन्दर्य-प्रदर्शन की तो उसे आवश्यकता रहती है, जो आत्मिक सौन्दर्य से रिक्त हो। ब्रह्मचारी तो आत्मिक सौन्दर्य से पूर्ण रहता है; ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वह अनेक लब्धियों, शक्तियों और सिद्धियों से समृद्ध रहता है, फिर उसे सौन्दर्य प्रदर्शन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

आज तो फैशन, विभूषा और सौन्दर्य प्रदर्शन की महामारी इतनी अधिक बढ़ गई है, कि भारतीय युवक चारित्र, संयम और स्वास्थ्य का दिवाला निकाले बैठा है। ब्रह्मचर्य और संयम की ओर से वह उदासीन है, उसके महत्त्व और लाभ से अनभिज्ञ है। इस कारण उनके चेहरे पर कोई नूर या सौन्दर्य नहीं होता, इस अभाव की पूर्ति वे सौन्दर्य प्रसाधनों से करते हैं। इस कृत्रिम सौन्दर्य-प्रदर्शन के मोह में वे ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-संयम, यम-नियम आदि को बन्धन और व्यर्थ का नियंत्रण समझते हैं। उन्हें यह चिन्ता कदापि नहीं होती कि हम अपने शरीर को सुडौल, स्वस्थ, कार्यक्षम और सशक्त बनावें, अंगों को पुष्ट, मुख को तेजस्वी और चारित्र को उन्नत बनावें। उनमें इस चिन्तन का प्रादुर्भाव नहीं होता कि वे बिना किसी सौन्दर्य-प्रसाधन के सुन्दर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लगें। उन्हें केवल यही चाह होती है कि वे किस प्रकार की क्रीम, स्नो और पाउडर तेल-फुलेल आदि का प्रयोग करें, जो उनके शरीर को सुगन्धित बना दे। आधुनिक तरह के कितने और कितने प्रकार के कपड़े उनके पास हैं, उन पर कौन-से रंग, किन डिजायनों की छाप होनी चाहिए और किस वेशभूषा में, किस प्रकार के मेक अप में वे लोगों के लिए आकर्षण-पात्र हो सकते हैं। ब्रह्मचर्यनिष्ठ को भला ऐसी चाह और चिन्ता क्यों होगी ?

भारतीय संस्कृति में बाह्य सौन्दर्य को इतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना आन्तरिक और स्वाभाविक सौन्दर्य को। **सत्यं** और **शिवम्** के साथ जो **सुन्दरम्** उपलब्ध हो, वही भारतीय ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट और अभीष्ट था। 'सादा जीवन और उच्च विचार' (Simple living and high thinking) ही उनका जीवनमन्त्र था। वे शरीर की चर्बी बढ़ाकर उसे मोटा दिखाने तथा सौन्दर्य प्रसाधनों से कृत्रिम रूप से सजाकर सुन्दर बताने को हेय समझते थे। इसीलिए ब्रह्मचारी के लिए सौन्दर्य का प्रदर्शन करना वे अनुचित मानते थे। परन्तु आजकल बहुत-से नामधारी ब्रह्मचारियों को भी आधुनिक एवं पाश्चात्य सभ्यता का चेप लगता जा रहा है, वे भी अपने मूलभूत आन्तरिक सौन्दर्य को भूलकर कृत्रिम सौन्दर्य के चक्कर में पड़ गये हैं। उन्हें भी अपने प्रभाव, प्रदर्शन और प्रसिद्धि की बीमारी लग गई है।

वास्तविक व्यक्तित्व वेश-भूषा और साज-सज्जा से प्रगट नहीं होता

ब्रह्मचर्य साधक का जीवन प्रत्यक्ष बोलता हुआ जीवन होता है, उसका वास्तविक व्यक्तित्व उसके स्वास्थ्य, संयम, आत्मिक सौन्दर्य और चारित्र से प्रगट होता है, वही जन-मन पर स्थायी होता है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व उनके संयम, स्वास्थ्य, चारित्र और आत्मिक सौन्दर्य से चमक उठा था। विदेश में, जहाँ उनका कोई अपना नहीं था, वहाँ के नर-नारी भी उनके अद्भुत व्यक्तित्व से प्रभावित हो गये थे। उनके शरीर पर साधारण वस्त्र थे, वेशभूषा भी भारतीय संन्यासी की-सी थी और चेहरे पर कोई भी सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री नहीं थी, फिर भी वे आकर्षक लगते थे। अमेरिका जैसे आधुनिक, धनकुबेर, फैशनपरस्त एवं भोगवादी देश के लोगों को भी उनकी भारतीय साधु की वेश-भूषा ने यह मानने को विवश कर दिया कि स्वाभाविक सौन्दर्य और आकर्षण वेश-भूषा और साज-सज्जा में नहीं, अपितु संयम, स्वास्थ्य और सादगी में है। अपनी साधारणतम वेश-भूषा पर हँसने वाले अमेरिकनों को जिन शब्दों में स्वामी विवेकानन्द ने और निरुत्तर लज्जित कर दिया था, वे शब्द ही भारतीय जीवन के आदर्श रहे हैं, आज भी होने चाहिए।

हँसने वाले अद्यतन सौन्दर्यजीवी अमेरिकनों से उन्होंने कहा था—

"Thy tailor makes you gentleman, but it is my country, where character makes a man gentle."

"आपका दर्जी आपको भद्रपुरुष बनाता है, जबकि हमारे देश में चारित्र ही मनुष्य को भद्रपुरुष बनाता है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन शब्दों का तात्पर्य यही है कि वास्तविक व्यक्तित्व कपड़ों, वेश-भूषा या शरीर की सजावट से नहीं प्रगट होता; वह उसके उज्ज्वल चरित्र, ब्रह्मचर्य और संयम से प्रगट होता है। ये उद्‌गार जिस समय स्वामीजी ने प्रगट किये थे, उस समय भारतवर्ष में सौन्दर्य प्रदर्शन और फैशन का महारोग नहीं लगा था, परन्तु आज इस महारोग ने घर-घर में प्रवेश कर लिया है।

विभूषा से क्या लाभ, क्या हानि ?

स्थूल सौन्दर्यदृष्टि वाले लोग कहते हैं, जमाने के अनुसार मनुष्य को चलना पड़ता है, समाज और जाति के कई रीति-रिवाज ऐसे हैं कि हम अपनी जाति की प्रतिष्ठा के अनुसार वेश-भूषा से सुसज्ज न हों, संतानों को भी वैसे सुसज्ज न करें तो लोग हमें पागल, झक्की और सनकी कहेंगे, हम समाज और जाति से अलग पड़ जायेंगे, हमारे बालकों के रिश्ते-नाते नहीं होंगे आदि। इसलिए कर्ज करके भी, इस पर समय और शक्ति खर्च करके भी हमें अमुक साज-सज्जा और वेशभूषा अपनानी पड़ती है। किन्तु इन युक्तियों में तथ्य कम है, अधिकतर युक्तियाँ कायरता और दुर्बलता की द्योतक हैं। समाज या जाति किसी को संयम, ब्रह्मचर्य एवं सादगी से रहने में क्या मनाही करता है ? क्या प्राचीन काल के लोग इतने धनाढ्य और सम्पन्न होते हुए भी संयम और सादगी से नहीं रहते थे। इसलिए विभूषा से लाभ का यह पलड़ा कोई वजनदार नहीं; बल्कि हानि का पलड़ा ही भारी है। विभूषा और टीप-टाप में प्रतिदिन कई घण्टे लगाने पड़ते हैं, फिर उसके लिए काफी पैसा खर्च करना पड़ता है, और उसकी चिन्ता में, पैसे जुटाने की चिन्ता में मनुष्य अपनी अमूल्य शक्ति का अपव्यय करता है। यह कितनी बड़ी हानि है ? और फिर ब्रह्मचारी को इतना समय कहाँ, उसके पास धन कहाँ ? अकिंचन साधु के पास तो बिलकुल धन नहीं होता। वह अपनी शक्ति इसमें क्यों लगाएगा ? वह अधिक से अधिक समय और शक्ति आत्म-चिन्तन, जनसेवा, आत्मसाधना आदि में ही लगाएगा। यह घाटे का सौदा वह क्यों करेगा ?

बहुत-से लोग अहंता की पूर्ति या अमीरी के प्रदर्शन के लिए विभूषा को अपनाते हैं। परन्तु यह तो फिजूलखर्ची है। हजारों मनुष्यों से वाहवाही लूटने के लिए आकर्षक भड़कीली वेश-भूषा अपनाना और साज-सज्जा करना पैसों की होली करना कौन-सी अच्छी बात है ? इस प्रकार से दो दिनों के लिए अहंतापूर्ति के बजाय सादगी और संयम से रहकर उन पैसों को अभाव और दरिद्रता से पीड़ित जनों की सेवा में लगाते तो स्थायीरूप से अहंतापूर्ति होती, प्रतिष्ठा भी मिलती।

दूसरों की अपेक्षा अपने को अधिक अमीर साबित करने के लिए भी जो लोग उद्‌भट वेश-भूषा या कामोत्तेजक साज-सज्जा अपनाते हैं, वे कई बार तो धनान्ध होकर इतना खर्च कर डालते हैं कि बाद में उन्हें अपने आवश्यक कार्यों को ठीक तरह से चलाने में भी कठिनाई महसूस होती है। किसी जमाने में अमीरी बड़प्पन का चिह्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रही होगी, पर आज इस प्रकार से अमीरी का दिखावा करने वालों को घृणा, ईर्ष्या, एवं द्वेष की दृष्टि से देखा जाता है। अतः अमीरी प्रदर्शन की चीज न बनाकर सेवा और परोपकार की बनाना कहीं अच्छा होता। विभूषा से अमीरों के तन-मन को, आत्मा को कोई लाभ नहीं होता, जबकि विभूषारहित सादे संयमी जीवन से सेवाकार्य करने से तन, मन एवं आत्मा को लाभ होता, प्रतिष्ठा और प्रशंसा भी मिलती। ब्रह्मचारी का तो आत्मबल, आत्मवैभव ही उसका धन है, वह प्रदर्शन की चीज नहीं है, उसके लिए आकर्षक वेश-भूषा और साज-सज्जा की जरूरत नहीं है। नीतिकार भी कहते हैं—

'नोद्धत वेषधरः स्यात्'

"मनुष्य को उद्धत और छैल-छबीली वेशभूषा नहीं धारण करनी चाहिए।"

फिर दूसरे की आँखों में चुभने वाली, सबसे अलग ढंग की चमक-दमक वाली वेश-भूषा अपनाना उतना ही दुर्विनय और उद्धतता है, जितना दूसरे को विषबुझी बात कहकर जलाना। वेश-भूषा मनुष्य के चरित्र का चित्रण कर देती है। गहरे रंग के चटकीले, आकर्षक कपड़े मनुष्य के उथलेपन को प्रगट करते हैं। इसलिए वेश-भूषा भड़कीली होगी तो वह व्यक्ति के दुर्विनय का प्रतिनिधित्व करेगी। इसलिए मनुष्य की, खासकर ब्रह्मचर्यनिष्ठ मानव की शोभा सादगी में है, भड़कीली वेश-भूषा में नहीं।

भड़कीली वेश-भूषा और टीप-टाप अपनाने पर जीवन बनावटी होगा, आवश्यकताएँ बढ़ जाएँगी। जितनी आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, उतना ही उसे उनकी प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्न में अपनी शक्तियों को लगाना होगा। ब्रह्मचारी अगर गृहस्थ हो, धन कमाता हो, तो उसे विभूषा के लिए सामग्री प्राप्त करने और उसकी पूर्ति करने की भाग-दौड़ में लगा रहना होगा। साधु या वानप्रस्थी ब्रह्मचारी के लिए तो ऐसा करना दुःशक्य है। यदि किसी भक्त द्वारा वह विभूषा सामग्री की पूर्ति कर भी ले, तो भी उसे सदैव उस भक्त की अनुचित, अनैतिक बातों का समर्थन करना होगा, उसकी आत्मा दबी हुई रहेगी। और यह निश्चित है कि विभूषा-सामग्री की पूर्ति में संलग्न रहने वाला ब्रह्मचारी किसी भी वर्ग का हो, उसे रात-दिन उसी गोरखधन्धे में लगे रहना होगा, फिर उसका ज्ञान, ध्यान, उत्कृष्ट आदर्श, उच्च दृष्टिकोण, महान् लक्ष्य सब छूट जाएगा। इन पर सोचने-विचारने का समय ही नहीं मिलेगा। विभूषा से यह सबसे बड़ी हानि है। सादगी से जीवन यापन करना ही एकमात्र उपाय है, जो ब्रह्मचारी के लिए सहज है, स्वाभाविक है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में विभूषा से होने वाली महाहानि के विषय में चेतावनी दी है—

विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे॥

'जब ब्रह्मचर्यनिष्ठ भिक्षु विभूषानुवर्ती हो जाता है तो नाना प्रकार के चिकने कर्म बाँध लेता है, जिनके कारण वह घोर दुस्तर संसार सागर में गिर जाता है।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब शरीर का बनाव-शृंगार करने में ब्रह्मचारी लग जाता है, तब वह स्वयं अपने हाथों से अपने वर्षों से साधित ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देता है, क्योंकि वह अपने आन्तरिक सौन्दर्य को भूलकर बाह्य सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए शरीर को सजाता-सँवारता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके बाह्य रूप की आग में कोई न कोई कामुक पतंगा आकर भस्म हो जाता है। अथवा विभूषाजीवी व्यक्ति स्वयं दूसरे की विभूषा या शृंगार देखकर फिसल जाता है, ब्रह्मचर्य से उसका मन डिग जाता है। इसलिए शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में 'विभूषावर्जन' नामक एक गुप्ति भी बताई है।

महात्मा गांधी ब्रह्मचर्य-साधना के लिए विभूषावर्जन आवश्यक मानते थे। वे स्वयं कहा करते थे—जिसे ब्रह्मचर्य पालन करना है, उसे इन नाज-नखरों और बनाव-शृंगारों से क्या मतलब है? इनमें अपना समय व्यर्थ नष्ट कर देगा तो वह साधना कब करेगा?

महात्मा गांधी के आश्रम में एक जवान लड़की अपनी माता के साथ रहती थी। वह लड़की आश्रम के सुसंस्कारों में प्रशिक्षित होने आयी थी। उसके बड़े-बड़े सजाए-संवारे हुए बाल देखकर आश्रमवासी एक युवक उस लड़की की ओर आकर्षित होता था। गांधीजी को इस बात का पता लगा। उन्होंने लड़की को बुलाकर स्नेह-पूर्वक समझाया और उसी दिन उसके लम्बे और आकर्षक बाल कटवा दिये, उसको सादी मोटी खादी की पोशाक पहनने की हिदायत दे दी। परिणाम यह हुआ कि उस युवक का उस जवान लड़की के प्रति जो आकर्षण था, वह दूसरे ही दिन से समाप्त हो गया। युवक को भी गांधीजी ने समझाकर उस आश्रम-कन्या के प्रति भगिनी-भाव रखने की हिदायत दी।

इंगलैण्ड के एक धनिक की मौज-शौक में पली हुई पुत्री मेडलीन स्लैड ने रोम्यां रोला से महात्मा गांधी की महिमा सुनी तो उसकी इच्छा आश्रमी जीवन में अपने आपको ढालने की हुई। मिस स्लैड ने महात्मा गांधी को एक पत्र लिखा, साथ में ऊन के कुछ नमूने और हीरे की अंगूठी बेचने से प्राप्त हुई धनराशि भेंट स्वरूप प्रेषित की। महात्मा गांधी ने उसका पत्र पढ़कर संक्षिप्त उत्तर लिखा—"संकल्प दृढ़ हो तो भारत आ जाओ।" भारत की यात्रा करने से पूर्व परिवार के सदस्यों ने उसे बहुत कुछ समझाया, पर वह दृढ़ निश्चय कर चुकी थी।

भारत आकर स्लैड इलाहाबाद पहुँची। गांधीजी उन दिनों वहीं थे। सामने पहुँचकर घुटनों तक झुककर स्लैड ने प्रणाम किया। गांधीजी ने अपने हाथ से उठाते हुए कहा—"आज से तुम मेरी पुत्री हुईं।" उन्होंने अपनी इस पुत्री का नाम 'मीरा' रखा। गांधीजी ने मीरा को सर्वप्रथम आदेश आश्रम के शौचालय की सफाई का दिया। किन्तु वह इस आदेश से जरा भी विचलित न हुई। क्योंकि **'Work is worship'** 'कर्म ही पूजा है' यह उसने इंग्लैण्ड में भी सीखा था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मीरा बहन ने अपने बाल कटवा दिये और खादी की सादी साड़ी पहनने लगी। उसने आश्रम में ही गांधीजी से आजन्म अविवाहित रहने का संकल्प ले लिया। गांधीजी की सहृदयता तथा आश्रमवासियों की सहयोगवृत्ति से मीरा बहन वहाँ के वातावरण में घुल-मिल गई। महात्मा गांधी की विचारधारा के प्रति उसकी दृढ़ श्रद्धा थी, इस कारण उसके सम्मुख कोई भी भौतिक या वैषयिक आकर्षण न ठहर सका। मांसाहार उसने भारत आने से एक वर्ष पूर्व ही छोड़ दिया था। श्रम के प्रति उसकी आस्था बढ़ने लगी। भूमि पर शयन करती थी। भारत की मातृभाषा हिन्दी सीखकर गीता और वेदों का अध्ययन भी उसने शुरू कर दिया। प्रार्थना में वह किसी दिन अनुपस्थित नहीं रहती थी। सारी इच्छाओं का दमन कर मीरा बहन सेवा को ही अपना प्रमुख व्रत मानने लगी।

यह था विदेशी महिला का विभूषा, टीप-टाप और आडम्बर से युक्त जीवन को छोड़कर सादगी, संयम और अनुशासनमय जीवन का स्वीकार!

विभूषा : न विकारदृष्टि से करें, न देखें

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों के अन्तर्गत विभूषावर्जन गुप्ति के विषय में ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को लक्ष्य में रखकर कहा है—

"नो निग्गंथे विभूसाणुवाई हवई···विभूसावत्तिए विभूसियं सरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं व पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलि पन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।"

'निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी विभूषानुवादी न हो। विभूषा (शृंगार-मंडनादि) की दृष्टि से शरीर को सजाने-सँवारने वाला ब्रह्मचारी स्त्रीजनों के लिए प्रार्थनीय एवं आकर्षणीय बन जाता है। स्त्रियों द्वारा कामलिप्सा की पूर्ति के लिए प्रार्थनीय ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा पैदा हो सकती है, ब्रह्मचर्य से अरुचि हो सकती है, अथवा उसे कामोन्माद भी हो सकता है, दीर्घकालिक रोगातंक भी हो सकता है, और अन्त में केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट होना भी संभव है।'

ये सब खतरे कम भयंकर नहीं हैं। और अक्सर ऐसा हो भी जाता है। इसीलिए ब्रह्मचारी साधकों के लिए भगवान महावीर की दोहरी चेतावनी है कि न तो शरीर को विभूषित करो और न किसी के विभूषायुक्त शरीर को देखो। क्योंकि शृंगारित शरीर को तथा अंगोपांगों को देखोगे तो कामविकार पैदा होगा, और कामोत्तेजना पैदा होने से ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होते देर न लगेगी। जैसा कि शास्त्र में कहा है—

न रूवलावण्णं विलासहासं,
न जंपियं इंगियपेहियं वा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठं ववस्से समणे तवस्सी ॥

'आत्मशोधनार्थ श्रम करने वाला तपस्वी श्रमण अपने चित्त में स्त्रियों का ध्यान रखकर उनके रूप, लावण्य, विलास, हास, जल्पन, सांकेतिक हाव-भाव, अंग-चालन या कटाक्ष को देखने का कभी प्रयत्न न करे।'

महाभारत में एक जगह वर्णन आता है कि अर्जुन ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या से इन्द्र को भीति हुई कि कहीं यह मेरा राज्य और पद न छीन ले। अतः उसने रम्भा नामक अप्सरा को बुलाकर कहा—"रम्भे ! जाओ किसी भी छल-बल से अर्जुन का ब्रह्मचर्य खण्डित करके उसे तपो-भ्रष्ट कर डालो।"

रम्भा सुसज्जित होकर अर्जुन के पास पहुँची, हाव-भाव दिखाकर बोली—"प्राणनाथ ! मेरी ओर देखो ! जिसके लिए आप इतना कठोर तप कर रहे हो, वह मैं आपके समक्ष उपस्थित हूँ। मुझे स्वीकार करके इस जीवन को सफल बनाओ और छोड़ो इस कष्टकारक तप को। तप करके भी मुझसे श्रेष्ठ और कौन-सी चीज आप को मिलेगी ?"

अर्जुन अपने तप में मग्न था। उसने सुसज्जित रम्भा की ओर नहीं देखा, न मन में कामोत्तेजना हुई। वह रम्भा को माता के रूप में देख रहा था।

रम्भा ने अपना सारा कौशल आजमा लिया, लेकिन अर्जुन उसके हाव-भाव देखकर तपस्या से नहीं डिगा। वह तो सोच रहा था कि माँ, मुझ बालक को मनाने की कोशिश कर रही है।

रम्भा सब तरह के उपाय आजमाकर हार गई। वह अर्जुन को ब्रह्मचर्य से स्खलित न कर सकी। तब अन्त में, इन्द्र की सिखलाई हुई एवं विषय-वासना की गुलाम रम्भा अर्जुन के सामने नग्न होकर नृत्य करने लगी। रम्भा अप्सरा का अद्-भुत और आकर्षक रूप-सौन्दर्य था मगर अर्जुन ने न तो स्वयं शरीर-विभूषा की ओर न विभूषा से सुसज्जित रम्भा के रूप-सौन्दर्य को देखा। तपोभ्रष्ट और ब्रह्मचर्यभ्रष्ट करने के रम्भा के सभी अस्त्र व्यर्थ हो गए। अर्जुन को वह तिलभर भी डिगा न सकी। अर्जुन ने रम्भा से मुस्करा कर कहा—"माता ! अगर आपने इस सुन्दर शरीर से मुझे जन्म दिया होता तो मुझ में और अधिक तेज होता।" रम्भा अर्जुन से परास्त और लज्जित होकर चली गई। अर्जुन अपनी ब्रह्मचर्यनिष्ठा पर अचल रहा।

बन्धुओ ! अर्जुन ने ब्रह्मचर्य रक्षा के दोहरे सिद्धान्त का पालन किया था। उसने न तो स्वयं शरीर-विभूषा की और न ही विभूषित शरीर को कामविकार की दृष्टि से देखा। इसीलिए वह ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट न हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वेश-भूषा का भी मन पर प्रभाव

वेश-भूषा का भी मन पर प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति सतोगुणी विचारों का होगा, उसकी वेश-भूषा सादी और पवित्र होती है। उसकी वेश-भूषा में मन-वचन-कर्म से शुचिता के दर्शन होते हैं। ब्रह्मचर्यसाधक सात्त्विक वेशभूषा से ही मन-वचन-काय से पवित्र रह सकता है।

भारत में जितने ऋषि, मुनि, सन्त, संन्यासी, तीर्थंकर, अवतार, भक्त या ब्रह्मचारी हुए हैं, सबने सादगी अपनाकर ही अपना जीवन उन्नत किया है। परमात्म-भक्ति या मोक्षसाधना में लगाया है।

परमभक्ता मीराबाई को कौन नहीं जानता ? वह विवाह करके भोग-विलास में नहीं फँसी, राजघराने की कुलवधू होते हुए भी भोग-विलास और वैषयिक सुख-भोग के सभी साधन होते हुए भी वह इन सबको ठुकराकर सीधे-सादे वेष में रही। रहन-सहन और खान-पान में भी उसने सादगी अपनाई। उसके ब्रह्मचर्य का तेज उसके सीधी-सादी वेशभूषा में झलकता था। कोई उसके सामने कामविकार की दृष्टि से आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था, इतना अद्भुत तेज था, उस ब्रह्मचारिणी भक्ता के चेहरे पर ! उसने अपने आपको शरीर-पूजा में नहीं लगाया, किन्तु आत्मपूजा और भगवत्पूजा में लगा दिया। अपना तन, मन, इन्द्रियाँ आदि सर्वस्व मीरा ने प्रभुभक्ति में लगा दिया। तभी तो उसका जीवन उच्च भूमिका पर पहुँच सका।

शील ही परम आभूषण है

वास्तव में देखा जाये तो ब्रह्मचारी को और किसी भी आभूषण की जरूरत नहीं है, जिस आभूषण की जरूरत है, आत्मा को शृंगारित-सुसज्जित करने के लिए जिस गहने की जरूरत है, वह उसके पास है। क्या आप बता सकते हैं, वह आभूषण कौन सा है ?

एक शिष्य के मन में भी ऐसा प्रश्न उद्भुत हुआ था—गुरुदेव ! बताइए, **'किं भूषणाद् भूषणमस्ति ?'** लोग शरीर को सुन्दर बनाने के लिए आभूषण पहनते हैं, मुझे भी शरीर की शोभा बढ़ाने हेतु एक आभूषण पहनना है। मुझे ऐसा श्रेष्ठ आभूषण बताइए, जिससे मैं सुशोभित हो उठूँ। मुझे ऐसा श्रेष्ठ आभूषण बताइए, जिसे दुष्ट लोग छीन न सके, खराब न कर सकें।

गुरु ने देखा कि शिष्य की आभूषण की शर्त कठोर है। परन्तु इसमें ऐसे आभूषण को प्राप्त करने की उत्कण्ठा जागी है। यही उत्तम है।

गुरु ने शिष्य से कहा—"वत्स ! ऐसा आभूषण है, जिसे भरत चक्रवर्ती ने पहना था, महसती सीता ने पहना था, महासती मदनरेखा ने भी पहना था।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा आभूषण; जो कि शिष्य की बताई हुई कठोर शर्त पर टिक सके, न तो अंगूठी है, न बाजूबन्द है, न नवलखा हार है। ऐसी योग्यता इन आभूषणों में नहीं है। वह आभूषण है—शील। गुरु ने कहा—'शीलं परं भूषणम्' शील ही परम आभूषण है। जिसके पास शीलरूपी आभूषण है, उसे दूसरे आभूषणों से शरीर को विभूषित करने की जरूरत नहीं है। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—

अभूसणो सोहइ बंभयारी'

ब्रह्मचारी विभूषारहित सोहता है, उसे बाह्य विभूषा की जरूरत नहीं है।

आप भी शीलरूपी आभूषण को अपनाइए, आपका आत्मसौन्दर्य चमक उठेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५५

दीक्षाधारी अकिंचन सोहता

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष एक महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करनी है, वह है दीक्षाधारी—साधु-जीवन ।

गणना के अनुसार साधु वेषधारक भारतवर्ष में आज लगभग ७० लाख हैं। परन्तु इनमें सच्चे साधु या मुनि-दीक्षाधारी कितने हैं ? यह गम्भीर प्रश्न है। अगर सच्चे दीक्षाधारी साधु अल्पसंख्या में भी होते तो वे अपने और समाज के जीवन का कायाकल्प, सुधार या उद्धार कर पाते। परन्तु आज जहाँ देखें, वहाँ तथाकथित साधुओं में सम्पत्ति और जमीन जायदाद के लिए झगड़ा हो रहा है, आये दिन अदालतों में मुकदमेबाजी होती है, कहीं जातीय कलह है तो कहीं गाँव का, तो कहीं स्थान का है, उनके पीछे तथाकथित साधुओं का हाथ है। ये सब झंझट अपना घर-बार और जमीन-जायदाद छोड़कर साधुदीक्षा लेने वाले के पीछे क्यों होते हैं ? इन सबका एकमात्र हल क्या है ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को हल करने के लिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट शब्दों में कहा—

अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी

'दीक्षाधारी साधु तो अकिंचन ही सोहता है।'

साधु की शोभा निस्पृहता है

गौतमकुलक का यह चवालीसवाँ सूत्र है। अब हम इस पर गहराई से विचार करें कि दीक्षाधारी साधु सच्चे माने में कौन है ? वह किस उद्देश्य से दीक्षित होता है ? उसका अकिंचन रहना क्यों आवश्यक है ? साधुदीक्षा लेने के बाद अकिंचन साधु किस तरह परिग्रह या संग्रह की मोहमाया में फँस जाता है ? अकिंचन बने रहने के उपाय क्या हैं ? तथा अकिंचनता के लिए आवश्यक गुण कौन-कौन से हैं ?

दीक्षाधारी : यथार्थ रूप में कौन है, कौन नहीं ?

सच्चा दीक्षाधारी साधु-जीवन स्वीकार करते समय अपने घर-बार, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब,परिवार एवं सोना-चाँदी आदि सभी प्रकार के परिग्रह को हृदय से छोड़ता है। वह इसलिए इन सबको छोड़ता है कि इन सबसे सम्बन्धित ममत्व-बन्धन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आसक्ति और मोह न हो तथा इन दोषों के उत्पन्न होने के साथ ही लड़ाई-झगड़े, कलह, क्लेश, अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता आदि पैदा न हों। यह निश्चित है कि जब दीक्षाधारी साधु परिग्रह के प्रपंचों में पड़ जाता है, तब उसकी मानसिक शान्ति, निश्चिन्तता, सन्तोषवृत्ति एवं निर्ममत्वभावना समाप्त हो जाती है, और वह स्व-परकल्याण साधना नहीं कर सकता। भले ही उसका वेश साधु का होगा, परन्तु उसकी वृत्ति में साधुता, निर्लोभता, निर्ममत्व, शान्ति और निश्चिन्तता पलायित हो जाएँगे।

साधु जीवन अंगीकार करने का जो उद्देश्य था—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना द्वारा कार्यक्षय करके मोक्ष प्राप्त करने का, वह इस प्रकार की परिग्रहवृत्ति—ममत्वग्रन्थि आ जाने पर लुप्त हो जाता है। अतः अगर संक्षेप में सच्चा दीक्षाधारी कौन है? यह बताना हो तो हम कह सकते हैं—जो निर्ग्रन्थ है, अपरिग्रही है, वही वास्तव में सच्चा दीक्षाधारी साधु है, और उसकी शोभा अकिंचन बने रहने में है। जिसके जीवन में बाह्य और आभ्यन्तर किसी प्रकार के परिग्रह की ग्रन्थि न हो, वही सच्चा गुरु है, सच्चा दीक्षित मुनि या श्रमण है।

केवल घर-बार छोड़ने या धन-सम्पत्ति का त्याग कर देने मात्र से कोई सच्चा साधु नहीं माना जा सकता, जब तक कि उसके अन्तर् से त्यागवृत्ति न हो, उन वस्तुओं—सचित्त या अचित्त पदार्थों के प्रति उसकी मानवता, आसक्ति, मोह या लालसा न छूटे, उसके मन से इच्छाओं, कामनाओं का त्याग न हो। यहाँ तक कि अपने धर्मस्थान, शरीर, शिष्य तथा विचरण-क्षेत्र, शास्त्र, पुस्तक आदि पर भी उसके मन में ममत्व, स्वामित्वभाव या लगाव न हो। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है—

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से॥

'निर्ग्रन्थ-मर्यादा का भंग करके जिस किसी वस्तु का संग्रह करने की वृत्ति को मैं आन्तरिक लोभ की झलक मानता हूँ। अतः जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, वे प्रव्रजित-दीक्षित नहीं, अपितु सांसारिक प्रवृत्तियों में रचे-पचे गृहस्थ हैं।'

दीक्षा ग्रहण करने से पहले साधु ने जिन मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयभोगों को, मनोहर, प्रिय वस्त्र, अलंकार, स्त्रीजन, शय्या आदि को स्वेच्छा से छोड़ा है, उन्हीं मनोज्ञ, प्रिय एवं कमनीय भोग्य वस्तुओं की मन में लालसा रखना, उनकी प्राप्ति हो सकती हो या न हो सकती हो, फिर भी उनके लिए मन में कामनाएँ सँजोना, त्यागी का लक्षण नहीं है, वह अत्यागी है।[1]

---

१ वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ॥

—दशवैका० अ० २

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षित साधु के समक्ष धन का ढेर लगा होगा, सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ पड़ी होंगी, अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थ सामने धरे होंगे, तो भी वह उनको लेने के लिए मन में भी विचार नहीं करेगा। जैसे कमल कीचड़ में पैदा होते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वैसे ही सच्चा दीक्षाधारी साधु पंक-सम संसार और समाज में रहते हुए भी उनकी प्रवृत्तियों से अलिप्त रहेगा। वह अपने मन में संसार नहीं बसाएगा। संसार का मतलब है—

'कामानां हृदये वासः संसारः परिकीर्तितः।'

'विविध कामनाओं का हृदय में निवास करना ही संसार है।'

निष्कर्ष यह है कि दीक्षाधारी साधु अपरिग्रही, निर्ममत्व, अनासक्त, निर्लेप, निर्ग्रन्थ एवं अकिंचन होना चाहिए। सांसारिक बातों का किसी प्रकार रंग या लेप उस पर नहीं होना चाहिए। त्यागी बनकर जो उस त्याग की मन-वचन-काया से अप्रमत्त एवं जागरूक होकर साधना करता है, वही सच्चा दीक्षाधारी है; वही स्व-पर-कल्याणसाधक सच्चा साधु है। जो स्वयं संसार की मोहमाया में पड़ जाता है, वह साधु-जीवन के उद्देश्य के अनुसार कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता और न ही संसार की मोहमाया में पड़े हुए तथा कर्मबन्धनों में लिपटे हुए लोगों को सच्चा मार्ग-दर्शन दे सकता है। साधुदीक्षा ग्रहण करके पुनः सांसारिक प्रवृत्तियों में पड़ने वाला व्यक्ति 'इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाता है।

दीक्षा लेने के बाद त्यागी साधु पुनः परिग्रह के मोह में क्यों ?

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि दीक्षा लेने के बाद त्यागी बना हुआ साधु पुनः नये-नये परिग्रह, संग्रह या वस्तु के मोह में क्यों पड़ जाता है। क्या कारण है कि अकिंचन और अपरिग्रही साधु अपनी प्रतिज्ञा से हट जाता है ? यों तो दीक्षा लेते समय साधु समस्त प्रकार के परिग्रह का मन-वचन-काया से त्याग करता है, भले ही परिगृहीत वस्तु अल्प हो या अधिक, सूक्ष्म हो या स्थूल, सजीव हो या निर्जीव; किन्तु उस त्याग का स्थायी संस्कार तब तक जीवन में नहीं आ पाता, जब तक कि उस त्याग का अप्रमत्ततापूर्वक गहरा एवं दीर्घकालिक अभ्यास न हो। कई बार परिग्रह की परिभाषा के भ्रम में दीक्षित साधु वस्तुओं का संग्रह करता जाता है। मान लीजिए, एक साधु है, वह दशवैकालिक सूत्र के इस पाठ को पढ़ता है—

जं पि वत्थं वा पायं वा कंबलं पायपुच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥

'जिनका ध्येय कर्मक्षय करके मुक्ति पाना है, ऐसे परिग्रहत्यागी साधु जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि उपकरण रखते हैं, वे भी केवल संयमरक्षा एवं लज्जा-निवारण के लिए रखते हैं, धारण करते हैं या पहनते हैं। अपरिग्रही साधु संयम की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधना के लिए जो भी ये उपकरण (साधन) रखता है, उसे जगत्त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने परिग्रहरूप नहीं कहा है। लेकिन इन समस्त उपकरणों में ममता-मूर्च्छा या आसक्ति रखना ही परिग्रह है, ऐसा उन महर्षि ने बताया है।'

इस सूत्र में बताए हुए ऊपर के अंश को ही पकड़कर जब साधु प्रवृत्ति करने लगता है और आवश्यकता एवं संयमरक्षा का हेतु न होने पर भी साधन-सामग्री के संग्रह को परिग्रह न समझकर संग्रह करता जाता है, सूक्ष्मरूप से उसकी ममता बढ़ती जाती है, उसकी मूर्च्छा दिनोंदिन प्रबल होती जाती है, फिर वह 'मूर्च्छा परिग्रह है' इस सूत्र को भूल जाता है। वस्तुओं पर ममता-मूर्च्छा होते हुए भी तथा अन्तर्मन में इसे समझते हुए भी अपनी पकड़ी हुई मिथ्या बात को सिद्ध करने के लिए वह यही कहता रहता है—'इन वस्तुओं पर मेरी ममता-मूर्च्छा नहीं है, मेरा कोई स्वामित्व इन पर नहीं है, ये वस्तुएँ मेरी नहीं हैं, मैं तो केवल इनका संरक्षक हूँ।' इस प्रकार मिथ्या-आग्रहवश एक दिन जो अपरिग्रही, निर्ममत्व, निःस्पृह, अकिंचन भिक्षाजीवी साधु था, वह धीरे-धीरे परिग्रह और ममत्व के दलदल में फँस जाता है। जबकि दशवैकालिक सूत्र में परिग्रह त्यागी साधकों को बराबर इस बात की चेतावनी दी गई है—

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खण-परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरंति ममाइयं॥

तत्त्वज्ञ साधु उपाधि (वस्त्र, पात्र, आदि धर्मोपकरणों) के स्वीकार में अथवा उसके संरक्षण—सार-संभाल में सर्वत्र किसी प्रकार की ममता या आसक्ति नहीं रखते। जो देह तक में ममत्व नहीं रखते, क्या वे तुच्छ साधन-सामग्री में कभी ममत्व रख सकते हैं? इतनी चेतावनी के बावजूद भी अपरिग्रही साधक साधन-सामग्री के मोह-ममत्व में फँस जाता है और ऐसा फँसता है कि फिर उससे निकलना ही दुष्कर हो जाता है।

तथागत बुद्ध के युग की एक सुन्दर आख्यायिका इस विषय पर प्रकाश डालती है।

तथागत बुद्ध के दो शिष्यों ने धर्मप्रचारार्थ एक साथ प्रस्थान किया। दोनों शास्त्रज्ञ एवं तेजस्वी थे। आगे चलकर जहाँ दो रास्ते मुड़ते थे, वहाँ दोनों ने एक-दूसरे से कहा—'हम यहाँ से पृथक्-पृथक् रास्ते से भ्रमण करेंगे, क्योंकि ऐसा करके हम अधिक क्षेत्रों को संभाल सकेंगे।' दोनों अलग-अलग मार्गों से चलकर अपने-अपने गन्तव्य स्थान में पहुँचते हैं और कुछ दिन धर्मोपदेश देते हैं, फिर आगे चल पड़ते हैं। दोनों को वर्षों पर वर्ष बीतते गए, मगर एक दूसरे के समाचार नहीं मिले। बारह वर्ष व्यतीत हो गये, लेकिन दोनों एक दूसरे से मिल भी न सके।

दोनों में से जो छोटा बौद्धभिक्षु था, वह ग्राम-नगर विचरण करता-करता अपनी जन्मभूमि के गाँव में पहुँच गया। वहाँ लोगों को उपदेश देने लगा, वहाँ बहुत-से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुयायी भी बन गये। जब पहले-पहल वह इस गाँव में आया था, तब उसके पास कुछ ग्रन्थ, मिट्टी के पात्र और कषायवस्त्र इतने ही उपकरण थे; लेकिन धीरे-धीरे ग्रामीणजनों का परिचय बढ़ता गया, उनको भी इस भिक्षु के प्रति ममत्व हो गया। इसलिए जहाँ उसे एक वस्त्र की जरूरत होती, वहाँ वह ८-१० वस्त्र, अनेक कम्बल, पात्र, तथा अन्य नये-नये साधन संग्रह करने लगा। वस्त्र भी एक से एक बढ़कर बहुमूल्य और सुन्दर, तथा अन्य सामग्री भी बढ़िया इकट्ठी की जाने लगी। पहले वह घरों से स्वयं भिक्षा माँगकर आहारादि लाता था, पर बाद में भिक्षा लाना बन्द कर दिया। उसके स्थान पर ही भक्त लोग उसके लिए सुबह दूध, नाश्ता, दोपहर को स्वादिष्ट भोजन लाने लगे। दो-तीन भक्त तो हर समय भिक्षु की सेवा में उपस्थित रहते थे। सुख-सुविधाएँ तो साधक के लिए फिसलन हैं। अप्रमादी और अविवेकी साधक का फिसलन वाली भूमि पर चलने से पतन होना अवश्यम्भावी है। भिक्षु भी धीरे-धीरे सुकुमार और सुखशील बनता गया, अपने गाँव में एक ही स्थान पर ही मजे से आराम करने लगा। भ्रमण बन्द कर दिया।

इन बारह वर्षों में उसने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आभूषण, पात्र, सुखशय्या, अनेक ग्रन्थ वगैरह एकत्रित कर लिये। आरामतलबी में कोई कसर न रखी। धीरे-धीरे वह भोगी और विलासी बनता गया। उसे यह स्मरण भी न रहा कि मेरे बड़े गुरुभाई कहाँ हैं?

बारह वर्ष बाद एक दिन उसे सहसा याद आया कि मेरे एक बड़े गुरुभाई थे, न मालूम वे आजकल कहाँ हैं? उनकी तलाश करनी चाहिए। गाँव के भक्तों से विचारविमर्श करके वह भिक्षु गुरुभाई की तलाश में वहाँ से निकला। घूमते-घूमते एक गाँव के बाहर एक पेड़ के नीचे उन्हें आसन पर बैठे देखे। भिक्षु उनके निकट आया और देखा तो आश्चर्य में डूब गया कि इसके पास न तो कोई मठ है, न सुन्दर पलंग और न ही बढ़िया वस्त्र। यह तो अभी तक वैसा का वैसा ही रहा।

यह देखकर मन ही मन अपने ठाठ-बाट का विचार करता हुआ भिक्षु मुस्कराया। फिर बड़े गुरुभ्राता से पूछा—"भंते! आप मठ या विहार में क्यों नहीं रहते? और आपके पास तो कपड़े तथा अन्य साधन भी पूरे नहीं दीखते।"

बड़े भिक्षु ने कहा—"भाई! एक ही स्थान में पड़े रहने से सुखशीलता, प्रमाद, सुविधावाद एवं विलासता आ जाती है।"

छोटा भिक्षु कहने लगा—"आप चाहे जो कहें, विहार विहार ही है, उसमें रहने से समय पर लोगों को नियमित रूप से उपदेश भी दिया जा सकता है। मैं तो ऐसा ही करता हूँ। एक विहार में रहता हूँ। वहीं लोगों को उपदेश देकर उनका मनोरंजन करता हूँ। मुझे भिक्षा के लिए घर-घर घूमने की जरूरत नहीं पड़ती। विहार में ही भक्त लोग दूध, नाश्ता, आहार आदि दे जाते हैं।"

बड़ा भिक्षु—"यह तो भिक्षुधर्म के विरुद्ध है। भिक्षु का अर्थ ही है भिक्षा लाकर खाना और उपदेश देकर जनता की आत्मा का कल्याण करना।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छोटा भिक्षु सोचने लगा कि अभी तक बड़े गुरुभाई पुराने जमाने के विचारों के हैं, इन्हें झटपट अपनी बात समझाई नहीं जा सकती। छोटे भिक्षु को भूख लगी, अतः बड़े भिक्षु ने कहा—"कुछ देर प्रतीक्षा करो। मैं अभी भिक्षा लेकर आता हूँ।"

छोटा भिक्षु—"आप भिक्षा लेने जायेंगे? मुझे तो लोग चार-चार वक्त भोजन लाकर स्थान पर दे जाते हैं।"

बड़ा भिक्षु भिक्षापात्र लेकर गाँव में गया और थोड़ी ही देर में रोटी और साग लेकर आया। अब बड़े भिक्षु ने छोटे से कहा—"लो, भिक्षा आ गई है। आहार करो।"

छोटे भिक्षु से अब रहा नहीं गया। वह बोल उठा—"मुझे तो आश्चर्य होता है कि आप ऐसे रद्दी स्थान में और ऐसे रूक्ष मनुष्यों के बीच में कैसे रहते हैं? मुझ से तो यहाँ थोड़ी देर भी रहा नहीं जाता और यह रूखी रोटी तो कदापि मेरे गले उतर न सकेगी।"

बड़े भिक्षु को लगा कि इस (छोटे भिक्षु) ने बारह वर्ष में सारे ही संयमी भिक्षु-जीवन पर पानी फेर दिया है।

छोटा भिक्षु कहने लगा—"मालूम होता है, आप अपनी विद्या का प्रभाव इन लोगों पर डाल नहीं सके हैं। मेरे आपके बीच में कितना अन्तर है? यह तो इसी पर से सिद्ध होता है।"

बड़ा भिक्षु बोला—"भिक्षो! तुम अपने जीवन पर एक बार गहराई से विचार करो कि तुमने घर-बार, जमीन-जायदाद तथा धन एवं सुख-साधन किस लिए छोड़े थे? क्या घर में खाने की कमी थी? क्या वहाँ मकान नहीं थे, पलंग आदि न थे या मिठाइयाँ नहीं थीं? फिर भी उन सबका त्याग क्यों किया था? क्या इसलिए किया था कि तुम पुनः उन त्यक्त वस्तुओं का उपभोग करने के लिए तत्पर बनो! तुम अपने आपको बौद्ध भिक्षु कहते हो। तथागत बुद्ध का कथन है कि भिक्षुओं को पक्षियों की तरह विचरण और भिक्षाचर्या करनी चाहिए। जैसे पक्षीगण किसी वस्तु का संग्रह नहीं करते, वैसे भिक्षु को भी संग्रह नहीं करना चाहिए। मेरा तो इतना अभ्यास है कि चाहूँ तो इसी समय यहाँ से प्रस्थान कर सकता हूँ, पर तुम से शायद ही ऐसा हो सके, तुम्हें तो मठ या विहार वगैरह याद आएगा, सुन्दर स्वादिष्ट भोजन का स्मरण आयेगा। तुम संसार का त्याग करके पुनः इसमें लिपट गए हो, कैसे तुम स्व-परकल्याण कर सकोगे? अपना आत्म-विकास कैसे कर सकोगे?"

छोटे भिक्षु के सरल हृदय में अपने बड़े गुरुभाई की बात गले उतर गई। वह बोला—"भन्ते! आप ठीक कहते हैं। सच्चा भिक्षु तो संसार से निर्लिप्त होने के लिए ही संसार को त्याग करके अकिंचन बनता है। मुझे खेद है कि मैं अज्ञानता-वश पुनः परिग्रह में फँसकर अपनी अकिंचनता को भूल गया। मैं इसके लिए प्रायश्चित्त करता हूँ, और आपके साथ ही प्रस्थान करता हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह है—दीक्षाधारी परिग्रह त्यागी साधु का पुनः परिग्रह में लिपट जाने का ज्वलन्त उदाहरण।

अकिंचन बनकर भी पुनः परिग्रह के कीचड़ में

आज दीक्षाधारी साधु घर-बार, धन-सम्पत्ति आदि सब कुछ छोड़कर अकिंचन बन जाता है, लेकिन इन सब परिग्रहों के बदले दूसरे परिग्रह उसके मन में जड़ जमा लेते हैं। दीक्षाधारी अपना एक घर छोड़ता है, यहाँ जगह-जगह घर मिलते हैं, जहाँ उसका ममत्व चिपका कि अनेक घरों का परिग्रह हो जाता है। वह छोड़ता है—एक परिवार को, यहाँ भक्त-भक्ताओं एवं शिष्य-शिष्याओं के परिवार के साथ अगर वह ममत्व बाँध लेता है तो यह सम्प्रदाय नामक नया परिवार उसके लिए परिग्रह बन जाता है। उधर एक गाँव छोड़ता है, लेकिन यहाँ विचरण के क्षेत्रों पर तेरे-मेरे की छाप लग जाती है, विचरणक्षेत्रों के बारे में होने वाले झगड़े तथा तीर्थक्षेत्रों में अलग-अलग मन्दिरों के झगड़े क्षेत्रासक्ति ही सूचित करते हैं।

इसी प्रकार मन्दिर, मस्जिद, धर्मस्थानक, चर्च, उपाश्रय, गुरुद्वारा, मठ, विहार, रामद्वार, आदि पर भी जब मेरापन चिपक जाता है, तब साधु अकिंचन, निर्ग्रन्थ या अपरिग्रही नहीं रह जाता। होता यह है कि मन्दिर आदि के पीछे 'मेरा' चिपक जाने पर झंझट पैदा हो जाती है। मुसलमान को हिन्दू का मन्दिर गिर जाय तो प्रसन्नता होती है, और हिन्दू को मुसलमान की मस्जिद गिर जाने पर। परमात्मा से किसी को कुछ लेना-देना नहीं है।

परमात्मा भी सबके अपने-अपने हैं। अगर हिन्दू के भगवान् का मन्दिर गिर रहा हो तो मुसलमान बचाने नहीं आयेगा, यही बात मुस्लिम के मस्जिद की है। और तो और, एक ही भगवान में बँटवारा हो जाता है, साधुओं की इस प्रकार की आसक्ति के कारण। यह तो अमुक का भगवान् है, मेरा नहीं। इस प्रकार के जाति, धर्म-सम्प्रदाय, मन्दिर, धर्मस्थान, उपाश्रय आदि पर अपनी-अपनी ममता चिपकाकर जो साधु बैठ जाते हैं, वे फिर किसी दूसरी जाति, धर्म-सम्प्रदाय, आदि के व्यक्ति को कतई नहीं घुसने देते। यह आसक्ति बहुत गहरी होती है, साधु के जीवन में। अगर आप जंगलों, गुफाओं और तीर्थों में जाकर देखेंगे तो वहाँ आपको पता चलेगा कि जो संसार छोड़कर बैठे हैं, उनकी अलग-अलग गुफाएँ, अलग-अलग स्थान, पृथक्-पृथक् तीर्थ हैं, अगर वहाँ कोई और साधु आ जाए तो झगड़ा मच जायगा, क्योंकि गुफा पर या अमुक स्थान पर अमुक स्वामी का ही कब्जा है, अमुक बाबा ही इसका मालिक है। अमुक आचार्य का ही यह उपाश्रय, या ज्ञानशाला, धर्मस्थानक, या भवन है। इसमें दूसरे आचार्य के शिष्य प्रवेश नहीं कर सकेंगे, अन्यथा झगड़ा हो जायगा, अपने भक्तों द्वारा निकलवा दिया जायगा। चलती सड़क है, किसी एक की नहीं है; पेड़ है, किसी एक का नहीं है, सार्वजनिक है, यदि वहाँ कोई बाबा आकर जम गया है तो वह स्थान उसका हो गया, फिर वहाँ से उसे हटाकर दूसरे बाबा का बैठना असम्भव सा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार अकिंचन साधुओं की ममत्व की करुण कहानी है। यह ममता-मूर्च्छा यहाँ तक ही सीमित नहीं रहती, सुरसा की तरह आगे से आगे बढ़ती जाती है, कभी बहुत ही सूक्ष्म हो जाती है, उसका रहस्य भ्रमवश बड़े-बड़े साधुओं को भी मालूम नहीं होता। पद का ममत्व, पदवी के लिए लड़ाई, एक दूसरे के साथ राजनीतिज्ञों की-सी प्रतिस्पर्धा और टक्कर! प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की आसक्ति तो इतनी जबर्दस्त है कि वह जीवनपर्यन्त तथाकथित अकिंचनों के दिल-दिमाग से नहीं निकलती। यहाँ तक कि अगर दूसरे सम्प्रदाय के किसी साधु को अधिक प्रतिष्ठा मिल जाती है, या उसकी अधिक प्रसिद्धि होती है, तो उससे ईर्ष्या करके उसकी प्रतिष्ठा को गिराने और प्रसिद्धि को चौपट करने की कोशिश की जाती है, तथाकथित अकिंचनों के द्वारा। कहा भी है—

कंचन तजबो सहज है, सहज त्रिया को नेह।
मान, बड़ाई, इर्ष्या, दुर्लभ तजिबो एह॥

निष्कर्ष यह है कि अकिंचन कहलाने वाला साधुवर्ग प्रायः सर्वत्र अहंकार की पताका लिए खड़ा रहता है। जो व्यक्ति आत्मार्थी है, आत्मतृप्त है, आत्मा की पूजा करना चाहता है, वह प्रतिष्ठा को लात मारकर भगा देता है। वह तो साफ कहता है—

"प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा।"

'प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा के समान त्याज्य है।'

स्वामी रामकृष्ण परमहंस को यह पसन्द न था कि लोगों में उनकी प्रसिद्धि हो। वे प्रत्येक व्यक्ति के सामने अपनी चामत्कारिक अनुभूति की बात नहीं कहते थे। बाबू केशवचन्द्र सेन स्वामीजी के सम्पर्क में आने के बाद उनके सद्गुणों पर बहुत मुग्ध हो गये थे। एक बार उन्होंने सद्भावनावश सामाजिक पत्रों में स्वामीजी की प्रशंसा में एक लेख प्रकाशित करा दिया। जब स्वामीजी ने यह समाचार सुने तो वे उन पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने केशवचन्द्र बाबू को कितने ही अर्से तक अपने पास आने के लिए मना कर दिया। एक दिन आधी रात के समय स्वामीजी उठे और थू-थू करते हुए कहने लगे—"लोग मुझे सम्मान देते हैं, माँ! थू-थू माँ!" यानी लोक-प्रतिष्ठा पर आप थूकते थे। सम्मान, यश एवं प्रसिद्धि से आप विरक्त थे।

निष्कर्ष यह है कि दीक्षाधारी साधु को इन सब बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों से बचना चाहिए।

अकिंचनता में बाधक तत्त्व

बाह्य परिग्रह के ९ भेद शास्त्रकारों ने बताये हैं—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु, (३) हिरण्य, (४) सुवर्ण, (५) धन, (६) धान्य, (७) द्विपद, (८) चतुष्पद और (९) कुप्य।

आभ्यन्तर परिग्रह के १४ भेद हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) क्रोध, (८) मान, (९) माया, (१०) लोभ,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(११) स्त्रीवेद, (१२) पुरुषवेद, (१३) नपुंसकवेद, और (१४) मिथ्यात्व। इन्हीं को आभ्यन्तरग्रन्थ कहते हैं, तथा बाह्य परिग्रह को बाह्यग्रन्थ। जो मूर्च्छा—इच्छा से रहित हैं, उनके लिए सारा जगत अपरिग्रह है।[1] अतः बाह्य एवं आभ्यन्तर किसी प्रकार का परिग्रह अकिंचनता में बाधक है।

किसी भी चीज से, यहाँ तक कि शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित किसी भी जड़-चेतन पदार्थ से आत्मा का तादात्म्य बना लेना, ममत्व या 'मेरे' को जोड़ लेना अज्ञान है, परिग्रह है, जो अकिंचनता में मुख्यरूप से बाधक है।

आत्मा के साथ वस्तु का मेरापन जोड़ने से दुःख

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने और उसमें रमण करने वाला कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो परभाव को यह कहेगा कि 'यह मेरा है ?' इसलिए मेरा सम्प्रदाय, मेरा मन्दिर, मेरा उपाश्रय, मेरा वस्त्र, पात्र या कम्बल, मेरा गुरु, मेरा शिष्य आदि कहना या ऐसा 'मेरे' का दावा करना अथवा मन में मेरेपन का भाव रखना आकिंचन्य नहीं है। सिवाय आत्मा के (तुम्हारे), कुछ भी तुम्हारा नहीं है, उसी को लेकर तुम आए, उसी को लेकर परलोक जाओगे। बाकी सब खेल है। भाई-बन्धु, गुरु-शिष्य, शत्रु-मित्र आदि कोई भी तुम्हारा नहीं है। यह लोक भी, या घर मकान आदि भी सराय है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं—जिसने मेरापन व्यवहार से, और मन से छोड़ दिया, उसके लिए अकिंचनता सहज हो जाती है।

जब साधक अपनी आत्मा को किसी चीज से जोड़ते हैं, तभी मेरापन पैदा होता है। जब साधु संन्यासी कहते हैं—यह मेरा स्थान है तब कौन-सी घटना घटित होती है ? वे चले जायेंगे, लेकिन उनके लिए स्थान रोयेगा नहीं। स्थान गिर जायगा टूट-फूट जायगा तो वे (ममता के कारण) रोयेंगे। स्थान तो वैसा का वैसा बना रहेगा, लेकिन जिसके दिल में स्थान के लिए मेरापन है, वही दुःखी होगा। भगवान् महावीर कहते हैं—

चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वाऽणुजाणाइं, एवं दुक्खा ण मुच्चइ॥[2]

'जो मनुष्य सजीव (मनुष्य, पशु-पक्षी आदि) एवं निर्जीव (धन-धान्य, सोना-चाँदी आदि) किसी भी वस्तु का जरा-सा भी स्वयं परिग्रह (ममत्व युक्त) रखता है, या दूसरों को रखने की राय देता है, वह कभी दुःख से छूट नहीं सकता। जहाँ-जहाँ ममत्व आत्मा के साथ में जुड़ा हुआ है, वहाँ दुःख के सिवाय और कोई लाभ नहीं।

अकिंचन साधु स्थान को सराय समझता है

मैंने कहीं पढ़ा था कि एक सूफी फकीर कुछ विद्यार्थियों को लेकर कहीं जा रहा था, रास्ते में एक आदमी मिला, जो गाय को रस्सी से बाँधकर खींचे लिए जा

---

१. 'मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः।' —ज्ञानसार
२. सूत्रकृतांग (श्रु० १, अ० १, उ० १, गा० २)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहा था। उसने विद्यार्थियों से उस आदमी को घेर लेने को कहा। गायवाला आदमी यह सुनकर जरा चौंका, लेकिन यह जानने को अवाक् खड़ा रह गया कि क्या मामला हैं? सूफी फकीर ने शिष्यों से पूछा—"बताओ; इन दोनों (गाय और आदमी) में कौन किसका गुलाम है? यह आदमी गाय का गुलाम है या गाय इस आदमी की?" पूर्व संस्कारवश स्वभावतः शिष्यों ने कहा—"गाय इस आदमी की गुलाम है, क्योंकि गाय की रस्सी इसने हाथ में थाम रखी है। यह उसे चाहे जहाँ ले जा सकता है।" सूफी फकीर ने कहा—"तुमने केवल ऊपर-ऊपर से देखा है। ऐसा मत समझो कि रस्सी बीच में से काट दें तो गाय इस आदमी के पीछे चली जाएगी या आदमी इस गाय के पीछे भागेगा? गाय हर्गिज पीछे आने वाली नहीं, यह तो रस्सी पकड़े हुए इस आदमी के साथ भी मुश्किल से जाएगी। यह आदमी ही गाय के पीछे भागता फिरेगा। गाय को इस आदमी से कोई लेना-देना नहीं। इस गाय ने कोई तादात्म्य इस आदमी के साथ नहीं बाँधा है, तादात्म्य तो स्वयं इस आदमी ने ही गाय के साथ बाँधा है। अतः गुलाम यह आदमी है, गाय नहीं।"

इस प्रकार जिस-जिस वस्तु के साथ आत्मा का तादात्म्य जोड़कर आदमी उसे मेरी कहता है, वहीं वह उसका गुलाम हो गया। वह वस्तु उस तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ने वाले व्यक्ति को 'मेरा मालिक' नहीं कहती। वस्तु के प्रति ममत्व रखकर अपनी आत्मा से उसका तादात्म्य जोड़ने वाला ही कहता है—"यह वस्तु मेरी है, मैं इसका मालिक हूँ।" और इस प्रकार उस वस्तु को पाने, टूट-फूट जाने, खो जाने या नष्ट हो जाने पर व्यक्ति उसके लिए रोता है, आर्त्तध्यान करता है।

बल्ख के सम्राट इब्राहीम के महल के द्वार पर एक फकीर आया और पहरेदार से कहने लगा—"मुझे इस सराय में ठहरना है।"

चौकीदार ने कहा—"यह सराय नहीं है, सम्राट का महल है।" पर वह बड़े जोर-जोर से बोलकर चौकीदार से लड़ रहा था। पहरेदार ने कहा—"हजार दफे कह दिया कि यह सराय नहीं है। सराय गाँव में है। यह राजा का महल है, यहाँ राजा खुद रहता है। तुम किस होश में बात कर रहे हो? यह कोई ठहरने की जगह नहीं।"

फकीर ने जोर से कहा—"बुलाओ राजा को मैं उसे देखना चाहता हूँ।"

फकीर की आवाज से ऐसा नहीं लगता था कि वह कोई सनकी या पागल है। इब्राहीम ने सुना तो सोचा कि फकीर की आवाज में कुछ जादू सा मालूम होता है, उसके कथन में कुछ रहस्य जरूर है। उसने फकीर को भीतर बुलाया। फकीर ने सम्राट से पूछा—"राजा कौन है? तुम हो?"

सिंहासनासीन राजा ने कहा—"मैं राजा हूँ। यह मेरा निवास है, तुम व्यर्थ ही पहरेदार से झंझट कर रहे हो, यह सराय नहीं है।"

फकीर ने कहा—"मैं पहले भी आया था, तब एक दूसरा आदमी इस सिंहासन पर बैठा था और तुम्हारी तरह ही कहता था।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा—"वह मेरे पिताजी थे, जो स्वर्गवासी हो गये।"

"मैं इससे भी पहले आया, तब एक तीसरा ही आदमी बैठा था, वह अपने को राजा कहता था, वह भी चला गया, उस समय का पहरेदार भी चला गया। आदमी बदल जाते हैं, पर यह मकान वही है और हर बार जब मैं आता हूँ, तब वही झंझट शुरू होती है।" फकीर ने कहा।

राजा—"वे हमारे पिता के पिताजी थे, जो स्वर्गवासी हो गए।"

इस पर इब्राहीम से उसने कहा—"जब मैं चौथी बार आऊँगा, तब इस सिंहासन पर तुम मुझे मिलोगे या और कोई? जब इतने लोग एक के बाद एक आये, रहे और चले गये, तब तुम्हीं बताओ यह सराय है या महल? तुम भी कुछ समय तक इसमें टिकोगे फिर चल दोगे। फिर मेरे इसमें टिक जाने में इसका क्या बिगड़ जाएगा?" यह सुनकर इब्राहीम को बोध हुआ। वह तुरन्त सिंहासन से नीचे उतरा और धन्यवाद देते हुए कहा—"आपने मुझे जगा दिया। अब इसमें तुम रुको, मैं चलता हूँ।" यों कहकर इब्राहीम ने राजमहल छोड़ दिया। इब्रहीम सूफियों का एक बड़ा फकीर हो गया।

वास्तव में, इस फकीर की तरह जिसके मन में किसी भी वस्तु के प्रति मेरापन (ममत्व) नहीं है जो सब क्षेत्रों एवं स्थानों को सराय समझता है, आत्मा के सिवाय संसार की समस्त वस्तुओं को नाशवान, अस्थायी एवं पराई समझता है, वह सिर्फ इन वस्तुओं का ज्ञाता, द्रष्टा तथा निर्लेपभाव से भोक्ता होता है। परन्तु जो संसार को सराय न मानकर तथा संसार की आत्मातिरिक्त सभी वस्तुओं को अपनी मानता है, आत्मा का तादात्म्य उसके साथ जोड़ता है, फिर उसके वियोग में हाय-हाय करता है। वस्तु से ममत्व करके कोई भी सुख नहीं पाता। तब अकिंचन साधु को उसके प्रति ममत्व और लगाव से सुख कैसे मिल सकेगा?

अकिंचन की तत्त्वदृष्टि

जिस साधक में आकिंचन्यदृष्टि विकसित हो जाएगी, उसे यह चिन्ता नहीं होगी कि मेरे पास कुछ नहीं है तो कल कैसे काम चलेगा। वह कभी भविष्य की चिन्ता से दुःखी नहीं होगा। जो भी सहजभाव से शरीर को मिल गया, उतने में ही वह सन्तोष कर लेगा। वह वस्तुओं पर ममत्व करके उनका गुलाम नहीं बनेगा। गुलाम बनने से मनुष्य की आत्मा दब जाती है। वह अपने आप में मस्त एवं स्वतन्त्र होगा। वास्तव में जो स्वयं गुलाम बनना नहीं चाहता, उसे जबरन कोई भी गुलाम नहीं बना सकता।

डायोजिनिस एक मस्त सन्त था। एकाध पात्र के सिवाय उसके पास कुछ नहीं था। न वह कुछ भी संग्रह करता था। एक बार डायोजिनिस कहीं जा रहा था। रास्ते में कुछ लोगों ने उसे पकड़ लिया। उसने पूछा—"मुझे पकड़कर कहाँ ले जा रहे हो?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोगों ने कहा—"हम गुलामों को पकड़कर बाजार में बेचते हैं।"

डायोजिनिस बोला—"तो लो, हम चलते हैं।"

लोग यह देखकर चकित थे, यह स्वयं चल रहा है। कोई भी गुलाम पकड़ो तो भागता था, मगर यह व्यक्ति तो भागता नहीं। फिर डायोजिनिस ने कहा—"मेरे हाथ-पाँव छोड़ दो। जो तुम्हारे साथ जाना न चाहे उसे तुम जंजीरों से बाँधकर नहीं ले जा सकते। जंजीरें खोल लो, मैं स्वयं चलता हूँ।" वे उसे खुले बदन ले गए। डायोजिनिस बहुत लम्बा, तगड़ा, स्वस्थ सन्त था। वह नंगा रहकर भी सुन्दर प्रतीत होता था। उसे एक चौखटे पर खड़ा कर दिया, जहाँ गुलामों की खरीद-बिक्री होती थी। बेचने वाले ने जब आवाज लगाई कि कौन इस गुलाम को खरीदता है? मगर डायोजिनिस ने कहा—"यह मत कहो। आवाज मैं ही लगाऊँगा।"

फिर डायोजिनिस ने चौखट पर खड़े होकर कहा—"किसी को मालिक खरीदना हो तो खरीदो।"

लोग सुनकर बहुत हैरान हो गये। भीड़ लग गयी।

लोग बोले—"क्या मजाक की बात है?"

डायोजिनिस ने फक्कड़ता से उत्तर दिया—"मैं हर हालत में मालिक ही बना रहूँगा। ये लोग जो मुझे पकड़कर लाये हैं। मैं स्वयं इन्हें डाँटता-फटकारता ला रहा हूँ। मैंने इन्हें कितना सुधारा है, ठीक किया है? पूछो इनसे।"

डायोजिनिस को जो लोग पकड़ कर लाये थे, वे भी इससे भयभीत थे।

वह कहने लगा—"कोई मुझे गुलाम समझकर न खरीदना। जो गुलाम होना चाहता है, वही गुलाम हो सकता है। हम तो मालिक हैं, किसी को मालिक खरीदना हो तो खरीद लो।"

कहते हैं, एक राजा ने गुस्से में आकर उसे खरीद लिया। घर ले जाकर उसने अपने नौकरों से कहा—"इसकी टाँग तोड़ दो।"

डायोजिनिस ने टाँग आगे कर दी। राजा ने कहा—"देखो, तुड़वा रहे हैं, तुम्हारी टाँग।"

उसने कहा—"तुम क्या तुड़वा रहे हो, मैं खुद ही उसे आगे कर रहा हूँ क्योंकि मैं मालिक हूँ। तुड़वाओ तो तब, जब हम इसे बचाने का प्रयत्न करें। पर यह ध्यान रहे कि तुम घाटे में रहोगे, क्योंकि मैं फिर तुम्हारे लिए किसी काम का न रहूँगा, बोझ रूप हो जाऊँगा। तुमने मुझे खरीदा है, वह धन बेकार जाएगा।"

राजा को भी बात समझ में आ गई। उसने कहा—"जाने दो, इसकी टाँग मत तोड़ो।"

सचमुच डायोजिनिस अपने आप का स्वयं ही मालिक था, इसलिए कि उसने अपनी आत्मा के सिवाय और किसी चीज को अपनी माना ही नहीं था। जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा के सिवाय सांसारिक नाशवान पदार्थों को अपने मानता है, वह दुःखी होता है, चिन्तित रहता है, उनके मोह में।

जो व्यक्ति आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थों को अपने नहीं मानता, वह उनके टूटने-फूटने, वियोग होने या अनिष्ट के संयोग होने पर दुःखित नहीं होता, वह अपनी शान्ति भंग नहीं करता, वह मस्ती में रहता है।

परमयोगी शुकदेव को आश्चर्य हुआ, कि वैभवपूर्ण जीवन बिताने वाले राजा जनक को लोग विदेह और परमज्ञानी क्यों कहते हैं? शुकदेव राजा जनक के अतिथि बने। उन्होंने जनक को रत्नजटित पात्रों में स्वादिष्ट भोजन करते तथा बढ़िया कीमती वस्त्र पहनते देखा था। शुकदेव को जनक विदेह का जीवनक्रम इन्द्रिय-लोलुप-सा प्रतीत हुआ। अपार वैभव विलास के बीच रहकर भी कोई योगी रह सकता है, अकिंचन और निर्ममत्व रह सकता है, इसकी कल्पना तक भी उनके गले नहीं उतरती थी।

प्रातःकाल होते ही महाराज जनक ने सरयू स्नान का प्रस्ताव रखा। दोनों ही स्नान करने चले गये। जनक ने बहुमूल्य वस्त्र उतार कर नदी के तट पर रख दिये और स्नान करने के लिए जल में उतरे। शुकदेव ने भी वल्कल वस्त्र उतार दिये। स्नान के बाद दोनों ही सन्ध्यावन्दन में मग्न हो गये। अभी सन्ध्या प्रारम्भ किये कुछ ही समय हुआ था, पास खड़े लोग चिल्लाने लगे—"आग, आग!" सचमुच समीपवर्ती भवन पूरी तरह आग की लपेट में आ गये थे। घाट पर भी आग फैल जाने की आशंका थी।

शुकदेव का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने देखा कि किनारे का भवन भी धू-धू करके जल रहा है। वह अपने वल्कल वस्त्र लेने तट की ओर दौड़े। पर जनक को कोई चिन्ता न थी, वे ध्यान में मग्न थे। वे सन्ध्या करके उठे तो शुकदेव ने अग्निकांड की सारी घटना कह सुनाई। इस पर जनक विदेह ने मुस्कराते हुए कहा—"मैं ही क्या, सारी मिथिला ही जल जाती तो भी उसमें मेरा क्या जलता? क्योंकि मिथिला, वस्त्र या शरीर तक को मैं अपने नहीं मानता।" शुकदेव का पूरा मनःसमाधान इस घटना से हो चुका था कि जो संसार के समस्त पदार्थों को अपने नहीं मानता, वह पदार्थों के बीच में रहता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होगा, उसकी शान्ति भंग न होगी।

यद्यपि जनक जैसी निर्लिप्तता और अकिंचनता वैभव के बीच रहते हुए भी रखना बहुत ही दुष्कर है, इसीलिए तो साधु को वैभव विलास की चीजों को लेने तथा उन्हें पाने की इच्छा करने का निषेध किया है, क्योंकि उन बहुमूल्य चीजों को लेने और पाने की इच्छा होते ही उन्हें मोह-बुद्धि से ग्रहण करने और अपनी बना लेने, अपने अधिकार में करने की इच्छा होगी, फिर तो वह परिग्रह और ममत्व के दलदल में फँस जाएगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु अकिंचन साधु यदि सहजभाव से ऐसे वैभवपूर्ण पदार्थों के बीच में पहुँच जाए तो वहाँ सहजभाव से ही अपने आत्मभावों में लीन रहे, पदार्थों के विषय में रागभाव या द्वेषभाव में जरा भी चिन्तन न करे, मनोज्ञ पदार्थों को अपनाने, प्राप्त करने, अथवा कब्जे में करने की जरा भी इच्छा न करे तो वह निर्ममत्व, निर्लिप्त और अकिंचन रह सकता है।

एक उपाश्रय है, वह ७-८ लाख रुपयों का है। अकिंचन साधु को उस उपाश्रय में ठहराया जाता है। उपाश्रय में वह सहजभाव से रहता है, न तो उस उपाश्रय के प्रति उसका राग-मोह है, और न ही उसे अपना मानने की स्वामित्व या ममत्व-बुद्धि है। वह कुछ दिन ठहरता है और चला जाता है; उपाश्रय को छोड़कर। उसने अपने मन में उपाश्रय को नहीं बसाया; न ही उसकी या उसमें मिलने वाली सुख-सुविधाओं की याद में वह तड़पता है, तो समझ लीजिए वह वैभवयुक्त उपाश्रय में रहते हुए भी निर्लिप्त रहा है।

एक जौहरी ने अपनी दुकान के एक कक्ष में किसी साधु को एक रात्रि के लिए निवास करने की विनती की। सहजभाव से साधु उस कक्ष में ठहर गया। ज्वैलरी हाउस में शो केस में बहुत कीमती हीरे, मोती, पन्ने, नीलम आदि के हार आदि रखे हैं। उसका मालिक तिजोरी खोलकर नोटों की गिनती करता है। क्या जौहरी की दुकान पर ठहरने वाला साधु उन कीमती वस्तुओं या धन को अपने मान कर उन पर कब्जा करने या अपना स्वामित्व स्थापित करने या उन्हें लेने या पहनने की इच्छा करेगा? कदापि नहीं। यही साधु की अकिंचनता है, जो वैभव के बीच में रहते हुए भी राग-मोह-ममत्व से दूर रहता है, अपनी मस्ती में रहता है।

कभी एक छोटी-सी टूटी-फूटी झोंपड़ी में रहते हुए भी वह मस्ती में रहता है, उसे विशाल जैन भवन में रहने की याद नहीं सताती। न वह मन में दुःख का वेदन करता है कि यहाँ कहाँ आ पड़ा, इस झोंपड़ी में, जहाँ किसी प्रकार की सुविधा नहीं।

अकिंचन साधु को कभी-कभी करोड़पति के यहाँ भी भिक्षा के लिए जाना पड़ता है, वह सहजभाव से जाता है। उस वैभवपूर्ण गृह में उन सब वस्तुओं पर उसकी दृष्टि पड़ती है, धनिक के घर में रखी बहुमूल्य वस्तुओं के विषय में वह कानों से सुन भी चुका है, उस आलमारी का भी स्पर्श हो जाता है, जिसमें धन रखा है। उस घर का मालिक अपने शरीर में सुगन्धित तेल-फुलेल भी लगाये हुए है, उसकी भीनी-भीनी महक भी नाक में प्रविष्ट हो रही है, घर की सुन्दर सुकुमारी युवतियाँ साधु को भक्तिभावपूर्वक वन्दना करते समय दृष्टिगोचर होती हैं, तथा वे उसके पात्र में सरस स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ भी देती हैं, परन्तु धनिक के यहाँ पाँचों इन्द्रियों के विषय समुपस्थित होते हुए भी साधु अपनी निर्लेपता, अनासक्ति, निर्ममता या अकिंचनता को भंग नहीं करता। वह इन्हें अपनी चीज न मानकर चलता है। ऐसी अकिंचनवृत्ति से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसे न मोहजन्य दुःख होता है, और न उसे उन पदार्थों को अपना बनाने की इच्छा होती है। दूसरी ओर किसी निर्धन के मकान में उसके भावभक्तिभरे आग्रह से भिक्षा के लिए जाने पर उसके यहाँ रूखी-सूखी रोटी मिलने पर, अथवा उसके यहाँ छोटा-सा मकान उसकी गृहिणी के बहुत ही खुरदरे मोटे कपड़ों को देखकर, या घर के पास बहती हुई गन्दी नाली की बदबू आती है, उसे नाक में पड़ती हुई जानकर या उस घर के पड़ौस में लड़ाई-झगड़े की कर्णकटु कर्कश आवाज को सुनकर उसके मन में उद्वेग, अरुचि या घृणा नहीं पैदा होती। मतलब यह है कि अकिंचन हर हाल में मस्त रहता है। न तो इष्ट पदार्थों के इन्द्रियगोचर होने में उसे सुख का आभास होता है और न ही अनिष्ट पदार्थों का सम्पर्क होने पर दुःख का।

अकिंचन की सबसे महान तत्त्वदृष्टि यह होती है कि वह अपने को कुछ भी हूँ, ऐसा नहीं मानता। यह 'कुछ न होने' का भाव (Nobodiness) ही अकिंचनता है। 'मैं कुछ भी नहीं हूँ' यह भाव भी सहज रूप में होना चाहिए, अन्यथा वह कहीं विधायक रूप ले लेगा तो अहंकार हो जाएगा, फिर वह अपने आपको 'अहमिन्द्र' मानने लगेगा, किसी के सामने नम्र न रह सकेगा, न विनयपूर्वक गुरु की आज्ञा मानेगा, न ही कोई कार्य करेगा। अकिंचनता ऐसी हो कि जिसमें व्यक्ति के अन्दर यह भाव ही न रह जाए कि 'मैं क्या हूँ।'

वह बाहर से चाहे कपड़े पहने हो, परन्तु उसके हृदय में नग्न-भाव हो। वह सदा यही समझ ले, यही बात हृदय में जमा ले कि मैं नंगा आया हूँ, नंगा ही जाऊँगा, यहाँ तक कि शरीर और चमड़ी का आवरण भी मेरे साथ नहीं जाएगा।

कहते हैं—सिकन्दर जब मृत्यु शय्या पर पड़ा था, तब उसके हृदय में सांसारिक पदार्थों से विरक्ति-सी हो गई थी। उसने अपने लड़कों से कहा था कि मेरे शव पर सवा लाख रुपयों की चादर ओढ़ाना, परन्तु पुत्रों ने जब स्वार्थवश सवासौ रुपयों की चादर ओढ़ाई तो सिकन्दर का शव सहसा बैठा हो गया और उसने यह ढिंढोरा पिटवा दिया—

घड़ी हुई घड़ियाल में, हुआ पराया माल।
नंगा आना, नंगा जाना, रक्खो इतना ख्याल॥

जो व्यक्ति संन्यासी बनकर मन में असन्तुष्ट रहता है, आत्मतृप्त एवं आत्म-सन्तुष्ट नहीं रहता, उसके जीवन में पद-पद पर विडम्बनाएँ और चिन्ताएँ सवार हो जाती हैं। लाभ और अलाभ में सम और सन्तुष्ट नहीं रहता, वह अकिंचनता से भ्रष्ट हो जाता है, उसे पद-पद पर दुःखों का—मानसिक दुःखों का सामना करना पड़ता है।

अकिंचनता के लिए आवश्यक गुण

अकिंचन की पारदर्शी तात्त्विक दृष्टि जीवन के हर मोड़ पर सन्तोष, निस्पृहता, आत्मतृप्ति, अममत्व, मस्ती और परिस्थिति के साथ सामंजस्य आदि तत्त्वों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए रहती है। ये तत्त्व उसकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होते। यों तो सन्तोष की चाह सबको होती है, परन्तु साधारण बुद्धि के लोग आवश्यकताओं, इच्छाओं या महत्त्वाकांक्षाओं की तात्कालिक पूर्ति को ही सन्तोष मान लेते हैं। परन्तु क्षणिक तृप्ति में सन्तोष की अभिव्यक्ति नहीं होती। सन्तोष आकिंचन्य की एक विशाल भावना है, जो कुछ न होने पर भी अनन्त भण्डार के स्वामित्व का आनन्द अनुभव कराती है। सन्तोष अकिंचन भिक्षु के लिए ऐसा प्रकाश है, जो उसे आत्मा के अनन्त खजाने को जानने और अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित करता है, आत्मा की विशाल व्यापक सत्ता और अनन्त शक्ति की महत्ता के द्वार खोल देता है। फिर उस मानव को सांसारिक और तात्कालिक सुख-भोग व प्रेय के साधन नहीं भाते, फिर तो वह अपने अन्दर ही असीम सुख और तृप्ति के आनन्द की अनुभूति करता है। अतः सन्तोष अकिंचनता के लिए प्रथम आवश्यक गुण है।

धूलनशाह नामक एक फकीर था, वह आत्मसन्तुष्ट था, अपने आप में तृप्त और मस्त था। वह धूल पर मृगचर्म बिछाकर मस्ती से बैठा रहता था। एक दिन बादशाह की सवारी आ रही थी। चोबदारों ने उनसे कहा—"सांई बाबा! बादशाह की सवारी आ रही है, आप बैठे हो जाइए।"

फकीर बोला—"बादशाह है, तो मुझे उससे क्या लेना है। फकीर स्वयं शाहंशाह होता है। बादशाह इस रास्ते से खुशी से जाएँ, हम इन्कार नहीं करते।"

सिपाहियों ने कहा—"मनुष्य तो इस संकड़े रास्ते से एक बाजू होकर जा सकता है लेकिन हाथी, घोड़े आदि जानवर हैं, वे कहीं भड़क गए तो आपको नुकसान पहुँचा सकते हैं। इसलिए आप कुछ दूर खिसक जाइए।"

धूलनशाह ने निःस्पृहभाव से उत्तर दिया—"हम अभी यहाँ से उठ नहीं सकते, क्योंकि हमारे नित्यकर्म अभी बाकी हैं। अगर तुम्हारे बादशाह को उतावल हो तो रास्ते के पास बहुत जगह पड़ी है, उससे या दूसरे रास्ते से चले जाएँ।"

जब यह बात बादशाह के कानों में पहुँची तो सोचा—कोई विलक्षण मस्त फकीर है, उसे तंग करना ठीक नहीं। बादशाह स्वयं फकीर के पास आया और अदब से नमस्कार करके बैठा। बात चलते-चलते बादशाह ने पूछा—"सांई बाबा! आप अपने को शाहंशाह कहते हैं, लेकिन आपके पास न तो फौज दिखाई देती है, न धन का खजाना, न मुल्क और न हाथी-घोड़े हैं। आपके पास शाही ठाठ-बाट कहाँ है?"

धूलनशाह फकीर ने बादशाह को अकिंचन की तात्त्विक दृष्टि से समझाया—"तूने फौज तो दुश्मन का सफाया करने के लिए रखी है, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं है, फिर मैं क्यों फौज रखूं? क्यों व्यर्थ का खर्च रखूं? तेरा खजाना तो सेवकों, सैनिकों आदि को वेतन चुकाने के लिए है। मुझे किसी का वेतन चुकाना नहीं पड़ता। फिर मैं खजाना रखने के प्रपंच में क्यों पड़ूं? तेरा मुल्क तो तेरे राज्य की सीमा तक होगा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसकी हद के बाहर तेरी कोई नहीं मानता, मेरा मुल्क तो सारी दुनिया है, इसलिए मैं जहाँ जाता हूँ वहीं लोग मेरी बात मानते हैं। तू तो पैसा देता है, तब तेरा काम होता है, और वे तुझे सलाम करते हैं, पर मेरा काम बिना पैसे करने वाले हजारों सेवक हैं, वे मेरे चरणों में पड़ते हैं। झोली-झण्डा ही हमारी शाहंशाही निशानी है। बोल, तेरी अपेक्षा हम किस बात में कम हैं? मैं अपना अहं प्रगट करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, वस्तुस्थिति समझाने की दृष्टि से ही मैंने अपने को शाहंशाह बताया है।"

बादशाह धूलनशाह के युक्तिसंगत उत्तर से बहुत प्रभावित हुआ और नमस्कार करके चला गया। यह है अकिंचनता के लिए आवश्यक गुण—आत्मसन्तोष का ज्वलंत उदाहरण।

अकिंचन का दूसरा आवश्यक गुण है—**अपने शुद्ध-आत्मा (परमात्मा) पर पूर्ण विश्वास**। वैदिक तथा अन्य धर्मों में जिसे ईश्वर पर विश्वास कहते हैं। अकिंचन के अन्तर् में यह दृढ़ आस्था होती है कि जिसमें आत्मविश्वास होगा, प्रकृति पर भरोसा होगा, या प्रभु के प्रति आस्था होगी, उसे कहीं कोई कष्ट पड़ने वाला नहीं। कष्ट आ भी जाए तो उसे कर्मों का फल समझकर समभाव से सह लेना ही अकिंचन धर्म है।

एक निःस्पृही, आत्मविश्वासी, नेकदिल, सात्त्विक और संयमी मुस्लिम महात्मा थे, नाम था—'**अम्बुहम्जा खुरासानी**'। उन्हें खुदा पर इतना भरोसा था कि कल की चिन्ता बिलकुल नहीं करते थे। प्रभुभक्ति और आत्मा की शक्ति बढ़ाने में उनकी अटल आस्था थी। और थे भी मस्त और मनमौजी। प्रकृति की गोद में विचरण एवं निवास करना उन्हें अच्छा लगता था। इसलिए वे दूर-सुदूर जंगल में निकल गये। जंगल बहुत ही भयंकर, सुनसान और हिंस्र जानवरों से परिपूर्ण था, चोर-लुटेरों का भी डर था। पर वह मजबूत दिल के आत्मविश्वासी महात्मा थे। उनके मन में एक ही बात बसी हुई थी कि परमात्मा के इस राज्य में कोई भी पराया नहीं है। हम किसी का अहित नहीं करते तो दूसरा क्यों अहित करेगा? जगत् को जो हृदय से चाहता है, उसे जगत् विष नहीं, किन्तु अमृत अर्पण करता है।

फलतः महात्मा मस्ती से जंगल के विकट रास्ते से चले जा रहे थे। उनके पास सामान भी कुछ नहीं था, और न यह चिन्ता थी कि शाम को क्या खायेंगे, पानी पीने के लिए पात्र भी साथ में नहीं लिया था। हाथ में सिर्फ एक डण्डा था। भिक्षा के लिए झोली भी साथ में नहीं ली। अचानक उनका हाथ जेब में गया, जेब में पड़ी हुई सोने की मुहर का स्पर्श होते ही, मानो बिच्छू ने डंक मारा हो, इस प्रकार की वेदना हुई, उन्होंने हाथ वापस खींच लिया।

अब उनकी मानसिक शान्ति नष्ट हो गई। यह सोने की मुहर उनकी एक सांसारिक-पक्षीय बहन ने दी थी। बहन की मधुर स्मृति के रूप में उन्होंने उसे अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पास रख छोड़ी थी। परन्तु इस समय उस मुहर ने उनके मानस में उथल-पुथल मचा दी। वे सोचने लगे—खाने-पीने के सभी साधनों का त्याग कर दिया, धन-सम्पत्ति और कुटुम्ब-कबीले का त्याग किया, अपनी जीवन-नौका खुदाताला के हाथ में सौंप दी, अब मुझे इस स्वर्ण-मुद्रा से क्या काम है? यह स्वर्ण-मुद्रा जब तक मेरे पास रहेगी, तब तक मन में खटका करेगी कि मुझे खुदाताला पर यकीन नहीं है। मेरे ये उद्‌गार बनावटी, दम्भी और पाखण्ड बढ़ाने वाले साबित होंगे कि खुदाताला मेरी सभी जरूरतें पूरी कर रहे हैं। इसीलिए तो अविश्वासी बनकर मैं इस स्वर्ण-मुद्रा का जतन कर रहा हूँ कि मुसीबत के समय में काम आएगी। खुदा की बन्दगी में एकाग्र बना हुआ मेरा चित्त बहुत-सी दफा इस स्वर्ण-मुद्रा की आसक्ति में चिपक जाता है, जिससे बार-बार टटोलना पड़ता है कि स्वर्ण-मुद्रा सही सलामत है या नहीं। वास्तव में यह स्वर्ण-मुद्रा ही मेरे और खुदा के बीच में अभेद्य दीवार बनकर खड़ी है। इसी क्षण इसे तोड़ डालूं, इसी में मेरा श्रेय है। मेरे और खुदा के बीच में अब मैं कोई भी आवरण रखना नहीं चाहता। बहन की स्मृति रूप में है, इससे क्या हुआ? बहन की स्मृति एवं प्यार तो मेरे हृदय में है ही, उसे कोई छीन नहीं सकता, चुरा नहीं सकता। मैं महामूर्ख हूँ, जो बहन के प्यार को स्वर्ण-मुद्रा की चमक में मैं देखता हूँ। अभी और इसी समय मैं इस मूर्खता को मन से झाड़कर अकिंचनता के सच्चे आनन्द की अनुभूति करूँगा।

बस, ये सुविचार आते ही महात्मा ने स्वर्णमुद्रा को बहुत दूर फेंक दिया। पास ही बहते हुए एक झरने में जब स्वर्णमुद्रा गिरी तो महात्मा के अन्तर् में ऐसा आनन्द आया, मानो तीनों लोक की अद्‌भुत निधि मिल गई हो।

अब उनके मन की सभी आशंकाएँ निर्मूल हो गई थीं। किसी दिन खैरात (दान) नहीं मिलेगी तो इस स्वर्ण-मुद्रा को बेचकर अपना जीवन निर्वाह कर लूंगा, ऐसा दुर्बल विचार मन से निकल गया था। उसके स्थान पर हृदय में दृढ़ आस्था की स्थापना हो गई थी। परमात्मा (खुदा) पर अविश्वास के कारणभूत साधन रखने वाले को खुदा की प्राप्ति कभी नहीं होती, यह दृढ़ आस्था उनके भक्त हृदय में भर गई थी।

अकिंचन का तीसरा गुण है—**अयाचकवृत्ति**। याचकवृत्ति और भिक्षावृत्ति में अन्तर है। भिक्षा तो स्वाभिमानपूर्वक अदैन्य भाव से, किसी प्रकार का जाति, कुल आदि का परिचय दिये बिना या किसी की प्रशंसा या चापलूसी किये बिना की जाती है, वह भी लाभालाभ में निःस्पृह और सम रहकर; परन्तु याचकवृत्ति में दीनता, चापलूसी, प्रशंसा, परिचय-प्रदान आदि गर्हित बातों का समावेश है। भगवान महावीर ने अकिंचन भिक्षुओं के लिए कहा है—

अदीणमणसो चरे

'भिक्ष अदीनमन होकर विचरण करे।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिखारी के भीख माँगने और संयमी साधु के द्वारा भिक्षाचारी करने में जो अन्तर है, वही याचकवृत्ति और भिक्षावृत्ति में है।

अकिंचन भिक्षुक भावनाशील गृहस्थ के अन्तर् में श्रद्धा पैदा करके उसके हृदय में समर्पणवृत्ति जाग्रत करके लेता है, वह गृहस्थ के घर में माँगता नहीं कि मुझे यह दो, वह दो, ऐसा भोजन चाहिए, वैसा भोजन नहीं, गृहस्थ अपनी श्रद्धा से जो भी आहार उसके भिक्षा पात्र में डालेगा, वह समभाव से उसे ग्रहण करेगा। हाँ, उसे उस चीज की या उतनी मात्रा में आवश्यकता नहीं होगी तो वह इन्कार कर देगा, अथवा उसके कल्प, नियम एवं मर्यादा के अनुकूल निर्दोष सात्त्विक भिक्षा न होगी तो वह बिना लिये ही प्रसन्नता से लौट जायगा। मनोऽनुकूल भिक्षा न मिलने पर वह किसी पर शाप या आशीर्वाद नहीं बरसाएगा। एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

एक बार एक सुलतान जंगल में पहुँच गया। वहाँ उसे एक फकीर मिला, जो शान्त और निःस्पृह था। फकीर से बातचीत करके सुलतान बहुत प्रसन्न हुआ। जाते समय फकीर को अपनी भेंट स्वीकार करने के लिए बहुत आग्रह किया। तब फकीर ने कहा—"मुझे किसी भेंट की आवश्यकता नहीं है। ये वृक्ष मुझे खाने के लिए फल देते हैं, ये झरने मीठा पानी पीने के लिए देते हैं, यह गुफा मुझे रहने के लिए जगह देती है, फिर मुझे आपकी भेंट लेने की क्या आवश्यकता है?"

फकीर की निःस्पृहता से सुलतान अत्यन्त प्रभावित होकर बोला—"आप मेरे राज्य में पधारिए और मुझे पवित्र कीजिए।"

सुलतान के आग्रह से फकीर उसके नगर में पहुँचा। जहाँ वैभव की सामग्री थी, वहाँ फकीर को बिठाकर कहा—"आप जरा बैठिए। मैं खुदा की बन्दगी कर लूँ।"

सुलतान पास के ही कमरे में बन्दगी करते हुए याचना करने लगा—"हे खुदा! तू मुझे इससे भी ज्यादा सामग्री दे, अधिकाधिक पुत्र दे, मेरा और शाही परिवार का शरीर नीरोग रख।" इस तुच्छ याचना को सुनकर फकीर वहाँ से उठकर चल पड़ा। बादशाह ने जाते देखा तो उसके पीछे-पीछे दौड़ा और कहा—"सांई बाबा! खड़े रहिए, भोजन किये बिना न जाइए।"

फकीर ने जवाब दिया—"मुझे बिना याचना किये ही ईश्वर से आवश्यक सामग्री प्राप्त हो जाती है, और तू खुद याचक है, फिर तुझसे क्या याचना करूँ।"

फकीर की अकिंचनता एवं निःस्पृहता देख बादशाह चकित हो गया।

अकिंचन में चौथा गुण होना चाहिए—'निःस्पृहता'। निःस्पृहता का वास्तविक अर्थ है किसी पर कोई भी उपकार करके बदले में या साधुवेश या साम्प्रदायिक क्रियाकाण्ड आदि करने के बदले में कुछ पाने की आशा न रखना। स्पृहा या आशा बाँधने से साधक की आत्मा कमजोर होती है, उसका मनोबल गिर जाता है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसी को जो आशा, अपेक्षा या स्पृहा रखी थी, वह पूर्ण न होने पर निराशाजन्य दुःख होता है, उस व्यक्ति के प्रति द्वेष, रोष या दुर्भाव पैदा होता है। आत्मा कर्मबन्ध से मलिन होती है।

स्वामी लाभानन्दजी बहुत बड़े योगी थे, अकिंचन एवं निःस्पृह सन्त थे। वे सदा आत्मध्यान में मग्न रहते थे। एक बार वे मारवाड़ के ऐतिहासिक नगर मेड़ता में विराजमान थे। उनकी वचन सिद्धि और चमत्कार की दूर-दूर तक धूम मची हुई थी। परन्तु अपने विषय में प्रसिद्धि से उन्हें कोई वास्ता न था। वे स्वयं चमत्कार को आत्मविकास में बाधक मानते थे।

मेड़तानरेश के दो रानियाँ थीं। राजा स्वाभाविक रूप से छोटी रानी को अधिक चाहता था। उसने बड़ी रानी के पास आना-जाना बन्द कर दिया। बड़ी रानी श्रद्धालु थी। पति की उपेक्षा उसे खटकने लगी। राजा को आकर्षित करने के लिए उसने कई प्रयत्न किये, किन्तु सफलता न मिली। अन्त में, रानी का ध्यान स्वामी लाभानन्दजी की ओर गया। अपनी करुण-कथा का वर्णन करते हुए स्वामीजी को एक पत्र लिखा। और उनसे प्रार्थना की—'कोई ऐसा मन्त्र देने की कृपा कीजिए जिससे राजाजी मुझ पर प्रसन्न हो जाएँ।'

दासियाँ रानी का पत्र लेकर स्वामीजी के पास पहुँची। उन्होंने रानी की ओर से मौखिक निवेदन भी किया और मन्त्र देने के लिए आग्रह भी। स्वामीजी उस समय आध्यात्मिक भजन लिख रहे थे। वे दासियों की प्रार्थना पर स्तब्ध रह गये। उन्होंने समझाया—"मैं ऐसा मन्त्र नहीं जानता।"

किन्तु दासियाँ न मानीं, वे यही समझती रहीं कि स्वामीजी टाल रहे हैं। अन्त में, जब वे बिलकुल न मानीं तो स्वामीजी ने उन्हें टालने के लिए एक कागज लेकर उस पर कुछ घसीट दिया। दासियाँ उसे ही मन्त्र समझकर खुश होती हुई चली गयीं। रानीजी ने मन्त्र को पढ़ना अनुचित समझकर उसे ताबीज में मढ़वा लिया और अपनी बाँह पर बाँध लिया। उसी दिन अचानक राजाजी बड़ी रानी के महल में चले आए और स्नेहपूर्वक बातें करने लगे। रानी ने यह सब मन्त्र का प्रभाव समझा। बातचीत के सिलसिले में उसने कहा—"यह मन्त्र का ही प्रभाव है कि अब दासी पर इतनी कृपा हो रही है, नहीं तो, हजूर कब पसीजने वाले थे।"

राजा के पूछने पर रानी ने सारा हाल सुना दिया। राजा को आश्चर्य हुआ कि लाभानन्द जैसे आत्मनिष्ठ योगी औरतों को वशीकरण मन्त्र भी देते हैं। राजा पहुँचे लाभानन्दजी के पास। पूछा तो स्वामीजी ने साफ इन्कार कर दिया कि मैंने तो कोई मन्त्र नहीं दिया है।

आखिर रानी से ताबीज मँगवाकर खोला गया तो उस कागज पर लिखा हुआ था—'राजा बड़ी रानी पर खुश रहे तो लाभानन्द को क्या और नाराज रहे तो लाभानन्द को क्या?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा यह निःस्पृहता और अकिंचनता देखकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने स्वामीजी को बहुत कुछ भेंट देना चाहा, पर निःस्पृह अकिंचन सन्त उसे कब स्वीकार करने वाले थे ?

अकिंचन जीवन का पाँचवाँ आवश्यक गुण है—**अपरिग्रहवृत्ति**। कोई व्यक्ति किसी अपरिग्रहवृत्ति के धनी के गुणों से प्रभावित होकर उन्हें कुछ भेंट देना चाहे या उनकी सुख-सुविधा के लिए कुछ करना चाहे, उस समय भी वह अकिंचन साधु उसका बिलकुल स्वीकार नहीं करता ? वह किसी के लिहाज में नहीं आता। अपनी अपरिग्रहवृत्ति पर दृढ़ रहता है।

अपरिग्रहवृत्ति के चार मुख्य रूप हैं —

(१) मोहबुद्धि से किसी वस्तु को ग्रहण न करना,

(२) आवश्यक एवं उपयोगी उपकरण या साधन पर भी ममता-मूर्च्छा न रखना, उससे अनासक्त एवं असंग रहना।

(३) किसी मनोज्ञ सजीव या निर्जीव पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा, तृष्णा लालसा या वासना न जागना, और

(४) ममत्वबुद्धि से अनावश्यक और अकल्पनीय वस्तुओं का संग्रह न करना।

अकिंचन दीक्षाधारी के जीवन में अपरिग्रहवृत्ति के ये चारों रूप होते हैं। वह किसी भी वस्तु को सहजभाव से उपलब्ध होने पर उस पर ममत्वबुद्धि या ममत्व-स्वामित्व स्थापित किये बिना परभाव समझकर ग्रहण करता है।

सन्त तुकाराम एक बार लोहगाँव में थे। छत्रपति शिवाजी ने उनके पवित्र सद्गुणों से आकृष्ट होकर अपने खास आदमियों के साथ बहुत-सी मशालें, छत्र, घोड़े तथा बहुमूल्य जवाहरात भेजें और उनसे पूना पधारने के लिए प्रार्थना की। निःस्पृह एवं विरक्तहृदय सन्त ने उनकी भेजी हुई चीजों को छुआ तक नहीं। उन्होंने सब चीजें वापस लौटा दीं और ६ अभंगों में एक पत्र लिखा, जिसका आशय यह था— "मशाल, छत्र, घोड़े एवं जवाहरात आदि को लेकर मैं क्या करूँ ? ये सब मेरे लिए शुभ नहीं है। हे पंढरीनाथ ! अब मुझे इस प्रपंच में क्यों डालते हो ? मान और दम्भ का कोई भी काम मेरे लिए शूकरी विष्ठा है। मेरा चित्त जिसे नहीं चाहता, वही तुम मुझे दिया करते हो, प्रभो ! मुझे इतना तंग क्यों करते हो ? मैं संसार से अलिप्त रहना चाहता हूँ, विषय का संग चाहता ही नहीं हूँ। मैं चाहता हूँ—एकान्त में रहूँ और किसी से कुछ भी न बोलूँ।....मन चाहता है, सब विषयों को वमन के समान त्याग दूँ....मैं क्या चाहता हूँ, यह आप जानते हैं, फिर भी आप मेरे सामने ऐसी-ऐसी चीजें लाकर रख देते हैं, जिनके मोह में फँसकर मैं आपको भूल जाऊँ। परन्तु नाथ ! आपके चरणों को तुका ने इतनी जोर से पकड़ लिया है कि आप उन्हें छुड़ा नहीं सकते।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर वे छत्रपति शिवाजी से कहते हैं—"मेरे लिए चींटी और सम्राट दोनों एक-से हैं। सोना और मिट्टी दोनों बराबर हैं। मोह और आशा तो कलिकाल की फाँसियाँ हैं। मैं इनसे छूट-सा गया हूँ। सारा वैकुण्ठ मानो मेरे यहाँ घर बैठे ही आ गया है। मुझे किस बात की कमी है? मैं तो त्रिलोकी के सारे वैभव का धनी बन गया हूँ। सबके स्वामी भगवान मुझे माता-पिता के रूप में मिल गये हैं। अब मुझे और क्या चाहिए? त्रिभुवन का सारा बल, सारी सत्ता भगवान की ओर से विरासत में मुझे मिल गई है। आप मुझे दे ही क्या सकते हैं? मैं तो विट्ठल (प्रभु) को चाहता हूँ। आप मुझे धन क्या देते हैं, धन तो तुकाराम के लिए गोमांस के समान है। यदि कुछ देना चाहें तो इन बातों की आपसे तुका की आशा है—

(१) मुख से विट्ठल-विट्ठल कहिये,
(२) गले में तुलसी की कंठी पहनिए,
(३) एकादशी का व्रत कीजिए,
(४) हरि (प्रभु) के दास कहलाइए।

बड़े-बड़े पर्वत सोने के बनाये जा सकते हैं। वन के तमाम पेड़ों को कल्पतरु बनाया जा सकता है, नदियों और समुद्रों को अमृत से भरा जा सकता है, सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। यह सब हो सकता है, लेकिन प्रभु के चरणों का प्रेम प्राप्त करना परम दुर्लभ है। इन सब सिद्धियों से भगवच्चरणों का लाभ नहीं होता। विट्ठल के परम दुर्लभ, परम पावन, परमानन्दप्रद श्रीचरण मुझे मिल गये हैं, इनके समक्ष अब मैं मशालों, छत्रों, घोड़ों आदि को कहाँ जगह दूँ?"

कहते हैं—एक बार शिवाजी ने सवा लाख ब्राह्मणों एवं सन्तों को भोजन दिया। उसमें सन्त तुकाराम भी थे। तुकारामजी को उन्होंने दक्षिणा में चार गाँव देने चाहे, परन्तु उन्होंने निःस्पृहतापूर्वक ठुकराते हुए कहा—"जिसके सामने तीन लोक की सम्पदा भी तुच्छ है, उसके लिए चार गाँव की क्या बिसात है?"

यह है—अपरिग्रहवृत्तिमूलक अकिंचनता का ज्वलन्त उदाहरण। ऐसी अकिंचनता जिसमें होती है, वह जाति, धर्म, सम्प्रदाय, ग्राम, नगर, प्रान्त, अनावश्यक विचार आदि पर ममत्वयुक्त परिग्रहवृत्ति से दूर रहता है।

ऐसे अपरिग्रहवृत्ति अकिंचन साधक का अपना 'स्व' (आत्मा) अपने अधिकार में होता है, इसलिए वह देह, गेह, स्थान, शिष्य या अन्य साधनों के अधीन नहीं होता है। वह इन सबसे निर्लेप और निःसंग रहता है।

विशुद्ध अकिंचनता

बन्धुओ! दीक्षाधारी साधु की अकिंचनता से शोभा है, वह किसी भी पदार्थ (सजीव-निर्जीव), क्षेत्र, काल और भाव के राग-द्वेष, मोह में नहीं पड़ता। जरा-सा भी राग-भाव किसी वस्तु पर उसके मन में आ जाए तो वह उसके लिए असह्य होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। जैन इतिहास में चार प्रत्येकबुद्ध साधकों की जीवनगाथाएँ मिलती हैं। वे इतिहास-प्रसिद्ध चार प्रत्येकबुद्ध हैं—

(१) कलिंगराज करकण्डु,
(२) पांचालपति द्विमुख,
(३) विदेहराज नमि,
(४) गान्धारनरेश नग्गति।

इनके विस्तृत जीवन-चरित्र का वर्णन मुझे यहाँ नहीं करना है, मुझे तो यहाँ यह बताना है कि उनके अपरिग्रही अकिंचन जीवन में जरा-से तुच्छ पदार्थ का मोह कैसे आ गया और उन्हें खटक जाने से अविलम्ब ही उन्होंने कैसे उस भूल का परिमार्जन करके अपनी अकिंचनता को विशुद्ध बनाया।

सम्बोधिप्राप्त चारों प्रत्येकबुद्ध भूमण्डल पर विचरण करते हुए एक बार क्षितिप्रतिष्ठ नामक नगर में पधारे। वहाँ एक चतुर्मुख यक्ष का चार द्वारों वाला चैत्य था। करकण्डु प्रत्येकबुद्ध उसमें पूर्व द्वार से आये। तत्पश्चात् दक्षिण द्वार से द्विमुख प्रत्येकबुद्ध प्रविष्ट हुए। कुछ ही देर बाद नमि प्रत्येकबुद्ध ने पश्चिम द्वार से और नग्गति प्रत्येकबुद्ध ने उत्तर द्वार से उस चैत्य में प्रवेश किया। यों अकस्मात् ही चारों प्रत्येकबुद्धों का वहाँ मंगल-मिलन हो गया।

करकण्डु को बचपन से ही शरीर में खुजली की शिकायत थी। इसलिए वे अब भी शरीर को खुजलाने के लिए बाँस की एक छोटी-सी सलाई अपने पास रखते थे। यहाँ आने के बाद ज्यों ही खुजली हुई, करकण्डु ने उस सलाई से शरीर खुजलाया, फिर उसे अपने रजोहरण में छिपाकर रख लिया। यह देख द्विमुख प्रत्येकबुद्ध मुस्कराकर बोले—"मुने! आपने विशाल राज्य का त्याग कर दिया, समस्त वैभव और कंचन-कामिनी का त्याग करके विरक्त होकर अकिंचन अनगार बन गये। फिर आपने यह बाँस की सलाई क्यों छिपा रखी है? यह भी तो परिग्रह ही है।"

करकण्डु के उत्तर देने से पहले ही नमि प्रत्येकबुद्ध द्विमुख की ओर देखकर बोले—"मुनिवर! आप भी राज्य, वैभव, सुख-साधन और दास आदि बाह्य और हास्यादि ९ नोकषायों, ४ कषायों, मिथ्यात्व, इन आभ्यन्तर ग्रन्थियों (परिग्रह) का परित्याग करके निर्ग्रन्थ बने हैं, फिर अब आप किसी के दोष क्यों देखते हैं? दूसरों के दोष देखना भी तो एक प्रकार से आभ्यन्तर ग्रन्थिरूप परिग्रह है, दोषों की दासता है।"

नमि के उत्तर पर द्विमुख मौन रहे, अन्तर्निरीक्षण करने लगे। तभी नग्गति द्विमुख की ओर दृष्टि घुमाकर बोले—"जब हमने सब कुछ परित्याग कर दिया है तो, हमें अब निःस्पृहभाव से रत्नत्रय की आराधना में पुरुषार्थ करके अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष पाना चाहिए, अपना समय दूसरों की निन्दा और आलोचना में नहीं खोना चाहिए।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीनों के प्रत्युत्तर पर करकण्डु ने समाधान करते हुए कहा—"मुनिवरो ! इसमें आलोचना किस बात की ? यदि कोई मुमुक्षु साधक शुद्ध सरल निश्छल हृदय से किसी की गलती या दुःस्वभावजनित दोष के निवारण के लिए कुछ कहता है तो हितकर वचन है, निन्दा नहीं। निन्दा तो क्रोध, द्वेष या ईर्ष्यावश की जाती है, जो मोक्षपथ के साधक के लिए त्याज्य है।"

करकण्डु की इस बात पर तीनों प्रत्येकबुद्ध प्रसन्न हुए और उन्होंने धन्यवाद दिया। अन्यदा चारों ही प्रत्येकबुद्ध वहाँ से विहार करके अन्यत्र विचरण करने लगे। कालान्तर में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में पहुँचे।

सारांश यह है कि अकिंचनता की साधना में सूक्ष्म दोष भी आ जाए तो शीघ्र ही उसकी शुद्धि करनी चाहिए। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा है—

अकिंचणो सोहइ विक्खधारी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५६

राजमन्त्री बुद्धिमान सोहता

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष मन्त्री-जीवन के विषय में चर्चा करना चाहता हूँ। धर्म-शासन की तरह राज्य-शासन भी सुस्थिर, व्यवस्थित, न्यायनिष्ठ, धर्मप्रधान एवं संस्कृति प्रेमी हो, यह अत्यन्त आवश्यक है। राज्य-शासन इस प्रकार का तभी हो सकता है या रह सकता है, जब शासक भी वैसा हो, इन्हीं सद्गुणों से ओतप्रोत हो, और शासक को समय-समय पर अच्छी सूझ-बूझ से, कुशलता से, परिस्थिति की जानकारी, शासन की उन्नति के उपाय, प्रजा की न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था बताने वाला कुशल राजनीतिज्ञ, धर्मप्रिय, शासन के प्रति वफादार एवं कार्यसक्षम मन्त्री हो, तभी शासक उन सद्गुणों से हरा-भरा रह सकता है। शासक को अच्छा या बुरा, क्रूर या दयालु, न्याय-नीतिपरायण या अन्याय-अनीतिपरायण, धर्मप्रिय या अधर्मप्रिय बनाने में मन्त्री का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

इसीलिए महर्षि गौतम इस जीवनसूत्र में मन्त्री के जीवन के सम्बन्ध में कहते हैं—

'बुद्धिजुओ सोहइ रायमंती।'

"राजा का मन्त्री बुद्धियुक्त हो, सूझ-बूझ का धनी हो, तभी शोभा देता है।"

गौतमकुलक का यह पैंतालीसवाँ जीवनसूत्र है। मन्त्री जीवन के विविध पहलुओं को आज हम क्रमशः छुएँगे।

राजा और मन्त्री का अटूट सम्बन्ध

शासन को सुव्यवस्थित, समृद्ध, सुस्थिर एवं जनकल्याणकारी बनाने के लिए एक शासक—राजा बनाया जाता है, किन्तु राजा के साथ मन्त्री चतुर, बुद्धिमान, व्यवहार-कुशल, राजभक्त एवं प्रजाहितैषी न हो तो, अकेले राजा से राज्य सुस्थिर नहीं रह सकता। जिस समय शासन पर चारों ओर शत्रुओं का संकट छाया हुआ हो, अथवा शासक के अन्याय-अत्याचार के कारण प्रजा का उत्पीड़न हो रहा हो, प्रजा विद्रोह करने या उस राज्य को छोड़कर अन्यत्र बसने के लिए जाने को उतारू हो रही हो, उस समय केवल शासक से इन समस्याओं का समुचित हल नहीं हो सकता, उस समय कुशल और बुद्धिमान मन्त्री के सहयोग और अवलम्बन की नितान्त आवश्यकता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होती है। इसीलिए राजा और मन्त्री का अटूट सम्बन्ध है। राजा का मन्त्री के साथ यह अटूट सम्बन्ध तभी रह सकता है, जब मन्त्री राजभक्त, बुद्धिमान और कार्य-कुशल हो।

मन्त्रीरूप स्तम्भ राज्य मन्दिर को सुदृढ़ रखने के लिए आवश्यक

आत्मा भी एक शासक—राजा है, उसका मन्त्री मन है। आत्मारूपी शासक के लिए मनरूपी मन्त्री का कुशल, बुद्धिमान और आत्मभक्त होना आवश्यक है। अन्यथा, मन इन्द्रियों को विपरीत पथ पर ले जाकर आत्मा को भटका सकता है, आत्मा का विकास रोक सकता है, उसको सिद्धान्त से स्खलित करा सकता है। इसी प्रकार मन्त्री भी राज्यकर्ता के लिए कुशल, राजभक्त और बुद्धिमान होना आवश्यक है।

इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

अन्तःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तम्भैरिव मन्दिरम्॥

जैसे किसी मन्दिर या भवन को ऐसे सुदृढ़ सुस्तम्भ ही टिकाए रख सकते हैं, जो अन्दर से थोथे न हों, टेढ़े-मेढ़े न हों, उनमें छेद या दरार न हों, अच्छी तरह से वे देख-परखकर लगाये गए हों, वैसे ही उन्हीं मन्त्रियों द्वारा राज्य चिरकाल तक सुस्थिर, मजबूत और सुदृढ़ रह सकता है, जो मनोबली हो, जिनका अन्तरंग सुदृढ़ हो, जो कुटिल न हों—सरल हों, छिद्रान्वेषी न हों, और भली-भाँति देखे-परखे हों।

एक पाश्चात्य विचारक जॉन हॉल (John Hall) ने शासन के लिए मन्त्री कैसा होना चाहिए? इस सम्बन्ध में सुन्दर विचार दिये हैं—

"The minister is to be a real man a love man, a true man, a simple man; great in his love, in his life, in his work, in his simplicity, in his gentleness.

"मन्त्री एक वास्तविक मनुष्य, एक प्रेमीजन, एक सच्चा आदमी और एक सादा-सीधा मानव होना चाहिए; जो अपने प्रेम से महान हो, जिन्दगी से महान हो और अपने कार्यों से, अपनी सादगी और अपनी सज्जनता से महान हो।"

गजनी के इतिहास की एक सुन्दर घटना इस पर प्रकाश डालती है। महमूद गजनवी अपनी प्रजा के लिए एक आफत था। उसकी आज्ञा के विरुद्ध मुँह खोलना मौत के मुँह में जाना था। उसके त्रास और आतंक से प्रजा अपने देश को छोड़कर भागती चली जा रही थी। बुद्धिमान वजीर चाहते हुए भी उसकी बातों का विरोध नहीं कर सकता था। वह हृदय से चाहता था कि बादशाह की बुद्धि ठीक हो जाए, प्रजा सुख-चैन की साँस ले, लेकिन उसके सुधार के लिए वह कुछ भी नहीं कर पा रहा था।

एक दिन महमूद गजनवी अपने वजीर के साथ राजमहल में बैठा बातें कर रहा था। वहीं दरबार के बाग के एक पेड़ की डाली पर बैठे दो कबूतर इस तरह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लग रहे थे, मानो आपस में बातें कर रहे हों। बादशाह की दृष्टि सहसा उस कबूतर की जोड़ी पर पड़ी। बादशाह ने मन्त्री से पूछा—"वजीरेआजम ! हम लोगों की तरह आखिर ये दोनों कबूतर किस विषय पर बात कर रहे हैं ?"

मन्त्री ने गम्भीर होकर कहा—"हाँ, जहाँपनाह ! कुछ ऐसी ही बात जान पड़ती है। मैं भी कबूतरों की भाषा जानता हूँ।"

बादशाह बोला—"तो फिर इस बात का पता लगाओ कि ये क्या बात कर रहे हैं ?"

मन्त्री ने कहा—"हजूर ! इसके लिए मुझे उनके पास तक जाना होगा।"

मन्त्री को अच्छा अवसर हाथ लग गया, बादशाह को समझाने का। वह पेड़ के नीचे गया, कुछ देर वहाँ खड़ा रहा, मानो गम्भीर होकर उनकी बात सुन रहा हो। फिर लौटकर महमूद गजनवी के पास आ गया। आते ही उसने पूछा—"वजीरे-आजम ! शीघ्र ही बताओ कि आखिर कबूतर की जोड़ी आपस में क्या बातें कर रही है ?"

मन्त्री जरा चिन्तामग्न हो उठा, उसके सामने मृत्यु नाचने लगी। किन्तु बादशाह ने कहा—"घबराएँ नहीं, साफ-साफ बताइए।"

वजीर ने कहा—"जहाँपनाह ! इन दोनों में एक लड़की वाला है और दूसरा है—लड़के वाला। विवाह की बातें तय की जा रही हैं। लड़के वाले ने दहेज के रूप में ५०० उजाड़ गाँवों की माँग की।"

इस पर लड़की वाले ने कहा—"कुछ दिन और ठहर जाएँ, यहाँ बादशाह के अत्याचार के कारण प्रजा देश छोड़कर भाग रही है। शीघ्र ही गाँव के गाँव खाली हो जाएँगे, फिर तुम्हारी माँगें पूरी कर दी जाएँगी।"

बादशाह वजीर की बात सुनकर दंग रह गया।

कहते हैं, इतनी बात सुनते ही महमूद गजनवी की बुद्धि बदल गई। तब से उसने प्रजा पर अन्याय-अत्याचार करना छोड़ दिया। वह प्रजा को हृदय से प्यार करने लगा।

अगर मन्त्रीरूपी स्तम्भ ठीक न होता तो गजनी के राज्य का तख्ता उलट गया होता। यह मन्त्री ही था जिसने बादशाह को युक्ति से, सूझ-बूझ से समझाकर उसकी प्रकृति बदल दी।

फलभागी राजा, कार्यभागी मन्त्री

राजा प्रायः राज्य के अच्छे-बुरे होने पर फल-अफल का भोक्ता होता है। राज्य के सुस्थिर, सुदृढ़ और प्रजाहितचिन्तक होने पर राजा को भी उसका सुफल मिलता है, उसे भी प्रतिष्ठा, सम्मान एवं कर आदि मिलता है, परन्तु राज्य अन्याय-अनीति प्रधान हो जाए, प्रजा को त्रास पहुँचाए तो राजा को भी बदनामी, बेइज्जती,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रजा की असन्तुष्टि आदि के रूप में उसका कुफल भोगना पड़ता है। परन्तु राज्य को अच्छे-बुरे बनाने की मुख्य चाबी मन्त्री के हाथ में होती है, वही राज्य कार्य का मुख्य तौर से संचालक होता है।

नीतिकार भी इस विषय में स्पष्ट कहते हैं—

भोगस्य भाजनं राजा, न राजा कार्यभाजनम्।
राजकार्यपरिध्वंसी मंत्री दोषेण लिप्यते॥

राजा कार्य के फलाफल के भोग का भागी होता है, वह कार्य का भागी नहीं होता, क्योंकि राज्यकार्य का संचालन मन्त्री करता है। राज्यकार्य को नष्ट-भ्रष्ट करने वाला मन्त्री दोष से लिप्त होता है। वास्तव में, राजा को राज्यकार्य का सुफल तभी मिल सकता है, जब मन्त्री उसका संचालन ठीक ढंग से वफादारीपूर्वक करे। जब मन्त्री ही राज्यकार्य को बिगाड़ने पर उतारू हो जाता है, तब उसका दुष्परिणाम राजा को भोगना पड़ता है।

एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

ईरान के शाह अपनी प्रजा के सुख-दुःख का पता लगाने के लिए गुप्तवेश में रात को नगरचर्या करने निकले। रास्ते में उन्हें एक किसान मिल गया। ईरान के शाह उस समय विदेशी पथिक के वेश में थे। उन्होंने किसान से देश की आवहवा तथा जमीन के उपजाऊपन के बारे में तथा खेत में फसल कितनी होती है, ऐसी औपचारिक बातें कीं। किसान अपने धन्धे के विषय में इस विदेशी राहगीर के मुख से चर्चा सुनकर हार्दिक सम्मानपूर्वक आकर्षित हुआ। ईरान के शाह ने किसान की सही स्थिति जानने के लिहाज से पूछा—"मैंने सुना है, इस देश की खेती समृद्ध करने के लिए तुम्हारे शाह ने नहर से सारे देश की धरती को सींचने की योजना बनाई है। सतत मिलते हुए नहर के पानी से तुम्हारे खेत तो हरे-भरे सुन्दर लगते होंगे।"

किसान बोला—"दूसरे किसानों की जमीन हरी-भरी बनी होगी, दूसरों के खेत में प्रचुर फसल लहलहाती होगी, परन्तु मैं तो बिलकुल वंचित हूँ, इससे। मुझे पड़ोसी ऐसा जबर्दस्त मिला है कि नहर का पानी मेरे खेत तक पहुँचने ही नहीं देता। मैंने उसे खूब समझाया, मगर वह मेरी एक भी बात सुनने को तैयार न हुआ।"

शाह—"उसकी ओर से तुम्हारे साथ अन्याय हो रहा है, इस सम्बन्ध में तुमने सरकार से लिखा-पढ़ी क्यों नहीं की? नहर का पानी उसका अकेले का नहीं है, नहर पर राज्य के प्रत्येक किसान का समान अधिकार है। तुम्हें अपने अधिकार का उपभोग करने से वह वंचित रख ही कैसे सकता है?"

नम्र स्वर में किसान ने कहा—"आप कहते हैं, यह बात दूसरों के लिए सच्ची होगी, पर मेरे जैसे अभागे के लिये तो व्यर्थ है। नहर का पानी मुझे मिले, इसके लिए मैंने कितनी ही अर्जियाँ अलग-अलग महकमों में लिखकर दीं, पर मुझे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो लिखने की मेहनत और पोस्टेज ही पल्ले पड़ी। मेरा पड़ोसी इतना तिकड़मबाज है कि उसके खिलाफ कोई एक अक्षर भी सुनने को तैयार नहीं होता।"

शाह ने बातों में ही उस किसान का नाम तथा उसके खेत का नम्बर भी जान लिया। उस समय तो शाह उसे मौखिक आश्वासन देकर विदा हुए। परन्तु उन्हें रात को शय्या पर लेटने पर भी नींद न आई। दूसरे दिन शाह ने लैंड रेकार्ड आफिस में इस विषय में जाँच-पड़ताल कराई तो उस किसान के पड़ोसी के रूप में जिस व्यक्ति का नाम निकला, वह शाह का खुद का पर्सनल सेक्रेटरी ही निकला।

शाह के क्रोध का पार न रहा। उन्होंने उसी समय सेक्रेटरी को बुलाकर फटकारा—तुम प्रजा के रक्षक हो या भक्षक? तुम्हीं जब प्रजा पर अन्याय करोगे तो प्रजा न्याय के लिए कहाँ जाएगी? मुझे हरित क्रान्ति द्वारा ईरान को समृद्ध देश बनाना है जबकि तुम जैसे स्वार्थी पदाधिकारी उसमें अवरोधक बन रहे हैं। तुम्हें यह गर्व है कि मैं शाह का पर्सनल सेक्रेटरी हूँ, मुझे कौन कहने-सुनने वाला है। मेरे दिल में तुम्हारे प्रति सख्त घृणा पैदा हो गई है। तुम्हारे खिलाफ उस किसान द्वारा दी गई सभी अर्जियाँ जिन राज्य-कर्मचारियों ने दबा दी हैं उनके प्रति भी सख्त नफरत हो गई है मुझे। इस अपराध से संलग्न सभी लोगों को मैं सजा दूंगा।

नीतिज्ञों ने कहा है—

विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम्॥

"विषाक्त भोजन, अत्यन्त हिलता हुआ दाँत, और दुष्ट मन्त्री इन तीनों का जड़मूल से उखाड़ना ही सुखावह होता है।"

तुम ही इस दोष के मूल हो, इसलिए मूल को ही मैं उखाड़ देता हूँ। आज से तुम्हें पर्सनल सेक्रेटरी के पद से हटाया जाता है। तुम्हें अच्छी तरह से शिक्षा मिले, इसके लिए तुम्हारी सारी जमीन जब्त की जाती है। तुम्हें दिये गये कठोर दण्ड से दूसरे राज्य-कर्मचारियों की अक्ल भी ठिकाने आ जाएगी। प्रजा के रक्षक के भक्षक बन जाने पर नतीजा कितना करुण आता है, इसकी प्रतीति इस नसीहत से मिल जाएगी।

ईरान की प्रजा ने जब यह सुना तो सुख की साँस ली और शाह के प्रति उसकी श्रद्धा बढ़ी, पर्सनल सेक्रेटरी को सबने धिक्कारा, क्योंकि शाह उस पर विश्वास रखकर राज्यकार्य का संचालन करवा रहा था।

वास्तव में मन्त्री पर बहुत बड़ी जिम्मेवारी है, वफादारीपूर्वक प्रजाहित और राज्यहित दोनों देखें। क्योंकि राज्य की नीति-रीति वही निर्धारित करता है।

मन्त्री : राजा और प्रजा दोनों का हितसाधक

राजा-प्रजा के सम्बन्ध बिगड़े हों तो मन्त्री ही उन्हें सुधारता है। मन्त्री का कार्य राजा और प्रजा दोनों के बीच में कड़ी बनने का जोखिम भरा है। अगर मन्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जरा-सा भी चूक जाता है, अपने कर्तव्य और दायित्व से तो राज्य का बहुत बड़ा अहित हो जाता है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध बिगड़ जाने पर उन्हें सुधारना बड़ा कठिन कार्य होता है।

नीतिकार कहते है—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके,
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन।
इति महति विरोधे विद्यमाने समाने,
नृपति-जनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता॥

"अगर मन्त्री या प्रधान शासक का हित करता है, प्रजा के हित की उपेक्षा कर देता है तो जनता की नाराजी का कारण बनता है और यदि वह राजा का हित न सोचकर जनपद (जनता) का ही हित करता है, तो राजा उसे छोड़ देता है। इस प्रकार राजा और प्रजा के बीच हितों में महान विरोध होने पर मन्त्रीरूपी कार्यकर्ता के लिए कार्य करना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।"

अकबर और बीरबल की—बादशाह और मन्त्री की जुगल जोड़ी प्रसिद्ध है। बादशाह और मन्त्री दोनों एक दूसरे के सुहृद थे, हितैषी थे। परन्तु बीरबल मन्त्री होने के नाते इस बात का पूरा ध्यान रखता था कि कहीं किसी प्रजाजन का मेरे से या बादशाह से अहित न हो जाय। साथ ही वह बादशाह को युक्ति और सूझबूझ के आधार पर समझाता था। इस तरह राजा और प्रजा के हितों में परस्पर विरोध होता तो उसे शान्त कर देता था।

एक रोचक उदाहरण लीजिए—

एक बार अकबर बादशाह ने यह घोषणा करवाई कि जो रातभर तालाब के पानी में रहेगा, उसे बादशाह की ओर से इनाम दिया जाएगा। शाही पुरस्कार पाने के लिये कई व्यक्ति ललचाये, परन्तु रातभर कड़ाके की ठण्ड में जल में खड़े रहना आसान नहीं था। अन्त में एक ब्राह्मण सारी रात जल में रहकर प्रातःकाल कुछ इनाम पाने की आशा से बादशाह के सामने उपस्थित हुआ। बादशाह ने पहरेदारों से भी जाँच करवाई तो उसे ठीक पाया। फिर भी बादशाह ने उससे पूछा—"तुम सारी रात जल में कैसे रह सके?"

ब्राह्मण बोला—"आपके महलों में जो दीपक जल रहा था, उसकी ओर मैंने एकटक दृष्टि लगा दी और यों रात गुजार दी।"

बादशाह ने कहा—"तब तो तुमको क्या तकलीफ हुई? तुम्हें दीपक की गर्मी से ठण्ड महसूस ही नहीं हुई। तब तो तुम पुरस्कार पाने के अधिकारी कहाँ रहे? भाग जाओ।"

बेचारा ब्राह्मण अपना-सा मुँह लिए बीरबल के पास आया, और अपने पर हुए अन्याय की आपबीती कही। बीरबल ने उसे आश्वासन देकर विदा किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बीरबल दूसरे दिन दरबार में न जाकर घर पर ही रहा। उसने एक लम्बा-सा बाँस गाड़कर उस पर हांडी लटका दी। उसके नीचे आग जला दी। उधर बीरबल जब दरबार में नहीं पहुँचा तो बादशाह ने उसे बुलाने सेवकों को भेजा। उसने सेवकों के साथ अर्ज करवाई कि रात को दस्त लग जाने से कुछ कमजोरी आ गई है, अतः आज यह खिचड़ी पका रहा हूँ, पक जाने पर मैं खाकर आता हूँ।"

सेवकों ने बादशाह से सारी बात कही और यह भी कहा कि एक लम्बे-से बाँस पर खिचड़ी पक रही है।

अस्वस्थता और विचित्र खिचड़ी की बात सुनकर उसे देखने बादशाह स्वयं चलकर आया। बाँस पर टंगी खिचड़ी की हँडिया को देखकर बादशाह ने सविस्मय कहा—"बीरबल ! यह खिचड़ी कब तक पकेगी ? क्या तुम्हें विश्वास है कि इतनी दूर रही अग्नि का ताप वहाँ तक पहुँच जाएगा ?"

बीरबल ने हँसते हुए कहा—"हाँ, क्यों नहीं जहाँपनाह ! जब एक ब्राह्मण आपके महल में जलते हुए दीपक की गर्मी से जल में बैठकर गर्मी महसूस कर सकता है, तब यह खिचड़ी की हँडिया कौन दूर है ?"

बीरबल की बात बादशाह को एकदम लग गई। उन्हें अपनी भूल समझते देर न लगी। बादशाह ने उसी समय ब्राह्मण को बुलाकर ससम्मान समुचित पुरस्कार दे दिया।

वास्तव में, अगर बीरबल उस ब्राह्मण के प्रति हुए अन्याय के विषय में बादशाह को युक्ति से न समझाता तो वह ब्राह्मण कभी न कभी राजविद्रोही बन सकता था, उसके मन में बादशाह के प्रति अश्रद्धा तो पैदा हो ही गई थी, प्रतिक्रिया भी शायद हुई हो।

सत्ता-मदान्ध राजा के स्खलन के समय मन्त्री ही आलम्बन

कई बार सत्ता के मद में अन्धा बना हुआ शासक अपने कर्तव्य और धर्म से च्युत होने लगता है, उस समय मन्त्री ही उसके लिए आलम्बन होता है। अगर मन्त्री उस समय अपनी सूझबूझ से उसे सहारा न दे तो राजा को गिरते देर नहीं लगती। कहा भी है—

महीभुजो मदान्धस्य संकीर्णस्येव दन्तिनः।
स्खलतो हि करालम्बः सुहृत्सचिवचेष्टितम् ॥

"जैसे संकीर्ण (सांकल खुले हुए) हाथी के मदान्ध होने से गिरने पर उसकी सूँड़ का सहारा ही अच्छा उपाय होता है, वैसे ही मदान्ध और अविवेकी राजा के स्खलित होने पर मित्रवत् मन्त्री का करालम्बन ठीक उपाय होगा है।"

दूसरी बात यह है कि जिस समय शासक पर या शासन पर चारों ओर संकट के बादल छाये हुए हों, चारों ओर से दुष्ट लोगों ने या दुष्ट राजकर्मचारियों ने भ्रष्टाचार का जाल बिछा रखा हो, उस समय शासन या शासक को पतन से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकमात्र बुद्धिमान राजभक्त विश्वस्त एवं वफादार मन्त्री ही बचाने में समर्थ होता है। मन्त्री उस समय अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। अपना सर्वस्व होम देता है या न्यौछावर कर देता है। महाराणा प्रताप को मेवाड़ पर आए हुए संकट से तथा मेवाड़ की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए दानवीर मन्त्री भामाशाह ने अपनी सर्वस्व पूँजी अर्पण कर दी थी।

जैन इतिहास की एक चमकती हुई कहानी इस सम्बन्ध में प्रस्तुत कर रहा हूँ—

पाटलिपुत्र का धर्मप्राण राजा उदायी उपाश्रय में जब पौषधव्रत में था, तब उसके गले पर छुरी चलाकर कपटी साधुवेषी विनयरत्न भाग गया था। आचार्य ने राजा उदायी का प्राणान्त हुआ देख शासन की हीलना होने से बचाने के लिए स्वयं ने भी समाधिमरण स्वीकार किया।

प्रातःकाल आचार्यश्री और उदायी राजा दोनों को मरण-शरण जानकर जनता ने दोनों का अन्तिम संस्कार किया।

राजा उदायी अपुत्र थे, अतः प्रमुख नागरिकों ने राजा के योग्य पुरुष का पता लगाने के लिए एक घोड़े को शृंगारित करके नगर के अन्दर और बाहर सर्वत्र घुमाया। संस्कारी घोड़ा एक नापित के पास आया और हिनहिनाने लगा। प्रमुखजनों ने नापित को राजा के योग्य समझकर राजगद्दी पर बिठा दिया। परन्तु राजदरबारी एवं राज-कर्मचारी उसे नाई समझकर ईर्ष्या से उसका आदर नहीं करते थे। अपना अनादर होते देख नापित नन्द राजा ने सुभटों से कहा—सुभटो! इन लोगों को पकड़ो। परन्तु सुभट भी एक दूसरे के सामने देखकर हँसने लगे।

तब नन्द नापित राजा ने दीवार पर चित्रित दो पुरुषों की ओर देखा कि तत्काल वे दोनों पुरुष हाथ में तलवार लेकर अट्टहास करने के बाद लोगों के सम्मुख हुए। उन्हें देखकर कई भाग गये, कई पिट गये। यह चमत्कार देखकर सभी प्रधान पुरुष एवं राजकर्मचारी राजा से क्षमा माँगकर विनय-सत्कार करने लगे।

नन्द राजा के पास कोई मन्त्री नहीं था। वह किसी योग्य मन्त्री की फिराक में था। पाटलिपुत्र में कपिल अग्निहोत्र रहता था, जो जैन साधुओं की सेवा एवं सत्संग करने से श्रावक बन गया था।

कपिल के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम उसने 'कल्पक' रखा। कल्पक विद्यालय में रहकर चौदह विद्याओं में पारंगत हो गया। उसके माता-पिता तो दिवंगत हो चुके थे। कल्पक को योग्य वर समझकर एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या दे दी। विवाहित कल्पक पण्डित के पास जो भी विद्यार्थी पढ़ने आते, उन्हें परिश्रम से पढ़ाता था। वह बड़ा ही सन्तोषी था, किसी से दान भी नहीं लेता था।

नन्द राजा ने कल्पक पण्डित को मन्त्री के योग्य बुद्धिमान एवं व्यवहारकुशल जानकर अपने पास बुलाया। मन्त्री पद स्वीकार करने का साग्रह अनुरोध किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु निःस्पृह कल्पक ने इन्कार करते हुए कहा—"राजन् ! मुझे मन्त्री पद स्वीकार नहीं, क्योंकि मन्त्री को लोभवश होकर अनेक पाप करने पड़ते हैं, फिर मैं भोजन और वस्त्र के सिवाय अन्य वस्तुओं का परिग्रह नहीं रखता।"

परन्तु नन्द राजा ने किसी युक्ति से उसे मन्त्री पद लेने के लिए मना लिया। कल्पक को मन्त्रीपद देकर नन्द राजा निश्चिन्त और कृतार्थ हो गया। अब वह बुद्धिमान कल्पक मन्त्री को साथ में रखता और उससे अनेक शंकाओं का समाधान करता।

एक बार कुछ धोबी एकत्रित होकर राजदरबार में कुछ उत्पात खड़ा करने आए, किन्तु कल्पक मन्त्री को राजा के पास बैठा देख सब के सब नौ-दो ग्यारह हो गये।

कल्पक मन्त्री की योग्यता, क्षमता, कार्यकुशलता एवं बुद्धिमत्ता में बढ़ा-चढ़ा देखकर नन्दराजा ने उसे पहले के सब मन्त्रियों का शिरोमणि महामन्त्री बना दिया। कल्पक ने भी अपनी क्षमता से, सूझ-बूझ से राज्य को धन-धान्यादि से समृद्ध बना दिया, राजा को यशस्वी बना दिया। परन्तु कल्पक महामन्त्री पर राजा की कृपा एवं उसकी उन्नति देखकर अन्य मन्त्री मन ही मन जलने लगे।

एक बार कल्पक महामन्त्री के पुत्र का विवाह समारोह था। कल्पक राजा को पुत्र-विवाह की खुशी में छत्र, मुकुट, चामर आदि देना चाहता था तथा राजा को अन्त:पुर सहित अपने घर आमन्त्रित करना चाहता था। अतः छत्र, मुकुट, चामर आदि बनवाने लगा। छिद्रान्वेषी ईर्ष्यालु मन्त्रियों को पता लगा तो उन्होंने राजा के कान भरे, उसे भड़का दिया कि कल्पक तो आपका राज्य छीनकर स्वयं राजा बनने के लिए छत्र, मुकुट, चामर आदि बनवा रहा है, हम झूठ कहते हों तो आप गुप्तचर भेजकर पता लगा लें। गुप्तचरों ने कल्पक के यहाँ छत्र, मुकुट आदि बनते देख राजा से सारी हकीकत कह दी।

राजा कान का कच्चा था। उसने कल्पक महामन्त्री से इस विषय में पूछे बिना ही गलत निर्णय कर लिया। निर्दोष कल्पक को कुटुम्ब सहित एक अंधेरे कुए में उतार दिया। वहाँ खाने को सबके लिए एक सेर कोद्रव और एक लोटा पानी प्रतिदिन उनके लिए भेजता था। थोड़ा-सा अन्न देख कल्पक ने अपने कुटुम्बी जनों से कहा—"इस अन्न का एक-एक दाना, हम सबके हिस्से में आयेगा। इससे किसी की उदर पूर्ति नहीं होगी। एक-एक दाना खाने से तो हम जिन्दा नहीं रह सकेंगे। अतः हम में से जो कोई मन्त्रिपद का गम्भीर दायित्व पूर्ण कर सके, वह एक ही इस अन्न-पानी का सेवन करे।"

सबने कल्पक से कहा—इस बात में तो केवल आप ही समर्थ हो, अन्य कोई नहीं है, अतः आप अकेले ही इस अन्न-पानी का उपयोग करो। सर्वानुमति से कल्पक उस अन्न-पानी का उपयोग करने लगा। अन्य सब कुटुम्बीजनों ने आमरण अनशन (संथारा) कर लिया, वे सब मरकर देवलोक में गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी दौरान सामन्त राजाओं को ज्ञात हुआ कि कल्पक महामन्त्री को नन्द राजा ने कुए में डाल दिया है, तो अवश्य ही वह वहाँ खत्म हो गया होगा। इसलिए बहुत सुन्दर मौका है, नन्द राजा को उखाड़कर पाटलिपुत्र का राज्य अपने कब्जे में करने का। फलतः समस्त सामन्त राजाओं ने मिलकर पाटलिपुत्र को घेर लिया। नन्द राजा ने नगर के द्वार बन्द करा दिये। जनता अत्यन्त भयभीत हो गई। शत्रुओं के साथ युद्ध करने में असमर्थ नन्द राजा बेचैन हो गया। दाहज्वर पीड़ित की तरह उसे कहीं चैन नहीं पड़ता था। सोचने लगा—जहाँ तक कल्पक महामन्त्री था, वहाँ तक किसी की हिम्मत नहीं होती थी, सिंह गुफा के समान पाटलिपुत्र की ओर आँखें उठाकर देखने की। हाय! कल्पक के बिना नगर की ऐसी दुरवस्था हुई। जैसे रक्षक के बिना पथिक उपवन को नष्ट कर देते हैं, वैसे ही कल्पक के बिना पाटलिपुत्र का हाल हो रहा है। कल्पक होता तो सबको भगा देता है। दूसरे जो मन्त्री थे, वे तो मूकदर्शकों की तरह यह तमाशा देख रहे थे, किसी को कुछ भी नहीं सूझ रहा था।

नन्द राजा ने तुरन्त कारागार के अधिकारी को बुलाकर कल्पक का हाल पूछा तो उसने कहा—"स्वामिन्! अभी तक प्रतिदिन एक सेर कोद्रव तो कोई न कोई लेता है। शायद कल्पक जीवित हो।"

राजा के आदेशानुसार तुरन्त कुए में एक खटिया उतारी और उस पर कल्पक को बिठाकर निधान की तरह बड़ी सावधानी से उसे बाहर निकाला। नन्द राजा ने पश्चात्ताप करते हुए कल्पक को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में कहा—"डूबते हुए राज्य का अवलम्बन अब तुम ही हो।"

कल्पक ने कहा—"मुझे कोट के किनारे-किनारे चारों दिशाओं में फिराकर शत्रु को नजर से दिखाओ।"

राजा ने कल्पक को शिविका में बिठाकर चारों दिशाओं में कोट पर फिरवाया। यह देखकर शत्रु सोचने लगे—"नन्द राजा हमें नकली कल्पक को दिखाकर डरा रहा है।" अतः वे और ज्यादा उपद्रव करने लगे।

यह जानकर कल्पक ने दूत भेजकर शत्रुओं से कहलाया—"तुम सब लोग अपने सर्वमान्य मन्त्रीप्रमुख को नौका से लेकर गंगा नदी में आओ, मैं भी नौका में बैठकर वहाँ आता हूँ। वहाँ हम सब विचार करके यथायोग्य करेंगे।"

दूत के मुख से यह समाचार सुनकर सन्धि करने वाले पुरुष नौका में बैठ गंगा नदी में आये। कल्पक भी उनके सम्मुख आया। वहाँ किसी के हाथ में ईख था, उसे देख कल्पक ने अंगुली के इशारे से बताया कि इसका मूल और सिरा काट लेने पर बाकी क्या रहता है?"

यों पूछने पर, उनमें से कई सन्धि-विग्रहकर्ता यद्यपि बुद्धिमान एवं चतुर थे, पर कल्पक के आशय को न समझ सके। कल्पक का आशय यह था कि जैसे ईख मूल और सिरे से बढ़ती है, वैसे ही सन्धि दोनों की एक सरीखी हो, तभी बढ़ती है। एक सत्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्धि वाला हो, दूसरा कपट-सन्धि वाला, तो दोनों में कैसे मेल हो सकता है। अतः सत्य-सन्धि वाले हमारे राजा नन्द के साथ माया-सन्धि वाले तुम लोगों की सन्धि नहीं हो सकती।

वहीं एक अहीरन के सिर पर दही की हंडिया देख कल्पक ने हाथ के इशारे से बताया कि इस डण्डे से यह हंडिया फोड़ी जा सकती है। कल्पक का आशय था कि तुम्हारी सेना इस हंडिया के समान है, उसे मैं बुद्धिरूपी डण्डे से फोड़कर छिन्न-भिन्न कर सकता हूँ, पर इस आशय को भी वे न समझ सके।

फिर अपनी नौका को शत्रुओं के बीच में डालकर तीन प्रदक्षिणा दी। उसका आशय था कि मेरी नौका जैसे तुम्हारी नौका पर हावी हो गई। वैसे ही मेरा तेज तुम पर हावी हो जायेगा। परन्तु वे सन्धि-विग्रहकर्ता इन तीनों इशारों के आशय को न समझ सके। फलतः अपना सा मुंह लेकर अपनी सेना की छावनी में पहुँच गये। कल्पक भी अपने स्थान पर लौट आया।

इधर सन्धि-विग्रहकर्ताओं से उनके सामन्त राजाओं ने पूछा कि क्या हुआ? तो उन्होंने कहा—"कल्पक तो असम्बद्ध बकवास करता है।"

"सन्धि की आखिर कोई बात हुई या नहीं?" यों जोर देकर पूछने पर उन्होंने लज्जित होकर कहा—"सन्धि के विषय में हम कल्पक का आशय नहीं समझ सके।"

यह सुनकर शत्रुराजाओं ने सोचा—कल्पक ने इन सबको धन का लोभ देकर फोड़ लिया दिखता है, अन्यथा ये सच्ची बात क्यों न कहते। कहीं अन्दर का भेद बताकर हमें मरवा न डालें। अतः हमें अब यहाँ रहना उचित नहीं है। यों परस्पर परामर्श करके सभी सामन्त अपनी-अपनी सेना सहित वहाँ से भागने लगे।

कल्पक ने नन्द राजा से कहा—"यह अच्छा मौका है अभी इन पर चढ़ाई करके इनसे मूल्यवान पदार्थ ले लो।"

नन्द राजा ने चढ़ाई करके उन सब राजाओं के हाथी, घोड़े, रथ एवं रत्न आदि ले लिये। नन्द राजा का राज्य अब कल्पक महामन्त्री के अवलम्बन के कारण सुस्थिर, समृद्ध, सशक्त एवं सुदृढ़ हो गया।

निष्कर्ष यह है कि सत्तामदान्ध नन्द राजा को अगर कल्पक महामन्त्री का अवलम्बन न होता तो उसका राज्य कभी का शत्रुराजाओं के हाथ में चला जाता, तथा शासन भी सुस्थिर, समृद्ध और सुदृढ़ न होता। अतः मन्त्री ही राजा या राज्य के स्खलन या पतन के समय आलम्बन रूप होता है।

मन्त्री कैसा हो, कैसा नहीं?

यों तो मन्त्री की शोभा उसकी बुद्धिमत्ता में है; परन्तु कोरी बुद्धिमानी हो, और वफादारी, प्रजाहितैषिता, धर्मनिष्ठा आदि अन्य गुण न हों तो वह मन्त्री राजा के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए शासन की सुस्थिरता के लिए योग्य नहीं माना जाता। आखिर मन्त्री पर ही तो शासन का सारा दारोमदार है। वह बुद्धिमान तो हो लेकिन उसकी बुद्धि अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में रत हो, अपनी पद-प्रतिष्ठा या अपनी कुर्सी मजबूत करने में ही लगी रहती हो, जनता का कोई भला न सोचती हो, शासन को न्यायनिष्ठ, कल्याणकारक एवं प्रजावत्सल न बना सकती हो तो किस काम की ?

इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन्त्री की शोभा स्थिर एवं सात्विक बुद्धि से सम्पन्न होने में है। स्थिरप्रज्ञा के साथ-साथ अन्य गुणों का समावेश तो अपने आप हो ही जाएगा। क्योंकि स्थितप्रज्ञ मन्त्री परमात्मा पर अटल श्रद्धालु, धर्मनिष्ठ, न्याय-नीतिपरायण, सर्वहितचिन्तक, इन्द्रिय-संयमी, निर्व्यसनी, मूढ़स्वार्थ से रहित, परमार्थी, समभावी, शासनहितैषी आदि गुणों से सम्पन्न होगा ही। ये गुण हुए बिना उसकी बुद्धि सुस्थिर और सात्त्विक रह ही नहीं सकती।

प्राचीन नीतिशास्त्र में स्थिर बुद्धि मन्त्री के ये सद्गुण आवश्यक बताये हैं—

मंत्रतंत्रार्पित - प्रीतिर्देशकालोचितस्थितिः।
यश्च राज्ञि भवेद् भक्तः, सोऽमात्यः पृथिवीपतेः॥

"राजा का सच्चा मन्त्री वह है, जो मन्त्र और तन्त्र में अपनी शक्ति और प्रीति लगाये हुए हो, देश और काल को देखकर यथोचित कदम उठाता हो, और राजा के प्रति भक्त हो।"

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वाग्मी न तु कोपन-
स्तुल्यो मित्र-पर-स्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव वक्तोत्तरः।
शिष्टान् पालयिता, शठान् व्यथयिता, धर्मेऽतिलोभान्वितो,
कार्यार्थी परतत्त्वबद्धहृदयो, राज्ञश्च कोपापहः॥

"जो शास्त्रज्ञ हो, स्वयं कपट न करता हो, किन्तु कपटी के कपट को परखने में कुशल हो, अच्छा वक्ता हो, दूसरों को अपनी बात भली-भाँति समझा सकता हो, क्रोधी न हो, अपने मित्रों, स्वजनों, स्नेहियों तथा अन्य जनों के प्रति समभावी हो, व्यक्ति का चरित्र (व्यवहार) देखकर उत्तर दे सकता हो, शिष्ट पुरुषों का रक्षण और दुष्टों का दमन करने में कुशल हो, लोभ हो तो केवल धर्माचरण में हो, कार्यार्थी हो, फिजूल बातें करने वाला न हो, और जिसका हृदय परमतत्त्व से सम्बद्ध हो, तथा शासक के क्रोध को शान्त करने वाला हो, वही मन्त्री श्रेष्ठ माना जाता है।"

स्वदेशजं कुलाचारं विशुद्धमथवा शुचिम्,
मंत्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम्।
अधीतव्यवहारार्थं मौलं, ख्यातं विपश्चितम्,
अर्थस्योत्पादकं चैव, विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः॥

"राजा उसी को मन्त्री पद पर नियुक्त करे, जो अपने देश का हो, कुलाचार-पालक हो, पवित्र हो, शुद्ध हृदय हो, मन्त्रविज्ञ हो, निर्व्यसनी हो, व्यभिचार से दूर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो, व्यवहारिक बातों का जिसका पूरा अध्ययन हो, बात की जड़ तक पहुँच जाता हो, प्रसिद्ध हो, विद्वान् हो, साथ ही शासन को अर्थ से समृद्ध करने वाला हो।"

अब हम मन्त्री के विशिष्ट गुणों पर विचार कर लें—

मन्त्र-तन्त्र कुशल

मन्त्री मन्त्र के द्वारा शासन की समस्याओं पर हर पहलू से विचार करता है और तन्त्र के द्वारा तदनुसार उसकी योजना और व्यवस्था करता है। मन्त्री में शासन के हित के लिए मन्त्र भी होना चाहिए और तन्त्र भी। क्योंकि कोरे मन्त्र से काम नहीं चलता, मन्त्र के साथ तदनुसार अनुष्ठान (तन्त्र) भी होना आवश्यक है।

एक नीतिज्ञ कहता है—

किं मंत्रेणाऽननुष्ठानात् शास्त्रवित्पृथिवीपतेः।
नह्यौषधिपरिज्ञानात् व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत्॥

"शास्त्रज्ञ राजन्! केवल मन्त्र से क्या होगा, जबकि तदनुसार अनुष्ठान नहीं किया जाये? केवल औषधि के परिज्ञान से कहीं व्याधि शान्त होती है?"

मन्त्री के लिए परम मन्त्र (मन्त्रणा) का उद्देश्य बताते हुए नीतिकार कहते हैं—

अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं,
भविष्यलाभस्य च संगमार्थम्।
आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थम्,
यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मंत्रः॥

"भूतकाल में हुए लाभ की सुरक्षा और भविष्य के लाभ को प्राप्त करने के लिए तथा विपत्ति में पड़े हुए शासन, शासक या जनता को उबारने के लिए जो मंत्रणा (मन्त्र) की जाती है, वही (मन्त्री के लिए) परम मन्त्र है।"

विचक्षण मन्त्री शासक के इंगित और अभिप्राय को तुरन्त पहिचान लेता है, और राजा के कहने से पहले ही, उसके कहे बिना ही अपने मन में मन्त्रणा करके तदनुसार योजना बनाकर कार्य व्यवस्था कर देता है।

वसन्त ऋतु का सुहावना मौसम था। सूर्य अपनी रेशमी किरणें बिखेरकर मानो इस सुहावनेपन को अपने में समेट लेना चाहता था। ऐसे सुहावने समय में प्रकृति की शोभा निहारता हुआ एक राजा अपने मन्त्री के साथ सैर करने के लिए घने जंगल से होकर जा रहा था। एक जगह उसके घोड़े ने मूत्र त्याग किया, इससे उस जमीन में गड्ढा हो गया था, और उसमें मूत्र भर गया था। राजा आगे बढ़ गया। घने जंगल में पहुँचकर वह प्राकृतिक छटा देखने में मग्न हो गया। इसी में मध्याह्न हो गया। राजा पुनः उसी रास्ते से अपने स्थान को लौट रहा था।

रास्ते में उसकी दृष्टि उसी गड्ढे पर पड़ी, जहाँ घोड़े ने मूत्र त्याग किया था। राजा यह देखकर चकित था कि गड्ढा अभी तक भरा है, उसका जल सूखा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। राजा के मन में एक विचार स्फुरित हुआ कि यहाँ तालाब खुदवा दिया जाए तो सम्भव है उसका पानी कभी नहीं सूखेगा, अखूट रहेगा।

विचक्षण मन्त्री ने राजा के मनोगत भावों को जान लिया। उसने राजधानी में आकर राजा के कहे बिना ही उस स्थान पर सरोवर खुदवाने का कार्य प्रारम्भ करा दिया। समय पर कार्य पूर्ण हो गया। वहाँ सरोवर पानी से लहराने लगा।

कुछ दिनों बाद राजा पुनः उसी रास्ते से गुजरा। उसने देखा कि वहाँ एक सुन्दर सरोवर लहरा रहा है। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और मन्त्री से पूछा—"यह शुभ कार्य कब और किसने करवाया है?"

मन्त्री ने कहा—"राजन्! यह आपके मूक-आदेश का पालन हुआ है।"

मन्त्री का यह कथन सुनकर राजा ने उसकी योग्यता और विनम्रता पर अतीव प्रसन्न होकर उसे बहुत-सा पुरस्कार दिया।

तात्पर्य यह है कि राजा द्वारा मन में सोची हुई बात को जानकर जो मन्त्री शीघ्र ही कार्यान्वित कर देता है, वही प्रशंसनीय मन्त्री होता है।

देशकाल देखकर कदम उठाने वाला—बुद्धिमान मन्त्री का यह विशिष्ट गुण होता है कि वह देख लेता है, यह कौन-सा देश है या स्थान है, कैसा समय है? दोनों की यथार्थ स्थिति का आकलन करके जो मन्त्री कदम उठाता है, उसे कभी असफलता का मुंह नहीं देखना पड़ता। जब भी कोई समस्या या विपत्ति आकर पड़ती है तो मन्त्री जनता और शासक की रक्षा के लिए बार-बार देशकाल की स्थिति का चिन्तन करता रहता है और समय पर उचित कदम भी उठाता है।

प्राचीन रोम और कारथेज में काफी अर्से से संघर्ष चल रहा था। रोम के लगातार आक्रमण से कारथेज, जो कि एक छोटा-सा टापू था, काफी परेशान था। उसकी सारी सम्पत्ति और जनशक्ति रोम के हमलों से स्वयं को बचाने में खर्च हो रही थी, व्यापार-वाणिज्य आदि विभिन्न धन्धे चौपट हो गये थे। इस विषम परिस्थिति के समाधानार्थ वहाँ के गण्यमान्य व्यक्ति एक दिन एकत्रित हुए, बहुत तर्क-वितर्क के बाद उन्होंने निश्चय किया कि कुछ राजनीति-निपुण लोग रोम जाएँ और उस देश के मन्त्री के लिए काफी बहुमूल्य उपहार ले जाएँ, ताकि उसकी सहानुभूति अपने देश के प्रति खींचकर उसके समक्ष सुलह का प्रस्ताव रख सकें।

निश्चित तिथि को कारथेज के चार गण्यमान्य व्यक्ति रोम के लिए रवाना हुए। रोम पहुँचने पर उन्हें पता चला कि प्रधानमन्त्री नगर से कुछ दूर एक गाँव में रहते हैं। पूछताछ करके वे उनके घर पहुँचे। प्रधानमन्त्री खेत पर थे, उनकी पत्नी ने आगन्तुकों का स्वागत किया, बिठाया और कहा कि उसके पति हल लेकर खेत जोत रहे हैं, थोड़ी देर बाद आयेंगे।

थोड़ी-सी प्रतीक्षा के बाद धूल-धूसरित प्रधानमन्त्री आ पहुँचे। आगन्तुकों के आश्चर्य का पार न रहा, उनका सादा मकान और सादी वेशभूषा देखकर! प्रधानमन्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने विलम्ब के लिए क्षमा माँगते हुए उनसे आने का प्रयोजन पूछा। उनके साधु चरित्र को देखकर कारथेज वालों के होश गुम हो गये और उन्हें उपहार भेंट करने तथा प्रस्ताव रखने की हिम्मत न हुई। बार-बार पूछे जाने पर उन्होंने अपने आने का प्रयोजन बताया। प्रधानमन्त्री ने उनकी बात बड़े गौर से सुनी और उनसे प्रभावित होकर आश्वासन दिया कि वह उनकी सहायता करने की भरपूर चेष्टा करेंगे। राजसभा के समक्ष प्रधानमन्त्री ने कारथेज वालों की बातें रखीं और निर्णय कराया कि भविष्य में रोम कारथेज पर हमला नहीं करेगा।

सचमुच रोम का प्रधानमन्त्री देशकाल की परिस्थिति से पूर्णतः परिचित हो गया और उसने सोच लिया—कारथेज जैसे छोटे-से निर्धन टापू पर हमला करने से रोम को कोई भी लाभ न होगा, सिवाय शत्रुता बढ़ाने के। इसके विपरीत अगर उसके साथ सन्धि कर ली गई तो भविष्य में उसके समृद्ध होने से रोम को उससे आर्थिक लाभ और जन सहयोग भी मिलेगा। यही मन्त्री की देशकालोचित कदम उठाने की विशेषता है।

राजभक्त—शासक या शासन के प्रति जिसकी पूर्ण भक्ति एवं वफादारी हो, वही मन्त्री उत्तम माना जाता है। जो मन्त्री शासक या शासन के प्रति खिंचा-खिंचा रहता हो, हित-चिन्ता न करता हो, दूसरे राजा या राज्य से लगाव हो, रिश्वत या अन्य प्रलोभन के वश होकर जो राजा या राज्य से विमुख रहता हो, वह मन्त्री किसी काम का नहीं है, वह राज्य का शत्रु है, द्रोही है। वह विश्वसनीय नहीं होता। विश्वस्त और राजभक्त मन्त्री वह होता है, जो राजा की नाराजी की परवाह न करके भी उसके व शासन के हित के लिए समय पर राजा को सावधान कर सकता हो, उत्पथ पर जाने से रोक सकता हो।

एक राजा विषय-भोग में इतना फँस गया कि रात-दिन अन्तःपुर में पड़ा रहता था, उसे राज-काज का बिलकुल भान नहीं रहा। राजभक्त प्रधान अन्तःपुर के दरवाजे पर जाकर कहलाता पर विषयान्ध राजा कुछ भी न सुनता। एक दिन प्रधान ने इस आशय का एक पत्र लिखकर अन्तःपुर के द्वारपाल के साथ भेजा कि राज्य में अन्धेरगर्दी चल रही है। इसलिए अब अन्तःपुर में रहने का समय नहीं। अन्यथा, बाद में पछताना पड़ेगा।

राजा ने इस पत्र का कोई उत्तर न दिया, किन्तु रानियों ने प्रधान को धक्का देकर निकलवा दिया, और यह भी हिदायत दी कि अगर फिर कभी अन्तःपुर के द्वार पर आ जाय तो पीट डालना। जाते-जाते प्रधान को विचार आया कि राजा ने अपने हित की बात न सुनी, उलटे मेरा अपमान कराया। जितनी प्रीति मुझे राजा व राज्य के प्रति है, अगर उतनी ही प्रीति भगवान पर रखूं तो वे अवश्य ही मिल जायेंगे। यों सोचकर वह निकटवर्ती वन में जाकर भगवान का जप व स्तुति करने लगा। प्रधान के चले जाने से राज्य में गड़बड़ मच गई। राजा को प्रधान की जरूरत पड़ी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसने प्रधान की बहुत तलाश करवाई। आखिर अन्य मन्त्रियों को लेकर वह जंगल में प्रधान के पास पहुँचा। राजा ने प्रधान से कहा—"यह क्या स्वांग रचा रखा है? यहाँ क्या करने लगे?"

प्रधान बोला—आपके द्वार पर तो धक्का खाता था, आपसे तो मिलना भी दूभर हो गया था, अतः अब मैं यहाँ ईश्वर से मिलने आया हूँ, तभी आप मेरे द्वार पर चलकर आये हैं। यहाँ मुझे शान्ति व आनन्द है।

प्रधान की बात सुनकर राजा की आँखें खुलीं। उसने प्रधान से क्षमा माँगी और बहुत आग्रह करके उसे अपने राज्य में ससम्मान ले गया।

वास्तव में जो राजभक्त मन्त्री होता है, वह विपद्ग्रस्त होने पर भी राजा व राज्य का बुरा नहीं चाहता।

शास्त्रज्ञ—मन्त्री दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र आदि का जानकार होना चाहिए, तभी वह धर्माधर्म, नीति-अनीति तथा वस्तुस्थिति का यथार्थ निर्णय कर सकता है।

अभयकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र और मगध जनपद का मन्त्री था। वह अत्यन्त बुद्धिशाली, शास्त्रज्ञ और धर्मात्मा था। साथ ही वह स्वयं व्रतधारी पक्का श्रावक था।

दशवैकालिक सूत्र में ऐसे ही शास्त्रज्ञ, आचार-विचारनिपुण राजा, राजा के मन्त्रियों, माहनों एवं क्षत्रियों के साधुओं के पास जाकर सविनय प्रश्न पूछने का उल्लेख आता है—

रायाणो रायमच्चा या माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति निहुअप्पाणं कहं भे आयारगोयरो॥

राजा, राजाओं के अमात्य (मन्त्री), माहन अथवा क्षत्रिय शान्त-आत्मा साधु के पास जाकर पूछते हैं—"भन्ते! आपका आचार-गोचर (आचरण) कैसा है?"

एक बार श्रेणिक राजा ने धर्मज्ञ एवं शास्त्रज्ञ बुद्धिमान मन्त्री अभयकुमार से पूछा—"इस नगरी में धर्मी ज्यादा हैं या अधर्मी?"

अभयकुमार—"दिखने में तो धर्मी ही ज्यादा हैं?"

श्रेणिक—"कैसी बात करते हो? न्यायालय में रोज इतने मुकदमे आते हैं, फिर धर्मी कैसे ज्यादा हैं। मुझे तो अधर्मियों के सिवाय अन्य कुछ नजर नहीं आता। तुम अपनी बात को सिद्ध करके बतलाओ।"

अभयकुमार ने कहा—"अच्छा महाराज! इसे सिद्ध करने के लिए नगर के बाहर दो तम्बू तनवा दीजिए, एक काला और एक सफेद; और यह घोषणा करा दीजिए कि जो धर्मी हो, वह सफेद तम्बू में और अधर्मी हो, वह काले तम्बू में आ जाए। एक दरवाजा रखवाइए, जो ठीक से बन्द हो सके। फिर देख लीजिये परिणाम।" राजा ने इसी प्रकार की व्यवस्था करवा कर ड्योढी पिटवा दी। सुनकर नगर सारा उमड़ पड़ा। सफेद तम्बू देखते ही देखते खचाखच भर गया और काले तम्बू

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में सिर्फ दो व्यक्ति थे। शाम को राजा और मन्त्री दोनों आए। सफेद तम्बू का द्वार खोला गया। सर्वप्रथम एक व्यापारी निकला, राजा श्रेणिक ने उससे पूछा—"दिन भर तो तुम दूकान पर बैठकर ग्राहकों को ठगते हो, फिर सफेद तम्बू में कैसे आये ?"

व्यापारी बोला—"हम सामायिक करते हैं, मन्दिर में जाकर अर्चा-पूजा करते हैं, कबूतरों को अनाज डालते हैं, गरीबों को भी कुछ दान करते हैं, इसलिए धर्मी हैं। महाराज ! ग्राहक को तो चीज देकर पैसा लेते हैं, इसमें ठगाई कैसी ?"

फिर राजा ने अधिकारियों व न्यायाधीश आदि से पूछा—"तुम तो प्रजा पर अत्याचार करते हो, निर्दोष को फंसा देते हो, फिर धर्मी कैसे ?" उन्होंने कहा—"हम तो राजा के पक्के वफादार हैं, हम ही राज्य टिकाये हुए हैं, उनकी भलाई करते हैं। इसलिए धर्मी हैं।"

राजा ने फिर वेश्या, भंगेड़ी, चोर, जुआरी, मजदूर, कसाई, व्यभिचारी आदि सबसे पूछा। सबने अपनी-अपनी सफाई पेश की। अन्त में राजा ने काले तम्बू का द्वार खुलवाया तो उसमें सिर्फ दो सगे भाई थे। जो सारे शहर में सदाचारी, धर्मात्मा और पुण्यशाली के रूप में प्रसिद्ध थे। राजा ने उनसे पूछा तो उन्होंने कहा—"हम वास्तव में अधर्मी हैं, क्योंकि हमने शराब न पीने की प्रतिज्ञा ली थी, लेकिन हमारी बीमारी में हमारे अनजाने में वैद्य ने दवा के साथ शराब दे दी, बाद में हमें मालूम पड़ा। इस कारण प्रतिज्ञा-भंग का पाप हमारे सिर पर है।"

अभयकुमार ने कहा—"देख लीजिए महाराज ! दिखने वाले धर्मी अधिक हैं या अधर्मी ? मेरी दृष्टि से वास्तविक धर्मी वह है जो निष्ठापूर्वक सर्वत्र शुद्ध धर्म का आचरण करता है, जिसके हृदय में पाप की घृणा हो, उसे करते हुए दिल कांपता हो।"

धर्म-अधर्म के विषय में ऐसा निर्णय वही मन्त्री दे सकता है जो शास्त्रज्ञ और धर्मनिष्ठ हो।

इसके अतिरिक्त मन्त्री ऐसा विचक्षण हो, जो **दूसरों की कपट-क्रिया को भांप सके, तथा सुवक्ता** हो, अपनी बात को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर सके, **क्रोधी न हो,** क्योंकि क्रोध आने पर मन्त्री अपने कार्य में असफल हो जाता है। बल्कि हर हाल में जो खुश रह सकता हो, वही प्रसन्नमुख वाला मन्त्री अच्छा माना जाता है।

चीन के राजा क्वांग के प्रधानमन्त्री का नाम था—"सुनशू आओ। राजा ने एक बार उसे अपने पद से हटा दिया। कुछ ही दिनों बाद उसे पुनः प्रधानमन्त्री बना दिया। तीन बार इस घटना की आवृत्ति हुई, लेकिन सुनशू आओ इन प्रसंगों पर न कभी प्रसन्न हुआ, न अप्रसन्न। वह निर्लिप्तता से अपने कार्य में जुटा रहा।

एक दिन राजा ने प्रधानमन्त्री से इसका कारण पूछा तो सुनशू आओ ने उत्तर दिया—"जब मुझे प्रधानमन्त्री पद दिया गया, तब मैंने सोचा—सम्मान को ठुकराना उचित नहीं, जब मैं पदच्युत किया गया, तब मैंने सोचा—जहाँ आवश्यकता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है, वहाँ पर चिपके रहना बेकार है। फिर प्रश्न उठता है कि वह सम्मान किसका है? मेरा है या पद का? यदि पद का है तो उसमें मुझे क्या लेना-देना है? यदि मेरा है तो चाहे पद रहे या जाए इसमें क्या फर्क पड़ेगा?"

राजा समझ गया कि जो मन्त्री प्रसन्नता और अप्रसन्नता के प्रसंगों पर सम रहता है, वही निःस्पृह, निर्लोभी और राज्य का सच्चा हितैषी हो सकता है।

मित्र एवं स्व-पर पर सम—जो सच्चा मन्त्री होता है, वह न्यायनिष्ठ होता है। वह न्याय के मामले में अपने-पराये का कोई लिहाज नहीं रखता। चाहे उसके पास कोई गरीब फरियाद लेकर आए या धनवान, वह सबकी फरियाद गौर से सुनता है और उस पर गहराई से विचार करता है।

व्यवहार देखकर उत्तर देने वाला—मन्त्री व्यवहार-विचक्षण होता है। वह जीवन के काफी उतार-चढ़ाव देखा हुआ अनुभवी होता है। उसकी बुद्धि अनुभव की आँच में तपी हुई होती है। जिस बात का हल न्यायाधीश, पण्डित, विद्वान या व्यापारी नहीं कर सकते, उसका हल व्यवहार-विचक्षण मन्त्री शीघ्र ही कर सकता है। भारतीय राजनीति के इतिहास में ऐसे सैकड़ों व्यवहार-विचक्षण मन्त्रियों के उदाहरण हैं। जहाँ एक पुत्र के लिए दो माताएँ दावा करती हों, दो व्यक्तियों में से बिना साक्षी और प्रमाण के वास्तविक अपराधी-निरपराधी का पता लगाना हो, जहाँ राजा की बुद्धि भी किसी समस्या को हल करने में हार खा जाती हो, वहाँ मन्त्री की विचक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यवहार बुद्धि काम आती है।

शिष्ट-पालक : दुष्टनिग्राहक—मन्त्री में दोनों प्रकार की शक्ति होनी चाहिए—रक्षण की और दमन की। जो सज्जन, सभ्य, सुविनीत और शिष्ट हैं, उन पर अन्याय अत्याचार होता हो तो उनकी सुरक्षा करना मन्त्री का कर्तव्य है, साथ ही दुष्टों और दुर्जनों, ठगों और शठों का दमन करने की शक्ति भी उसमें होनी चाहिए; ताकि ऐसे लोग जनता पर हावी न हो जाएँ। आज भारत में सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों में इतना भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, लालफीताशाही या गैर-जिम्मेवारी है कि वे छोटे-से काम को झटपट करके नहीं देते, गरीब आदमी बार-बार उसके महकमे में चक्कर काटता है, मगर उसके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती, रिश्वत देने पर भी वह धीरे-से सरकता है। मगर मन्त्री को पता लगने पर ये बातें उसके लिए असह्य होनी चाहिए। भ्रष्टाचार, अनीति, अन्याय, उद्दण्डता, चोरी आदि चाहे सरकार में हो या जनता में, मन्त्री के लिए वह सह्य न होनी चाहिए।

मन्त्री **धर्मिष्ठ** तो होना ही चाहिए। अधार्मिक या पापात्मा मन्त्री तो शासन, शासक और जनता सबका उत्पीड़न, शोषण और विनाश कर बैठता है।

कार्यार्थी मन्त्री ही शासन की उन्नति कर सकता है। जो केवल बातूनी है, लम्बे-चौड़े भाषण देना ही जानता है, बड़े-बड़े वादे ही जनता के सामने करता है, वह मन्त्री केवल वाणी-शूर होता है। मन्त्री में कम बोलने और अधिक करने का गुण होना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिण भारत की एक रियासत की घटना है। वहाँ के दीवान सुजानसिंह जी वृद्ध हो गये थे, वे अपने स्थान पर किसी योग्य उत्तराधिकारी को नियुक्त करना चाहते थे; ताकि उनका बोझ हल्का हो सके। उनके कोई पुत्र न था। उन्होंने प्रजाजनों में से ही दीवान का चुनाव करने का निश्चय किया। नगर में घोषणा करवा दी कि अमुक दिन दीवान का चुनाव किया जाएगा। शर्त यह रखी कि जो टी. बी. आदि का बीमार न हो, शिक्षित चाहे कम हो, पर योग्य, कार्यकुशल और सेवाभावी हो। निश्चित दिन को मनोरंजन के लिए हाकी का खेल रखा गया। सन्ध्या समय दीवान पद के उम्मीदवार हॉकी खेल कर आ रहे थे। मार्ग में एक नाला पड़ता था। दीवान सुजानसिंह ने किसान का वेष बनाकर बैलगाड़ी उस नाले में फँसा दी। बैलों द्वारा जोर लगाने पर भी गाड़ी आगे नहीं चल रही थी। कृषक वेशधारी दीवान गाड़ी को धक्का लगा रहा था, लेकिन वह टस से मस नहीं होती थी। बहुत-से आदमी उधर से गुजरे मगर किसी ने उसकी तरफ ध्यान न दिया।

अन्त में, एक व्यक्ति आया जिसके दिल में सहानुभूति की भावना थी, उसने देखा कि किसान घबरा रहा है, रात पड़ने वाली है, गाड़ी आगे नहीं चल रही है। अतः उसने किसान वेशधारी से कहा—"तुम गाड़ी को आगे से खींचो, मैं पीछे से धक्का लगाता हूँ।" उसने ऐसा ही किया। गाड़ी झट ऊपर आ गई। अब वह ठीक राह पर थी। कृषक वेशधारी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"भगवान् करे आप ही इस रियासत के दीवान बनें। कृषक वेशधारी ने उसका नाम-पता पूछ लिया। दूसरे ही दिन प्रातः राजसभा में सब लोगों की उपस्थिति में दीवान सुजानसिंह जी ने घोषित किया—पं० जानकीवल्लभजी इस रियासत के नये दीवान बनेंगे। सब लोगों ने सुजानसिंहजी के मुँह से पं० जानकीवल्लभजी के कार्यक्षमता, सेवा आदि गुणों की प्रशंसा सुनकर धन्यवाद दिया।

वास्तव में, जो मन्त्री कार्यार्थी हो, वही कार्यकुशल और कर्तव्य-क्षमता वाला होता है।

मन्त्री के और गुणों में **परमतत्त्व के प्रति बद्धहृदय** गुण महत्त्वपूर्ण है। जिस व्यक्ति का विश्वास परमात्मा पर होगा, वह हर स्थिति में सुखी और प्रसन्न रहेगा। वह राजा को भी उसी नीति पर चलने को प्रेरित करता है।

एक राजा का मन्त्री बड़ा मधुरभाषी एवं परमात्मा पर अटल श्रद्धालु था। अच्छा आचरण और शुद्ध व्यवहार करते हुए भी कोई कार्य उल्टा हो जाता तो वह कहता—"अच्छा हुआ।" एक दिन राजा और मन्त्री दोनों सैर करने के लिए बहुत दूर जंगल में निकल गये। वहाँ पेड़ में अटक जाने से राजा का अंगूठा कट गया। अतः वह खिन्न होकर महल में लौटा। वैद्य-हकीम आदि सबको बुलाया। खबर सुनकर राज्य कर्मचारी भी राजा का कुशल पूछने आये। मन्त्री भी आया, उसने राजा को आश्वासन दिया—"महाराज! आप इसे शान्ति से सहन कीजिए। होनहार होकर ही रहता है। इसके पीछे कोई न कोई शुभ संकेत है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह सुनकर राजा अत्यन्त कुपित हो गया। उसने मन्त्री को २४ घन्टे में राज्य छोड़कर चले जाने का आदेश दिया। मन्त्री ने कहा—"बहुत सुन्दर! अच्छा हुआ! कोई न कोई शुभ संकेत है, इसके पीछे भी।" और वह राज्य छोड़कर चला गया।

कुछ दिनों पश्चात अंगूठा ठीक होने पर फिर एक दिन राजा सैर करने को दूर-सुदूर निकल गया। वहाँ शक्तिपूजक मिले। वे राजा को बत्तीसलक्षणा पुरुष जानकर देवी के आगे बलि चढ़ाने के लिए पकड़ ले गये। राजा बहुत घबरा गया, पर उसका कोई जोर न चल सकता था।

राजा की गर्दन पर तलवार पड़ने ही वाली थी, कि एक आदमी चिल्लाया—"ठहरो-ठहरो! यह आदमी बलि के योग्य नहीं है, इसके हाथ का एक अंगूठा नहीं है। अंगहीन की बलि नहीं दी जा सकती। अतः इसे छोड़ दो।"

राजा से शक्तिपूजकों ने कहा—"ले, तेरा घोड़ा, भाग जा यहाँ से!"

राजा को छुटकारा मिला, तो सुख की साँस आई। अब उसे मन्त्री का वचन याद आया कि "यह अच्छा ही हुआ।" अगर आज अंगूठा कटा न होता तो मेरी हत्या अवश्य कर दी जाती। राजा ने अपने तत्त्वज्ञ मन्त्री की तलाश में आदमी भेजे, उसे ससम्मान लेकर वे आये। राजा ने कुशलमंगल प्रश्न के पश्चात पूछा—"मन्त्रीवर! मैंने तुम्हें देशनिकाला दिया, वह अतिसुन्दर कैसे?"

मन्त्री ने कहा—महाराज! अगर मैं आपके साथ होता तो आपके बदले मुझे बलि दे दिया जाता, इस कारण मेरा अतिसुन्दर कहना ठीक ही था।"

राजा उसके परमतत्त्वज्ञान से बहुत ही प्रभावित हुआ और हर एक कार्य उसकी राय लेकर करने लगा।

वास्तव में परमतत्त्व जिसका हृदयंगम हो जाता है, वह बड़ी से बड़ी आपत्ति के अंधड़ आने पर भी विचलित नहीं होता।

इसके अतिरिक्त मन्त्री के गुणों में विशेष गुण ये हैं—राजा के कोप को **शान्त करने वाला, शुद्धहृदय, निर्व्यसनी, सदाचारी, विद्वान, अर्थ के मामले में पवित्र** आदि। ये सब आप जानते ही हैं।

मन्त्री के दूषण

सभी मन्त्री योग्य और वफादार ही होते हैं, ऐसी बात नहीं है। वर्तमान युग में तो ईमानदार, देशभक्त, वफादार एवं जनहितैषी मन्त्रियों का दुष्काल-सा हो गया है। मन्त्री की परख संकट के समय, या जनता और राष्ट्र के सम्बन्धों में बिगाड़ आने पर या राजकर्मचारियों तथा अधिकारियों में अनुशासन, वफादारी आदि की कमी एवं फूट को मिटाने और सम्बन्धों को सुधारने में होती है। जो मन्त्री इस परीक्षा में फेल हो जाता है, वह अयोग्य एवं असफल मन्त्री है। नीतिकार कहते हैं—

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सान्निपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"मन्त्रियों की प्रज्ञा टूटे हुए सम्बन्धों को सुधारने या परस्पर मेल कराने के कार्य में, और वैद्यों की प्रज्ञा रोगी को सन्निपात (त्रिदोष) हो जाए तब अभिव्यक्त होती है, वैसे तो बैठा-ठाला कौन अपने को पण्डित नहीं मानता ?"

अगर मन्त्री केवल ठकुरसुहाती कहता हो, मुँह पर ही मीठा हो, राजा एवं राज्य का हित नहीं सोचता हो, सच्ची वस्तुस्थिति शासक के सामने प्रस्तुत नहीं करता हो, वह मन्त्री भी शासन-हितैषी नहीं है। नीतिकार कहते हैं—

पृष्टो ब्रूते न सत्यं यः परिणामे सुखावहम्।
मंत्री चेत् प्रियवक्ता स्यात् केवलं स रिपुः स्मृतः॥

"जो मन्त्री शासक के पूछने पर सत्य-सत्य नहीं कहता, जो कि परिणाम में सुखावह हो, किन्तु केवल प्रिय और मधुर बोलता है, ठकुरसुहाती बातें करता हो, वह मन्त्री शासन और शासक का शत्रु कहा गया है। केवल मीठा बोलने वाला राज्य और राजा का बहुत बड़ा अहित कर देता है।"

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

मन्त्री गुरु अरु वैद्य जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज, धर्म, तन, तीन कर होइ बेगहीं नास॥

मन्त्री, धर्मगुरु और वैद्य इन तीनों पर बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। ये अगर अपनी जिम्मेवारी छोड़कर केवल मीठी और ठकुरसुहाती बातें कहें तो तीनों क्रमशः तीन चीजों का शीघ्र नाश कर बैठते हैं। मन्त्री अगर राजा के साथ सिर्फ प्रिय बोले तो राज्य का, गुरु अपने भक्तों को ठकुरसुहाती कहे तो धर्म का एवं वैद्य अपने रोगी को उसकी रुचि के अनुकूल ही बात कहे तो शरीर का नाश कर देगा।

इसी प्रकार जो मन्त्री राजा के प्रति अनुकूल न हो, ऊपर-ऊपर से चापलूसी करता हो, अन्दर से राजा के प्रति उसके मन में द्वेष या घृणा हो तो वह भी अयोग्य मन्त्री है। मन्त्री के कुछ दोष नीतिकारों ने इस प्रकार बताए हैं—

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरिवर्तोऽनुरोधनम्,
उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमात्यस्य दूषणम्।
मूर्खं व्यसिनं लुब्धमप्रगल्भं भयाकुलम्,
क्रूरमन्यायकर्त्तारं नाधिपत्ये नियोजयेत्॥

"जो मन्त्री राज्य के कर रूप में प्राप्त अर्थ को स्वयं हड़प जाता हो, अथवा जनता से रिश्वत के रूप में अर्थ ग्रहण करता हो, राज्य द्रव्य में गोलमाल करता हो, लोगों की खुशामद या चापलूसी करता हो, शासक या शासन के प्रति जिसकी उपेक्षा हो, जो बुद्धिहीन हो, विषय-भोगों में आसक्त रहता हो, वह मन्त्री दोषयुक्त है। राजा को चाहिए कि मूर्ख, दुर्व्यसनी, लोभी, ढीठ, डरपोक, क्रूर, अन्यायी व्यक्ति को मन्त्रीपद पर नियुक्त न करे।

आपने देखा कि मन्त्रीपद कितना उत्तरदायित्वपूर्ण पद है। ऐसे पद का दुरुपयोग करने वाला मूर्ख मन्त्री शासन का सत्यानाश कर बैठता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान युग के मन्त्री

वर्तमान लोकतन्त्री शासन प्रणाली में मन्त्री का चुनाव जनता करती है, परन्तु जनता अगर ऐसे दोषयुक्त मन्त्री का निर्वाचन करती है तो उसका दुष्परिणाम उसे ही भोगना पड़ता है। प्रायः वर्तमानयुगीन मन्त्री राष्ट्र, शासन और जनता-जनार्दन के प्रति वफादार नहीं रहते, वे अपनी कुर्सी मजबूत करने में और तिकड़मबाजी करने लगे रहते हैं। ऐसे निर्वाचित मन्त्रियों पर जब तक जनता और जन-सेवकों के नैतिक संगठनों का अंकुश नहीं होगा, तब तक इनका सही राह पर चलना कठिन है।

मन्त्री की शोभा : स्थिर बुद्धिमत्ता

महर्षि गौतम को इसीलिए इस जीवन सूत्र के द्वारा कहना पड़ा कि मन्त्री सुस्थिर बुद्धि से युक्त, योग्य और राष्ट्र एवं शासक के प्रति वफादार होगा, तभी धर्मशासन तेजस्वी बन सकेगा। नीति और धर्म की दृष्टि से मन्त्री का सुस्थिर बुद्धि से युक्त होना आवश्यक है, इसी में उसके जीवन की शोभा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५७

पतिव्रता लज्जायुक्त सोहती

धर्मप्रेमी बन्धुओ,

आज मैं आपके समक्ष महिलाओं से सम्बन्धित जीवन पर चर्चा करूँगा। भारतीय संस्कृति में विवाहित महिला को अपना जीवन पवित्र और आदर्श रखने के सम्बन्ध में बहुत जोर दिया गया है। उसका कारण यह है कि महिला के जीवन पर उसकी सन्तान का जीवन निर्भर है। अगर महिला (माता) का जीवन पवित्र, सुसंस्कारी, धर्मिष्ठ न रहा तो उसकी सन्तान का जीवन भी पवित्र, सुसंस्कारी और धर्मिष्ठ नहीं रह सकेगा, क्योंकि माता के अच्छे-बुरे संस्कारों का प्रभाव उसकी सन्तान पर पड़ता है। इसलिए राष्ट्र को अगर पवित्र, धर्मात्मा, सुसंस्कारी, सच्चरित्र मानव चाहिए तो उनकी माताओं को पवित्र, धर्मात्मा, सुसंस्कारी, सच्चरित्र एवं पतिव्रता रहना परम आवश्यक है।

इसी दृष्टिकोण से महर्षि गौतम ने यहाँ एकपतिनिष्ठ पतिव्रता महिला के जीवन की शोभा के सम्बन्ध में बताया है। गौतमकुलक का यह छियालीसवाँ जीवन सूत्र है, वह इस प्रकार है—

"लज्जाजुओ सोहइ एकपत्ती।"

"एकपतिनिष्ठा—पतिव्रता लज्जायुक्त ही सोहती है।"

हम इसके विविध पहलुओं पर बारीकी से विचार करें।

पतिव्रता और पतिव्रत-धर्म की महिमा

भारतीय धर्मग्रन्थों में पतिव्रतधर्म की महिमा का मुक्तकण्ठ से वर्णन किया गया है। भारतीय इतिहास भी नारियों के पतिव्रत धर्म और उनके जाज्वल्यमान चरित्र से भरा पड़ा है। एक नहीं; अनेकों ऐसी कथाएँ हैं, जिनका सारांश यह रहा है कि पतिव्रता नारियों की अलौकिक शीलनिष्ठा के समक्ष बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, महात्माओं और देवताओं को भी झुकना पड़ा है। वैदिक धर्मग्रन्थों में तो यहाँ तक बता दिया है कि पतिपरायणा नारी योगी, यति, सन्त-संन्यासियों से भी उत्तमगति को सहज ही प्राप्त कर लेती है। बल्कि पतिभक्ता नारी को साक्षात् गृहलक्ष्मी या देवी माना गया है। देखिये वैदिक धर्मग्रन्थ का एक प्रमाण—

नित्यं स्नाता सुगन्धा च, नित्यं च प्रियवादिनी।
अल्पभुङ्मितवक्त्री च, देवता सा न मानुषी॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"जो नित्य पवित्र है, गुणों की सौरभ से सुगन्धित है, नित्य प्रियभाषिणी है, अल्पाहार करती है, बहुत ही नपा-तुला बोलती है, वह नारी मानुषी नहीं, देवी है।"

पश्चिम के महान् विचारक जेरेमी टेलर (Jeremy Taylor) भी श्रेष्ठ पत्नी के सम्बन्ध में यही बात कहते हैं—

"A good wife is heaven's last best gift to man —his gem of many virtues, his casket of jewels, her voice is sweet music, her smiles his brightest day, her kiss the guardian of his innocence, her arms the pale of his safety, her industry his surest wealth, her economy his safest steward, her lips his faithful counsellors, her bosom the softest pillow of his cares."

"एक अच्छी धर्मपत्नी पुरुष के लिए स्वर्ग की अन्तिम श्रेष्ठ भेंट है, वह अनेक गुणों की मणि (रत्न) है, वह उसके गुणरत्नों की पिटारी है, उसकी वाणी मधुर संगीत है, उसका हास्य पुरुष का सबसे शानदार दिन है, उसका चुम्बन उसके निर्दोष बच्चों का संरक्षक है, उसकी भुजाएँ उसकी सुरक्षा की सीमा है, उसकी मेहनत पुरुष की निश्चित सम्पत्ति है, उसकी आर्थिक बचत सबसे सुरक्षित सेवा है, उसके ओठ पुरुष के प्रति वफादारीपूर्वक परामर्शदाता हैं, उसका हृदय पुरुष की देखभाल करने वाला सबसे मुलायम सिरहाना है।"

कितनी तथ्यपूर्ण बात कह दी है, पाश्चात्य विचारक ने। वास्तव में पतिव्रता नारी का जीवन पति के प्रति समर्पित जीवन होता है। वह पति की आन, बान और शान में रत्तीभर भी आँच नहीं आने देती। पातिव्रत्य के आदर्श को जीवित रखने के लिए भारतीय महिलाओं ने हँसते-हँसते धधकती आग में अपने शरीर को झोंक दिया है। मर्मान्तिक कष्ट सहकर भी उन देवियों ने पतिव्रत धर्म की भावनाओं को सुरक्षित रखा है। पतिव्रताधर्म की रक्षा के लिए चित्तौड़ की पद्मिनी आदि रानियों ने जौहर करके जो अपूर्व बलिदान का परिचय दिया है, उसकी महिमा किन शब्दों में कही जाये? अभी भी स्थान-स्थान पर यत्र-तत्र सतियों के स्मारक और मन्दिर देखने को मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि भारतीय नारी ने प्राचीन काल में पतिव्रतधर्म के अपने आदर्श की रक्षा कितना अधिक मूल्य चुकाकर की है?

इससे भी प्राचीनकाल में महारानी तारामती ने सत्य-हरिश्चन्द्र के साथ, दमयन्ती ने नल राजा के साथ, महासती सीता ने श्रीराम के साथ संकट के समय में समभाव से कष्ट सहकर अपने अद्भुत त्याग और प्रेम का—वस्तुतः पतिव्रतधर्म का परिचय दिया है।

वैदिक पुराणों में प्राचीन पतिव्रता सतियों के अनेक आख्यान मिलते हैं। मन्त्र-द्रष्टा अपाला ने अपनी शक्ति से मरुत्गणों का आह्वान कर सोमरस का पान किया, सती अनुसूया के आँगन में ब्रह्मा, विष्णु, महेश बालक बनकर खेले, सावित्री ने यम को अपनी शीलशक्ति से सत्यवान की आयुष्यवृद्धि के लिए बाध्य कर दिया, शाण्डिली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने सूर्यदेव का रथ रोक लिया, सुकन्या की पतिनिष्ठा से तुष्ट होकर अश्विनीकुमारों को पृथ्वी पर आकर च्यवनऋषि की वृद्धावस्था को यौवन में बदलना पड़ा।

गान्धारी ने धृतराष्ट्र की पत्नी होने के बाद अनुभव किया कि पतिदेव अन्धे हैं, वे आँखों का सुख नहीं पा सकते। अतः अन्धे पति से अपनी स्थिति अच्छी रहने की अनिच्छुक गान्धारी ने आँखों में आजीवन पट्टी बाँधे रहने का व्रत लिया और उसे आजीवन निभाया भी। यह था भारतीय पतिव्रता नारियों का आदर्श चरित्र! यहाँ की मातृशक्ति के सामने पुरुषवर्ग को अनेक बार नतमस्तक होना पड़ा।

जैन इतिहास में प्रसिद्ध सोलह सतियों का नाम कौन नहीं जानता? इनमें से कुछ बाल-ब्रह्मचारिणी थीं, बाकी अधिकांश विवाहिता, पतिपरायणा सती थीं।

भारतीय नारी के हृदय में यही भाव रहा है, रहता है कि मैं अपने आपको पूर्णरूप से पति में मिला दूँ। वह सोचती है कि जिस सुख को पति नहीं भोग सकते, उसे मैं क्यों भोगूँ? यही भारतीय नारी का पातिव्रत्य है, यही उसकी कठोरतम साधना है।

राम की आज्ञा से लक्ष्मण जब सीता को वन में छोड़कर लौटने लगे तो दुःख से व्यथित सीता ने कहा—"लक्ष्मण! अपने राजा से कह देना कि क्या मुझ निरपराधिनी को इस प्रकार त्याग देना ही तुम्हें शोभा देता है? क्या तुम्हारे वंश की यही रीति है? अग्नि-परीक्षा द्वारा शुद्ध प्रमाणित स्त्री को वन में छोड़ देना, किस शास्त्र में लिखा है?" उस अवस्था में भी राम के प्रति सीता के मन में कोई दुर्भाव पैदा नहीं हुआ। महासती सीता ने अपना दृढ़ संकल्प सुनाया, जो भारतीय नारी के सच्चे पतिप्रेम, शील और सौजन्य का सर्वोत्तम प्रमाण है—

साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥[1]

"मैं प्रसूति से छुटकारा पाते ही, सूर्य बिम्ब की ओर एकटक दृष्टि लगाकर ऐसा घोर तप करूँगी, जिससे अगले जन्म में भी तुम्हीं पति के रूप में प्राप्त होओ। इस जन्म की भाँति, फिर कभी तुमसे मेरा वियोग न हो।"

भारतीय पतिव्रता नारी दुःख और कष्ट में होने पर कभी अपने पति या ससुराल की निन्दा नहीं करती, वह सदैव प्रसन्नता और सन्तोष के साथ अपना जीवन-यापन करती रहती है, पति के सुख में ही, उसका सुख है, पति के दुःख में, वह अपने को पति से अधिक सुखी बनाने का प्रयत्न नहीं करती। हाँ, वह पति की चिन्ता, आधि-व्याधि, और विपत्ति को दूर करने, उसके मन को इनसे मुक्त करने का भरसक प्रयत्न करती है। यही उसकी आजीवन योग-साधना है। इसीलिए एक भारतीय विचारक कहता है—

---

१ रघुवंश सर्ग १४/६।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम्॥

"ऐसी पतिनिष्ठा नारियाँ इनी-गिनी हैं, जो अपने सतीत्व से, महानता से, चरित्र से, विनय और विवेक से इस धरातल को विभूषित करती हैं।"

पतिव्रता नारी के प्रत्येक कार्य में आत्म-विसर्जन की भावना रहती है। वह केवल अपने सुख का ध्यान रखने वाली स्वार्थिनी नहीं, अपि स्वयं दुःख सहकर भी दूसरों के सुख का ध्यान रखती है। घर में वह रमणी बनकर नहीं, कुलवधू बनकर, सारे कुल के पालन-पोषण का व्रत लेकर आती है, स्वयं कष्ट उठाकर भी घर के सभी प्राणियों के सुख-दुःख का ध्यान रखती है।

राजा मान्धाता की ५० कन्याएँ सौभरी प्रिय को ब्याही थीं। एक बार राजा अपनी कन्याओं का हालचाल जानने के लिए सौभरी के निवासस्थान पर पहुँचे। उन्होंने एक-एक कन्या से अलग-अलग मिलकर पूछा—"बेटी! तुम्हें यहाँ कोई कष्ट तो नहीं है? पितृगृह की याद आती है या नहीं?"

प्रत्येक लड़की ने प्रायः यही उत्तर दिया—"पिताजी! आपके आशीर्वाद से मैं सकुशल हूँ। फिर भी अपनी जन्मभूमि की याद किसे नहीं आती? हाँ, मुझे एक ही दुःख है कि पतिदेव अधिक समय मेरे पास ही बिताते हैं, जिससे मेरी अन्य बहनों को कष्ट होता है। यही मेरे दुःख का कारण है।"

भारतीय नारी के आत्म-त्याग का यह एक सुन्दर उदाहरण है। आप कहेंगे, ये तो अतीत की बातें हैं, आज कहाँ ऐसे उदाहरण मिलते हैं? दीपक की ज्योति भले ही मन्द हो गई हो, किन्तु उसका प्रकाश आज भी घर-घर में मौजूद है। आज भारत में पश्चिम के अन्धानुकरण के कारण भले ही भारतीय नारियों की उज्ज्वल तस्वीर धुंधली हो चली हो, लेकिन आज भी पूर्वज सती-साध्वियों के प्रताप से वह मशाल बुझी नहीं है, जो सहस्रों ही नहीं, कुछ ही दशकों पूर्व उन सन्नारियों ने त्याग-बलिदान की आहुति देकर प्रज्वलित की थी, जिनके इतिहास से भारतीय संस्कृति का इतिहास विश्व के उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति चमक रहा है।

भारतीय नारियाँ सच्चरित्र और पतिपरायणा हों, इस बात की आवश्यकता पहले भी थी, आज भी है। समाज को अगर शिष्य के रूप में माना जाये तो पतिव्रता एवं सच्चरित्रा नारी को उसके गुरु के रूप में मानना चाहिए। पतिव्रता सती-साध्वी सुशीलवती नारी पुरुष को संस्कृति के अनुरूप शिक्षा, दीक्षा और संस्कार देने में सक्षम है। वह प्राण, संकल्प, मनोबल और उन्नत श्रेयस्कर विचार देने में समर्थ है। वह जिस साँचे में ढालना चाहे, पुरुष को ढाल सकती है। इस दृष्टि से समाज की वह निर्मात्री है। परन्तु इस समाज-निर्माण कार्य में प्रमुख वस्तु उसकी समर्पण वृत्ति, सेवा-भावना, वत्सलता और सच्चरित्रता है। ये ही प्रमुख सद्गुण पतिव्रता नारी को पूजनीय उच्च और गुरु के स्थान पर पहुँचाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पतिव्रत धर्म : एक समर्पण योग साधना

जैसे भगवान की भक्ति करने वाला भक्त उनके प्रति अपना समर्पण कर देता है, तो वह अपने 'अहं' को समाप्त कर देता है, परमात्मा का स्नेह, साहचर्य एवं सान्निध्य प्राप्त करने के लिए। अपनी सारी कामनाओं, वासनाओं, मन-वचन-काया की सावद्य वृत्ति-प्रवृत्तियों को **'अप्पाणं वोसिरामि'** कहकर आत्म-व्युत्सर्ग कर देता है, अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में सौंपकर वह केवल कर्तव्य और दायित्व के पालन में सुखानुभव करता है।

वैष्णव भक्ति की भाषा में कहूँ तो, भक्त अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं का परित्याग करके भगवान की इच्छा को ही अपनी इच्छा बना लेता है। इस प्रकार द्वैत को मिटाने और अद्वैत की स्थिति प्राप्त करने का साधन बन जाता है। तृष्णा, अहंता, कामना, स्वार्थ, लोभ, मोह, मान और कपट की परिसमाप्ति आत्म-समर्पण या जैन परिभाषा में आत्मव्युत्सर्जन के साथ ही हो जाती है और भक्त को वह उच्च मनोभूमिका सहज ही प्राप्त हो जाती है। भगवद्गीता में आत्मसमर्पण योग को साधना-पथ का मुकुटमणि कहा है। योगी अरविंद तथा अन्य अनेक तत्त्वज्ञानियों ने इसी माध्यम से आत्मा का उच्च विकास सम्पादन किया है।

महाव्रतों, अणुव्रतों की या योग की साधना के प्रथम चरण में, जबकि देवाधिदेव वीतराग प्रभु प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं होते तो साधक गुरु पर अपनी भावनाएँ आरोपित करके उन्हें भगवान् (देव) के रूप में मानता-पूजता एवं उपासना करता है,[1] तो उसे देवाधिदेव (भगवान् की) उपासना का लाभ बहुत कुछ अंशों में प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार पतिव्रता नारियाँ अपने पति को देव (या वैष्णव दृष्टि से भगवान्) मानकर इसी आत्मसमर्पण की भावना का विस्तार करती है तो गुरु या देव की उपासना के-से सत्परिणाम उसके जीवन में उतरते हैं। इस प्रकार पतिदेव के प्रति जब वे उसी श्रद्धा-विश्वास का आरोपण करके उस आत्मसमर्पण की साधना करती हैं तो वह योग-साधना से कम नहीं होती। उस पवित्र भावना की प्रतिध्वनि भी प्रायः उसी रूप में टकराकर वापिस लौटती है। आत्मिक सुख, सन्तोष, शान्ति और आत्मतृप्ति की प्राप्ति उसे शीघ्र ही होती है, भगवद्भक्ति का-सा अनुग्रह भी, पतिदेव की भक्ति से प्रायः प्राप्त हो जाता है। पतिव्रत धर्म के पालन के पीछे विशेषतः यही प्रयोजन प्रतीत होता है। इसी धर्म के पालन की प्रतिक्रिया स्वरूप परिवार में पारस्परिक प्रेम, आनन्द, सुख, सन्तोष, त्याग भावना, बालक निर्माण एवं समाज की सुव्यवस्था का वातावरण बनता है। ये ही सद्गति के आधार हैं, इसी से समाज में चरित्रनिष्ठा बढ़ती है।

---

१ देखिये गुरुवन्दन के पाठ में—'**कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं पज्जुवासामि** ...' हे गुरुदेव ! आप कल्याणरूप, मंगलरूप हो, आप देवरूप हो, ज्ञानरूप हो, या चैत्यरूप हो, मैं आपकी पर्युपासना करता हूँ। —सं०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष यह है कि जैसे योगसाधना के प्राथमिक चरण में गुरु को आत्म-समर्पण करके शिष्य भगवत्परायणता का अभ्यास करता है, जब उसमें निष्ठा सुदृढ़ हो जाती है, तब उसी के विकसित रूप—परमात्मा में आत्मा का लय कर देने—'अप्पाणं वोसिरामि' कर देने का निमित्त बन जाता है, वैसे ही पतिव्रत धर्मसाधना में पति को देव का रूप मानकर उसके माध्यम से आत्मसमर्पण-आत्मलय-आत्म-व्युत्सर्जन का अभ्यास करके आगे बढ़ा जा सकता है। इसलिए इसे गृहस्थ-जीवन में योगसाधना का एक पूर्व रूप कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। राजस्थान की महान भक्ता सन्नारी मीरा ने तो श्रीकृष्ण को ही अपना आध्यात्मिक स्वामी मानकर अपना संपूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था।

पतिव्रता का आदर्श : पति के दोष न देखना, न सुनना

इसी विचार से भारतीय नारियाँ पतिव्रतधर्म को कल्याण की, पुण्य की भावना मानकर उसे अपनाती रही हैं। पति की दुर्बलताओं और त्रुटियों की ओर उसने उपेक्षा ही की है। अच्छी भावनाओं की उत्कृष्टता तभी बनी रह सकती है, जब साधक-साधिका अपने इष्ट के दोष, दुर्गुण एवं दुर्बलताओं की उपेक्षा करता हुआ अपने कर्तव्य एवं सद्भाव में जरा भी कमी न आने दे। पतिव्रता इसी भव्य मार्ग का अनुसरण करती है। इसीलिए समर्पण योगयुक्ता पतिव्रता का आदर्श इन शब्दों में बताया गया है—

पतिप्रिया, पतिप्राणा, पतिप्रियहितेरता।
यस्य स्यादीदृशी भार्या, धन्यः स पुरुषो भुवि॥

"पति ही जिसे प्रिय है, पति के लिए जो प्राणार्पण करती है, पति के प्रिय हित में जो रत रहती है, जिसके घर में ऐसी पत्नी हो, वह पुरुष संसार में धन्य है।"

एक नववधू का पति परदेश गया हुआ था। घर आई हुई ननद अपने भाई के कुछ दोष अपनी भाभी के सामने निकालने लगी। नववधू सबके साथ हिल-मिलकर रहती और प्रेम से बात करती थी; परन्तु अपने पति के दोष प्रगट करती हुई ननद से बोली—"आप अपने भाई की निन्दा मेरे सामने न किया करें, मैं उनके दोष बिलकुल नहीं सुनना चाहती, क्योंकि कैसे भी हों, मेरे लिए तो वे पूज्य हैं।"

इससे ननद को बुरा लगा। वह बोली—"मैं भाई के दुर्गुण कहूँ, इसमें तुम्हें क्या? हम भाई-बहन वर्षों तक साथ-साथ रहे हैं, बड़े हुए हैं, एक माता-पिता के बालक हैं; इसलिए हम एक-दूसरे के विषय में कुछ भी कहें तुम प्रतिबन्ध लगाने वाली कौन? तुम तो कल-परसों घर में आई और हुक्म चलाने वाली मालकिन भी बन गयीं।"

इस पर बहू ने नम्रतापूर्वक कहा—"बहन! इसमें आपके नाराज होने की कोई बात नहीं। आपको तो यहाँ अपने भाई के पास थोड़े ही दिन रहना है, मगर मुझे तो यहीं रहकर आपके भाई के साथ सारी जिन्दगी बितानी है। इसलिए उनके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोषों की चर्चा मेरे सामने न करें। मैं सदा अपने पति के गुणों को ही देखना-सुनना चाहती हूँ।"

यह सुनकर ननद चुप हो गई।

पतिव्रता का पति के साथ सम्बन्ध आत्मा का है

भारतीय धर्मग्रन्थों के अनुसार इस देश में पति-पत्नी का सम्बन्ध आत्मा से आत्मा का सम्बन्ध माना गया है। दोनों का केवल शारीरिक सम्बन्ध ही माना जाए तो उससे काम, कामना, स्वार्थ, मोह, राग-द्वेष आदि विकार ही अधिक प्रादुर्भूत होंगे। पतिव्रता पति को अपना सर्वस्व समर्पण करती है, उसके पीछे यही भावना रही हुई है कि पति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध बँध गया है। वह केवल शारीरिक सम्बन्ध ही होता तो पति के मरने के बाद शरीर के खत्म होते ही उस सम्बन्ध को खत्म कर देती, पति की आत्मा की शान्ति के लिए वह (पत्नी) कुछ भी न करती, अथवा पति के ब्रह्मचर्यव्रत या साधु दीक्षा ले लेने पर शरीर सम्बन्ध खत्म कर देती; परन्तु भारतीय नारी तो ऐसा कदापि नहीं सोच सकती।

यही कारण है कि महासती राजीमती ने तीर्थंकर अरिष्टनेमि द्वारा मुनि-दीक्षा का पथ अंगीकार कर लेने के बाद उनके साथ विवाह न होने की स्थिति में पति द्वारा अंगीकृत आध्यात्मिक पथ को ही अंगीकार कर लिया था। जैन इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि पति के जीते-जी या पति की मृत्यु के बाद अथवा पति द्वारा मुनिजीवन अंगीकार करने की स्थिति में पत्नी ने भी दीक्षा अंगीकार कर अपने आत्मिक सम्बन्धों निभाया है।

इसके ठोस प्रमाण हमें भारतीय नारी के जीवन में मिलते हैं, चाहे वर्तमान युग की भारतीय नारी इस विषय में पिछड़ गई हो, फिर भी यहाँ पतिव्रत धर्म एक प्रकार की उच्चस्तरीय भाव साधना रही है, जिससे नारी का आत्मबल उद्दीप्त होता है, उसमें आत्मिक गुणों का आविर्भाव होता और कर्तव्य पालन की दृढ़ता आती है। आत्मिक सम्बन्धों की पूर्णता के लिए पतिव्रता नारी सौन्दर्य, अंग सौष्ठव, लक्ष्मी, सुख-सुविधाएँ, भोग साधन आदि सबको गौण मानती आई है।

इसीलिये यहाँ के दाम्पत्य जीवन में सरसता पाई जाती है, क्योंकि उसके साथ आत्मीय सम्बन्ध की विशिष्ट भावनाएँ जुड़ी हुई हैं। इन्हीं के सहारे पतिव्रत धर्म का निर्वाह भी सुखरूप हो गया है, उसमें भौतिक कारण प्रतिबन्ध नहीं डाल पाते। इसीलिए पतिव्रता नारी के विषय में कहा गया है—

पंगुमन्धं च कुब्जं च कुष्टांगं व्याधिपीड़ितम्।
आपत्सु च गतं नाथं, न त्येजत् सा महासती॥

"वह पतिव्रता महासती पंगु, अन्धे, कुबड़े, कोढ़ से ग्रस्त तथा व्याधि से पीड़ित या आफतों में पड़े हुए अपने पति को नहीं छोड़ती, वह निरन्तर अम्लान भाव से उसकी सेवा करती है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पतिव्रता स्त्री का पति के साथ केवल शारीरिक सम्बन्ध ही होता तो वह अपाहिज, रोगी, दुर्व्यसनी, कोढ़ी या आपद्ग्रस्त पति को कभी की तलाक दे देती, वह उसकी सेवा भी करती तो बेगार समझकर बिना मन से, लोकलज्जा से करती; परन्तु प्रायः कुलीन और पतिव्रता भारतीय महिला ऐसा नहीं करती। वह अपने पति की अंगविकलता, व्याधि, कुष्टरोग या संकटग्रस्तता आदि या अन्य दोषों की ओर नहीं देखती, वह तो पति की विशुद्ध आत्मा को देखती है, पति की सेवा वह विशुद्ध आत्मा समझकर करती है।

सौराष्ट्र में बालम्भा की एक पतिव्रता नारी की घटना हमारी आँखें खोल देती है। उसका पति शादी होने के कुछ अर्से बाद ही लकवे से पीड़ित हो गया। अब वह न तो स्वयं उठ-बैठ सकता था, न ही खुद शौच निवारण कर सकता था, आजीविका के लिए पुरुषार्थ करना तो दूर रहा, बैठे-बैठे भी कोई काम कर न सकता था। उसकी धर्मपत्नी ने अपने पर धर्मसंकट देखकर जरा भी मुख म्लान न किया। उसने साहस के साथ इस संकट का सामना करने का विचार किया। वह प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्वयं आटा पीस लेती, तत्पश्चात् भैंस दुहकर उसका दूध बेच देती। पति को स्वयं उठाती-बैठाती, स्वयं शौच करवाती, स्वयं उसका शरीर साफ करती, तत्पश्चात् भोजन बनाकर स्वयं उसके मुँह में कौर देती।

इस प्रकार एक-दो महीने नहीं, एक-दो वर्ष नहीं, सोलह-सोलह साल तक उसने नाक भौं सिकोड़े बिना, प्रसन्नचित्त से, प्रसन्नमुख से, अम्लान भाव से अपने बीमार एवं असहाय (पराश्रित बने हुए) पति की सेवा-शुश्रूषा की। यद्यपि यह बहन पढ़ी-लिखी नहीं थी, किन्तु भारतीय पतिव्रताओं के गाढ़ संस्कार उसकी रग-रग में रमे हुए थे। कभी उसने अपने पति के विषय में शिकायत नहीं की, न स्वयं कहकर किसी से सहायता माँगी।

इस प्रकार कई भारतीय नारियों के त्याग और सेवा के उदाहरण मिलते हैं।

पति के साथ अभिन्नता के कारण संघर्ष नहीं

पतिव्रता नारी जब पति को अपना सर्वस्व मानकर उसकी इच्छानुगामी बन जाती है, आत्म-समर्पण के कारण पति के साथ अपनी अभिन्नता स्थापित कर लेती है तो फिर उसके लिए संघर्ष की गुंजाइश नहीं रहती।

प्रायः पति-पत्नी में परस्पर रुचिभेद, विचारभेद, सम्प्रदायभेद, संस्कारभेद, एवं आचारभेद आदि को लेकर संघर्ष हुआ करता है। संक्षेप में कहूँ तो जब भिन्नता होती है, तब संघर्ष होता है, खासकर मन में भिन्नता होती है तब। एक की राह पूर्व की और दूसरे की पश्चिम की होती है, तभी मनमुटाव का अवसर आता है। परन्तु पतिव्रता तो इस भिन्नता की रस्सी को पहले से ही काट देती है। पति की रुचि ही उसकी रुचि, पति का व्रत, अणुव्रत या अहिंसादि धर्म ही उसका व्रत, अणुव्रत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या अहिंसादि धर्म है, पति की सुराह ही उसकी सुराह है। किसी तरह पतिव्रता की ओर से पति के अहंकार को चोट पहुँचाई जाए, तभी संघर्ष होता है, परन्तु पतिव्रता पहले से ही नम्र, निरभिमानिनी, दासीवत् बनकर अपने आपको पति में विलीन कर देती है, अपना अहं पहले से ही काट कर फेंक दिया, तब अहंकार करने की गुंजाइश ही कहाँ रही ?

पतिव्रता जब पति की इच्छानुगामिनी बनकर जब अपने पति को आत्मिक विकास का, आत्मिक प्रगति का तथा आत्म-समर्पण-साधना का माध्यम समझती हुई एक भावुक और निरहंकारी नम्र भक्ता की भूमिका में उतरती है, तब वह अनायास ही आत्मकल्याण का लक्ष्य हस्तगत कर लेती है। इसलिए पतिव्रतधर्म के पालन में आत्मिक प्रगति के साथ-साथ लौकिक प्रगति की असंख्य सम्भावनाएँ रही हुई हैं।

पति-पत्नी दोनों में संघर्ष न होने से, या अभिन्नता होने से घर में कभी अशान्ति नहीं होती, भौतिक और आध्यात्मिक श्री की वृद्धि होती है, दोनों का शरीर स्वस्थ एवं सुपुष्ट रहता है, दोनों का स्वभाव नम्र, मृदु और एक-दूसरे के लिए सहयोग एवं सेवा का आदान-प्रदान का रहता है। अनेक धर्मकार्य, परोपकार और दान-पुण्य के कार्य उनके द्वारा होते रहते हैं। शरीर को केवल विषय-भोग का साधन न समझकर, इसे ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा आदि धर्म का पालन करने में दोनों लगाते हैं, या देशसेवा, समाजसेवा आदि सत्कार्यों में लगाते हैं। परन्तु इन सब में प्राथमिकता पतिव्रतधर्म का पालन करने की तीव्र उत्कण्ठा वाली सन्नारी में होती है। वह धर्म का मर्म समझती है, वही इन सत्कार्यों की पहल करती है, और पति को भी सत्कार्यों के लिए प्रेरित करती है। पतिव्रता स्त्री का यह दायित्व और कर्त्तव्य भी होता है कि वह भोग की पुतली बनकर पति को विषय-भोग की ओर न खींचे, बल्कि स्वयं त्याग, वैराग्य एवं धर्म का मार्ग अपनाकर मोहग्रस्त पति का मोह दूर करके उसे भी विषयभोगों से विरत करे।

हालाँकि पति की आत्म-सेवा का यह मार्ग बड़ा ही कठिन है। पति की इच्छाओं की अनुगामिनी बनी हुई पतिव्रता नारी कई बार भ्रम में भी पड़ जाती है। वह स्वयं यह सोच लेती है कि पति की इच्छा अगर धर्मानुप्राणित नहीं है, गलत है, उत्पथ पर जाने की है तो मुझे भी उसके पीछे चलना चाहिए, परन्तु यह पतिव्रता की गहरी भ्रान्ति है। पतिव्रता का यह अर्थ नहीं है कि पति की धर्मविरुद्ध, धर्म-मर्यादा के खिलाफ, अनैतिक एवं आत्मा के लिए पतनकारिणी इच्छाओं की पूर्ति करे या उनका स्वयं अनुगमन करे। यहाँ मूल शब्द पतिव्रता है, पतिमता नहीं। पतिव्रता शब्द की गहराई में जाकर वह नारी सोचे तो यह भ्रान्ति दूर हो सकती है। पति+व्रता का रहस्यार्थ होता है, पति का जो व्रत-नियम-धर्म आदि है, तदनुसार ही पत्नी का हो, उसका विरोध करने वाला न हो। जैसा कि तुलसीकृत रामायण में बताया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक ही धर्म एक व्रत-नेमा। काय-वचन मन पतिपद-प्रेमा॥
जगपति व्रताचार विधि अहहीं। वेद पुराण सन्त सब कहहीं॥

भावार्थ स्पष्ट है।

परन्तु पतिमता का धर्म होता है—पति का माना हुआ, मनमाना जो काम है, वह चाहे बुरा ही हो, उसे ही मानने वाली। किन्तु भारतीय नारी पतिव्रता है, पतिमता नहीं; इसीलिए उसे धर्मपत्नी तथा धर्म-सहायिका पद दिया गया है। मैं एक पौराणिक उदाहरण द्वारा पतिव्रता का अर्थ आपको समझाता हूँ—

महर्षि अगस्त्य बहुत ही सादगी से जीवन बिताने का त्यागी-सा जीवन-व्रत लिये हुए थे। उनकी पत्नी लोपामुद्रा के शरीर पर गहना एक भी नहीं था। लोपामुद्रा को दूसरी स्त्रियों को हाथ, पैर, नाक, कान आदि में गहने पहने देख मन में आ जाती, कभी कुछ स्त्रियाँ ही उसे उकसा देतीं—"तुम नारी हो, फिर भी आभूषण नहीं।" अतः बहुत मन मसोसकर सकुचाती हुई लोपामुद्रा ने एक दिन ऋषि अगस्त्य से कहा—"पतिदेव! मेरी एक इच्छा है। मेरी अशिष्टता के लिए क्षमा करें तो कुछ कहूँ।"

ऋषि के अनुमति देने पर उसने कहा—"मेरी विचित्र इच्छा है। एक ऋषि की धर्मपत्नी के लिए शायद सोचना भी अप्रिय लगे। बात यह है कि मैं हमउम्र नारियों को देखती हूँ और उनके द्वारा कसे हुए ताने सुनती हूँ, तो मेरी भी इच्छा हो उठती कि मैं भी आभूषण पहनती। अतः कुछ आभूषण होते तो अच्छा रहता।"

गहनों की इस माँग पर ऋषि असमंजस में पड़ गये। सोचने लगे—"मैं एक ऋषि, त्यागी और अपरिग्रहवृत्ति वाला हूँ। एक भी सिक्का मेरे पास नहीं, सांसारिकता से दूर रहता हूँ, फिर आभूषण खरीदने या बनवाने की बात तो विडम्बना है। पर नारी को तो सांसारिक प्रलोभन झकझोरेंगे ही।"

पति को चिन्तातुर देख लोपामुद्रा बोली—"मैंने आपको व्यर्थ ही चिन्ता में डाल दिया, पर क्या करूँ, जो स्त्रियाँ मिलती हैं, वे मुझे आभूषणहीन देखकर व्यंगबाण मारती हैं, इससे तंग आकर आपको कह डाला। ऋषि-पत्नी होते हुए भी सुहागिन की प्रथम आवश्यकता-आभूषण के लिए मैंने आपको कहकर संकट में डाल दिया; क्षमा करें।"

ऋषि को आभूषण बनवाने की चिन्ता सवार हुई। मन ही मन धन याचना करने की योजना बनायी। इतना अधिक धन प्राप्त करने के लिए ऋषि अपने शिष्यों को लेकर राजा श्रुतर्वा के पास पहुँचे। जीवन में पहली बार धन की याचना करने निकले थे। उनका हृदय पवित्र था, सद्भावपूर्वक एक संकल्प किया—"पाप से उपार्जित धन कदापि स्वीकार न करूँगा, सात्त्विक और पवित्र कमाई का धन ही स्वीकार करूँगा।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा श्रुतर्वा ने महर्षि को देखा तो हर्ष का पार न रहा। स्वागत किया, पूछा—"बताइए, गुरुदेव ! क्या सेवा है, आज्ञा दीजिए यह राज्यकोष, राज्य एवं हम सब आपके हैं।"

ऋषि—"मुझे पत्नी के आभूषण बनवाने के लिए धन चाहिए। पर शर्त यह है कि जो धन धर्मपूर्वक उपार्जित हो और उचित कामों में खर्च करने से बचा हो, उसी को मैं ले सकता हूँ।"

राजा बोला—"यह तो बड़ी कठिन शर्त है, गुरुदेव ! फिर भी आप लीजिए जाँच कर स्वयं ही।" ऋषि ने जाँच-पड़ताल की तो उचित कार्यों में खर्च करने को धन इतना ही था, जिसमें से बचत की गुंजाइश ही नहीं थी। अतः उन्होंने राजकोष में से धन लेने से इन्कार कर दिया।

वहाँ से चलकर ऋषि राजा धनस्व के यहाँ पहुँचे। वहाँ भी यही स्थिति थी। इस प्रकार ऋषि कई धनाढ्य शिष्यों के यहाँ गए, लेकिन उनकी शर्त के अनुसार धन कहीं भी न मिला। वे निराश होकर वापिस लौट रहे थे, बिना धन लिए ही। सोच रहे थे कि लोपामुद्रा से क्षमा माँग लूँगा।

संयोगवश रास्ते में इल्वण नामक दैत्य मिला। उसने भी महर्षि को प्रणाम करके सेवा का अवसर देने की प्रार्थना की। इल्वण ने महर्षि की धन लेने की शर्त सुनी तो बोला—"यह स्वर्णमुद्राओं से भरा सन्दूक है, इसे आप देख लीजिए। इसके देने से मेरे कोष में तनिक भी कमी न आएगी।" ऋषि का चेहरा प्रसन्न हो उठा, मन चला। किन्तु जाँच की बात पर इल्वण ने कहा—'जाँच की क्या आवश्यकता है ? मैं आपके चरणों में यह धन सहर्ष भेंट कर रहा हूँ।" इल्वण की आज्ञा से कुछ नौकर ऋषि के आश्रम में वह सन्दूक पहुँचा आए।

ऋषि ने जब इल्वण का हिसाब जाँचा तो अनीतिपूर्वक उपार्जित धन पाया। वे पश्चात्तापयुक्त स्वर में बोले—"मुझ से बड़ी भूल हो गई। तुम्हारे नौकर जो स्वर्णमुद्राएँ ले गए हैं, वे मेरे काम न आएँगी। उन पर पाप की छाया पड़ी है।"

महर्षि अगस्त्य खाली हाथ लौट आए। लोपामुद्रा से सारी आपबीती कह सुनाई और कहा—"इस पाप की कमाई को लेने से हमारे सात्विक जीवन में बड़ी बाधा पहुँचेगी। इसलिए इस अपवित्र धन को लौटाना होगा।"

ऋषिपत्नी लोपामुद्रा पतिव्रता थी। उसने देखा कि इस धन के लेने से पति के व्रतनियम में बहुत बड़ी बाधा आएगी, तब उसने ऋषि से कहा—"पतिदेव ! मैं भूल गई, मुझे तो आपके व्रत, त्याग, नियम का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर था। अतः मुझे अब आभूषण नहीं चाहिए। इस अपवित्र धन से शोभायमान होने की अपेक्षा पवित्रता की रक्षा करते हुए अभावग्रस्त रहना ही उचित है।"

वास्तव में पतिव्रता लोपामुद्रा ने पति के व्रत का औचित्य समझा और तदनुसार सौन्दर्य और शोभा की कामना छोड़कर पतिव्रत धर्म निभाया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह तो हुई सदाचारी और धर्मिष्ठ पति की इच्छानुगामिनी होकर रहने की बात; परन्तु पति कुमार्गगामी हो, वह अपनी इच्छानुसार पत्नी को भी चलाना चाहता हो, उस समय पतिव्रता स्त्री का धर्म क्या है? यह सोचना है। पतिव्रता स्त्रियों के लिए यह समस्या भी कोई बहुत पेचीदा नहीं है। पतिव्रता में अद्भुत बल और शील का अद्भुत तेज होता है। उसके पास प्रेम और त्याग के बहुत बड़े शस्त्र हैं, त्याग और प्रेम के शक्तिशाली शस्त्रों को अपनाकर कोई भी भावनाशील पतिव्रता नारी अपने कुमार्गगामी पति को भी सन्मार्ग पर ला सकती है। प्रेम और त्याग के आत्मीयता भरे सत्याग्रह से कुमार्गगामी पति को सत्य पथ पर लाना कोई कठिन नहीं है। सुधार के लिए कटु संघर्ष अनिवार्य नहीं है।

सिंहल (लंका) द्वीपवर्ती अनुराधपुरवासी एक सेठ की पुत्री 'सिरिमा' के वयस्क होते ही माता-पिता ने उसका विवाह सुमंगल नामक एक व्यापारी के साथ कर दिया। विवाह के बाद सुमंगल व्यापार के हेतु जलयानों में माल भरकर विदेश गया। एक ही वर्ष में उसने प्रचुर धन कमाया। सुमंगल ने अपना व्यापार समेटकर घर लौटने की सूचना दी। सिरिमा को जब पति के आगमन के समाचार मिले तो वह अत्यन्त हर्षित हुई। उसने सारा घर सजाया। पति ने जब घर में प्रवेश किया तो सिरिमा ने उसकी आरती उतारी, प्रसन्नमन से स्वागत किया। किन्तु पति के मुख पर चिन्ता और उदासी देखकर सिरिमा ने उसका कारण पूछा तो सुमंगल ने कहा—"समुद्रतट पर मन्दारमाला नामक एक गणिका से मेरा प्रेम हो गया है।" तभी गणिका की दासी सुमंगल को बुलाने आयी। पतिव्रता सिरिमा ने सारी परिस्थिति समझकर अपने कर्तव्य का निर्णय कर लिया। उसने पति से कहा—"अगर आपका गणिका से प्रेम हो गया है तो मैं आपके मार्ग में बाधक नहीं बनूंगी। खुशी से वहाँ पधारें।" साथ ही गणिका की दासी से कहा—"तुम्हारी स्वामिनी से कहना कि यदि मेरा पति तुम्हें पसंद हो तो अपना व्यवसाय छोड़कर मेरे (पति के) घर में आ जाए उसके लिए मैं भरसक त्याग करने को तैयार हूँ।" ऐसा ही हुआ। सुमंगल ने गणिका से शादी कर ली।

एक दिन एक साधु को खून से लथपथ देखकर सिरिमा ने कारण पूछा तो बताया गया कि यह साधु भिक्षा हेतु गया था तो वहाँ मन्दारमाला ने उसके सिर पर चाँदी का बर्तन दे मारा। सिरिमा ने घर जाकर मन्दारमाला से साधु के सिर पर बर्तन मारने का कारण पूछा तो उसने कहा—"मेरा पति (सुमंगल) कल किसी नयी स्त्री से विवाह करने जा रहा है, इस कारण मैं अपने आपे में न थी।" सिरिमा ने सुना तो उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने पतिव्रतधर्म के नाते मन्दिर में जाकर भगवान से प्रार्थना की कि 'मेरे पति का हृदय बदलें।' शुभ अध्यवसायों के कारण उसके पति ने नये विवाह का विचार त्याग दिया। सिरिमा के पवित्र वचनों ने उसका हृदय परिवर्तन कर दिया। उसने स्वयं संसार से विरक्त होकर बौद्धभिक्षुक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का जीवन स्वीकार कर लिया, सिरिमा ने भी बौद्धभिक्षुणी बनकर पति का अनुसरण किया।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि पति-पत्नी दोनों एक दूसरे के इच्छानुवर्ती, सहगामी बन जाएँ, तो संघर्ष का कोई कारण नहीं रहता। किन्तु दोनों में से पति अगर विरुद्ध हो, उसके साथ मतभेद हो तो संघर्ष किए बिना ही अपनी सद्भावना शक्ति से भी बहुत कुछ समस्या हल हो सकती है।

पति सुधरा हुआ हो, तब तो कहना ही क्या, परन्तु यदि उसका स्तर घटिया हो; विचार, चरित्र एवं व्यवहार की दृष्टि से वह सामान्य पति की स्थिति से भी नीचा हो, बात-बात में कलह और मार-पीट पर उतारू हो जाता हो, शराबी, जुआरी, वेश्यागामी या पर-स्त्रीगामी हो, अनैतिक आचरण करता हो, तो उस स्थिति में भी यदि संतोषी स्वभाव की, कष्टसहिष्णु, परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने वाली, कर्तव्यपरायण, प्रसन्नमुखी एवं विनम्र स्वभाव की पत्नी हो तो वह पारिवारिक कलह एवं संघर्ष को टाल सकती है। परिवार में शान्ति और अमन-चैन बनाये रख सकती है। धन, समृद्धि और अन्य सुख-सुविधाएँ घर में चाहे कितनी ही हों, पति के विपरीत स्वभाव को अपने त्याग-तप से बदलने वाली एवं गृह-शान्ति सुरक्षित रख सकने वाली, पतिभक्ता गृहिणी न हो तो सब कुछ बेकार है। पतिव्रता स्त्री धन, समृद्धि और सुख-साधन न हो, तो भी सन्तोष से शान्तिपूर्वक जीवनयापन कर सकती है।

सन्त कबीर ने कहा—

पतिबरता मैली भली, गले कांच की पोत।
सब सखियन में यों दिपे, ज्यों रवि-ससि की ज्योत॥

जिस घर में ऐसी त्याग, तप और प्रेम की शक्तिवाली देवियाँ रहती हैं, वहाँ सुख-शान्ति को भी विवश होकर रहना पड़ता है।

पतिव्रता पति के धर्म को सुरक्षित रखने वाली

पतिव्रता स्त्री पति को अपने से अभिन्न मानती है, तब वह जिस शुद्ध धर्म के आचरण को अच्छा मानती है, उसके पालन की अपने पति से भी अपेक्षा रखती है। जहाँ तक वश चलता है, वह पति को प्रेम से, त्याग-तप से सन्मार्ग पर लाने की कोशिश करती है।

भरूच के न्यायाधीश का एक प्रसंग है। वे सुबह अपने दीवानखाने में बैठे हुए थे। उनकी धर्मपत्नी भी पास में बैठी कुछ बात कर रही थी कि सहसा एक व्यक्ति फलों की टोकरियाँ तथा मिठाई लेकर आया और ५० हजार के नोटों की गड्डी न्यायाधीश के हाथ में थमाते हुए बोला—"लीजिए साहब ! यह मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए।"

न्यायाधीश जानते थे कि यह किस बात की इतनी बड़ी राशि दे रहा है। न्यायाधीश को यह सब भेंट करके आगंतुक चला गया। अपनी गर्वित मुखमुद्रा से पत्नी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की ओर देखकर न्यायाधीश मुस्कराए। परन्तु पत्नी का चेहरा उदास देखकर वे बोले —"आज सुबह-सुबह इतनी अच्छी कमाई हुई है; फिर भी तुम अप्रसन्न क्यों हो, क्या बात है ?"

न्यायाधीश की पत्नी बोली—"यह व्यक्ति इतने रुपये और यह चीजें किसलिए दे गया है ?"

न्यायाधीश ने कहा—"यह तो मेरी मेहनत से प्रसन्न होकर मुझे दे गया है ?"

पत्नी—"आपने क्या मेहनत की है, जिससे इतने रुपये आपको दे गया ?"

न्यायाधीश—"मैंने उसके दूर के रिश्तेदार को निकट का रिश्तेदार सिद्ध करके मरने के बाद उसकी सारी सम्पत्ति उसे दिलाई है। उसी खुशी में यह मुझे भेंट दे गया है।"

पत्नी—"अगर इसके असली वारिस को आप जिताते और उससे आपको अपने पारिश्रमिक के ५० रुपये भी मिलते तो वे हक के होते। यह रकम तो अनीति से उपार्जित है, हराम की कमाई है। इससे मुझे कोई प्रसन्नता नहीं। आप यह रकम वापस लौटा दीजिए।"

न्यायाधीश—"अगर तुम्हारी तरह सभी इस तरह आई हुई लक्ष्मी को ठुकराने लगें तो काम कैसे चलेगा ? हमें अभी बच्चों को पढ़ाना-लिखाना है, उनकी शादी करनी है। फकीर नहीं बन गए हैं हम।"

पत्नी—"मैं नहीं जानती थी कि न्याय के आसन पर बैठकर आप अन्याय करते हैं ? अनीति की कमाई का हमें एक पैसा भी नहीं चाहिए। यह हम सब की बुद्धि बिगाड़ेगा। बच्चों के संस्कार खराब करेगा। पढ़ाई-लिखाई या शादी आदि गरीबों के बच्चों के होते हैं, वैसे ही हमारे बच्चों के हो जाएँगे।"

न्यायाधीश—"अपनी पोजीशन के अनुसार मुझे और तुम्हें भी अच्छे कपड़े, गहने और बढ़िया खान-पान चाहिए।"

पत्नी—"हमारे पास जितना पैसा होगा, उसी के अनुसार हम चला लेंगे, लेकिन हराम का एक पैसा भी मुझे नहीं चाहिए। मैं कूट-पीसकर, मेहनत-मजदूरी करके अपने घर का खर्च चला लूँगी, मोटे कपड़े और मोटा अनाज खाकर निर्वाह कर लूँगी, परन्तु इस प्रकार का अनीति का द्रव्य मुझे नहीं चाहिए।"

न्यायाधीश—"मेरी ओर से रहने दो। तुम इसका उपयोग न करना। फिर तुम्हें इस धन को रखने में क्या हर्ज है ?"

पत्नी—"मेरा भी तो इसमें हिस्सा है। मैं परलोक में भगवान के सामने क्या जवाब दूँगी। मेरे बच्चों के पेट में इस पैसे का अन्न पड़कर बुरे संस्कार पैदा करेगा। इसलिए इसे आज ही वापस लौट आइए, अन्यथा, मैं तब तक कुछ भी खाऊँगी-पीऊँगी नहीं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पत्नी का ऐसा सत्याग्रह देखकर न्यायाधीश के मन में द्वन्द्व मच गया। एक ओर लोभ था, दूसरी ओर पत्नी के जीवन-मरण का प्रश्न था। आखिरकार उन्हें लोभ को दबा देना पड़ा। वे चुपचाप नकद रुपये तथा अन्य सब भेंट की सामग्री वापस लौट आए। अब न्यायाधीश के मन को शान्ति थी। पत्नी के चेहरे पर भी न्याय-नीति की विजय का सन्तोष था।

यह एक ज्वलन्त उदाहरण है, धर्मपत्नी द्वारा कुमार्ग पर जाते हुए पति को सुमार्ग—धर्ममार्ग पर लाने का। इसीलिए उपासकदशांग आदि सूत्रों में पत्नी के लिए सुन्दर विशेषणों का प्रयोग किया गया है—

"भारिया, धम्मसहाइया, धम्मविइज्जिया, धम्माणुरागरत्ता, समसुहदुक्ख-सहाइया।"

"धर्मपत्नी (भार्या) धर्म में सहायता करने वाली, धर्मविज्ञ, धर्मानुराग से रक्त, तथा सुख-दुःख में समान रूप से सहायिका होती है।"

आदर्श पतिव्रता स्वयं कष्ट सह लेती है, लेकिन पति को कष्ट नहीं होने देती। वह अपने पति को तुच्छ स्वार्थ से ऊपर उठाकर परमार्थ के पथ पर चलने को प्रेरित करती है। एक छोटे से स्वार्थ को तिलांजलि देकर बड़े स्वार्थ के लिए वह पति को प्रेरणा देती है।

जब श्रीमती कमला नेहरू रुग्ण दशा में स्विट्जरलैण्ड में थीं, पं० नेहरू उनके पास थे। भारत से तार आया—"शीघ्र चले आओ, भारतमाता के लाल माँ की बेड़ियों को काटने के लिए तुम्हारा आह्वान करते हैं।" तार पढ़कर नेहरूजी की आँखों के आगे अंधेरा छा गया। एक तरफ पत्नी मरणासन्न और दूसरी ओर भारत माता की पुकार! वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर चिन्तामग्न हो गये। कमलाजी ने पति को चिन्तित देख पूछा—"उदास क्यों हो?"

उत्तर मिला—"कुछ नहीं।"

कमला बोलीं—"बात कुछ अवश्य है। आप मुझसे कभी कोई बात छिपाते नहीं, फिर आज चोरी क्यों?"

जवाहरलालजी ने मौन तोड़कर स्पष्ट कर दिया—"एक ओर तुम इस दशा में हो, दूसरी ओर भारतमाता का आह्वान है। यदि तुम्हारे मोह में मैं तुम्हारे पास रहता हूँ तो दुनिया कहेगी—कैसा स्वार्थी है, जवाहर, चालीस करोड़ जनता की परवाह न करके माया-जाल में फँस गया। और यदि जाता हूँ तो तुम कहोगी कि अन्तिम समय में भी साथ न दिया।"

कमलाजी ने भारत की पतिव्रता-परम्परा के अनुसार उत्तर दिया—"प्राणनाथ! तुम मेरी चिन्ता न करो। मैं ठीक हो जाऊँगी। तुमको माता स्वरूपरानी ने कमला के लिए नहीं, अपितु चालीस कोटि भारतमाता के पुत्रों की पराधीनता की बेड़ियों को काटने के लिए जन्म दिया है। तुम्हें अविलम्ब भारत चले जाना चाहिए।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कितनी तप-त्याग की भावना थी, इस उत्तर में ! जवाहर आये स्वदेश को गुलामी से मुक्त करने, उधर जीवनसंगिनी कमला इस दुनिया से सदा के लिए चल बसीं।

पतिव्रता : सर्वांगीण स्वरूप और उद्देश्य

पतिव्रता का अर्थ यौन-सदाचार तक ही सीमित नहीं है। वह तो उसका एक अत्यावश्यक अंग है। पतिव्रता स्वप्न में भी पर-पुरुष का चिन्तन नहीं करती, पर-पुरुष के प्रति कुदृष्टि नहीं करती और न ही पर-पुरुष को काम-कुचेष्टाओं से आकर्षित करके उसके साथ कुकर्म करती है। पतिव्रता की पहिचान का यह छोटा-सा अंगमात्र है। वास्तव में आत्मसमर्पण ही पतिव्रता का मुख्य धर्म है। इस आध्यात्मिक माध्यम को अपनाने वाली नारी अहंताजन्य एवं स्वच्छन्द-देच्छाजन्य अगणित पाप-दोषों से मुक्त होकर द्वैत की मंजिल पार करती हुई अद्वैत की जीवन स्थिति प्राप्त कर लेती है।

पतिव्रता स्त्री का अर्थ केवल पर-पुरुष से परहेज रखना मात्र ही हो तो पति के साथ कलह, विवाद, झगड़ा, मारपीट करने वाली, पति के आर्थिक पहलू पर जरा भी विचार न करने वाली, पति के घर में से अमुक चीजें चुराकर या चुपके से उठा कर अपने पीहर भेज देने वाली बेवफा पत्नी भी पतिव्रता कहलायेगी।

इसलिए पतिव्रता का लक्षण पद्म पुराण में इस प्रकार दिया है—

कार्ये दासी रतौ रम्भा, भोजने जननीसमा।
विपत्तौ मंत्रिणी भर्तुः, सा च भार्या पतिव्रता॥

"जो कार्य के समय दासी, रति के समय रम्भा है, भोजन के समय माता है, और विपत्ति के समय पति को सद्बुद्धि एवं परामर्श देने वाली मन्त्रिणी है, वही स्त्री पतिव्रता है।"

व्यावहारिक रूप से पतिव्रता का अर्थ जीवन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों और समस्याओं पर पति की सहधर्मिणी, सहचारिणी और सहयोगिनी बनकर रहना है। जिस रूप में धर्मपत्नी को लगा दिया जाय, जैसी पति की स्थिति हो, तदनुरूप अपने आपको ढाल देना और उसी में सुखानुभव करना ही पतिव्रता जीवन का उद्देश्य है। वस्तुतः यह साधना पतिव्रत-धर्म का मुख्य अंग है। इसी से चरित्रनिष्ठा और जीवन की सर्वांगीण समस्याओं में दृढ़ता बढ़ती है। केवल यौन-सदाचार को स्थिर रखने से इस मर्यादा की पूर्णता नहीं हो जाती। अपितु सामूहिक विकास के आधार रूप में वह जीवन भर चलती है।

इसी कारण एक आचार्य ने पतिव्रता के सर्वांगीण जीवन का चित्रण इस प्रकार किया है—

या सद्धर्मरता विवेककलिता शान्ता सती सार्जवा,
सोत्साहा प्रियभाषिणी सुनिपुणा सल्लक्षणा सद्गुणा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सद्वृत्ता गृहनीति-सस्मितमुखी दानोन्मुखी सन्मतिः,
सन्तुष्टा विनयान्विताऽतिसुभगा श्रीरेव सा स्त्री ननु ॥

"जो नारी सद्धर्म में रत रहती है, विवेक से युक्त है, शान्त है, सती (पतिव्रता) है, सरलहृदया है, प्रत्येक सत्कार्य में उत्साही है, प्रियभाषिणी है, प्रत्येक कार्य में निपुण है, शुभ चिह्नों से युक्त है, सद्गुणों से पूर्ण है, सच्चरित्र है, गृहनीति में कुशल है, सदा प्रसन्नमुखी रहती है, दान में तत्पर रहती है, सद्बुद्धियुक्त है, यथालाभ सन्तुष्ट रहती है, विनय गुण से युक्त है, सौभाग्यशालिनी है, वह स्त्री वास्तव में श्री—लक्ष्मी है।

वास्तव में पतिव्रता का भारतीय संस्कृति में इसीलिए पूज्यस्थान है कि वह अपने और पति के सम्पूर्ण जीवन विकास के लिए प्रयत्नशील रहती है। वह लौकिक सुख एवं आत्म-विकास दोनों में समान रूप से सहायक होती है। इस दिशा में जब तक पतिव्रता नारियों का सहयोग नहीं मिलता, तब तक लोक-परलोक कुछ भी नहीं साधता। पतिव्रतधर्म का पालन सुसंतति को जन्म देने की दृष्टि से भी परम आवश्यक है। बालकों से ही किसी परिवार का भविष्य उज्ज्वल बनता है। अपने वंश कुल और परिवार का गौरव बढ़ाने वाले बालक वहीं जन्म लेंगे, जहाँ माता ने पतिव्रत धर्म को उचित महत्व दिया होगा। यह तत्व जहाँ जितना कम होगा, वहाँ उसी अनुपात में बालकों के शरीर और मन में अगणित विकृतियाँ भरी रहेंगी। इसलिए पतिव्रता का दूसरा नाम बताया है—'**शुद्धानारी पतिव्रता**' पवित्रनारी का ही दूसरा नाम पतिव्रता है।

चाणक्य नीति में स्पष्ट बताया है—

सा भार्या या शुचिर्दक्षा, सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता, सा च या सत्यवादिनी ॥

"सच्ची पत्नी वही है, जो पवित्रहृदया हो, कार्यदक्ष हो, पतिव्रता हो, पति के प्रति प्रीति करने वाली हो, और सत्य बोलने वाली हो।

पश्चिम की स्थिति का अध्ययन करें तो आप आश्चर्यचकित हो उठेंगे कि वहाँ पतिव्रतधर्म को समझने का प्रयास ही बहुत कम किया जाता है। वहाँ की स्त्रियाँ अपने पतियों की आलोचना और अवहेलना करने के लिए स्वतन्त्र हैं जबकि भारतीय नारी स्वयं अपने पति की आलोचना, निन्दा, अवहेलना और उपेक्षा की बात स्वप्न में भी नहीं सोच सकती। पाश्चात्य नारीवर्ग और पुरुषवर्ग परस्पर एक-दूसरे की निन्दा के लिए कटिबद्ध रहते हैं। इसलिए स्त्री-पुरुष के बीच विवाह के बाद से ही एक दूसरे के प्रति शंकास्पद दृष्टि पनपने लगती है। संघर्ष के लिए इतना ही काफी है। पुरुष स्वाभिमानवश झुकता नहीं और स्त्री को कानूनी अधिकार झुकने नहीं देता। फिर समझौते की कोई आशा नहीं रहती। यही कारण है कि पश्चिमीय जनता के जीवन तलाक से भरे पड़े हैं। वहाँ का दाम्पत्यजीवन क्लेश, कलह और घृणा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के शस्त्रों से तीक्ष्ण होता जाता है। इस स्थिति से असन्तुष्ट होकर आज वे भी भारतीय दाम्पत्य जीवन को आदर्श मानने लगे हैं।

सर्वांशतः पति में अनुरक्ता नारी : पतिव्रता

पतिव्रता की एक पति के प्रति अनन्य निष्ठा, अनन्य श्रद्धा और भक्ति होती है। वह दूसरे पुरुष के सम्बन्ध में सोच ही नहीं सकती। गोस्वामी तुलसीदासजी ने चार कोटि की पतिव्रता का उल्लेख किया है—

उत्तम के अस बस मन माँही। सपनेहुं आनपुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिन अवसर भयतें रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई॥

शीलवती पतिव्रता नारी के जीवन में अद्‌भुत मनोबल होता है, उसे दूसरे की मनोभावनाओं का पता चल जाता है।

राजा भोज प्रजा का अनन्य सेवक था। वह वेश बदलकर रात को गश्त लगाया करता था। उसे यही चिन्ता रहती थी कि मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति दुःखी न रहे। वह जनता के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता था। वह अपनी नींद और आराम की परवाह न करके रात के अंधेरे में चुपचाप गश्त लगा रहा था कि एक मकान में से एक आवाज सुनाई दी। राजा छिपकर खड़ा हो गया और किवाड़ों के छेद से भीतर का दृश्य देखने लगा। उसने देखा कि एक षोडशी युवती अपने पति को भोजन कराने के लिए थाल परोसकर लाई है और आम का रस निकालने को तत्पर है। राजा उसके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया और विकार-वासना की दृष्टि से उसे देखने लगा। उधर वह युवती उस आम में से रस निकालने का भरपूर प्रयास कर रही थी, मगर रस नहीं निकल रहा था। राजा उस समय साधुवेश में था। उसने कहा—"मुझे भिक्षा दो।"

युवती ने कहा—"आम का रस निकालकर पति को भोजन कराकर अभी भिक्षा देती हूँ।"

राजा विकारपूर्ण दृष्टि से युवती को निहार रहा था, उधर आम में से एक बूंद भी रस न निकला, तब युवती ने सम्बोधित करके कहा—"रे आम्रफल! इतना कठोर क्यों हो गया कि एक बूंद भी रस नहीं छोड़ रहा है। मालूम होता है कि राजा भोज की दृष्टि में विकार आ गया है, जिससे तू रस नहीं छोड़ रहा है।"

उसके पति ने प्रतिवाद किया—"तू बावली तो नहीं हो गयी, राजा भोज जैसे पवित्रात्मा के सम्बन्ध में ऐसा विचार कर रही है?"

पत्नी बोली—"नहीं, मैं सोच-समझकर कह रही हूँ, या तो मेरे पतिव्रतधर्म में खराबी आ गयी है, या फिर राजा के मन में खराबी होनी चाहिए। मैं अपने आपको जानती हूँ। जब से मैंने होश संभाला है, पर-पुरुष को पिता और भाई के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समान माना है, फिर भी आम में से रस नहीं निकल रहा है; हो न हो, राजा की दृष्टि में विकार आया होगा।"

राजा भोज ने यह सुना तो पैरों तले की जमीन खिसकती मालूम होने लगी, पसीने से शरीर तर हो गया। वह फूट-फूट कर रोने लगा। फिर उसने अपने को धिक्कारते हुए —रे निर्लज्ज, पापी, तुझ-सा अधम इस संसार में और कौन होगा? रक्षक होकर भक्षक बन गया, एक पुत्री को विकार दृष्टि से देखा! अब किस मुंह से कहूँ कि देवि! मैं ही हूँ वह नीच, कामी पुरुष, जिसके कारण आम में से रस नहीं निकल रहा है। इस पतिव्रता के आगे पाप का प्रायश्चित्त किये बिना पाप धुलेगा कैसे?"

इस प्रकार राजा ने अपना मन मोड़ लिया, वह निर्विकार हो गया। राजा के मन से पाप विकार दूर होते ही आम को निचोड़ा तो उसमें से इतना रस निकला कि युवती के आश्चर्य का पार न रहा। उसने पति से कहा—"मालूम होता है, राजा भोज हमारे घर पधार गये हैं।"

यह सुनकर पति ने कहा—"आज तू कैसी बातें कर रही है?"

राजा से अब रहा न गया। वह साधु वेश में भिक्षा लेना तो भूल गया, उस पतिव्रता देवी के चरणों में गिर पड़ा। बोला—"क्षमा करो, देवि! मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे राज्य में तुम जैसी सुशील देवियाँ मौजूद हैं। तूने मुझ जैसे पापी को डूबने से बचा लिया।" राजा होकर भी भोज ने नम्रतापूर्वक क्षमायाचना की।

उस देवी ने कहा—"आप मेरे पिता है, मैं आपकी पुत्री हूँ।"

दोनों के नेत्रों से स्नेहाश्रु उमड़ पड़े, दोनों के हृदय गद्‌गद हो गए। राजा की पापकालिमा धुल गई।

सचमुच, स्त्री के सतीत्व में इतनी शक्ति होती है कि उसे दूसरे की पवित्र-अपवित्र भावनाओं का पता लग जाता है।

मनुस्मृति में ऐसी पतिव्रता नारी को साध्वी कहा गया है—

पतिं या नाभिचरति, मनो-वाक्-कायसंवृता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति, सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

"जो स्त्री मन-वचन-काया से संयत होकर पति का उल्लंघन नहीं करती, यानी परपुरुष के प्रति जरा-सी भी विकार भावना नहीं लाती, वह भर्तृलोक में जाती है, और सत्पुरुषों द्वारा साध्वी कही जाती है।"

पतिव्रता का मुख्य गुण : लज्जा

पतिव्रता का ही नहीं, समस्त नारी समाज का मुख्य गुण वेशभूषा, साज-सज्जा, आभूषणपरिधान आदि नहीं, उसका मुख्य गुण लज्जा है। कहा भी है—

"न भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सीलहिरी य इत्थिया।"

शरीर को आभूषण विभूषित नहीं करते, स्त्रियों के लिए सब से महान् आभूषण हैं—शील और लज्जा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में लज्जा ही वह महागुण है, जिसके कारण नारी का शील, सतीत्व, चरित्र, धर्म और नीति-न्याय सुरक्षित रहता है, जो उसे अधर्म और पाप से बचाता है।

सिकन्दर बादशाह के गुरु अरिस्टोटल की कन्या पीथिया बड़ी चतुर और विदुषी थी। किसी ने उससे पूछा—"गाल पर लगाने के लिए सबसे श्रेष्ठ रंग कौन-सा है?"

पीथिया ने उत्तर दिया—"लज्जा!"

यही सर्वश्रेष्ठ रंग है, स्त्रियों को पतिव्रतधर्म में रंगने के लिए। पतिव्रता के अन्य सभी गुण एक मात्र लज्जा में आ जाते हैं। लज्जा का गुण होगा तो उसकी बुद्धि भी सात्विक होगी, उसका मन भी अपने धर्म और कर्तव्य में संलग्न रहेगा, उसका शरीर भी सत्यकर्मों में जुटा रहेगा और कुकर्मों या अहितकर कार्यों से बचा रहेगा। जैसा कि, एक विचारक ने कहा है—

'अनन्यचित्ता सुमुखी, सा नारी धर्मचारिणी।'

"जो अन्य पुरुषों के साथ कभी भी मन नहीं लगाती, वह स्त्री वास्तव में धर्मात्मा है।"

यही कारण है कि लज्जा नारी का ऐसा अवगुंठन है, जिससे वह अपना जीवन पवित्र रख सकती है। लज्जा को लुटाने की अपेक्षा वीरांगना नारी अपने प्राणों को न्यौछावर करना अधिक लाभप्रद समझती है। चाहे उसके सामने ऐश्वर्य में पूर्ण कुबेर हो, या रूप में पूर्ण कामदेव ही क्यों न हो, वह अपनी लज्जा पराये पुरुष के सामने लुटा नहीं सकती।

बौद्धभिक्षु उपगुप्त से एक बार नगर की सर्वश्रेष्ठ सुप्रसिद्ध नर्तकी ने पूछा—"देव! नारी का सर्वश्रेष्ठ आभूषण क्या है?"

उत्तर मिला—"जो उसके सौन्दर्य में स्वाभाविक रूप से वृद्धि कर सके।.... अधिक स्पष्ट उत्तर चाहती हो... तो अपने समस्त आभूषण उतार डालो।" नर्तकी ने आदेश का पालन किया।

"देवि! वस्त्र भी उतार दो।" पहले तो नर्तकी हिचकिचाई, परन्तु सौन्दर्य के सर्वश्रेष्ठ उपादान पाने की महत्वाकांक्षा ने इस आदेश का भी पालन करवा ही लिया।

"अब मेरी ओर देखो, देवि!" किन्तु आरक्त मुख, नतनयन, हृदय में अगाध विश्वास भरकर भी वह इस आदेश का पालन न कर सकी। उपगुप्त भिक्षु उसकी ओर देखे बिना यह कहते हुए उठ खड़ा हुआ—"देवि! नारी के सौन्दर्य का सर्वश्रेष्ठ आभूषण उसकी यह लज्जा ही है।"

इसी कारण पतिव्रता नारी की वास्तविक शोभा महर्षि गौतम ने 'लज्जा' ही बताई है। श्रमणसंस्कृति के एक महान विचारक ने कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लज्जापज्जत्त पसाहणाइं, परभित्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअ-दुम्मेधाई, धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥

"लज्जा ही जिनकी पर्याप्त प्रसाधन सामग्री है, दूसरे से भरण-पोषण की आशा नहीं रखती, और अविनय-बुद्धि जिनके पास आनी दुष्कर है, ऐसी नारियाँ भाग्यशाली पुरुषों के घर में ही होती हैं।

लज्जा को पवित्रता का मुख्य अंग बताते हुए कहा है—

तावत्कुलस्त्रीमर्यादा, यावल्लज्जावगुंठनम् ।
हृते तस्मिन् कुलस्त्रीभ्यो वरं वेश्यांगनाजनः ॥

"जब तक लज्जा का अवगुंठन है, तब तक कुलांगना की मर्यादा सुरक्षित है। लज्जा के नष्ट होने पर तो कुलस्त्रियों से वारांगना ही अच्छी हैं।"

लज्जागुण के आश्रित अन्य मुख्य गुण

पतिव्रता स्त्री में लज्जा का गुण शिरोमणि है; उसके आश्रित मुख्य गुणों का वर्णन मैं कर चुका हूँ। लज्जा गुण न हो तो ये सारे गुण औपचारिक रह जाते हैं। एक आचार्य ने पतिव्रता के सम्बन्ध में ६ गुण बताए हैं—

कार्येषु मंत्री, करणेषु दासी, भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा ।
धर्मानुकूला क्षमया धरित्री, भार्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा ॥

षट्गुणों वाली पतिव्रता स्त्री इस संसार में दुर्लभ है—

(१) कार्यों में परामर्शदात्री मंत्री ।
(२) कार्यों को सम्पन्न करने में दासी ।
(३) भोजन के समय माता ।
(४) शयन के समय रम्भा ।
(५) धर्म का आचरण कराने में गुरु के समान ।
(६) क्षमा में पृथ्वी के समान ।

इसके अतिरिक्त पतिव्रता में आत्मसमर्पण, अनन्यभक्ति, संकट आने पर प्राणार्पण की तैयारी, धर्मपरायणता, पति को धर्ममार्ग में प्रेरित करने का पुरुषार्थ, पति के कार्यों में पूरा सक्रिय सहयोग, परस्पर विश्वास, पतीच्छानुगामिता आदि गुण मुख्य रूप से होने चाहिए। पतिव्रता नारी समय आने पर अपनी प्रतिष्ठा, प्राण और परिग्रह सर्वस्व होमने के लिए कैसे उद्यत हो जाती है, इसके लिए एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

वरदत्त अद्भुत नगर के राजमान्य वसुदत्त सेठ का इकलौता पुत्र था। सरलहृदय युवक वरदत्त का एक बालमित्र था—सागर, जो अत्यन्त कपटी था। एक बार अपने भवन के नीचे गेंद खेलती एक रूपलावण्यवती कन्या को देखकर वरदत्त मुग्ध हो गया। सागर से पूछने पर पता चला कि वह बन्धुदत्त सेठ की जिनमती नाम की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुत्री है। वरदत्त ने यह जानकर उसकी ओर देखा, दोनों की चार आँखें हुई। वरदत्त के मन में जिनमती को पाने की लालसा प्रबल हो उठी। खाना, पीना, सोना सब कुछ छोड़कर वह जिनमती की स्मृति में तड़फने लगा। उसके पिता ने सागर से सब बात जान बन्धुदत्त सेठ से अपने पुत्र के लिए उसकी पुत्री जिनमती की याचना की। बन्धुदत्त ने कहा—"आपकी बात युक्तियुक्त है, लेकिन मेरा एक नियम है कि मैं श्रावकव्रती के सिवाय अन्य किसी को अपनी पुत्री नहीं दे सकता।" वरदत्त ने जब यह शर्त सुनी तो जिनमती के साथ विवाह करने की गर्ज से जैनमुनि के पास जाकर भावपूर्वक श्रावकव्रत अंगीकार कर लिये। बन्धुदत्त को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने सहर्ष अपनी पुत्री का विवाह वरदत्त के साथ कर दिया। पति-पत्नी दोनों में परस्पर गाढ़ प्रीति हुई।

एक दिन वरदत्त कहीं बाहर गया हुआ था। इसलिए जिनमती को एकाकी जानकर सागर उसके पास आया और कहने लगा—"रुद्रदत्त सेठ की पत्नी के साथ तुम्हारा पति एकान्त में कुछ बात कर रहा था, तुम्हें इसका पता है या नहीं?

सरल स्वभावी जिनमती ने कहा—"यह तो वे जानें या तुम उनके मित्र हो, तुम जानो।"

सागर बोला—"मैं जानता हूँ, पर तुमसे पूछे बिना कैसे कहूँ।"

जिनमती ने कहा—"बोलो क्या काम है तुम्हारा उनसे?"

इस पर सागर बोला—"मुझे जो काम तुम्हारे साथ है वही काम तुम्हारे पति का रुद्रदत्त की पत्नी के साथ है।"

"मेरे साथ तुम्हारा क्या काम है?"

यह जब जिनमती ने पूछा तो निर्लज्ज सागर ने कहा—"तुम्हारा पति मूर्ख है, जो तुम जैसी सुन्दरी को छोड़कर दूसरी स्त्री के पास जाता है। मगर विषय-रस के स्वाद का जो जानकार हो, उसे तुम्हारी अपेक्षा क्यों न हो?"

इस प्रकार की अंटसंट अनर्गल कर्णकटु बात सुनते ही जिनमती को उस पर बहुत गुस्सा आया। वह बोली—"अरे निर्लज्ज, अनार्य! मेरे प्रति तू ऐसी पापी दृष्टि और विचारणा रखता है। धिक्कार है तुझे! तू मेरे पति को झूठमूठ कलंकित करना चाहता है। चला जा यहाँ से दुष्ट! तेरा मुँह देखना भी पाप है।"

यह सुनकर सागर चुपचाप अपना-सा मुँह लेकर वहाँ से चल पड़ा। रास्ते में सामने से आते हुए वरदत्त ने उसे उदास देखकर पूछा—"कहो मित्र! उद्विग्न क्यों हो?"

सागर आँसू बहाता हुआ बोला—"मित्र! कहने जैसी बात नहीं है, पर तुमसे छिपकर भी नहीं रख सकता। आज की ही बात है, जब मैं तुमसे मिलने, तुम्हारे घर गया तो तुम्हारी स्त्री जिनमती निर्लज्ज होकर मेरे सामने काम-कुचेष्टा करने लगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैसे तो वह कई दिनों से मुझे अपने काम-जाल में फँसाने का प्रयत्न कर रही थी, पर मैं टालता रहा। आज उसने मुँह से साफ कह ही दिया कि तुम्हें मेरी इच्छापूर्ण करनी ही होगी। मैं किसी बहाने से उसके चंगुल से छूट कर आया हूँ। तुम मिल गए, इसलिए मैंने तुमसे यह बात कही है, ताकि जिनमती मेरे विषय में कुछ और बात कहे और तुम उसे सच मान बैठो। स्त्रीस्वभाव ही कपटभरा होता है।"

अपने कपटी पापिष्ठ मित्र के वचन सुनकर वरदत्त क्रुद्ध होकर घर आया। जिनमती प्रसन्न होकर उसके पैर धोने लगी, तब सहसा वरदत्त ने छुरी से उसकी नाक काट ली। चारों ओर हाहाकार मच उठा। सभी कुटुम्बीजन एकत्र हुए, वरदत्त को उपालम्भ देने लगे—'अरे पापी, निष्करुण, कुलकलंक ! यह अकार्य तूने क्यों किया ? जिनमती सरीखी गुणवती, शीलवती, उत्तमकुल जाति की, पवित्र, लज्जावती महिला पर यह अत्याचार ! धिक्कार है तुझे ! यह कोलाहल सुनकर राजपुरुष आए और वरदत्त को गिरफ्तार करके ले गए। राजा ने उससे पूछा—"तुम्हारी पत्नी ने क्या अपराध किया था, जिससे तुमने राजदरबार में फरियाद किये बिना अपने हाथ से ही निग्रह किया ?"

वरदत्त ने कहा—"मेरा मित्र सागर, उसके सभी अपराध जानता है।"

राजा ने अनुचरों द्वारा सागर को ढूँढ़कर पकड़ लाने का आदेश दिया। सागर को बाँधकर राजा के सामने लाया गया।

राजा ने पूछा—"अरे पापी, दुराचारी ! उस महासती ने क्या अपराध किया था, सच-सच बोल !" सागर थरथर काँपने लगा, बोला नहीं। चाबुक उसकी पीठ पर पड़े, तब उसने सारा वृतान्त सच-सच बता दिया। राजा ने दोनों को अपराधी जानकर कैदखाने में डलवा दिया।

इधर जिनमती को अपने पर मिथ्या दोषारोपण की तथा नासाछेदन की पीड़ा थी, तो भी उसने न तो अपने पति के प्रति अशुभ चिन्तन किया, न दुष्ट सागर के प्रति। उसने स्वस्थ होकर चिन्तन किया—मैंने किसी जन्म में दुष्कर्म किये होंगे उन्हीं कार्यों के फल उदय में आये हैं। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। मेरा ही पूर्वकृत कर्म-दोष है। मुझे इतना ही दुःख है कि इन्होंने मेरे कुल एवं पवित्र धर्म की लघुता दिखायी।' वह जिनेश्वर प्रभु के ध्यान में एकाग्र हो गई। कायोत्सर्गस्थ जिनमती का अखण्ड शील देखकर शासन देवता प्रसन्न हुए। उन्होंने उसकी नाक सुन्दर सलौनी बना दी। आकाश से पुष्पवृष्टि की, देवदुन्दुभि बजाई। उद्घोष किया—"जैनशासन विजयी है, जिसमें जिनमती सरीखी सतियाँ हैं।"

सती जिनमती का विशद् सुनकर राजा स्वयं आया, धन्य-धन्य कहकर हाथ जोड़कर उसका गुणगान करने लगा।

जिनमती ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक राजा से कहा—"मेरे पतिदेव तथा उनके मित्र सागर को छोड़ दीजिए।" राजा ने वैसा ही किया। जिनमती ने संसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से विरक्त होकर भागवती दीक्षा ग्रहण की। तीव्रतप तथा रत्नत्रय की, अराधना करके सद्गति में पहुँची। वरदत्त और सागर दोनों को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ।

बन्धुओ ! पतिव्रता स्त्री का मुख्य गुण लज्जा है, यह जिनमती के उदाहरण से आप समझ गये होंगे। अगर जिनमती में लज्जा का गुण न होता तो वह स्वयं उद्दण्ड होकर अपने पति और उसके मित्र को आड़े हाथों लेती, उनकी फजीहत करवाती। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा है—

'लज्जाजुआ सोहइ एगपत्ती'

पतिव्रता स्त्री लज्जायुक्त होने पर ही शोभा पाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५८

अनवस्थित आत्मा : अपना ही शत्रु

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज से कुछ दिनों तक आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में विश्लेषण चलेगा, ऐसी आशा है।

आध्यात्मिक जीवन का केन्द्रबिन्दु आत्मा है। आत्मा अपने आप में वैसे तो निश्चय दृष्टि से शुद्ध है, किन्तु जब वह शरीर के साथ जुड़ती है, और उसके निमित्त से राग, द्वेष, मोह आदि विकार आते हैं और उस पर कर्मबन्धों का आवरण पड़ जाता है, तब आत्मा शुद्ध नहीं रहती, निर्लेप और निरामय नहीं रहती। इसलिए राग-द्वेषादि या कषायादि विकारों से लिप्त आत्मा अपने मूल स्वभाव में स्थित नहीं रहती। ऐसी स्थिति में, जो आत्मा अपने लिए हितकर, सुखकर, श्रेयष्कर और अभ्युदय-कर बन सकती थी, वही आत्मा विषय-कषायों एवं रागद्वेषादि विकारों से लिप्त एवं अनवस्थित होकर अपने लिए शत्रु बन जाती है। इसी बात को महर्षि गौतम इस जीवनसूत्र से कहना चाहते हैं—

'अप्पा अरी हो अणवट्ठियस्स'

"अनवस्थित व्यक्ति की आत्मा ही उसके लिए शत्रु हो जाती है।"

गौतमकुलक का यह सैंतालीसवाँ जीवनसूत्र है। आइए, अब हम इस जीवनसूत्र को विभिन्न पहलुओं को जानें-समझें।

आत्मा ही आत्मा का शत्रु : कैसे और क्यों ?

कई लोग कहते हैं कि हमारी आत्मा तो परमात्मा के हाथों में है, उसे सुधारना या बिगाड़ना, अच्छा बनाना या बुरा बनाना उसी के अधीन है, हम तो उसके हाथों की कठपुतली हैं। वह हमें जैसे चाहे नचा सकता है। ऐसे लोग जब कोई अच्छा काम करते हैं या जब किसी पर उपकार करते हैं, किसी को पढ़ा-लिखाकर होशियार बनाते हैं, लड़के-लड़कियों की अच्छे ठिकाने शादी कर देते हैं, खूब धन कमा लेते हैं तब तो वे उन सब बातों का श्रेय स्वयं लूटते हैं, स्वयं अपने मुँह से डींग हाँकने लगते हैं कि मैंने यह किया, वह किया, मैं ऐसा न करता तो, ऐसा हो जाता, मैंने ही सब कुछ किया। किन्तु जब कोई कार्य बुरा हो जाता है, व्यापार में घाटा लग जाता है, लड़का बिगड़ जाता है, सम्पत्ति उड़ा देता है, या किसी का वियोग हो जाता है, किसी आसामी पर रुपया डूब जाता है, तब उसका दोष वह अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर नहीं लेता। वह सीधा भगवान पर डाल देता है कि भगवान् ने बहुत बुरा किया। भगवान् ने हम पर बहुत अत्याचार कर दिया। तात्पर्य यह है कि नादान लोग बुराई-बुराई सब भगवान् के सिर पर डाल देते हैं और अच्छाई-अच्छाई सब अपने हिस्से में ले लेते हैं। ऐसे ही भ्रान्त लोगों के विषय में एक कवि कहता है—

अच्छा हो तो मैंने किया है, कहता है इन्सान।
बुरा सब करते हैं, भगवान बुरा सब ·····।
धन में फूला, मोह में झूला, बकता है अज्ञान॥ बुरा सब॥ ध्रुव॥
मैंने लाख-करोड़ कमाया, मैंने ऊँचा भवन बनाया।
मैंने कारोबार बढ़ाया, मेरी है यह सारी माया॥
अपनी सफलताओं पर करता, रहता है अभिमान॥बुरा·····॥१॥
जब व्यापार में हो घोटाला, कहता है तब बन मतवाला।
हाय राम! यह क्या कर डाला? पूर्वजन्म का वैर निकाला॥
सुख में डूबा हुआ करे नहीं, कभी प्रभु का ध्यान॥बुरा···॥२॥
लड़के लड़की खूब पढ़ाए, बी. ए., बी. टी., एम. ए. बनाए।
शादी की बहू घर में लाए, तब तो मैं-मैं सदा सुनाए॥
मर जाए तो ईश्वर के सिर, दोष धरें नादान॥बुरा···॥३॥

भवार्थ बिलकुल स्पष्ट है। सभी प्राणी अपने अच्छे-बुरे कर्मों के लिए स्वयं ही जिम्मेदार हैं। कोई भी व्यक्ति यह कहकर बच नहीं सकता कि यह बुरा कर्म मैंने नहीं किया, यह तो उसने किया था या उसके कहने से मैंने किया था, इसलिए इसके बुरे फल को मैं क्यों भोगूं? इस प्रकार के भ्रान्त ईश्वरवादी अपने बुरे कर्मों के लिए ईश्वर को जिम्मेदार ठहराते हैं।

'मेरे कृत्यों का जवाबदार मैं नहीं हूँ', इस बात को मानने का अर्थ यह हुआ कि मेरा अधःपतन दूसरा करता है। और जब उसका अधःपतन दूसरा करता है तो उसका ऊर्ध्वगमन भी दूसरा कर सकता है। इसी भ्रान्ति में पला हुआ मानव दूसरे की ओर विवशता से देखता रहता है कि "कोई महात्मा मुझे ऐसा आशीर्वाद दे दे कि—'बेटा तेरा भला हो जायगा।' बस, मैं सीधे स्वर्ग में पहुँच जाऊँ।" ऐसा सस्ता सौदा मिल जाए तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना करने की क्या जरूरत है?

अमेरिका में आजकल एक नवीन तत्त्वज्ञान उभर आया है कि अपराधी को अपराधी न समझकर मानसिक रोगी समझो। वहाँ का अपराध विज्ञान बदल गया है। उनका तत्त्वज्ञान कहता है कि स्कूल के लड़कों को अनुचित या उलटे कार्य के लिए दण्ड नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसके अयोग्य कार्य के पीछे कोई न कोई कारण होगा, उसे माँ-बाप का प्यार नहीं मिला होगा, या उसमें किसी प्रकार की ग्रन्थि बनी होगी। श्रीमती एलेक्सीस ने इस सन्दर्भ में अपनी 'Man, the Unknown' (मैन, द अननोन) नामक पुस्तक में अनेक उदाहरण देकर अमेरिका में पनपती इस विचारधारा के प्रति अपनी व्यथा प्रगट की है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'जेम्स' यदि शरारत, उच्छृंखलता या उद्दण्डता करता है तो भी उसको कुछ न कहो, नहीं तो उसके मन में ग्रन्थि निर्माण हो जाएगी। मोहन ने माँ की जेब से पैसे निकाल लिये। माँ ने पूछा—"मेरी जेब से तूने पैसे क्यों चुराये?"

मोहन ने उत्तर दिया—"यह चोरी का प्रश्न नहीं है। मैं तो चोरी करने की कला सीखता था।" माँ ने मनोविज्ञानवेत्ता से परामर्श किया तो उसने भी यही कहा—"लड़के को कुछ मत कहो।" 'मानव अपने कृत्य के लिए उत्तरदायी नहीं है,' इस विचारधारा से अमेरिकन महिलाएँ उलझन में पड़ गई हैं। वह अनुचित आचरण या व्यवहार के लिए किसी को कुछ भी नहीं कह सकतीं। अपने पति और पुत्र को भी उलाहना नहीं दे सकतीं। यह है—प्रगतिशील राष्ट्र की सामाजिक मनोदशा। वास्तव में 'परिस्थितिवाद' की यह विचारधारा बिलकुल ही निराधार है। अपनी भूल, गलती या अपराधों का टोकरा दूसरे के सिर पर डाल देना, अपने अपराध के लिए स्वयं जिम्मेदार न बनना, कितनी खतरनाक और अराजकता फैलाने वाली विचारधारा है।

भारतीय धर्मशास्त्रों ने भ्रान्त ईश्वरवाद या इस अमेरिकन परिस्थितिवाद का डटकर विरोध किया है। यहाँ तो यह साफ-साफ बता दिया है कि मनुष्य अपने कर्मों को स्वयं ही करता है और उसका भोक्ता भी वह स्वयं ही है। देखिये उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्त ममित्तं च दुप्पट्ठिओ, सुपट्ठिओ॥

'आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्त्ता है, हर्त्ता भी आत्मा ही है। सन्मार्ग में प्रतिष्ठित आत्मा ही मित्र है और कुमार्ग में प्रतिष्ठित आत्मा शत्रु है।'

वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ गीता में भी इसी मत का प्रतिपादन किया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानमात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

'मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार भी अपनी आत्मा से ही करता है और अपनी आत्मा का पतन भी अपनी आत्मा से ही करता है। इस दृष्टि से आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।'

भ्रान्त ईश्वरवाद और परिस्थितिवाद का इस सिद्धान्त द्वारा खण्डन हो जाता है। चरकसंहिता में भी इन दोनों वादों का खण्डन मिलता है—

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः।

'सुख और दुःख का कर्त्ता आत्मा को ही समझो।'

अगर ईश्वर अच्छे-बुरे कार्य के लिए जिम्मेदार है, तो उसका शुभाशुभ फल भी ईश्वर को ही भोगना चाहिए, उस कार्य के करने वाले को नहीं। परन्तु अनुभव इससे उल्टा नजर आता है। मिर्ची एक व्यक्ति खाता है, और मुँह ईश्वर का जलेगा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या मिश्री एक व्यक्ति खाता है और मुंह ईश्वर का मीठा होगा, ऐसा कदापि होता नहीं। अगर परिस्थितिवाद या भ्रान्त ईश्वरवाद को लेकर चलें तो कोई भी अपराधी दण्डित नहीं किया जा सकता। फिर तो 'पोपाबाई के राज्य' वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी—

अन्धेर नगरी, चौपट राजा।
टके सेर भाजी, टके सेर खाजा॥

पोपाबाई के पास न्याय के लिए एक मुकदमा आया। एक व्यक्ति यह फरियाद लेकर पहुँचा कि मैं जा रहा था कि अचानक मेरे पर अमुक मकान की दीवार गिर पड़ी, मुझे चोट लगी। इसका न्याय कीजिए। पोपाबाई ने जिसके मकान की दीवार थी, उसे बुलवाया और सजा देने को कहा।

उस मकान के मालिक ने कहा—"मैं क्या करूँ, मिस्त्री (राज) ने दीवार कच्ची बना दी।"

पोपाबाई ने मिस्त्री को बुलाकर कहा—"इसे सजा दो कि इसने दीवार कच्ची क्यों बनायी?"

मिस्त्री ने कहा—"रानीजी! मैं जब यह दीवार बना रहा था, तब एक युवती गहने पहने हुए छम-छम करती आ रही थी। मेरा ध्यान उस तरफ बरबस खिंच गया, इसलिए दीवार कच्ची रह गयी।"

तुरन्त पोपाबाई ने उस युवती को बुलाया और कहा—"तुम गहने पहनकर छम-छम करती क्यों आ रही थीं, जिससे राज मिस्त्री का ध्यान उचट गया और उसने दीवार कच्ची बना दी।"

उसने कहा—"रानी साहब! मैं क्या करूँ, सुनार ने गहने इसी प्रकार के घड़ दिये।" बुलाया सुनार को और उससे जवाब तलब किया।

सुनार ने कहा—"मैं क्या करता, मुझे ऐसा ही उपदेश एक गुरुजी ने दिया था कि कार्य ऐसा करो जो स्वयं बोले।" उक्त गुरुजी को बुलाया गया। वह बड़ा ही लम्बा चौड़ा मुस्टंड था। उसके गुरु द्वारा इस नगरी में रहने का निषेध करने पर भी सस्ती रबड़ी मिलती देख जमा हुआ था। आज जब पकड़ा गया तो उसके होश गुम हो गए। घिघियाता हुआ वह गुरु से फाँसी की सजा से छुटकारा पाने का उपाय पूछने लगा। उन्होंने उसे युक्ति समझा दी और जिस समय पर पोपाबाई द्वारा फाँसी की सजा दी जाने वाली थी, उस समय गुरु चेला दोनों वाद-विवाद करने लगे।

चेला कहता—मैं फाँसी पर चढ़ूंगा, गुरु कहते, मैं। पोपाबाई ने जब इसका रहस्य पूछा तो गुरु ने कहा—"इस मुहूर्त में जो फाँसी पर चढ़ेगा, वह सीधा स्वर्ग में जाएगा।"

चट से पोपाबाई ने कहा—"तब तो फाँसी मेरी और मेरे बाप की है, तुम सब हटो, मैं ही इस फाँसी पर चढ़ूंगी।" निदान, पोपाबाई फाँसी पर स्वयं चढ़ी और उसके देहान्त के साथ ही इस अराजकतावाद का अन्त हो गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हाँ तो मैं कह रहा था कि इस प्रकार निमित्तों पर दोषारोपण करके मनुष्य अपने द्वारा किये हुए अपराध से बरी हो जाएगा, तो पोपाबाई के राज्य की-सी अव्यवस्था हो जाएगी। कोई भी अपने कर्म के लिए जिम्मेवार न होगा। सभी दूसरे-तीसरे निमित्त के गले दोष मढ़ देंगे।

इसीलिए भारतीय धर्म इसी बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपने द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्मों के लिए जिम्मेवार है। वह उसके फल भोगे बिना छूट नहीं सकता।

और इसी सिद्धान्त में से यह बात प्रतिफलित होती है कि आत्मा जब अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है, तब वह अज्ञान या मोहवश जब बुरे कर्म करता है, तब उन कर्मों का बुरा फल किसको भोगना पड़ेगा? आत्मा को ही न? इसीलिए आत्मा को आत्मा का शत्रु बताया है।

गौतम महर्षि ने आत्मा को आत्मा का अहित करने वाला शत्रु बताया है। अग्नि की चिनगारी और शत्रु को मामूली और छोटा नहीं समझना चाहिए। जिस शत्रु को महापुरुष पराजित कर देते हैं, वह सर्प से भी अधिक भयंकर होता है। अपने जिन दोषों के कारण वह पराजित होता है, हारने के बाद उसके छल, कपट, विश्वासघात, द्रोह, धोखा, ठगी आदि दोष कई गुना बढ़ जाते हैं। साथ ही उसकी विकरालता भी बढ़ जाती है। इसलिए शत्रु से तो हर समय सावधान एवं सतर्क रहना चाहिए। वह कब कैसे हमला कर बैठेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। जो साधक तृण के समान शत्रु को पर्वत के समान विशाल समझकर अपने सुरक्षा साधनों को बढ़ाते रहते हैं, वे शत्रु से कभी पराजित नहीं हो सकते। उत्तराध्ययन सूत्र में इस सम्बन्ध में साधक को सुन्दर मार्गदर्शन दिया है—

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिइ मच्चुमुहे तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥

"सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अहित नहीं करता, जितना दुराचरण में लगी अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारिणी को अपने दुराचरण का पहले ध्यान नहीं आता, परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तो अपने सब दुराचरणों का स्मरण करते हुए पछतता है।"

प्रश्न होता है कि सिर काटने वाला शत्रु तो प्रत्यक्ष ही शरीर का नाश कर देता है, किन्तु आत्मा ऐसा कुछ नहीं करता, तब फिर आत्मा को गला काटने वाले शत्रु से भी बढ़कर क्यों बताया गया?

भारतीय दर्शन आत्मा को नित्य और शरीर को अनित्य एवं नाशवान मानते हैं। इस दृष्टि से आस्तिक दर्शन कहते हैं कि शरीर के नष्ट हो जाने के साथ, आत्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नष्ट नहीं होता, वह जन्म-जन्मान्तर में मिलने वाले शरीर के साथ रहता है। वह बदलता नहीं, शरीर बदलता है। अतः गला काटने वाला शत्रु तो अनित्य शरीर का ही नाश करता है, नित्य आत्मा का नहीं। अगर गला काटने वाले शत्रु के प्रति द्वेष और रोष न किया जाय तो वह आत्मा को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकता, सिवाय गला काटकर शरीर को नष्ट करने के, बल्कि सोमल ब्राह्मण, नमुचि पुरोहित, या अर्जुनमाली पर प्रहार करने वाले राजगृहवासियों की तरह क्रमशः गजसुकुमार, स्कन्दकाचार्य के ५०० शिष्यों एवं अर्जुनमुनि की आत्मा की मुक्ति में सहायक बन जाते हैं।

इसलिए यदि हम तात्त्विक दृष्टि से (निश्चय नय से) विचार करें तो वस्तु-स्थिति यह है कि हमारी आत्मा के सिवाय अन्य कोई भी हमारा गला काटने वाला (नुकसान करने वाला) नहीं, हमारा गला हमारी आत्मा ही काटती और कटवाती है। हमने बुरे कर्म किये होंगे, इसी कारण उनके फलस्वरूप कोई (निमित्त) हमारा गला काट पाता है। बुरे कर्म हमारी आत्मा ने न किये हों तो लाख प्रयत्न करने पर भी कोई हमारा बाल भी बांका नहीं कर सकता है। इस दृष्टि से सोचें तो हमारा गला काटने वाला शत्रु बाह्य निमित्त नहीं, हमारा दुष्कर्मकारी आत्मा ही है, बाह्य निमित्त के प्रति हम द्वेष-रोष न करें, समभाव से उस वेदना को सह लें तो वही हमारी मुक्ति में सहायक बन सकता है। इसीलिए कहा गया कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है, वैसे आत्मा ही आत्मा का मित्र है।

एक दूसरे पहलू से इस पर विचार करें। ज्ञानस्वरूप आत्मा सिंह के समान पूर्ण अधिकारी है और ज्ञानविकल आत्मा कुत्ते के समान है। कुत्ते की यह खासियत है कि जब कोई उस पर ईंट या पत्थर मारता है तो वह मारने वाले पर नहीं झपटता, किन्तु ईंट-पत्थर आदि निमित्त साधनों पर झपटता है। वह समझता है कि मुझे मारने वाला ईंट या पत्थर ही है। किन्तु सिंह की प्रकृति ऐसी नहीं होती, जब कोई उस पर गोली मारता या तीर चलाता है तो वह गोली या तीर पर नहीं झपटता, किन्तु गोली या तीर चलाने वाले पर ही झपटता है। वह समझता है कि गोली या तीर का कोई दोष नहीं, ये तो निमित्त-साधन हैं, दोष तो इन्हें चलाने वाले का है।

यही बात यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में समझिए। जैसे सिंह समझता है कि मुझे मारने वाला तीर या गोली नहीं है, किन्तु उसका प्रयोग करने वाला है; वैसे ही जिसमें आत्मबल है, जो ज्ञानवान है, वह समझता है कि मेरा गला यह व्यक्ति नहीं काट रहा है, यह तो सिर्फ निमित्त कारण है, वास्तव में मेरी आत्मा ही अपना गला काट रही है। सिंह को मारने के लिए जैसे तीर या गोली हथियार निमित्त बन गया था, वैसे ही मेरी आत्मा के लिए कर्मों का हथियार निमित्त बन गया है। मारने वाला शत्रु मेरे भीतर ही बैठा है; जो बाहर का निमित्तकारण है, उसका दोष नहीं है, दोष तो भीतर बैठे हुए आत्मा का है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए यहाँ कहा गया है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। मारने में बाह्य निमित्त बनने वाला शत्रु तो सिर्फ एक जन्म का है, एक ही शरीर का नाश करता है, लेकिन आत्मा—दुष्कर्मकारी आत्मा जब शत्रु बन जाता है तो वह अनेक जन्मों तक दुःख देता है, अनेक जन्मों में प्राप्त होने वाले शरीर को नष्ट कर देता है, वह अनेक जन्मों तक पिण्ड नहीं छोड़ता।

आत्मा ही आत्मा का शत्रु स्वयं बनता है, दूसरा कोई उसे बनाने नहीं आता। अपनी ही गलती से, अपने ही विपरीत विचारों से, अपने ही भयंकर दुष्कर्मों से वह अपना दुश्मन बन जाता है। जैसे कोई व्यक्ति यह जानता है कि अधिक ठूँसकर खाने से अजीर्ण और पेट का रोग हो जाता है, फिर भी स्वादिष्ट वस्तु देखते ही वह उन पर टूट पड़ता है और इतना अधिक खा जाता है कि अजीर्ण और उदर रोग उसे घेरे बिना नहीं रहते। अब बताइए, अजीर्ण या उदर रोग के लिए वह भोजन जिम्मेवार है या भोजन बनाने वाली उसकी पत्नी या उस भोजन की वस्तुओं का उत्पादक अथवा भगवान् जिम्मेवार है, अथवा वह खुद ही जिम्मेवार है? वास्तव में अजीर्ण या उदर रोग के लिए वह स्वयं ही जिम्मेवार है, दूसरा नहीं। अधिक भोजन करने वाला ही अपने पेट का शत्रु है, दूसरा नहीं; उसी प्रकार दुष्कर्म करने वाला आत्मा ही अपना शत्रु है, दूसरा नहीं।

एक गाड़ीवान बैलगाड़ी चला रहा है, बैल उसके इशारे पर चल रहे हैं। गाड़ीवान देख रहा है कि आगे एक गहरा खड्डा है, परन्तु इस भ्रम में रह गया कि खड्डा अभी काफी दूर है, तब तक बैलों को सीधा चलने दूँ, खड्डा आएगा तो बैल अपने आप मुड़ जाएँगे। गाड़ीवान गाफिल होकर बैलों को दौड़ाता रहा। गाड़ी सहसा खड्डे में गिर गई। अब बताइए गाड़ी के खड्डे में गिरने का दोष किसका है? गाड़ी का, बैलों का या गाड़ीवान का? इसमें दोष गाड़ी का नहीं, क्योंकि गाड़ी को कोई ज्ञान नहीं होता, वह जड़ है, वह स्वतःचालित नहीं होती। बैलों का कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे तो गाड़ीवान के इशारे पर चलते थे। उन बेचारों का क्या कसूर, जिधर गाड़ीवान ने नकेल घुमाई, उधर ही वे चल पड़े। उनके नथुनों में 'नाथ' पड़ी थी, जिधर का संकेत मिला, उधर ही वे चल पड़े थे। अतः वास्तव में दोष गाड़ीवान का ही माना जायगा, क्योंकि गाड़ी चलाने की सम्पूर्ण जिम्मेवारी उसी की थी। गाड़ीवान ही अपनी गाड़ी का शत्रु बन गया था।

इसी प्रकार आत्मा गाड़ीवान है। शरीर गाड़ी है। मन के सहारे से आत्मा के इशारे से शरीररूपी गाड़ी चलती है। इन्द्रियाँ उस गाड़ी को चलने में गाड़ी के अंगोपांगों की तरह सहायक होती हैं। शरीररूपी गाड़ी नष्ट हो जाती है या उसकी कोई क्षति होती है या प्रमाद या असावधानीवश कोई दुष्कर्म करती है तो उसका जिम्मेवार आत्मारूपी गाड़ीवान है। इन्द्रियाँ या मन तो यह कहकर बच जाएँगे कि हम क्या करें, हमें तो आत्मा ने जिधर मोड़ना चाहा, उधर हम मुड़ गये, हम तो आत्मा द्वारा संचालित हैं, आत्मा ने पतन के खड्डे में गिरने को हमें मजबूर कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिया, उधर की नकेल घुमा दी तो हम क्या करें ? वास्तव में आत्मारूपी गाड़ीवान का ही अपराध है कि उसने अपनी असावधानी से गाड़ी को पतन के खड्डे में गिरा दिया। इसलिए आत्मा ही अपनी गाड़ी का शत्रु बना, क्योंकि वही जिम्मेवार है उसके लिए।

प्रत्येक आत्मा में यह शक्ति विद्यमान है कि वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु को निकृष्ट से निकृष्ट बना सकती है और निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ। आत्मा जब दुष्कर्म में प्रवृत्त होती है तो श्रेष्ठ शुद्ध आत्मा को द्वेष, रोष, अभिमान, काम, मत्सर, ईर्ष्या, छल आदि विकारों से विकृत करके निकृष्ट बना देती है। वही आत्मा जब क्षमा, दया, शील, सन्तोष आदि धर्मों का आचरण करती है, तपस्या से कर्मों की निर्जरा करती है, तब अपने आपको उत्कृष्ट बना लेती है और अपनी ही मित्र बन जाती है।

आत्मा अपना शत्रु : कब और कैसे ?

अब एक दूसरा प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कौन ऐसी आत्मा होगी, जो स्वयं चाहती हो कि मैं पाप या पतन के खड्ढे में गिर जाऊँ, या पापाचरण करूँ ?

जैसा कि मैंने पहले कहा था भ्रान्त ईश्वरवादी या पाश्चात्य परिस्थितिवादी तो ईश्वर या परिस्थिति के सिर पर दोष को डाल देते हैं, स्वयं साफ बच जाते हैं। लेकिन उन दोनों का निराकरण करके हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी भी अच्छे या बुरे कर्म का जिम्मेवार आत्मा स्वयं ही है, और कोई व्यक्ति या तथाकथित परिस्थिति नहीं। विभिन्न दर्शनशास्त्रियों ने इस प्रश्न का समाधान विभिन्न रूपों में किया है। सांख्यदर्शन प्रकृति को अच्छे-बुरे कर्मों की जिम्मेवार ठहराता है, वेदान्त दर्शन माया को, बौद्धदर्शन क्षणिकवाद को; परन्तु ये सब निमित्त भले ही हो सकते हैं, मूल कर्त्ता या उपादान कारण नहीं।

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है, आत्मा ही जब आत्मा का शत्रु है, तब वह शत्रु कब और कैसे हो जाता है ?

गीता में भी अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण के समक्ष यह प्रश्न निम्न शब्दों में उठाया गया है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ?

'हे वृष्णिकुलभूषण ! यह आत्मा न चाहते हुए भी मानो जबरन ही धकेल दिया जाता हो, इस प्रकार पाप में किसके द्वारा धकेला जाता है ? जिससे प्रेरित होकर यह पापाचरण करता है ?'

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'रजोगुण से समुत्पन्न यह काम—यह क्रोध ही है, जो बहुभोजी है, महापापी है, इसे तुम इस विषय में शत्रु समझो।'

यह समाधान व्यावहारिक है, जैसे जैनदर्शन कहता है—राग, द्वेष, विषय-कषाय या तज्जनित कर्म, ये ही शत्रु हैं, आत्मा के; जो जन्ममरण रूप संसार में परिभ्रमण कराते हैं। परन्तु निश्चय दृष्टि से यह समाधान उचित नहीं है, क्योंकि राग-द्वेष या कषाय अथवा कर्म अपने आप में जड़ हैं, वे स्वयं आत्मा को पापकर्म में प्रेरित नहीं कर सकते। आत्मा पापकर्म या शुभकर्म में या धर्माचरण में स्वयं ही प्रेरित होता है, तभी तो वह स्वयं का शत्रु भी बन जाता है और मित्र भी।

वह शत्रु कब और कैसे बन जाता है? इसी प्रश्न का समाधान महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र में किया है—

'अप्पा अरी हो अणवट्ठियस्स'

जब आत्मा अनवस्थित होता है, तब वह अपना शत्रु बनता है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा अपने स्वभाव में स्थित नहीं रहता, अपने घर को छोड़कर पर-घर में चला जाता है, आत्मभावों को भूलकर परभावों में रमण करने लगता है, तब वह अपने लिए ही दुःख के बीज बोने वाला शत्रु बन जाता है।

आत्मा कब अवस्थित, कब अनवस्थित?

अवस्थित और अनवस्थित ये दो परस्पर विरोधी शब्द हैं। दोनों के कार्य भी एक दूसरे के विपरीत हैं। इसलिए **'अवस्थित'** को समझ लेने पर **'अनवस्थित'** को समझना आसान होगा। अवस्थित के इस सन्दर्भ में कई अर्थ होते हैं—

(१) **अपने स्वभाव में स्थित,**
(२) **अपने आत्मध्यान में स्थित,**
(३) **एकमात्र आत्मनिष्ठ,**
(४) **प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय मन परमात्मा में संलग्न करना,**
(५) **किसी भी सत्कार्य में मनोयोगपूर्वक जुट जाना,**
(६) **शान्ति और सन्तुलन के साथ काम करना,**
(७) **एकाग्रचित्त होना, स्थिर होना।**

आवश्यकसूत्र में कायोत्सर्ग-पाठ के अन्त में चार शब्द आते हैं—**'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।'** इनका तात्पर्य है—"अपने आत्मध्यान में स्थित होकर, इन्द्रियों और मन से मौन होकर और आत्मा में एकाग्र होकर अपने आपका (विषय-कषायादि सावद्य योगों का) व्युत्सर्ग करता हूँ।"

आप कहेंगे यह तो कायोत्सर्ग की स्थिति है, क्या यह स्थिति हर समय रह सकती है? मैं मानता हूँ, कायोत्सर्गमुद्रा की स्थिति या कायोत्सर्ग की प्रक्रिया में अवस्थिति हर समय नहीं रह सकती, परन्तु गौतमकुलककार तो यही कहते हैं कि जिस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय आपकी यह अवस्थिति नहीं रहेगी, या आप अपने कार्यों या अपनी प्रवृत्तियों में इस बात का ध्यान नहीं रखेंगे तो याद रखिए, आपकी आत्मा ही आपकी दुश्मन बन जायेगी।

चाहे आप कायोत्सर्ग की मुद्रा में हर समय न रहते या न रह सकते हों, परन्तु आपका ध्यान, आपकी वृत्ति या आपका स्वभाव अपनी आत्मा में या शुद्धात्म-स्वरूप परमात्मा में लीन होना चाहिए। यह अवस्थित का लक्षण है। यदि आप अपने महत्त्वपूर्ण कार्य में तल्लीन, एकाग्र या ध्यानपूर्वक अवस्थित नहीं रहते हैं तो आपको उस कार्य में सफलता नहीं मिलेगी। आप अपने लिए स्वयं ही बुरे हो जायेंगे। व्यग्र होना, तल्लीनता से हट जाना, निष्ठा टूट जाना, मनोयोगपूर्वक न जुटना, एकाग्रचित न होना, अस्थिर हो जाना, ये सब अनवस्थित के लक्षण हैं।

आत्मा भी जब अपने स्वभाव में स्थित नहीं रहता, अपने आत्मध्यान से विचलित हो जाता है, आत्म-निष्ठा से हटकर इन्द्रिय-विषयों में उसकी निष्ठा हो जाती है, मन को परमात्मा में संलग्न करने के बजाय विषय-वासनाओं, कषायों, राग-द्वेषादि विकारों में संलग्न कर लेता है, प्रवृत्ति करते समय आत्मा में शान्ति और सन्तुलन नहीं रहता, आत्मा व्यग्रचित्त या अस्थिर हो जाता है, तब समझ लीजिए, वह अनवस्थित है और आपका शत्रु बन गया है।

अवस्थित और अनवस्थित को समझने के लिए एक स्थूल उदाहरण लीजिए—

दो राजा थे। दोनों सम्बन्धी और पड़ोसी थे। उन्होंने अपने-अपने नगर में अपना-अपना बगीचा लगवाने का विचार किया। दोनों ने अपने-अपने बगीचे के लिए एक-एक माली नियुक्त कर दिया। दोनों मालियों ने दोनों बगीचे एक साथ एक ही समय में लगाए। एक माली को सौंपा हुआ बगीचा कुछ ही समय में पल्लवित, पुष्पित और विकसित हो उठा। सारे ही बगीचे ने इधर से उधर तक समान रूप से हरा-भरा, लहराता हुआ अपनी सुन्दरता और सुगन्धि से वातावरण को ओतप्रोत कर दिया। जो भी अपना-पराया, शत्रु-मित्र, आने-जाने वाला पथिक उस बगीचे के पास से निकलता, उसका हृदय प्रसन्न हो उठता, मन तृप्त हो जाता, आँखें सन्तुष्ट हो जातीं, नासिका सुवासित हो उठती, उसके मुँह से बरबस निकल पड़ता—'अहा! कितनी सुरम्य वाटिका है! कितना नयनाभिराम दृश्य है! कितना मनोमोहक बाग है! इसका माली बड़ा कुशल मालूम होता है। माली अपनी सफलता को देख-सुनकर आत्मा में अनिर्वचनीय आनन्द और सन्तोष की अनुभूति करता है, चूंकि माली ने बगीचे में मनोयोग से, दत्तचित्त होकर स्वस्थ और सन्तुलित होकर कार्य किया था, उसने प्रत्येक पौधे को आत्मीय समझकर उसकी सेवा तल्लीन होकर की थी। इसी अवस्थितता के कारण माली अपने कार्य से तृप्त और सन्तुष्ट हुआ। राजा भी इस बगीचे को देखकर प्रसन्न हुआ।

अब दूसरे माली का हाल सुनिये। उसने बगीचे की सार-संभाल नहीं की। न तो उसने क्यारियाँ ठीक कीं, न पौधों की काट-छाँट ही की। राजा ने अपने बगीचे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को आकर देखा तो बगीचे को उजड़ा हुआ देखकर कुपित हो उठा। बाग में कहीं कोई डाली नीरस और शुष्क है, फूल मुरझाए हुए हैं, तो कोई डाली पत्तों से रहित हैं। कोई पौधा सीधा खड़ा है तो कोई नमस्कार कर रहा है। कहीं कलियाँ खिलकर फूल बन रही हैं तो कहीं विकसित होने से पहले ही मुरझा गई हैं। कहीं कूड़े-कर्कट की दुर्गन्ध उठ रही है। चारों ओर अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था ही दृष्टिगोचर हो रही है। बाग की सुन्दरता नष्ट हो गई है, सर्वत्र वह कुरूप एवं उजाड़-सा लग रहा है। यात्री पास से गुजरते हैं, पर यह बाग न तो किसी को प्रसन्न कर पाता है, न सुवासित। इसे देखकर न तो कोई ठहरता है, न कोई प्रशंसा करता है। बहुत बार तो लोग भ्रमवश यह कह बैठते हैं, यह बाग तो नहीं मालूम होता है, यह तो वन मालूम होता है। कई लोग बाग को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हुए टिप्पणी कर बैठते हैं—कितना मनहूस, विद्रूप और रद्दी बाग है! इसका माली बिलकुल लापरवाह, अयोग्य और अकुशल मालूम होता है।

माली ने बगीचे की ओर ध्यान नहीं दिया, इसकी सेवा तल्लीन होकर नहीं की, इसे अपना समझकर, स्वस्थ और सन्तुलित होकर कार्य नहीं किया। थोड़ा-सा श्रम बेमन से, बेध्यान से, बेगार समझकर किया भी होगा, परन्तु वह व्यर्थ गया। सारी साधना असफल हो गई। माली जब भी अपनी निन्दा और आलोचना सुनता—अपनी आत्मा में ग्लानि, क्षोभ, लज्जा, निराशा और असन्तोष का अनुभव करता। यही माली की अनवस्थितता है, जिसके कारण वह अपने ही बगीचे का शत्रु बन गया।

पहले माली की तरह आत्मा भी जब अवस्थित होता है, तो अपने को प्राप्त जीवनरूपी बगीचे की अच्छी तरह से सार-संभाल करता है। इसमें से काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग-द्वेष आदि के काँटे और झाड़ झंखाड़ उखाड़ फेंकता है; सत्य, अहिंसा आदि धर्म के सुन्दर पौधे लगाता है, जिसमें सद्गुणों के पुष्प खिलते हैं, सत्कार्य रूपी फल लगते हैं। इस जीवनरूपी बगीचे को देखकर, कोई भी सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति इसके माली—आत्मा की प्रशंसा करता है, बगीचे से सन्तुष्ट होता है, प्रसन्न होता है।

किन्तु दूसरे माली की तरह जो अनवस्थित होकर अपने जीवनरूपी बगीचे की सारसंभाल नहीं करते, लापरवाह होकर जैसे-तैसे इस जीवनरूपी बगीचे को उजाड़ बना डालते हैं। क्रोध, काम, रागद्वेष आदि के कंटीले झाड़-झंखाड़ों को यों ही बने रहने देते हैं, न इसे सत्संग के पानी से सींचते हैं, न इसमें सत्य-अहिंसा आदि के पौधे लगाते हैं, बल्कि हिंसा आदि के जहरीले पौधे जो दिखने में तो सुन्दर दिखते हैं, पर उनमें कोई स्वादिष्ट खाद्यफल नहीं लगते। जीवनरूपी बगीचे पर बिलकुल ध्यान न दिया, इधर-उधर की विषय-वासनाओं की तृप्ति में, मटरगश्ती में लगा रहा। ऐसे मनहूस एवं उजड़े हुए जीवनरूपी बगीचे को देखकर कौन प्रफुल्लित होगा? कौन उसकी प्रशंसा करेगा? बल्कि उस माली—अनवस्थित आत्मा को धिक्कारेगा कि इतना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुन्दर जीवनरूपी बगीचा पाकर भी तूने इसे अपनी लापरवाही, अनवस्थितता, विषयों में भटकाव आदि के कारण उजाड़ दिया।

बन्धुओ ! दूसरे माली की तरह अनवस्थित आत्मा भी अपने जीवन रूपी बाग का शत्रु—आत्मरिपु बन जाता है। जबकि अवस्थित आत्मा पहले माली की तरह अपनी आत्मा का मित्र और बन्धु बनता है।

जो मनुष्य अवस्थित है, वह आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार करता है, उसकी अधोगति—पतन—नहीं करता वह आत्मा का मित्र होता है, परन्तु जो व्यक्ति अनवस्थित है, वह आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा का पतन करता है, वह आत्मा का शत्रु बन जाता है।

अवस्थित और अनवस्थित आत्मा की पहिचान

अवस्थित आत्मा अपने स्वभाव में स्थित रहता है। वह जानता है कि काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, मोह, मत्सर आदि विकार आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु संस्कारवश आत्मा इन विभावों को अपना स्वभाव मान लेता है और अपने स्वभाव—ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि को छोड़कर इन्हीं में तल्लीन हो जाता है, तब इसे हम अनवस्थित कहते हैं। अनवस्थित आत्मा स्वभाव से च्युत हो जाता है। जब मनुष्य का मन आत्मा के निजी गुणों—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्रजन्य अहिंसा, सत्य आदि में, तप में नहीं लगकर निराशा, क्षोभ, क्रोध, आवेश, चिन्ता, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारों में लग जाता है, जो कि मन के लिए अस्वाभाविक हैं, तब उसकी आत्मा अनवस्थित हो जाता है। ऐसी अनवस्थित आत्मा भयग्रस्त होकर अकाल मृत्यु का शिकार होती देखी गयी है। ऐसी स्थिति में या इन मनोविकारों में मन के रमण करने से शरीर की स्थिति दिनोंदिन खराब होती जाती है, फिर वहम, भय, शंका और आत्महीनता का शिकार होकर मनुष्य की अनवस्थित आत्मा अपने लिए स्वाभाविक धर्म-शुक्लध्यान को तिलांजलि देकर आर्तरौद्रध्यान में पड़ जाती है, जिससे भयंकर दुष्कर्म-बन्धन में पड़कर अनेक जन्मों तक भटकना पड़ता है, नाना गतियों और योनियों में। इस प्रकार आत्मा के लिए मनोविकारग्रस्त आत्मा शत्रु का काम कर देता है।

अनवस्थित आत्मा अपनी शक्ति से अनभिज्ञ रहते हैं। आत्मा में अनन्त शक्ति है, यह बात तो वे महात्माओं के प्रवचनों से और शास्त्रों से सुनते-पढ़ते आये हैं, किन्तु जब कभी मनोविकाररूपी शत्रु उन पर हमला करते हैं, उन पर हावी होना चाहते हैं, तब वे अपनी शक्ति को भूल जाते हैं, वे अपनी शक्ति पर विश्वास ही नहीं कर पाते, अपनी शक्तियों को पहचान कर उनकी उज्ज्वल संभावनाओं पर उन्हें यकीन ही नहीं होता कि वे थोड़े से प्रयत्नों से जगाई जा सकती हैं। यह अज्ञान ही अनवस्थित आत्मा को मनुष्य की प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। अपनी आत्म-शक्तियों पर दृढ़-विश्वासपूर्वक स्थिर रहने का माद्दा खत्म हो जाता है, अनवस्थित आत्मा में।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः अभाव सामर्थ्य का नहीं, उसकी जानकारी और उस पर दृढ़-विश्वास की कमी है, जिसके कारण उनकी आत्मा डांवाडोल होकर मनोविकारों के आगे घुटने टेक देती है। आत्मोन्नति, आत्मविकास एवं आत्मस्थिरता के अवसर समय-समय पर उनके समक्ष उपस्थित होते रहते हैं, पर अनवस्थित आत्मा होने से वे उनका लाभ नहीं उठा पाते, बल्कि ऐसे परम लाभ के अवसरों पर वे कायरता, दीनता एवं आत्म-हीनता से ग्रस्त होकर अपनी शक्ति के प्रति शंकाशील रहते हैं। उन्हें यह विश्वास ही नहीं होता कि वे भी अपनी आत्मा से महत्वपूर्ण कार्यों को कर सकते हैं, धर्म पर दृढ़ रह सकते हैं, भूतकाल में भी अनेक महापुरुषों ने अपनी आत्मशक्तियों पर दृढ़ विश्वास रखकर अनेक साहस के कार्य किये हैं, अपनी आत्मप्रगति की है। जो व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप को, आत्मशक्तियों को जानकर उनमें अवस्थित रहते हैं, उन पर दृढ़ विश्वास रखते हैं, वे जब महत्वपूर्ण कार्य करने का साहस करते हैं तो परिस्थितियाँ भी उनके अनुकूल हो जाती हैं, अनेक सहयोगी भी आ जुटते हैं।

महात्मा गांधी का उदाहरण हमारे सामने प्रत्यक्ष है। गांधीजी के पास कितने सीमित साधन थे। उनकी प्रारम्भिक साधना में कोचरब आश्रम में जब वे पहले-पहल रहने आये तो गांधी जी और कस्तूरबा दो ही थे, फिर उनके पास दूधाभाई नामक एक हरिजन परिवार रहने आया। बहुत ही सीमित साधन थे, धन भी उनके पास सीमित था। एक हरिजन को रखने के कारण जो धनिक उन्हें आश्रम चलाने के लिए आर्थिक सहायता देते थे, वे भी उनके विरोधी और असहयोगी बन गये थे। ऐसे समय में एक बार तो सामान्य साधक किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, मगर गांधीजी घबराए नहीं, वे अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। अपने आत्मविश्वास में स्थित रहे, उनका विश्वास भंग न हुआ। वे आत्मविश्वास और आत्मशक्तियों से परिचित थे। इसके फलस्वरूप उन्हें अदृश्य रूप से अचानक एक व्यक्ति की ओर से अर्थ सहायता मिल गई थी। अगर गांधीजी उस समय आत्मविश्वास में अवस्थित न रहते तो उनका आत्मविकास इतना नहीं बढ़ता।

कई लोग कहते हैं; जिनके पास प्रचुर साधन होते हैं, वे ही अपने आत्म-बल में एवं आत्मविश्वास पर टिके रह सकते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। जैसे सूर्य के प्रकाश में हर चीज चमकती है, अग्नि के पास जाकर हर चीज गर्म हो जाती है, वैसे ही आत्मबल में स्थित साहसी और दृढ़ आत्मविश्वासी के पास पहुँचे हुए थोड़े-से साधन भी अपनी पूरी उपयोगिता दिखाते हैं। एक बहादुर और साहसी व्यक्ति एक लाठी से ही इतनी विजय प्राप्त कर लेता है, जितनी कि एक डरपोक व्यक्ति तोप-तलवार लेकर भी नहीं प्राप्त कर सकता।

कमजोर वह नहीं, जिसका शरीर दुबला-पतला है; गरीब वह नहीं, जिसके पास पैसा कम है; मूर्ख वह नहीं, जिसके पास शिक्षा कम है। ये सब वस्तुएँ आसानी से जुटाई जा सकती हैं, अथवा इनके बिना भी काम चलाया जा सकता है। कमजोर, दरिद्र या मूर्ख वह है, जिसके पास आन्तरिक बल नहीं, जिसे अपनी आत्म-शक्ति पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भरोसा नहीं, ऐसे लोग अपने आत्मस्वरूप में अनवस्थित होते हैं। उन्हें उनकी आन्तरिक अपंगता सफलता का अधिकारी नहीं होने देती। सफलता के अवसर उनके द्वार तक आते हैं, पर वे आन्तरिक दुर्बलता के कारण उनका स्वागत नहीं कर पाते। धन, स्वास्थ्य, पद, सत्ता, शस्त्र, विद्या, सहयोग आदि सुविधाओं का कहने योग्य लाभ वे ही उठा सकते हैं, जो आत्म-शक्ति में स्थित हो, भीतर से बलवान हों। आन्तरिक दुर्बल लोगों के लिए तो सभी उपलब्धियाँ विपत्ति ही साबित होती हैं। जो आत्म-शक्ति में अवस्थित नहीं हो पाते, वे भीतर से दुर्बल और खोखले हो जाते हैं, वे काम-क्रोधादि विकारों से जूझने और संघर्ष करने की बात ही नहीं सोच पाते। इस प्रकार वे अपने आप (आत्मा) के शत्रु बन जाते हैं। काम-क्रोधादि तो बाद में शत्रु बनते हैं। जब वे उन्हें आते ही अपने आत्मस्वरूपरूपी किले में सुरक्षित होकर काम-क्रोधादि को पपोलते ही नहीं, उनसे सम्पर्क ही नहीं रखते, तब वे उनके शत्रु बनने से रहे। काम-क्रोधादि उन्हीं के शत्रु बनते हैं, जो आत्मस्वरूपरूपी किले में अवस्थित न रहकर बाहर भागते हैं और काम-क्रोधादि को पपोलते हैं, उनका स्वागत करते हैं।

इसी प्रकार उस व्यक्ति की आत्मा भी अनवस्थित है, जिसका ध्यान आत्मा से हटकर सांसारिक पदार्थों या व्यक्तियों में आसक्तिपूर्वक जम जाता है। ऐसा व्यक्ति आत्मध्यान और आत्मचिन्तन भूलकर रात-दिन सांसारिक विषयों की उधेड़बुन में, भौतिक पदार्थों और इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति का ही ध्यान करता रहता है। शास्त्रीय भाषा में कहूँ तो उसकी आत्मा धर्म-शुक्लध्यान से हटकर आर्त-रौद्रध्यान में ही अटकी रहती है। जिन्दगी के अन्तिम क्षणों तक वे इन्द्रिय-विषयों एवं भौतिक पदार्थों की मोह-माया से निकलकर आत्मा के अटल ध्यान में जम नहीं पाते।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। रणक्षेत्र में जगह-जगह नरमुण्डों के ढेर पड़े थे। उन्हें खाने के लिए सैकड़ों कुत्ते, सियार और भेड़िये लपके चले आ रहे थे। महर्षि उत्तंक अपने शिष्यों के साथ उधर से निकले तो यह दृश्य देखकर उन्हें हँसी आ गई।

शिष्यों ने पूछा—"भगवन्! इस दुःखद प्रसंग पर आपको हँसी क्यों आ गई?" महर्षि ने उत्तर दिया—"वत्स! जिन शरीरों के लिए युद्ध लड़ा गया, उनकी आज यह दशा है कि सियार उन्हें नोंच रहे हैं। यदि इतना ही ध्यान आत्मा का रखा गया होता तो यह बीभत्स परिस्थिति क्यों आती?"

सचमुच, अनवस्थित आत्मा शरीर का ही ध्यान अधिक रखता है, आत्मा का नहीं। इसी कारण शत्रुता पैदा होती है, स्वयं आत्मा ही अपना शत्रु बन जाता है।

अनवस्थित व्यक्ति एकनिष्ठ—एकमात्र आत्मनिष्ठ नहीं होता। वह बार-बार अपने विचार बदलता रहता है। संशय के झूले में झूलता रहकर वह किसी भी महान् कार्य में सफलता नहीं कर पाता। एक साथ दो घोड़ों पर सवारी नहीं की जा सकती, वैसे ही एक साथ दो विरोधी विचारों पर चलना ठीक नहीं कहा जा सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारिक जगत् में देखा जाये तो सफलता उसी को मिलती है, जो एकनिष्ठ होकर, एक लक्ष्य पकड़कर उसी दिशा में प्रगति करे। अपनी प्रतिभा को चारों ओर बिखेर देना, बहुत बड़ी भूल है। अनेक दिशाओं में मन को डुलाने और प्रतिदिन नया काम ढूंढने की अपेक्षा, यह अच्छा है कि काफी सोच-समझकर कोई मार्ग ग्रहण किया जाये और फिर उसी को दृढ़ता से पकड़े रहकर उसी दिशा में कदम बढ़ाया जाये। जो व्यक्ति सब कुछ ढूंढने का प्रयत्न करता है, उसे कुछ नहीं मिल पाता। लगातार एक जगह गिरने वाली बूंदें पत्थर में भी छेद कर सकती हैं पर लम्बी दौड़ में उछलता फिरने वाला नाले का पानी धड़धड़ाता हुआ क्षणभर में निकल जाता है, बाद में उसका नामोनिशान भी नहीं रहता। एक स्थान पर एकनिष्ठ होकर जमे रहकर कम योग्यता और कम शक्ति वाले मनुष्य भी कुछ न कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन अनेक दिशाओं में चित्त को डुलाने और किसी भी काम में न जमने वाले शक्ति-सम्पन्न और बुद्धिमान व्यक्ति भी महत्वपूर्ण कार्य कर पाने में असफल ही रहते हैं।

व्यावहारिक जगत् में जैसे अनेक दिशाओं में चित्त को डुलाने वाला व्यक्ति असफल रहता है, वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में अनेक दिशाओं में—आत्मनिष्ठा को छोड़कर मन, इन्द्रियाँ आदि के विषय-विकारों में भटकने वाले व्यक्ति भी असफल ही रहते हैं। वे निराश, हताश होकर अपने ही वैरी स्वयं हो जाते हैं, अपनी ही आत्महत्या कर बैठते हैं। ऐसे अनेक चित्तविभ्रान्त लोग आत्मनिष्ठा में जम नहीं पाते, उनमें बौद्धिक योग्यता, शारीरिक शक्ति और साधन सामग्री की प्रचुरता पर्याप्त होने पर भी वे आत्मनिष्ठ न होने से अनवस्थित रहते हैं, रात-दिन इसी संशय में पड़े रहते हैं—यह करूँ या वह करूँ? परन्तु कर कुछ भी नहीं पाते। एक व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा इस बात को स्पष्ट कर देता हूँ।

दुष्काल के दिन थे। एक व्यक्ति अपना घोड़ा लेकर सजल एवं उपजाऊ प्रदेश में जाने के लिए रवाना हुए। वहाँ पहुँचकर उसने एक हरा-भरा मैदान ढूंढ लिया और घोड़े को वहीं चरने के लिए छोड़कर स्वयं किसी आजीविका की खोज में निकल गया।

शाम को आकर देखा तो घोड़े के पेट में वैसे ही खड्डे पड़े थे, जैसे पहले थे। घोड़े का मालिक विचार में पड़ गया—मालूम होता है, सारे दिन भर में घोड़े ने कुछ भी नहीं खाया। शायद किसी जानवर का भय हो, किन्तु आस-पास खोज करने पर पता चला कि ऐसी बात यहाँ नहीं है। आखिर एक अनुभवी ने इस शंका का समाधान किया—"भाई! यह घोड़ा सारे दिनभर भूखा रहा है, उसका कारण यह है कि घोड़ा इसी शंका-कुशंका में रहा कि यहाँ घास अच्छा है या वहाँ? इसी उधेड़-बुन में उसने इधर-उधर चक्कर लगाये हैं। फलतः यह घोड़ा भूखा ही रह गया है।"

इस घोड़े जैसी अनवस्थित चित्तवृत्ति वाले व्यक्ति एकनिष्ठ नहीं होते। वे अपना चित डांवाडोल करते रहते हैं और इस घोड़े की तरह उनकी सफलता की भूख मिटती नहीं। वे खाली के खाली ही रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे अनवस्थित व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वयं ही दुश्मन बन जाते हैं।

मन की विशृंखलित, अस्तव्यस्त या अनेकाग्र दशा भी व्यक्ति की आत्मा को अनवस्थित कर देती है।

किसी वस्तु के विषय में मनुष्य अनजान हो सकता है, किन्तु उस कार्य में असफलता का कारण मनुष्य के चित्त की अस्थिरता या अनवधानता को ही कहा जायेगा। ज्ञान और अनुभव की कमी के कारण नहीं, किन्तु चित्त की अस्थिरता, असावधानी या दत्तचित्तता न होने के कारण ही कार्य में यथोचित सफलता या पूर्णता नहीं मिल पाती। जिस कार्य को कोई व्यक्ति जानता ही नहीं, उसमें भूल सम्भव है, उसे सीखना पड़ता है। मगर सीखने के बाद भी उस कार्य की सारी जटिलताएँ दूर नहीं हो जातीं। वे दूर होती हैं—स्थिरचित्त या दत्तचित्त होकर उस कार्य को करने से। किसी भी विषय में सफलता के लिए चित्त की स्थिरता और पूर्ण तन्मयता होनी आवश्यक है।

सीखने और जानने के लिए सही तरीका यह है कि बताने या सिखाने वाले की बातों को ध्यानपूर्वक, दत्तावधान होकर सुनते हैं या नहीं। स्वाध्याय में जो केवल पढ़ जाने की और धर्मोपदेश में जो केवल सुन जाने की क्रिया पूर्ण कर लेता है, उससे उसके पल्ले कुछ भी ज्ञान नहीं पड़ता, न उसका किसी तरह का मानसिक या चारित्रिक विकास हो पाता है। कोई विद्यार्थी यह कहे कि उसने सारी पाठ्यपुस्तकें दो-दो बार पढ़ी हैं, फिर भी उसे फेल कैसे कर दिया गया? तो यही समझना चाहिए कि उसने केवल पढ़ा है, उस पर एकाग्रता या ध्यानपूर्वक मनन नहीं किया। केवल ग्रन्थ के शब्द दुहराते चले जायें पर उनके अर्थ और आशय पर जरा भी ध्यान न दें तो उस स्वाध्याय या अध्ययन का लाभ ही क्या होगा? यही बात अनवस्थित व्यक्ति की आत्मा के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए।

एक उदाहरण द्वारा मैं अपनी बात को समझा देता हूँ—

श्रीपुरनिवासी वसु सेठ की पत्नी गोमती अपने पति के दिवंगत हो जाने के बाद अपने पुत्र धनपाल की पत्नी—पुत्रवधू—के साथ निरन्तर कलह किया करती थी।

एक दिन पुत्र ने कहा—'माँ! आप घर की चिन्ता छोड़कर धर्मध्यान में अपना चित्त लगाएँ। अब तक आपने घर के बखेड़ों में फँसे रहकर धर्म-श्रवण नहीं किया, अतः अब आप इधर की सब चिन्ता छोड़कर धर्म-श्रवण करें।" यों कहकर एक शास्त्रवाचक को अपने घर पर बुलाया। उसने शास्त्रवाचन प्रारम्भ किया।

गोमती शास्त्र सुनने बैठी, परन्तु उसका चित्त बिखरा रहता था, वह ध्यान नहीं देती थी। शास्त्रपाठक ने कहा—'**भीष्म उवाच**'। घर की खिड़की में से आधे घुसे हुए कुत्ते की तरफ गोमती का ध्यान गया, वह वहीं से 'हट हट' यों कहती हुई उठी और खिड़की के रखवाले पर नाराज होकर उसे उपालम्भ दिया। फिर वापस आकर शास्त्र सुनने बैठी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रपाठक ने फिर कहा—'भीष्म उवाच' इतने में तो गोमती ने रसोईघर के पास बिल्ली देखी। झटपट उठकर 'छिरि-छिरि' कहते हुए बिल्ली भगाई। फिर रसोइये पर रुष्ट होकर उसे डाँटने लगी। वहाँ से आकर फिर शास्त्र सुनने बैठी।

शास्त्रपाठक फिर बोला—'भीष्म उवाच'। इसी दौरान बछड़ा खुल गया। उसे देखकर गोमती दौड़ी और जोर-जोर से चिल्लाने लगी—अरे, बछड़ा खुल गया है। फिर बछड़े के पालक पर रोष किया और पुनः आकर सुनने बैठी।

शास्त्रपाठक का 'भीष्म उवाच' कहना था कि कौए काँव-काँव करने लगे। इसलिए वहीं से मुँह टेढ़ा करके नौकर को डाँटने लगी। बीच-बीच में फिर कोई याचक आ जाता तो गोमती बार-बार उठती रही। यों शास्त्रवाचन का एक पहर पूरा हो गया।

अतः शास्त्रपाठक अपने घर गया। फिर दूसरे दिने प्रातः शास्त्रपाठक आया, तब भी सेठानी की सुनने की वही पुरानी रीति रही। कान सुनने में रहते, पर मन कहीं और रहता, आँखें कहीं और दौड़तीं। बेचारा शास्त्रपाठक सुनाते-सुनाते थक गया, परन्तु गोमती सेठानी के पल्ले कुछ भी न पड़ा, न उसके जीवन में कोई परिवर्तन आया। आत्मा वही पुरानी पापिन रही। भला ऐसे अनवस्थित-दत्तावधानरहित व्यक्ति की आत्मा धर्म-श्रवण न करने तथा अधर्मपथ को न छोड़ सकने के कारण उसकी शत्रु ही तो बनेगी ?"

वास्तव में पठन-पाठन या श्रवणादि कोई भी कार्य मनोयोगपूर्वक न करने से आत्मा में कोई सुधार या विकास नहीं हो सकता।

जो व्यक्ति परमात्मा (शुद्ध आत्मा) से ध्यान हटाकर विषय-विकारों में, सांसारिक प्रपंचों में लगाता है, उसकी आत्मा भी अनवस्थित कहलाती है। परमात्मा से ध्यान हटाकर विषय-वासनाओं या सांसारिक राग-द्वेषमय प्रपंचों में लगाने से व्यक्ति का जीवन पतन की ओर जाता है, उसकी आत्मा स्थानभ्रष्ट होकर नाना कर्मबन्धनों से जकड़ जाती है, फिर उनका दुःखद फल उसी आत्मा को भोगना पड़ता है। यही तो आत्मा की आत्मा के साथ शत्रुता है। जो व्यक्ति परमात्मा में अपना चित्त इतना एकाग्र कर लेता है कि अपने आस-पास के घटनाचक्र की ओर उसका बिलकुल ध्यान नहीं जाता, वही अपनी आत्मा को अवस्थित एवं मित्र बनाता है।

हजरत गोश नामक एक मुस्लिम महात्मा बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। उनके पड़ोस में एक द्वेषी मनुष्य रहता था। जब 'हजरत गोश' नमाज पढ़ते थे, तब वह उनके नमाज पढ़ने में विघ्न डालने के लिए जोर-शोर से किसी-न-किसी प्रकार की आवाज किया करता था।

जब यह सिलसिला प्रतिदिन चलने लगा, तब एक दिन उनके एक शिष्य ने उनसे कहा—"हजरत ! अपने इस पड़ोसी को आप क्यों नहीं कुछ कहते ?" हजरत गोश ने पूछा—"क्यों भाई ! इसने मेरा क्या बिगाड़ा है ?" शिष्य बोला—"जब-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब हम नमाज पढ़ते हैं, तब-तब आपको पता है, यह कैसी-कैसी जोर-जोर से आवाजें करता है। ऐसी स्थिति में नमाज पढ़कर चित्त खुदा में ओत-प्रोत होने के बदले हमारा चित्त इन आवाजों में ही लग जाता है।"

हजरत ने कहा—"भाई ! मुझे तो इस बात का आज ही पता चला कि मैं जब-जब नमाज पढ़ता हूँ, तब-तब मेरा पड़ोसी आवाज करता है। परन्तु मैं तो जब नमाज पढ़ने बैठता हूँ, तब मेरा मन खुदा के साथ इतना तन्मय हो जाता है कि मेरे आस-पास क्या हो रहा है, इसका मुझे जरा भी पता नहीं होता।"

सचमुच, जो व्यक्ति आत्मस्वरूप—परमात्मा के ध्यान में मन को ओत-प्रोत नहीं करता, तथा अनवस्थित होकर इधर-उधर की विषय-कषायों की झाड़ियों में उलझकर अपनी आत्मा को बन्धनों में जकड़ लेता है, वह अपनी आत्मा का शत्रु क्यों नहीं बनता ? अवश्य बनता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति मन को शान्त और सन्तुलित रखकर काम नहीं करता, उसकी आत्मा भी अनवस्थित है। जब मन अशान्त और असन्तुलित होगा तो काम में कई भूलें होंगी। मन शान्त नहीं होगा तो पति-पत्नी में झगड़ा होना सम्भव है। जब दिमाग असन्तुलित होगा तो गृहिणी द्वारा चाय बनाते समय उसमें चीनी या तो कम-ज्यादा पड़ जाएगी, या फिर चीनी के बदले नमक भी पड़ना सम्भव है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है, परस्पर अपशब्दों की बौछार हो जाए या झगड़ा होने से कर्मबन्ध का दौर चल पड़े। वह सारा दिन यों ही गर्मागर्मी में व्यतीत होगा। इसी कारण अशान्त और असन्तुलित मन-मस्तिष्क से काम करने वाले के सभी काम बिगड़ते हैं। साधना में तो अशान्त और असन्तुलित मन-मस्तिष्क आत्मा को राग-द्वेष और कषायों की आग में झोंक ही देता है।

भूलें प्रायः अशान्त चित्त होने से ही होती हैं। शान्त और एकाग्रचित्त होकर साधना करने से, भूल का भी पता लग जाता है, साधना भी अच्छे ढंग से होती है। अन्यमनस्कता के कारण कोई भी कार्य ढंग से नहीं होता।

जो व्यक्ति अपने चित्त को एकाग्र, तन्मय या तल्लीन नहीं कर पाता, उसकी अनवस्थित आत्मा किसी भी आध्यात्मिक सामाजिक या व्यावहारिक सत्कार्य में सफल नहीं हो सकती।

एक डाक्टर ने नैपोलियन से पूछा—"आप जिन कार्यों को हाथ में लेते हैं, उनमें सफलता प्राप्त करते हैं, इसका मुख्य कारण क्या है ?" नैपोलियन ने कहा—"मैं जो काम हाथ में लेता हूँ, उसमें तल्लीन हो जाता हूँ। यह काम कैसे सफल होगा ? कहाँ-कहाँ विघ्न आ सकते हैं ? उसका सामना कैसे करेंगे ? इन सब विचारों में मेरा मन एकाग्र हो जाता है। और फिर मैं इस कार्य के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार करने के बाद ही उसे शुरू करता हूँ। एक कार्य करते समय मैं दूसरा कार्य हाथ में नहीं लेता, न उसका विचार ही करता हूँ। जिस समय जो कार्य करना होता है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसी विषय का अपने दिमाग में बनाया हुआ खाना बाहर निकालता हूँ और उसी में ओतप्रोत हो जाता हूँ।"

इसी प्रकार आध्यात्मिक कार्य को सिद्ध करते समय साधक को अपनी समस्त शक्तियाँ उसी में लगा देनी चाहिए, अन्यथा अनवस्थित व्यक्ति उस कार्य को फूहड़ ढंग से करेगा, जिसकी प्रतिच्छाया आत्मा पर पड़े बिना न रहेगी।

बन्धुओ ! ये सब अनवस्थित और अवस्थित आत्मा को पहचानने के माध्यम हैं। आप भी अपनी आत्मा को अनवस्थित बनकर शत्रु होने से बचाएँ। अवस्थित आत्मा ही साधक को स्वर्ग और मोक्ष तक ले जा सकती है।

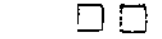

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५८

शीलवान आत्मा ही यशस्वी

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आध्यात्मिक जीवन ही आत्मा का विकास और उत्थान करने वाला जीवन है। इस जीवन में व्यक्ति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अंगोपांग, समाज, जाति, राष्ट्र आदि की दृष्टि से न सोचकर विशुद्ध आत्मा की दृष्टि से सोचता है। जब एक आध्यात्मिक पुरुष अपनी शुद्ध आत्मा की दृष्टि से अपने विकास और ह्रास, उत्थान और पतन, उन्नति और अवनति, श्रेय और प्रेय तथा प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित आदि पर गहराई से चिन्तन करता है तो उसे यह भी सोचना आवश्यक हो जाता है कि मेरी आत्मा का विकास कैसे होता है और ह्रास कैसे ? मेरी आत्मा के उत्थान का क्या कारण है, पतन का क्या ? इसी प्रकार उन्नति और अवनति का हेतु क्या है ? मेरी आत्मा कब प्रतिष्ठित कहलाती है, कब अप्रतिष्ठित ? इसी चिन्तन में सहायभूत जीवनसूत्र महर्षि गौतम ने दिया है जिस पर आज मैं आपके समक्ष विश्लेषण प्रस्तुत करूँगा।

गौतमकुलक का यह अड़तालीसवाँ जीवनसूत्र है। वह इस प्रकार है—

'अप्पा जसो सीलमओ नरस्स।'

"शीलवान व्यक्ति की आत्मा यशस्वी होती है।"

शील ही यश का स्थायी मूलाधार

मनुष्य यशस्वी बनने के लिए अनेकों उपाय सोचता रहता है; दान, परोपकार, पुण्य आदि कार्य करता भी है, किन्तु उनसे जो यश मिलता है, वह स्थायी नहीं होता, वह उस मनुष्य के किसी न किसी बुरे ऐब के कारण धुल जाता है। यश का पौधा लोकापवाद की एक आँधी आते ही उखड़ जाता है। मनुष्य चाहे शरीर से पहलवान हो, सुन्दर और सुडौल हो तो गामा आदि पहलवानों की तरह थोड़ी-सी नामबरी हो जाती है। सुन्दर शरीर वाले की सनत्कुमार आदि की तरह कुछ अर्से तक—जब तक शरीर जरा-जीर्ण या रोगाकीर्ण नहीं हो जाता, तब तक लोग प्रशंसा के फूल चढ़ा देते हैं। उसके सौन्दर्य में वासवदत्ता की तरह व्याधिग्रस्त न होने तक कामी पुरुषों का आकर्षण रहता है जिससे वह थोड़ी-सी प्रशंसनीय हो जाती है। कोई धनवान होता है, सत्ताधीश होता है या कोई अधिकारी होता है, वह धन, सत्ता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

या अधिकार के बल पर कुछ अर्से तक बनावटी यश पा लेता है। आखिरकार केवल धन, सत्ता, बल या अधिकार के बलबूते पर कमाया हुआ यश चार दिनों की चाँदनी बनकर रह जाता है। या तो वह धनिक, सत्ताधारी, बलशाली अथवा अधिकारी के किसी दुराचार, अत्याचार, अनाचार या पापकर्म अथवा किसी बुरे ऐब के कारण अपयश में परिणत हो जाता है, या फिर वह धन, सत्ता आदि के समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो जाता है। भौतिक वैभव के बल पर अर्जित यश कभी चिरस्थायी नहीं होता।

कहते हैं रावण बहुत विद्यावान, बलवान एवं बुद्धिमान था, सत्ताधीश भी था, उसकी धाक दूर-दूर तक पड़ती थी, किन्तु महासती सीता का कामुक दृष्टि से अपहरण करने के बाद उसका यश क्षीण हो गया, वह अपयश में परिणत हो गया। दुर्योधन, कंस आदि सब सत्ताधीश थे, लेकिन उनके अन्याय-अत्याचारपूर्ण कारनामों के कारण उनको मिला हुआ यत्किंचित् यश भी मिट गया, जनता द्वारा उनके अपयश की दुन्दुभि बजाई जाने लगी थी। यश तभी स्थायी रह सकता है, जबकि मनुष्य में शील-चारित्र या सदाचार हो। शील के बिना यश कदापि टिक नहीं सकता, चाहे व्यक्ति कितना ही धनवान हो, बलवान हो, विद्यावान हो, ऐश्वर्यवान हो या सत्ताधीश हो। यश के लिए धन, बल, सत्ता या ऐश्वर्य आदि का होना कोई आवश्यक नहीं है। एक निर्धन, सत्ताहीन, अधिकार या पद से रहित अथवा विद्या-बुद्धि से रहित व्यक्ति भी शीलगुण के आधार पर यश प्राप्त कर सकता है, और वह यश चिरस्थायी होता है। अगर शीलगुण के साथ धन, पद, अधिकार बल आदि हों तो कहना ही क्या है? परन्तु शील न हो और केवल धन, बल, विद्या आदि में से कोई एक या सभी हों, तो भी मनुष्य चिरस्थायी यश प्राप्त नहीं कर सकता।

पाश्चात्य विद्वान D. L. Moody (डी. एल. मूडी) ने शील और यश का स्थायी सम्बन्ध बताते हुए कहा—

"If I take care of my character, my reputation will take care of itself."

"अगर मैं अपने चरित्र (शील) का संरक्षण करूँगा तो मेरा यश भी स्वयं अपना संरक्षण करेगा।"

शीलगुण ही एक ऐसा सद्गुण है, जो न धन से प्राप्त हो सकता है, न सत्ता से, और न ही अन्य किसी भौतिक सम्पदा से। यह तो मनुष्य के जीवन की पवित्र संस्कार-धरोहर है, अथवा शुद्ध आचरण की सौरभ है, जिससे यश भी सुगन्धित हो जाता है, या आकर्षित हो जाता है और अपनी सुगन्ध दूर-दूर तक फैलाता है। बौद्धधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ 'धम्मपद' एवं 'विसुद्धि मग्गो' में शील की सुगन्ध की व्यापकता बताते हुए कहा है—

चंदनं तगरं वापि, उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं, सीलगन्धो अनुत्तरो॥४-१२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्पमत्तो अयं गंधो, यायं तगरचंदनी।
या च सीलवंतं गंधो, वाति देवेसु उत्तमो ॥४-१३॥
सीलगंधसमो गंधो कुत्तो नाम भविस्सति।
यो समं अनुवाते च परिवाते च वायति ॥विसु० प० १॥

चन्दन या तगर, कमल या जूही, इन सभी सुगन्धों से शील की सुगन्ध श्रेष्ठ है। चन्दन और तगर की जो यह गन्ध फैलती है, वह तो अल्पमात्र है, किन्तु जो यह शीलवन्तों की गन्ध है, वह उत्तम देवों तक फैलती है।

शील की सुगन्ध के समान दूसरी गन्ध कहाँ से होगी? जोकि अनुकूल हवा के बहने पर तथा विपरीत हवा के बहने पर भी एक समान बहती है। निष्कर्ष यह है कि शील की सुगन्ध अप्रतिहत और चिरस्थायी है, वह देवों, दानवों, मानवों और पशुओं तक भी पहुँचती है। वे भी शीलवान की सुगन्ध पाकर उनसे आकर्षित होते हैं, उसकी शील से पवित्र आत्मा का यशोगान करते हैं। उसके चरणों में नतमस्तक होते हैं, उसके अनुकूल होकर उसके मनोवांछित सत्कार्यों को सफल करने में सहयोगी बन जाते हैं।

इसीलिए पश्चिम के प्रसिद्ध साहित्यकार सेक्सपीयर (Shakespeare) ने यश के भूखे लोगों को चेतावनी देते हुए कहा है—

"See that your character is right, and in the long run your reputation will be right.

"देखो कि तुम्हारा शील (चरित्र) ठीक है तो अन्ततोगत्वा तुम्हारा यश भी ठीक होगा।"

वास्तव में देखा जाए तो शील के सुहावने प्रकाश-स्तम्भ पर ही यश का प्रकाश चिरस्थायी रहता है। जहाँ शील नहीं होगा, वहाँ अन्यान्य गुण हुए तो भी उसका प्रकाश चिरस्थायी नहीं रहेगा।

एक व्यक्ति बहुत दानी है, परोपकार के कार्य करता है, जो भी जरूरतमन्द आते हैं, उन्हें आवश्यक मदद देता है, किन्तु उसका शील ठीक नहीं है, वह पराई बहू-बेटियों को फँसाता है, धन या सत्ता के बल पर वह उनको शीलभ्रष्ट करता है, अथवा गरीबों का शोषण करता है, उन पर अत्याचार करता है, ऋण लेने वालों से बहुत ही ऊँचे दर का ब्याज लेता है, कर्मचारियों को उनका मेहनताना पूरा नहीं देता। ऐसी स्थिति में उस दानादि परायण व्यक्ति को दान आदि के बल पर जो भी थोड़ा-बहुत यश मिलने लगा था, वह भी शील न होने से लोक हृदय से लुप्त हो जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में शील एवं संयम पालन न करने वाले दानपरायण की अपेक्षा अदानपरायण, किन्तु शील-संयमवान को श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेओ, अदितस्स वि किंचणं ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'जो व्यक्ति प्रतिमास लाख-लाख गायें दान देता है, किन्तु जीवन में शील या संयम की साधना नहीं करता, उसकी अपेक्षा वह व्यक्ति श्रेष्ठ है, जो किसी को धन या भौतिक साधन कुछ भी न देता हुआ भी शील-संयम का पालन करता है।'

निष्कर्ष यह है कि शीलरहित व्यक्ति का दानादि से यश उपार्जित करने की अपेक्षा शीलसहित होकर रहना अच्छा है, भले ही वह दानादि न कर पाता हो, किन्तु एकमात्र शील ही उसे प्रचुर यश प्राप्त करा सकता है।

शीलरहित होने की स्थिति में व्यक्ति चाहे जितना सत्ता, धन, बल और वैभव का स्वामी हो, वह यश तो क्या अपयश ही अधिक कमाता है, प्रतिष्ठा का तो क्या, अप्रतिष्ठा का ही भाजन बनता है। वह सर्वत्र अनादर पाता है, कहीं भी उसका सत्कार नहीं होता। उत्तराध्ययन सूत्र में सड़ी हुई कुतिया का रूपक देकर इस बात को समझाया गया है—

जहा सुण्णी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए मुहरी निक्कसिज्जइ॥

'जिसके कान से मवाद बहने के कारण दुर्गन्धित एवं सड़ा हुआ शरीर हो, उस कुतिया को जैसे सब जगह से दुत्कार कर निकाल दिया जाता है, वैसे ही जो व्यक्ति शीलभ्रष्ट हो, गुरुजनों के प्रतिकूल हो और बढ़-बढ़कर बोलता हो, वह अनादरपूर्वक निकाल दिया जाता है।'

मतलब यह है कि मनुष्य चाहे जितना भी बलिष्ठ, सत्ताधीश; धनाढ्य या उच्च पदाधिकारी क्यों न हो, यदि वह शीलरहित है, चरित्रभ्रष्ट है, दुराचारी है, तो उसका सभी अनादर करेंगे, कोई भी उसका यशोगान या प्रशंसानुवाद नहीं करेगा।

महाभारत का एक सुन्दर उदाहरण इस सम्बन्ध में याद आ रहा है—

महाराजा विराट् का साला और उनका सेनापति कीचक अपने समय का बहुत बड़ा वीर, साहसी और बलिष्ठ योद्धा था। महाराजा विराट् कीचक के बल पर शत्रुओं से निश्चिन्त होकर चैन की नींद सोते थे। लेकिन कीचक बहुत बड़ा मद्यप और व्यभिचारी था। व्यभिचार-दोष के कारण उसके ये सारे गुण भी अवगुण बन गये थे। स्वयं महाराजा विराट् भी उसकी इस दुष्टता के कारण उससे अप्रसन्न थे। कीचक उनके लिए आवश्यक भी था और त्याज्य भी।

कीचक की व्यभिचारवृत्ति—शीलभ्रष्टता—के कारण अन्तःपुर की दासियाँ तक त्रस्त रहती थीं और मन ही मन भगवान से उसके विनाश की मनौती करती थीं। बेचारी विवश एवं निर्बल अबलाओं की मनौती पूरी होने का संयोग उपस्थित हुआ। अज्ञातवास के समय अपने पाण्डवपतियों के साथ द्रौपदी भी 'सैरिन्ध्री' के नाम से महाराजा विराट् की सेवा में आ गई थी। वेश-भूषा सादी होने पर भी उसका वास्तविक रूप-लावण्य छिपा नहीं रहा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन कीचक की दृष्टि उस पर पड़ गई। उस निर्लज्ज ने अपनी बहन से उसका परिचय पूछा। पता चला कि अभी हाल ही में नियुक्त की गई एक नयी दासी है। बस, कीचक ने उसे अपनी भोग्य-वस्तु समझ लिया और विलास कक्ष में उपस्थित होने का आदेश दे दिया। द्रौपदी ने रानी से रक्षा करने की प्रार्थना की तो उत्तर मिला—"मेरा साहस नहीं है, कीचक बड़ा ही दुष्ट और दुर्धर्ष है। इच्छा पूरी न होने पर उपद्रव खड़ा कर देगा। मैं इस विषय में कुछ नहीं कर सकती। और न यह महाराज के ही बस की बात है।"

कीचक का दुःसाहस सुनकर भीम कोपाविष्ट हो उठे। उन्होंने द्रौपदी से कीचक को महल के पीछे को वाले घुड़साल में लाने को कहा। भीम के परामर्श के अनुसार द्रौपदी ने कीचक को निर्जन घुड़साल में मिलने के लिए आमन्त्रित किया। द्रौपदी के वस्त्र पहनकर भीम उसके स्थान पर जाकर पहले से ही बैठ गये। नियत समय पर मद्य और कामवासना से उन्मत्त कीचक घुड़साल में आया और भीम को ही द्रौपदी समझकर उन्हें बहुओं में भर लिया। किन्तु जब भीम ने उस कामान्ध को अपनी बलिष्ठ लौह-भुजाओं में दबाया तो उसका सारा नशा उतर गया, लेकिन अब होश आना बेकार था। भीम ने उसे ऐसा दबाया कि उसके प्राण तो निकल गये पर आवाज न निकलने पाई। अनन्तर उन्होंने उसके हाथ पैर तोड़कर उसके पेट में खोंस दिये और उसे गठरी-सा बनाकर अश्वशाला के द्वार पर टाँग दिया। भीम चुपचाप अपने शयनकक्ष में आकर सो गये। वासना के कीड़े बलवान कीचक का कोई नाम लेवा भी न रहा, यश तो उसका पहले ही विदा हो चुका था, अब तो उसके अपयश के ढोल पीटे जा रहे थे। वह तो कुत्ते की मौत मरकर कभी का दुर्गति में पहुँच गया था।

कीचक को केवल बलवान, सत्तावान या पदाधिकारी होने से ही यश नहीं मिला, इन गुणों के साथ शील होता तो उसे अवश्य ही यश मिलता, लेकिन शील न होने से यह सब गुण या विशेषताएँ पानी से रहित धान की खेती ही सिद्ध हुई।

शीलवान आत्मा ही सच्चे माने में यशस्वी

शरीर चाहे कितना ही गोरा, बलिष्ठ, सुदृढ़ और सुडौल हो, अगर उसमें शीलवान आत्मदेव विराजमान नहीं है तो उस शरीररूपी मन्दिर की क्या कीमत है, क्या शोभा है? कोई मन्दिर चाहे कितना ही सुन्दर संगमरमर का बनाया गया हो, जगह-जगह नक्काशी का काम किया गया हो, परन्तु अगर उसमें किसी भी देव या भगवान की प्रतिकृति की प्राणप्रतिष्ठा नहीं की गई है, या वहाँ कोई भी मूर्ति नहीं है तो सगुण-उपासक लोग उस मन्दिर में नहीं फटकेंगे। मन्दिर की प्रतिष्ठा या यशकीर्ति उसमें विराजमान की हुई इष्टदेव की प्रतिकृति के कारण होती है। इसी प्रकार देह बहुत ही शृंगारित की गई हो, सुन्दर वेश-भूषा से सुसज्जित हो, लेकिन उसमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मदेव—शीलवान आत्मदेव विराजमान न हो तो उसकी प्रतिष्ठा और यशकीर्ति कोई नहीं करेगा ? केवल शरीर को कोई यश नहीं मिलता, शरीर से सम्बन्धित धन, बल, सत्ता को कदाचित मिल भी जाए तो भी उसका ज्यादा से ज्यादा तभी तक टिकना सम्भव है जब तक कि शरीर में आत्मा है। जब शरीर से आत्मा विदा हो जाता है, तब उस शरीर को कोई यश कीर्ति या प्रतिष्ठा नहीं मिलती, लोग उसकी आत्मा में निहित शीलगुण के कारण ही उस व्यक्ति के यशोगान करते हैं।

एक दृष्टि से देखा जाए तो यश शरीर है और शील आत्मा है। शरीर चला जाता है तो बाह्य यश भी समाप्त हो जाता है, किन्तु यदि आत्मा शीलयुक्त हो तो वह आन्तरिक यश से ओतप्रोत हो जाता है, और उस शीलवान आत्मा को मनुष्य ही नहीं, देव एवं देवराज इन्द्र तक भी जानने लग जाते हैं।

पाश्चात्य विचारक पैने (Paine) ने ठीक ही कहा है—

"Reputation is what men and women think of us, character is what God and angels know of us."

'यशकीर्ति वह है, जिसके कारण नर और नारी हमारे विषय में सोचते हैं, किन्तु शील (चरित्र) वह है जिसके कारण परमात्मा और देवदूत तक हमारे विषय में जानते हैं।'

इस दृष्टि से शीलवान आत्मा का ही यश वास्तविक, प्रशस्त, आन्तरिक, सर्वमान्य और चिरस्थायी होता है।

जैन इतिहास प्रसिद्ध सुदर्शन सेठ बहुत सुन्दर था, गौरवर्ण था, धनवान था, राजमान्य था, इतने मात्र से उसे यश नहीं मिल पाया, न मिल पाता और मिलता तो भी वह क्षणिक होता। अगर सुदर्शन सेठ में शील न होता तो केवल शरीर-सौष्ठव या धनादि बाह्य भौतिक साधनों के आधार पर कदाचित् यश मिलता तो भी वह चिरस्थायी न रहता।

किन्तु सुदर्शन सेठ का शरीर छूटे आज हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उसका यश कायम है। उसकी आत्मा शीलवान थी, उसने अपने आत्मबल पर शील गुण को सुदृढ़ और प्रतिष्ठित किया था, कई प्रलोभनों और आतंकों व उपसर्गों के झंझावात आ जाने पर भी उसने अपने शीलगुण को सुरक्षित रखा, उसे नष्ट न होने दिया, इसी कारण उसका नाम और यश आज भी अजर-अमर है।

इसलिए शीलवान आत्मा ही सच्चे माने में यशोभाजन होती है, उसी का बोलबाला होता है, उसी आत्मा में सब चमत्कार होते हैं।

शीलवान आत्मा की पहचान

यहाँ प्रश्न होता है कि शीलवान आत्मा की पहचान कैसे हो ? किसकी आत्मा शीलवान है, यह कैसे पता चल सकता है ? यद्यपि शील एक आत्मभावना है, वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर् की वस्तु है, उसके पालन के लिए भी आत्मा की दृढ़ता अपेक्षित होती है, तथापि शीलवान व्यक्ति के बाह्य आचरणों, व्यवहारों तथा प्रवृत्तियों से उसकी आन्तरिक शीलविषयक भावनाओं का पता चल जाता है।

जैन समाज में यह प्रथा प्रचलित है कि जब कोई गृहस्थ आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने को उद्यत होता है तो वह उस संकल्प को स्वयं अकेले में, मन-ही-मन नहीं ग्रहण करता; अपितु आम धर्मसभा में सबके समक्ष गुरुमुख से आजीवन शीलपालन की प्रतिज्ञा लेता है। उसके पश्चात वह अपनी ओर से शील प्रतिज्ञा ग्रहण करने की खुशी में, सबकी आन्तरिक शुभेच्छाएँ प्राप्त करने की दृष्टि से प्रभावना (लाहणी) वितरित करता है।

उसके शीलव्रत के आजीवन संकल्प से प्रभावित होकर दूसरे लोग भी आजीवन शीलव्रत स्वीकार करने के लिए प्रेरित होते हैं।

जैन इतिहास में प्रसिद्ध श्रावक पेथडशाह के जमाने की बात है। उनके नगर के किसी श्रावक ने आजीवन शीलव्रत धारण करने वाले भाई-बहनों की धर्मभावना को प्रोत्साहित करने हेतु अपनी ओर से उनको प्रभावना (लाहणी) वितरित कराई। सभी शीलव्रतधारी भाई-बहनों को लाहणी दे चुकने के बाद पेथडशाह को धर्म का अग्रणी समझकर वह श्रावक लाहणी प्रदान करने लगा। इस पर पेथडशाह ने पूछा—"भाई! यह लाहणी किस बात की दी जा रही है?"

श्रावक ने नम्रतापूर्वक कहा—"श्रीमान्! मैंने आज शीलव्रतबद्ध श्रावक-श्राविकाओं को लाहणी दी है। आप भी हमारे धर्म के अग्रगण्य तथा मान्य धर्मिष्ठ श्रावक हैं। अतः आपके सम्मानार्थ आपकी सेवा में यह तुच्छ भेंट देना चाहता हूँ, आप इसे स्वीकार करें।"

पेथडशाह ने कहा—"श्रावकवर! धन्य है, उन शीलव्रतधारियों को! मैंने तो अभी तक आजीवन पूर्णशीलव्रत लेने का विचार भी नहीं किया, अतः मैं वह लाहणी लेने का अधिकारी नहीं हूँ। फिर भी सहधर्मी भाई की भेंट को ठुकराना धर्म एवं शासन की अवज्ञा होगी, इसलिए मैं आज से ही गुरुदेव के समक्ष अभी पूर्ण-शीलव्रत ग्रहण करके आपकी लाहणी को स्वीकार करता हूँ।" उस श्रावक के मुँह से बरबस धन्यवाद का स्वर फूट पड़ा। पेथडशाह ने भरजवानी में, सिर्फ बत्तीस वर्ष की वय में पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार करके युवकों के लिए एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

हाँ तो, शीलवान आत्मा की एक पहचान तो यह है कि वह जनसमुदाय के समक्ष, गुरुजन हों तो उनके सान्निध्य में **आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार करता है।** अगर पत्नी जीवित हो तो पति-पत्नी दोनों ही इस प्रतिज्ञा को ग्रहण करते हैं।

शीलवान की दूसरी पहचान यह है कि वह सदाचारी एवं सच्चरित्र होगा। सदाचार या चारित्र के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहवृत्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का समावेश हो ही जाता है, क्योंकि बौद्धधर्म में ये 'पंचशील' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पाँचवाँ शील वहाँ अपरिग्रहवृत्ति के बदले मादक वस्तु का त्याग है।

भगवती सूत्र में शीलसम्पन्न और श्रुतसम्पन्न की चौभंगी का वर्णन है, वहाँ शील शब्द से चारित्र अर्थ का ही ग्रहण किया जाता है। चारित्र में अहिंसा, सत्य पाँचों व्रत आ जाते हैं। जो व्यक्ति शील का पालन करेगा, वह साधु हो, चाहे श्रावक अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार इन पाँचों व्रतों का पालन करेगा ही। जो साधु पूर्ण रूप से शील अंगीकार करेगा, यदि वह जीवहिंसा करेगा, असत्य बोलेगा, चोरी करेगा या परिग्रहवृत्ति रखेगा तो समाज या नगर में कोई उसे शीलवान कहने को तैयार न होगा। इसी प्रकार जो गृहस्थ मर्यादित रूप से शील का—स्वपत्नी सन्तोषव्रत को स्वीकार करेगा, अथवा सपत्नीक पूर्णतया शीलव्रत अंगीकार करेगा, वह यदि अपनी गृहस्थ श्रावक की भूमिका के अनुरूप अहिंसा-सत्यादि की मर्यादा लांघकर हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह-सीमातिक्रमण आदि करेगा तो जनता उसे शीलपालक या सच्चरित्र नहीं कहेगी। इस दृष्टि से शील में पाँचों व्रतों का समावेश हो जाता है। और शीलवान की पहिचान इन पाँचों व्रतों के पालन—अहिंसादि धर्म के आचरण से हो जाएगी।

तत्त्वार्थ सूत्र में शील शब्द से सात उपव्रतों (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) का ग्रहण किया गया है। वहाँ **'व्रतशीलेषु पंच-पंच यथाक्रमम्'** कहकर पाँच अणुव्रत और सात शील के क्रमशः पाँच-पाँच अतिचार बताये हैं। इस दृष्टि से शील का अर्थ होता है—जीवन में खान-पान, शयन, रहन-सहन आदि की मर्यादाओं में रहना, इन्द्रिय-विषयों पर अनासक्ति और कषायों पर विजय प्राप्त करने का पुरुषार्थ, इन्द्रियों और मन की सुन्दर आदतें, सुस्वभाव और दानादि उदार व्यवहार अथवा नम्रता का व्यवहार।

अन्तर्राष्ट्रीय (राजनीतिक) पंचशील में भी अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, सह-अस्तित्व, सार्वभौमत्व, परस्पर सहयोग—यह राष्ट्रीय आचार संहिता आ जाती है। इस अन्तर्राष्ट्रीय पंचशील से राष्ट्रों के लिए चरित्र का पालन अभीष्ट है।

इस प्रकार चारित्र, सदाचार, सच्चरित्रता, सद्व्यवहार, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-मनःसंयम आदि के पालन से शीलवान को देखा-परखा जा सकता है। संजुत्तनिकाय में शीलवान की पहचान बताते हुए कहा है—

'पंडितो सीलसंपन्नो जलं अग्गीव भासति'

'शीलसम्पन्न पण्डित प्रज्वलित अग्नि की तरह प्रकाशमान होता है।'

शील का अगर ब्रह्मचर्य अर्थ ही लें, तो भी वह इतना महान व्रत है कि उसके अन्तर्गत सभी व्रतों का पालन आ जाता है। इसके अतिरिक्त तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता, गुप्ति आदि का भी आचरण ब्रह्मचर्य में गिना गया है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में बताया गया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"एक्कंमि बंभचेरे जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती मुत्ती गुत्ती तहेव य।"

"ब्रह्मचर्य सभी व्रतों में बड़ा व्रत है। इसकी आराधना से सभी व्रतों की आराधना हो जाती है। ब्रह्मचर्य की साधना के साथ सत्य, शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता एवं गुप्ति इन सभी की साधना हो जाती है।"

इस दृष्टि से मर्यादित या पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ-साथ शीलवान के जीवन में प्रायः सभी व्रत और सभी सद्गुण आ जाने चाहिए, तभी शीलवान की आत्मा यशस्वी और सफल हो सकती है।

शीलवान की आत्मा कितनी प्रभावशाली व महान !

शील के आचरण से शारीरिक ही नहीं, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सर्वतोमुखी विकास होता है। शील शरीर, मन और आत्मा तीनों को बलवान बनाता है। मानव-जीवन में पड़ी हुई कुटेवें, बुरे स्वभाव, बुरे आचरण, बुरी वृत्तियाँ, मन के खराब विकल्प, पाँचों इन्द्रियों की विषयों में भटकने की आदत, शरीर को लगे हुए कुव्यसन, खान-पान और वचन पर असंयम, मैथुनसेवन-लालसा आदि सभी दुर्गुणों, दुराचारों-अनाचारों एवं दुर्व्यवहारों को दूर करके जीवन में सुन्दर आदतों, सुस्वभाव, सदाचार, मन में सद्विचार, इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनासक्ति, खान-पान, शयन एवं वचन में विवेक एवं सुन्दर व्यवहार की स्थापना करने, जीवन को सुसंस्कारी बनाकर उन्नत दशा पर पहुँचाने और सद्गुणों से विभूषित करने वाला अगर कोई है तो 'शील' ही है। शील की महिमा-गान योगी भर्तृहरि के शब्दों में देखिए—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता, शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो, वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

'ऐश्वर्य का आभूषण सौजन्य है, शौर्य का वाणी पर संयम है, ज्ञान का उपशम है, श्रुत का विनय है और धन का आभूषण है—पात्र में व्यय करना। इसी प्रकार तपस्या का अक्रोध, समर्थ का क्षमा और धर्म का निश्छलता आभूषण है। परन्तु इन गुणों का सर्वस्व कारण यह शील है, जो सर्वश्रेष्ठ आभूषण है।'

शील के माहात्म्य का क्या वर्णन किया जाए। अगर गहराई से सोचा जाए तो सारा कुटुम्ब, नगर, ग्राम, राष्ट्र एवं विश्व तक शील पर टिका हुआ है। जहाँ शील है, वहीं परस्पर एक-दूसरे का प्रेम निभता है, विश्वास टिकता है, सम्पदाएँ आती हैं, सुव्यवस्था और सुख-शान्ति व्याप्त रहती है, इसीलिए कहा गया है—

शील रतन सबसे बड़ो, सब रतनों की खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ शील और सदाचार की मर्यादाएँ लुप्त हो जाती हैं, वहाँ परिवार का सर्वनाश हो जाता है, सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है, समाज पिशाचों का निवास बन जाता है, उस राष्ट्र में स्वच्छन्दता और अराजकता व्याप्त हो जाती है।

शील का प्रभाव केवल मानवजगत् पर ही नहीं है, समस्त प्राणिजगत् और प्रकृति जगत् पर भी है। शील के प्रभाव से देवों का आसन डोल जाता है, इन्द्र का सिंहासन भी हिल जाता है। मनुष्य ही नहीं, देव, दानव आदि सभी शीलवान के चरणों में नतमस्तक होते हैं। कहा भी है—

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस किन्नरा।
बंभयारीं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥

'देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब उस ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य की आराधना करता है।'

आज लोग चमत्कारों की चकाचौंध से झटपट प्रभावित हो जाते हैं, जादू-टोना के चमत्कार तो मामूली चीजें हैं। इनसे भी बढ़कर चमत्कार शील में है, जिसका प्रभाव सिर्फ मनुष्यों पर ही नहीं, देवों, दानवों, यक्ष-राक्षसों तथा अन्य समस्त प्राणियों तथा प्रकृति पर भी पड़ता है। सामान्य मन्त्र-तन्त्रविदों के पास ऐसा चमत्कार नहीं है।

आपने जैनधर्म में प्रसिद्ध १६ सतियों के जीवन-चरित्र सुने होंगे। क्या आपने नहीं सुना कि शीलवती सीता के प्रभाव से आग भी पानी-पानी हो गई थी, शीलवान हनुमानजी के आदेश से समुद्र भी छोटी नदी-सा बन गया था। शीलवान सुदर्शन सेठ के प्रभाव से शूली भी सिंहासन बन गई थी। अन्य शीलवानों के प्रभाव से सिंह, सर्प जैसे क्रूर प्राणी भी मित्र बन गये थे। स्वामी रामतीर्थ ने हिमालय की बर्फीली चट्टानों को जब आदेश दिया—'ओ हिमालय की बर्फीली चट्टानो शाहंशाह राम तुम्हें हट जाने का आदेश देता है,' तब सचमुच वे चट्टानें पिघल गयीं। योगीराज भर्तृहरि ने शील के अद्भुत प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है—

वह्निस्तस्य जलायते, जलनिधिः कल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरंगायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति॥

"जिसके अंग-अंग में अखिल लोक का अतिवल्लभ शील ओतप्रोत है, उसके लिए अग्नि तत्काल पानी बन जाती है, समुद्र छोटी नदी-सा बन जाता है, मेरु पर्वत छोटी-सी शिला बन जाता है, सिंह शीघ्र ही हिरण की तरह व्यवहार करने लगता है, सर्प फूल की माला बन जाता है, विष अमृत-सा बन जाता है।"

भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल इतिहास में उन्हीं व्यक्तियों का नाम प्रातः स्मरणीय माना जाता है, जो शीलवान हैं। प्रातःकाल शीलवान पुरुषों का नाम लेना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मांगलिक माना जाता है। शास्त्र में बताया गया है कि इन्द्र अपने सिंहासन पर बैठते समय 'णमो बंभयारिस्स' (ब्रह्मचारी को नमस्कार हो) कहकर नमन करता है। इन्द्र या देव व्रताचरण नहीं कर सकते, लेकिन शील, सत्य, संयम आदि का पालन करने वालों को वन्दन-नमन तो करते ही हैं। वे अपनी सभा में ऐसी कोई काम-वासना की बात नहीं करते, जो शील की मर्यादा के विरुद्ध हो। साथ ही ये अपने सभा-गृहों में समय-समय पर शीलमूर्ति तीर्थंकरों तथा शीलवान महापुरुषों एवं महासतियों के जीवन की चर्चा करते हैं, उनके जीवन से शील की प्रेरणा लेने को कहते हैं, उनके शील की प्रशंसा करते हैं। शीलवानों के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा के साथ बहु-मान किया जाता है।

शीलवान पुरुष के तेजस्वी व्यक्तित्व के समक्ष विरोधी से विरोधी, पापी से पापी एवं दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति भी झुक जाता है, प्रभावित हो जाता है, हतप्रभ हो जाता है। कहा भी है—

अमराः किंकरायन्ते सिद्धयः सहसंगताः।
समीपस्थायिनी सम्पच्छीलालंकारशालिनाम्॥

अर्थात्—जिनकी आत्मा शीलरूपी अलंकार से सुशोभित है, उनके सामने देवता भी दास बन जाते हैं, सिद्धियाँ उनकी सहचरी बन जाती हैं और लक्ष्मी उनके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती है।

सौन्दरानन्द काव्य में शील की महिमा बताते हुए कहा है—

शीलमास्थाय वर्तन्ते, सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः।
स्थानादीनीव कार्याणि, प्रतिष्ठाय वसुन्धराम्॥

'शील के आश्रय से सभी श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न होते हैं, जैसे पृथ्वी के आधार से बैठने, खड़ा होने आदि कार्य होते हैं।'

शीलवान पुरुष मन में जिस बात की इच्छा करता है, वह उसे प्राप्त हो जाती है। कुरूप से कुरूप और बेडौल से बेडौल व्यक्ति भी शीलवान हो तो संसार में पूजा जाता है।

नीति-कथाकार ईसप बहुत ही कुरूप, दुबला-पतला और फिसड्डी था। कोई उसे गुलामों के बाजार में खरीदने को तैयार न था। आखिर एक दार्शनिक ने उसे सस्ते में खरीद लिया। उसने शीलनिष्ठ बनकर मालिक के काम से अतिरिक्त समय में चिन्तन-मनन करके सुन्दर नीति-कथाएँ लिखीं और अपनी बौद्धिक प्रतिभा का परिचय जगत को दिया। अतः कुरूप-दुर्बल ईसप शीलनिष्ठा के कारण अन्त में यूनान में पूज्यनीय, आदरणीय एवं यशस्वी बन गया।

कुमारी पेट्राक्रॉस २६-२७ वर्ष की लोकप्रिय लड़की है, जो जर्मन टेलिविजन केन्द्र पर जैसे ही मधुर स्वर से कहती है—'देवियो और सज्जनो! यह जर्मन टेलि-विजन केन्द्र है।' वैसे ही हजारों की संख्या में बालक, वृद्ध और युवक नर-नारी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकत्रित हो जाते हैं। वह वहाँ की प्रसारिका है, सैकड़ों पत्रों द्वारा माँग की जाती है कि हमें पेट्राक्रॉस का कार्यक्रम दिखाया जाए।

इतनी लोकप्रियता, मधुर स्वर की स्वामिनी कुमारी पेट्राक्रॉस कैसे बनी? आप सोचते होंगे, वह शरीर से सुन्दर, सुरूप या सुडौल होगी, अच्छे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होगी, लेकिन नहीं, कुमारी पेट्रा के दोनों पैर टूटे हुए हैं, रीढ़ की हड्डी टूटी हुई है, तथा पक्षाघात की वह शिकार हो चुकी है, किन्तु उसका सादा-सीधा शीलसम्पन्न जीवन ही उसके चेहरे पर सदा खेलती रहने वाली मधुर मुस्कान तथा करुणार्द्र मधुर स्वर तथा वात्सल्य से सिक्त भाव-भंगिमाओं का कारण है और इसी कारण वह सर्वप्रिय बनी हुई है।

कौन जानता था कि बचपन में ही अत्यन्त भावुकता के कारण सदा विषाद-मग्न सी रहने वाली एक बालिका आगे चलकर इतनी महान बन जाएगी।

पुस्तकें पढ़ने का बचपन से ही शौक था। ऐसी ही पुस्तकें वह पढ़ती, जो उसकी भावुकता को बढ़ाती थीं। ऐसे में ही पुस्तकों की ही स्वयं ने दुकान कर ली। एक दिन दूकान से लौटते समय भावुकतापूर्ण मनःस्थिति में चली आ रही थी कि सड़क पर भयानक दुर्घटना की शिकार हो गई। रीढ़ की हड्डी टूट गई। पक्षाघात ने भी कुछ ही दिनों बाद आक्रमण कर दिया। जीवन एक तरह से निराश हो गया। माता-पिता ने चिकित्सा में पानी की तरह रुपये बहाकर लड़की के प्राण तो बचा लिए, लेकिन निराशा के गर्त से कौन निकालता? एक दिन इसी निराशापूर्ण विकलांग स्थिति में भावुकतावश चौथी मंजिल से कूद पड़ी। इससे दोनों पैर गँवा बैठी। अब तो जीवन और भी लाचार एवं पराधीन हो गया।

एक दिन पेट्राक्रॉस गहरे आध्यात्मिक विचार में डूब गई। सोचा—शरीर खराब हो गया है तो क्या हुआ? मेरी आत्मा तो सुरक्षित है, मेरा मन-मस्तिष्क तो सुन्दर विचार कर सकता है, मेरी वाणी तो दूसरों को सान्त्वना दे सकती है, प्रसन्न कर सकती है? क्यों नहीं आत्मा को शील और सदाचार से सजाकर बलवान बना लूँ। मुझे अब घबराने की जरूरत क्या है? मौत आयेगी तो माँगने से नहीं, पर अनायास ही आये तो आये। आज पेट्राक्रॉस ने पिजली सारी निराशाभरी मान्यताओं को दिमाग से निकाल फेंका और आत्मा में शील की शक्ति और नई स्फूर्ति लेकर जीना प्रारम्भ किया। आज के मानस-मंथन से उसे अतीव शान्ति, सन्तुष्टि एवं आत्म-तृप्ति मिली। उसने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने और जगत को वात्सल्यपान कराने का संकल्प किया।

पैरों के बेकार हो जाने पर पहियों वाली कुर्सी का उसने सहारा लिया। स्वस्थ होते ही किसी उपयुक्त कार्य की खोज में लगी। जिससे भी मिलती—मधुर मुस्कान के साथ। विगत जीवन की सारी कटुता माधुर्य में परिणत कर दी। एकाकी-पन नहीं रहा, अनेक लोग उसे प्रेरणामूर्ति मानने लगे। इधर टेलिविजन केन्द्र में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वात्सल्यमूर्ति शीलवती साहसी पेट्राक्वॉस को प्रसारिका का कार्य मिल गया। वह उसे लगन, उत्साह और स्फूर्ति से करने लगी। उसके चेहरे पर तेजस्विता, आकर्षक मुस्कान और वात्सल्य की मधुर रेखाएँ सदैव अठखेलियाँ करती रहती हैं। वाणी में भी अनुपम माधुर्य के साथ आर्द्रता है, जो बरबस सबको खींच लेती है। बच्चों के कार्यक्रम तो वह इतनी वात्सल्यपूर्ण मुखमुद्रा एवं आत्मीयता के साथ प्रसारित करती है कि बच्चे उसी के कार्यक्रमों की माँग करते हैं, बच्चों को पेट्राक्वॉस में माता-सा वात्सल्य प्रतीत होता है। बस, इसी प्रकार शीलवती पेट्राक्वॉस व्यष्टि के सीमित घेरे से निकलकर समष्टि के प्रति अपनी वात्सल्य-गंगा बहाती हुई आनन्दविभोर बन गई।

यह है, शीलसम्पन्नता के अचूक प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण !

सचमुच, पेट्रक्वॉस की शीलवान आत्मा मानव-जाति के लिए आकर्षण एवं प्रेरणा का केन्द्र बन गई। हजारों-लाखों निराश-हताश लोगों के लिए पेट्राक्वॉस का शीलमय जीवन प्रेरणादायक हो गया, फिर उसके यशस्वी होने में क्या देर थी ?

शीलवान की दृष्टि आत्मा पर

शीलवान व्यक्ति विकारी नेत्रों से किसी भी स्त्री की ओर नहीं देखता, न ही उसकी दृष्टि में कामुकता का कोई चिन्तन होता है, न ही स्त्री या पुरुष का कोई विचारमूलक भेद। विसुद्धि मग्गो की यह भावना उसके मानस में अंकित हो जाती है—

सिरट्ठो सीलट्ठो, सीतलट्ठो सीलट्ठो

शिरार्थ (सिर के समान उत्तम होना) शील का अर्थ है। शीतलार्थ (शीतल—शान्त होना) शील का अर्थ है। जिस प्रकार सिर के कट जाने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, वैसे ही शील के टूट जाने पर मनुष्य का गुणरूप शरीर नष्ट हो जाता है। इसलिए शील शिरार्थ है।

सुखं कुतो भिन्नसीलस्स

"जिसका शील भग्न (टूट) हो गया है, उसे संसार में सुख कहाँ ?"

एक बौद्ध कथा है—

श्रीलंका के अनुराधपुर में शीलवान स्थविर महातिष्य भिक्षाटन के लिए घूम रहे थे। उसी रास्ते से एक कुलवधू अपने पति से झगड़ा करके सजी-धजी अपने पीहर जा रही थी। स्थविर को देखकर वह कामासक्त तरुणी खूब जोरों से हँसी। स्थविर ने उसके दाँत की हड्डियों को देखा। उन पर विचार करते-करते ही वे अर्हत्व स्थिति को प्राप्त हो गए। पीछे से उसका पति उस महिला की खोज करता हुआ आया और स्थविर से पूछा—"भन्ते ! इधर से कोई स्त्री जाती हुई देखी आपने ?" सुशीलवान महातिष्य स्थविर ने कहा—

नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघाटो गच्छतेस महापथे॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'मैं नहीं जानता कि कोई स्त्री या पुरुष इधर से गया है। हाँ; इस महामार्ग से एक हड्डियों का समूह तो अवश्य जा रहा था।'

सचमुच, शीलवान की दृष्टि में स्त्री-पुरुष कोई नहीं रहता, उसकी दृष्टि में सिर्फ आत्मा रहती है।

शीलवान आत्मा : भय और प्रलोभनों के बीच अडिग

शीलवान आत्मा अपने शील पर सुदृढ़ होती है। वह किसी भी भय या प्रलोभन से विचलित नहीं होती। वह शीलरूपी धन को सुरक्षित रखती है। उसके लिये शील से बढ़कर कोई भी वस्तु संसार में बहुमूल्य नहीं होती।

कर्णाटक प्रान्त के एक छोटे-से गाँव उद्बुतड़ी में साधारण घर में जन्मी अक्का महादेवी अपने शील की सुरक्षा के लिए प्राणप्रण से जुटी हुई थी। उसके पिता ने उसे संस्कृत पढ़ायी, जिससे उसमें धार्मिक संस्कारों और आध्यात्मिक जिज्ञासाओं ने जोर पकड़ लिया। अक्का ने सत्य की खोज का निश्चय कर लिया, तदनुसार वह ईश्वर-भक्ति, योग-साधना और योगाभ्यास में लग गई। उसके फलस्वरूप अक्का महादेवी ने यह प्रतिज्ञा की कि वह आजीवन ब्रह्मचारिणी रहेगी, और ईश्वर-उपासना तथा समाज-सेवा में रहकर अपनी आत्मिक सम्पदा को बढ़ाएगी।

अक्का का सौन्दर्य अद्भुत था, फिर संयम और शील की तेजस्विता ने उसमें चार चाँद लगा दिये। राजकुमारियों से उसके सौन्दर्य की तुलना की जाने लगी।

कर्णाटक के तत्कालीन राजा कौशिक को अक्का महादेवी के अद्वितीय सौन्दर्य का पता चला तो उसने उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। साधारण लोगों ने इसे अक्का का महान सौभाग्य समझा, परन्तु अक्का ने इस प्रलोभन को भगवान के द्वारा उपस्थित की हुई परीक्षा समझी। विचार किया—'सांसारिकता और धर्मसेवा दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं, भोग और योग में कोई सम्बन्ध नहीं, यदि अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को बढ़ाना है, अपनी धर्मप्रधान संस्कृति को पुनरुज्जीवित करना है, तो सांसारिक विषय-सुखोपभोग को बढ़ावा नहीं दिया जा सकता। सांसारिक इच्छाओं का बलिदान करके ही उस परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।'

इस प्रकार का दृढ़ विचार करके अक्का ने कौशिक राजा का प्रस्ताव ठुकरा दिया।

विषय-वासनाओं से घिरे कामुक हृदय कौशिक ने इसे अपना अपमान समझा। उसने अक्का के माता-पिता को बन्दी बनाकर कारागार में डलवा दिया और फिर एक बार अक्का के पास सन्देश भेजा कि अब भी सम्बन्ध स्वीकार कर लो, अन्यथा तुम्हारे माता-पिता का वध तुम्हारे सामने किया जायेगा।

अक्का ने माता-पिता को बन्धनमुक्त कराने के लिहाज से एक शर्त पर कौशिक का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि 'वह विवाह होने पर भी अपने शील, संयम,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाज-सेवा और साधना का परित्याग न करेगी।' उधर कौशिक ने अक्का के साथ विवाह को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था, इसलिए शीलवती की कठोर शर्त मंजूर की। विवाह तो हो गया लेकिन अक्का अब भी अपनी आजीवन ब्रह्मचर्यपालन की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रही। उसने अपने प्रभाव से अपने कामुक पति को भी सन्त बना दिया। अब तो अक्का और कौशिक दोनों ब्रह्मचर्यनिष्ठ (शीलवान) बनकर धर्मप्रधान संस्कृति के प्रचार-प्रसार एवं समाज-सेवा में संलग्न हो गये। कर्णाटक पाश्चात्य सभ्यता के चेप से बहुत कुछ बचा रहा, यह अक्का महादेवी के शील-संयमनिष्ठ रहकर धर्म-संस्कृति एवं अध्यात्म के प्रचार-प्रसार का परिणाम है। क्या अक्का महादेवी की शीलनिष्ठ आत्मा यशस्वी और अध्यात्म विकास से समृद्ध नहीं बनी? अवश्य बनी।

शीलवती आत्मा के शील का चेप

यही कारण है कि शीलवती आत्मा के शील का चेप हजारों नर-नारियों को लगता है। उसकी आत्मा में ऐसी चुम्बकीय शक्ति होती है कि सहसा शीलव्रत ग्रहण करने की इच्छा हो जाती है। शीलवान ईसामसीह ने पत्थरों से मारकर समाप्त करने जा रहे लोगों को रोका और उस वेश्या को उपदेश देकर पवित्र एवं शील-निष्ठ बनाया।

देश, समाज और धर्म की सेवा के लिए

जो व्यक्ति देश-सेवा, समाज-सेवा या धर्म-सेवा दत्तचित्त होकर करना चाहता है, उसे पूर्णतः शीलपालन करना आवश्यक है। उसके बिना वह अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता।

महात्मा गाँधी ने जब देश-सेवा के लिए अपने को समर्पित करने का विचार किया, तब उन्होंने सोचा—अब हमें पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि देश-सेवा और विषय-वासना से प्रेरित होकर सन्तानोत्पत्ति करते जाना, ये दोनों कार्य साथ-साथ नहीं चल सकते। इसलिए उन्होंने अपनी धर्मपत्नी कस्तूरबा से इस विषय में परामर्श किया, वह तो पहले से तैयार थी हीं। बस, दोनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ले ली। महात्मा गाँधी की शीलनिष्ठ आत्मा ने देश-सेवा में पूरी तरह से जुटकर सफलता प्राप्त की, भारत को आजाद कराया और महान यश उपार्जित किया।

रामकृष्ण परमहंस ने भी अपने आपको कालीमाता की भक्ति में समर्पित करने का विचार किया तो विवाह की पहली ही रात (सुहागरात) से ही अपनी धर्म-पत्नी शारदामणि देवी को उन्होंने 'माता' मान लिया, ताकि विषय-वासना से यह देह अपवित्र न हो। आजीवन शीलबद्ध होकर पति-पत्नी दोनों कालीमाता की भक्ति में संलग्न हो गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी रामतीर्थ ने भी संन्यास लेते समय अपनी पत्नी से मातृत्व सम्बन्ध जोड़ लिया।

इस प्रकार की दृढ़ शीलनिष्ठा से समाज, धर्म और देश की सेवा भी सफलता-पूर्वक होती है, और वासनाक्षय होने से आत्मा का विकास होते-होते वह मुक्ति शिखर पर पहुँचकर पूर्ण यशस्वी बन जाती है।

बन्धुओ ! शीलवान आत्मा ही सच्चे माने में यशस्वी होता है, इस बात को कहकर महर्षि गौतम ने भौतिक साधनों के बल पर प्राप्त होने वाले क्षणिक यश की अपेक्षा शील-पालन से प्राप्त यश को स्थायी बताया है। आप भी शील-रत्न से आत्मा को विभूषित करके यशरूपी चमक-दमक प्राप्त करें और महर्षि गौतम के इस जीवनसूत्र को सदा स्मरण रखें तथा शीलपालन द्वारा अपने जीवन में चरितार्थ करें—

'अप्पा जसो सीलमओ नरस्स'

शीलवान पुरुष की आत्मा यशस्वी होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमश्रद्धेय आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म० से आज कौन अपरिचित है ! उनके अत्युज्ज्वल सरल, सरस और गम्भीर व्यक्तित्व की गरिमा आज बाल-स्त्री-युवक-वृद्ध-विद्वान मूर्ख सभी के मन को प्रभावित कर रही है।

'आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्'—आनन्द ब्रह्म है, यह उद्घोष करने वाले भारतीय ऋषि की वाणी आज 'आनन्द ऋषि' के दर्शनों के साथ साकार हो जाती है। आनन्द ऋषि आनन्द केन्द्र है, आध्यात्मिक, अतिमानवीय आनन्द की उपलब्धि के एक सबल स्रोत है। उनके जीवन के कण-कण में आनन्द, उनके वचन-प्रवचन में आनन्द। आत्मानन्द का मार्ग बताने वाले आनन्द ऋषि का जीवन सबके लिए आनन्द-मय है।

वे ज्ञान के सजग आराधक, साधना के सहज साधक, श्रमण संघ के चरित्रनिष्ठ श्रमणों के सबल सम्बल और अध्यात्म-प्रेमी जन-जन के जीवन पथ प्रदर्शक है।

-देवेन्द्रमुनि शास्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

अध्यात्म दशहरा

समाज - स्थिति - दिगदर्शन

ज्ञान कुंजर दीपिका

अमृत काव्य संग्रह

त्रिलोक काव्य संग्रह

चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न

श्रमण संस्कृति के प्रतीक

संस्कार (उपन्यास)

ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास

त्रिलोक अर्धशती अभिनन्दन ग्रन्थ

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

जैन जगत के ज्योतिर्धर-आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि

चित्रालंकार काव्य : एक विवेचन

तीर्थंकर महावीर

भावना योग : एक अनुशीलन

आनन्द वाणी (हिन्दी - मराठी)

आनन्द वचनामृत (हिन्दी - मराठी)

स्याद्वाद सिद्धान्त : एक अनुशीलन

आनन्द प्रवचन : भाग

Serving JinShasan
020153
gyanmandir@kobatirth.org

प्राप्ति केन्द्र :—

श्री रत्न जैन

२५८६, महात्मा गांधी रोड,

पो० अहमदनगर, (महाराष्ट्र)

www.jainelibrary.org